सत्यं
शिवं
सुन्दरम्

द्वितीय भाग

जनवरी सन् १६५६ मे
राजस्थान विश्वविद्यालय में
पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत
शोध प्रबन्ध का द्वितीय भाग

सत्यं शिवं सुन्दरम्

[साहित्य का सांस्कृतिक विवेचन]

भाग २ : शिवम् तथा सुन्दरम्

लेखक—

डा० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

एम० ए०; डी० फिल्०; पी-एच० डी०; दर्शन-शास्त्री

महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर (राजस्थान)।

निवेदन

'सत्य शिव सुन्दरम्' के इस द्वितीय भाग मे 'शिवम् और सुन्दरम्' का विवेचन है। 'सत्यम्' के स्वरूप और काव्य के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन ग्रन्थ के प्रथम भाग मे हो चुका है। इस द्वितीय भाग मे 'शिवम् और सुन्दरम्' के अन्तर्गत श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप का विवेचन तथा काव्य के साथ इनके सम्बन्ध का विवरण है।

इस ग्रन्थ के प्रथम भाग की भूमिका मे तथा सत्य के विवेचन के प्रसग मे सस्कृति, कला और काव्य के सम्बन्ध में कुछ नवीन सिद्धान्तो का प्रस्ताव किया गया है। इस द्वितीय भाग मे श्रेय और सौन्दर्य के प्रसग मे उन सिद्धान्तो का अधिक विवरण किया गया है। हिन्दी आलोचना और अनुसधान को सिद्धान्तो के विवेचन की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। अधिकाश आलोचना और अनुसन्धान काव्य के ऐतिहासिक विवेचन मे सलग्न हैं। इस दृष्टि से मेरा यह प्रयास सराहनीय नही तो आदरणीय अवश्य है।

सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप तथा काव्य के साथ इनके सम्बन्ध की जो कुछ नवीन धारणाये इस ग्रन्थ के दोनो भागो मे प्रस्तुत की गई हैं, उनका प्रतिपादन मैने यथासम्भव गम्भीरता एव विचारशीलता के साथ करने का प्रयत्न किया है। आशा है हिन्दी के विद्वान् आचार्य, सजग अनुसधान-कर्त्ता और जिज्ञासु छात्र इन धारणाओ पर गम्भीरता के साथ विचार करेगे।

जो कागज, छपाई आदि के मूल्यो से अनभिज्ञ हैं, उन्हें इस ग्रन्थ का मूल्य अधिक प्रतीत होगा। जो उत्तम कोटि के कागज, छपाई, जिल्द आदि के मूल्य का अनुमान लगा सकगे उनकी पुस्तक के मूल्य के सम्बन्ध मे भ्रान्ति सहज दूर हो सकेगी। पुस्तक-विक्रेताओ को कमीशन, पोस्टेज, पैकिंग आदि की जो छूट प्रकाशक की ओर से दी जाती है, उसे काटकर दोनो भागो के मूल्य मे से लगभग आधा शेष रह जाता है। विद्वानो, पत्रिकाओ आदि के लिए भेंट दी जाने वाली और गणेशवाहनो द्वारा भेंट ली जाने वाली प्रतियो को निकालकर तथा वहन, रक्षण, विक्रय, वितरण, आदि का व्यय निकालकर दस-बीस वर्षों मे बिकने वाले इस सस्करण मे कितना लाभ शेष रह जाता है इसका अनुमान मूल्य को अधिक मानने वाले व्यावहारिक न्याय की ओर अभिमुख होकर ही लगा सकेंगे। स्वतन्त्र

भारत मे ऐसे गम्भीर और विशाल सैद्धान्तिक ग्रन्थ को लिखने तथा उसको प्रकाशित करने मे होने वाले अपार श्रम का कोई मूल्य नही है।

मैं किसी भी प्रकाशक अथवा पुस्तक विक्रेता को लागत मात्र मूल्य में सम्पूर्ण सस्करण देने को तैयार हूँ। लगभग बीस हजार रुपया लगाकर परीक्षार्थियो के लिए अनुपयुक्त और प्रकाशको के लिए अनाकर्षक ऐसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ के प्रकाशन की मूर्खता हिन्दी की वर्तमान स्थिति मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' का लेखक ही कर सकता है। मुझे सन्तोष है कि सहधर्मिणी के सत्परामर्श से मैंने ऐसे ही पाँच भागो मे इस ग्रन्थ के परिवर्धित रूप के प्रकाशन की योजना को दो भागो मे ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन के प्रलोभन मे आकर छोड दिया। यह योजना भविष्य मे कार्यान्वित हो सकेगी अथवा नही इसका उत्तर केवल मुझे ही नही, हिन्दी जगत को भी देना है। अपनी वर्तमान स्थिति मे इस योजना को कार्यान्वित करने पर जिनकी प्रेरणा से इस ग्रन्थ की रचना सम्भव हो सकी है, उनका जीवन कितना असुन्दर बन जाता इसकी कल्पना ही मुझे कम्पित कर देती है।

ग्रन्थ के द्वितीय भाग की पाण्डुलिपी के तैयार करने मे मेरे सुयोग्य शिष्य श्री विष्णुदत्त शर्मा, एम० ए० का विशेष योग रहा है। जिस आत्मीयता और अनुराग के साथ श्री रमेशचन्द्र शर्मा ने इस विशाल ग्रन्थ का सुन्दर और सुरुचि-पूर्ण मुद्रण किया है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्री रमेशचन्द्र शर्मा के कुशल मुद्रण का सत्य उनके सुयोग्य पुत्र श्री विशालभारत शर्मा तथा श्री प्रवीणभारत शर्मा के हार्दिक सहयोग से शिव और सुन्दर बन गया है।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर
दीपावली स० २०२० विक्रमी।

विनीत—
रामानन्द तिवारी
'भारतीनन्दन'

सत्यं शिवं सुन्दरम्

भाग २

अनुक्रम

शिवम्

अध्याय २७

शिव और शिवम्

भारतीय धर्म और संस्कृति की परम्परा मे शिव एक महान् देवता हैं। ऐतिहासिक खोजो से पता चला है कि कदाचित् वे सब से प्राचीन देवता हैं। पौराणिक और वैदिक देवताओ से वे कही अधिक प्राचीन हैं। उनकी पूजा और मान्यता भी अन्य देवताओ से अधिक है। भारतीय नगरो मे शिव के मन्दिर भी अन्य देवताओ के मन्दिरो की अपेक्षा सख्या मे अधिक हैं। भारतीय पचाग मे प्रत्येक पक्ष मे शिव का व्रत होता है। इस प्रकार प्रति पक्ष किसी देवता का व्रत नही होता। अपनी प्राचीनता तथा महिमा और मान्यता के कारण ही शिव देवताओ मे 'महादेव' कहलाये। सस्कृत भाषा के प्राचीन प्रयोग में 'ईश्वर' पद 'शिव' का पर्याय है। *शिव ही भगवान के सबसे प्राचीन रूप हैं। कालिदास ने* कई स्थानो पर शिव के अर्थ मे 'ईश्वर' पद का प्रयोग किया है (पार्वती–परमेश्वरी, भस्मागरागा तनुरीश्वरस्य, सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण)। अभिनव गुप्त की *'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' मे भी 'ईश्वर' का प्रयोग 'शिव' के अर्थ मे हुआ है।* प्राचीनता और महिमा के अतिरिक्त 'शिव' का नाम भी सार्थक है। सस्कृत भाषा में 'शिव' का अर्थ 'मगल अथवा कल्याण' है। 'शिव' पद की सार्थकता किसी अविदित *व्युत्पत्ति अथवा अमान्य अनुरोध पर आश्रित नही है, वरन् वह सस्कृत भाषा के* साधारण एव परिचित प्रयोग का एक प्रसिद्ध तथ्य है। कालिदास ने शकुन्तला के विदा के अवसर पर आशीर्वाद मे 'शिव' शब्द का प्रयोग 'मगल अथवा कल्याण' के *अभिधार्थ मे किया है (शान्तानुकूलपवनश्च शिवोस्तु पन्था)। यहाँ 'शिव' का* प्रयोग विशेषण के रूप मे हुआ है। सज्ञा अथवा विशेषण के रूप मे ऐसी प्रसिद्ध और परिचित सार्थकता किसी अन्य देवता के अभिधान मे नही है। राम, कृष्ण, *विष्णु आदि देवताओ के नाम व्यक्तिवाचक हैं। जातिवाचक अथवा विशेषण के* रूप मे उनका प्रयोग नही होता। 'काले' के अर्थ मे 'कृष्ण' का प्रयोग 'शिव' पद के समान सार्थकता प्रमाणित नही करता। ऐसी ही सार्थकता शिव की सहयोगिनी 'शक्ति' के वाचक पद मे भी है। *अन्य देवताओ की अपेक्षा लक्ष्मी आदि देवियो के*

नाम अधिक सार्थक हैं। यह सभवत शैव परम्परा का ही फल है। भारतीय धर्म परम्परा मे देवताओ की अपेक्षा देवियो की महिमा के अनुरूप है। देवियो की यह महिमा कदाचित् भारतवर्ष की सामाजिक और धार्मिक परम्परा मे मातृ-तत्र की प्राचीनता और महिमा का फल है।

'शिव' पद के देवता-वाचक होने के कारण तथा शिव के प्रसिद्ध एव लोकप्रिय देवता होने के कारण 'सत्य-शिव-सुन्दरम्' के सास्कृतिक सूत्र मे 'शिवम्' पद का प्रयोग कुछ भ्रमात्मक हो जाता है। इस भ्रम की सभावना इसलिए बढ जाती है कि भाषा के प्रयोग मे कल्याण वाचक पद के रूप मे प्रचिलित होते हुए भी 'शिव' पद महादेव के अभिधान के रूप मे अधिक प्रसिद्ध एव विदित है। सत्य-शिव-सुन्दरम्' का सास्कृतिक सूत्र इस रूप मे प्लेटो के सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के वाचक ग्रीक पदो का सश्लिष्ट अनुवाद है। भाव के अर्थ मे नपु सक लिग बन जाने के कारण अनुस्वार से युक्त होकर 'सत्य-शिव-सुन्दरम्' का पद एक भारतीय सूत्र बन गया है। सत्य के मौलिक नपु सक रूप ने कदाचित् शिव और सुन्दरम् को भी अनुस्वार से अलकृत किया है। किन्तु पश्चिमी पदो का अनुवाद होने के कारण इस सूत्र के शिव का मौलिक आधार महादेव का वाचक 'शिव' पद नही हो सकता, फिर भी सस्कृत भाषा के प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रयोगो मे महादेव का अभिधान होने के साथ-साथ 'शिव' पद श्रेय, मगल, कल्याण आदि का भी वाचक है। अत 'शिव' और 'शिवम्' के भाव साम्य का विचार करना आवश्यक है। 'सत्य-शिव-सुन्दरम्' के सूत्र मे इस सूत्र के इस रूप मे पश्चिमी होने के कारण तथा 'शिव' पद के नपु सक लिग होने के कारण 'शिवम्' पद महादेव का वाचक नही है। वह जीवन और सस्कृति के श्रेय अथवा कल्याण का वाचक एक सामान्य पद है, फिर भी भारतीय भाषा की परम्परा मे 'शिव' पद श्रेय अथवा कल्याण का वाचक होने के साथ साथ महादेव के अभिधान के रूप मे भी प्रसिद्ध और प्रचिलित है। अतः कला और साहित्य के सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं किन्तु सस्कृति की भारतीय परम्परा की दृष्टि से महादेव के वाचक शिव के साथ श्रेय अथवा कल्याण के वाचक शिवम् के व्यापक सबन्ध का विवेचन करना अपेक्षित है। इस सबन्ध के विवेचन का सूत्र हमे शिव के स्वरूप और चरित मे खोजना होगा। शिव के आध्यात्मिक स्वरूप के साथ-साथ शिव के पौराणिक रूप का भी इस प्रसग मे विचार करना होगा। यह निश्चित करना कठिन है कि शिव के आध्यात्मिक और

पौराणिक रूपो मे कौनसा अधिक प्राचीन है। समाज शास्त्र के दृष्टिकोण से पौराणिक कल्पनाये आध्यात्मिक धारणाओ की अपेक्षा अधिक प्राचीन मानी जा सकती हैं। पौराणिक कल्पनाये धार्मिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक धारणाओ के प्रतीकात्मक रूप हैं। मनुष्य के मानसिक विकास की दृष्टि से यह अधिक आदिम और प्राचीन है। इन प्रतीकों की ऐन्द्रिकता भी इसकी आदिमता का सकेत करती है। सूक्ष्म और बौद्धिक आध्यात्मिक धारणायें विकसित और अपेक्षाकृत अर्वाचीन चिन्तन का फल हैं। श्रेय अथवा कल्याण के अर्थ मे 'शिव' पद का प्रयोग वेदो मे भी मिलता है। उपनिषदो मे ब्रह्म के विशेषण के रूप मे 'शिवम्' का प्रयोग किया गया है (शान्त शिव अद्वैत ब्रह्म)। इसमे कल्याण के अर्थ मे 'शिव' पद के प्रयोग की प्राचीनता विदित होती है। शिव का पौराणिक रूप कदाचित वेद से प्राचीनतर है। किन्तु शैव दर्शन मे प्राप्त शिव का आध्यात्मिक रूप सभवत वेदो की अपेक्षा उत्तरकालीन है और सभवत उपनिषदो के वेदान्त के प्रभाव से निर्मित हुआ है। किन्तु यह श्रेय के आध्यात्मिक स्वरूप के सबन्ध मे ही सत्य हो सकता है। श्रेय के सामाजिक और सास्कृतिक तत्व महादेव शिव के प्राचीन और पौराणिक रूप मे ही समाहित हैं। शिव के चरित मे भी इनके सकेत मिलते हैं। शिव के पौराणिक रूप और चरित से ग्रहण करके ही श्रेय का भाव वेदान्त के ब्रह्म मे अन्वित हुआ होगा। ज्ञान और आनन्द की तुलना मे वेदान्त मे शिव के मागलिक भाव की विरलता वेदान्त के ब्रह्म मे इस मागलिक भाव की अमौलिकता और अप्रधानता सूचित करती है। इस विरलता से यह भी सकेत मिलता है कि पद और भाव दोनो के प्राचीन शैव परम्परा से ग्रहीत होने के कारण वेदान्त-परम्परा मे 'शिव' के पद और भाव की विपुलता के प्रति ऋषियो को सकोच रहा।

अस्तु, महादेव के वाचक शिव और शिव के वाचक शिवम् के साम्य का सूत्र सबसे पहले शिव के प्राचीन चरित और उनके पौराणिक रूप मे ही खोजना उचित है। समाज सस्कृति से प्राचीनतर है। इस दृष्टि से चरित का सामाजिक आधार प्रतीकात्मक सास्कृतिक रूपो की अपेक्षा प्राचीनतर होगा। शिव और पार्वती के चरित की पारिवारिक और व्यापक लोक प्रियता से यही सकेत मिलता है कि महादेव शिव की कथा केवल कल्पना नही है। सभवत इस कथा का विस्तार प्राचीन समाज के किसी वास्तविक वृत्त से हुआ है। शिव पार्वती के विवाह तथा

लोक-संस्कृति मे उसके आदर्श की प्रतिष्ठा का रहस्य प्राचीन समाज मे इस वृत्त की वास्तविकता मे ही मिल सकेगा। 'दुर्गा सप्तशती' 'देवी भागवत' आदि देवी के चरितो मे जिन युद्धो का वर्णन मिलता है वे कदाचित् प्राचीन मातृ-तन्त्र के साथ पुरुष के तर्क से प्रेरित पुरुष-तन्त्र के सघर्ष की घटनाये हैं। देवी ने जिन राक्षसो का वध किया वे कदाचित् प्राचीन वर्बर पुरुष ही थे। इन युद्धो के प्रसग मे यह ध्यान देने योग्य है कि देवी की सेना भी स्त्रियो से निर्मित थी। उनकी सेना मे कोई पुरुष न था। धार्मिक और पौराणिक परम्परा से यह भी विदित होता है कि चड-मु ड के वध, रक्त-बीज के वध आदि की ये घटनायें हिमालय प्रदेश मे घटित हुई थी। हिमालय के तीर्थों मे वे स्थान आज भी सुरक्षित हैं। हिमालय प्रदेश मे मातृ-तन्त्र के कुछ अवशेष आज भी मिलते हैं। मातृ-तन्त्र के युग की नारी की प्रचण्डता की कल्पना पुरुष-तन्त्र मे लालित ललना को देखकर नहीं की जा सकती। जिन देवताओ के आनन के तेज से देवी के देह के निर्माण की कल्पना 'दुर्गा सप्तशती' मे की गई है वे कदाचित् उस युग के सज्जन और शान्ति-प्रिय पुरुष रहे होंगे। वे भी वर्बर पुरुषो से प्रपीडित रहे होंगे। इसीलिए उन्होंने अपने अस्त्र देवी को अर्पित किये। रक्त-बीज के द्वारा महादेवी के साथ विवाह का प्रस्ताव मातृ-तन्त्र और पुरुष-तन्त्र की उस सधि का सकेत करता है जो शिव-कथा के प्रसग मे शिव-पार्वती के सबन्ध के रूप मे प्रतिष्ठित हुई है और भारतीय समाज का पवित्र आदर्श बनी। इस युद्ध के प्रसग मे शिव ने देवी के दूत का कार्य भी किया था। कदाचित् 'शिव' सज्जनो के ऐसे प्रतिनिधि थे जिन्होंने तप और शान्ति के आदर्श को अपनाकर पुरुष के द्वारा नारी के दमन के स्थान पर नारी के द्वारा पुरुष के स्वतन्त्र वरण की परम्परा का सूत्र-पात किया तथा उस प्राचीन सघर्ष को पवित्र प्रेम बन्धन का रूप दिया। देवी की पूजा मे प्रयुक्त मास, मदिरा आदि उन छलमय साधनो के सूचक हैं, जिनके द्वारा प्राचीन वर्बर पुरुषो ने प्रचण्ड नारी को विमोहित करने का प्रयत्न किया होगा। कुमारी-पूजा तथा षोडशी-पूजा की प्रथा से यह सकेत मिलता है कि ये प्रयत्न अज्ञात-यौवनाओ और नवोढाओ के साथ अधिक सरलता से किये गये होंगे। शिव के गण कदाचित् उनके सैनिक रहे होंगे। गणेश उनके नायक होंगे। पार्वती के प्रथम ऋतु-स्नान के समय द्वारपाल बने हुए गणेश का शिरश्छेद शिव ने किया था। इस घटना से विदित होता है कि शिव मे भी प्राचीन वर्बर पुरुषो के अभ्यस्त अतिचार के अवशेष रह गये थे। गणो के

अतिरिक्त शिव की सेना मे भूतनी, प्रेतनी के रूप मे नारियाँ भी थी। इसका अभिप्राय यह है कि उनको नारियो का सहयोग भी प्राप्त था। वे उस बर्बर युग के सज्जनो के ऐसे प्रतिनिधि थे जिन्होने समाधि और प्रणय के द्वारा दोनो तत्रो मे सामजस्य स्थापित किया। इसीलिए वे परमेश्वर के समान पूजित हुए। यह सामजस्य ही समाज के कल्याण का मूल है। इसीलिए 'शिव' को यह नामकरण मिला। इस अद्भुत सफलता के कारण शिव देवताओ मे महादेव बने। महादेव की सहयोगिनी बनकर देवी को महादेवी का पद मिला। सधि और सामजस्य के पूर्व देवी स्वतत्र रूप से रक्तबीज आदि का वध कर चुकी थी। इसलिए 'शक्ति' के रूप मे उनकी प्रतिष्ठा हुई। शिव की सद्भावनाओ को भी उनकी शक्ति से बल मिला होगा। इसीलिए शक्ति तत्रो मे 'शक्ति' की प्रधानता मानी जाती है और शक्ति के बिना 'शिव' को शव के समान माना जाता है। भारतीय सस्कृति की परम्परा मे माता की महिमा तथा देव-दम्पत्तियो के नामो मे स्त्री पद की प्राथमिकता (पार्वती-परमेश्वरौ, भवानी-शकरौ, सीताराम, राधाकृष्ण आदि) है। मातृ-तत्र के प्रभाव और शक्ति की इसी प्रधानता का प्रस्तार है।

अस्तु, मातृ-तत्र और पुरुष-तत्र के सघर्षकाल में योग और विवाह के द्वारा कल्याणमय सामजस्य के सूत्रधार होने के नाते शिव महादेव बनकर सामाजिक मगल के प्रतीक बने। इसी प्रसग के सश्लेष से 'शिव' पद व्यापक कल्याण का वाचक बना। शिव के चरित मे लोक मगल के अनेक तत्व मिलते हैं। राम और कृष्ण के चरित के समान शिव के चरित का कोई व्यवस्थित आरम्भ और विकास नही मिलता। शिव के जन्म अथवा उनकी उत्पत्ति का प्रसग न मिलने से यही विदित होता है कि ऐतिहासिक और पौराणिक दोनो ही दृष्टियो से शिव अत्यन्त प्राचीन हैं। बाद की पौराणिक कल्पनाओ मे देवताओ की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक किसी भी रूप म शिव के जन्म, उत्पत्ति अथवा वश के सकेत नही मिलते। कुलीनता के तर्क की दृष्टि से इस प्रसग को लेकर कवियो ने शिव के साथ व्यग्य भी किए हैं। किन्तु शिव-चरित के इस आरम्भिक अभाव का ऐतिहासिक कारण यह हो सकता है कि मातृ-तत्र के उस युग मे किसी भी पुरुष के जन्म और वश का विवरण पुरुष-तत्र की भाषा मे नही हो सकता। पार्वती की माता मेनका भी पितरो की कन्या थी और पार्वती के पिता हिमाचल थे, जिनको एक व्यक्ति मानना कठिन है। मातृ-तत्र के युग मे हिमाचल

प्रदेश की सभी कन्याओं का हिमाचल-कन्या माना जा सकता है। देवता के रूप मे शिव की पौराणिक कल्पना मे भी उनकी उत्पत्ति का प्रसग उस मातृ तत्र के युग मे अकल्पनीय था। परम्परा और इतिहास म मिलने वाली सारी धारणायें पुरुष तत्र की वृत्तियो के अनुरूप हैं। मातृ-तत्र की परम्पराओ के वे ही अवशेष बचे हैं जो पुरुष तत्र को मान्य अथवा उसके लिए अनिवार्य रह। उसमे माता की महिमा और दम्पत्ति के द्वन्द्व पदो मे स्त्री के नाम की प्राथमिकता ही मुख्य दिखाई देते हैं। बालक के जन्म के प्रसग और रहस्य मातृ तत्र के युग मे पुरुषो क लिए पूर्णत निषिद्ध और अविदित रहने के कारण सन्धिकाल तक की परम्परा म जन्म का प्रसग नही मिल सकता। अयोनिजाओ और अप्सराओ के जन्म की अद्भुत कल्पनाय भी इसी परिस्थिति का फल है।

अस्तु, शिव के चरित मे जन्म का प्रसग नही है। सामान्यत एक समाधिस्थ योगी के रूप मे ही उनकी कल्पना की जाती है। कैलाश तो उनका निवास है। तप और योग की एकान्त साधना भारतीय धर्म और अध्यात्म का बीज-मत्र है। यही साधना मनुष्य की पशु प्रवृत्तियो के सयम और सस्कार का मार्ग है। इसी मार्ग से जीवन की गति कल्याण की ओर सभव हो सकती है। शिव ने इस मार्ग का आरम्भिक निर्माण किया। इसीलिए वे धर्म, अध्यात्म, व्याकरण, कला, शास्त्र आदि के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। यही साधना समस्त विद्याओ तथा सस्कृत के ग्रन्थ कल्पतरुओ का अकुर है। चरित की दृष्टि से विवाह के प्रसग से ही शिव की कथा का आरम्भ किया जा सकता है। भारतीय परिवारो में शिव-पार्वती का विवाह जिस रूप में प्रतिष्ठित और पूजित है उससे यही सकेत मिलता है कि कदाचित् शिव ने ही मातृ-तत्र के स्वच्छन्द जीवन में विवाह की मर्यादा का सूत्रपात किया। यह सूत्र पात भी उन्होने ऐसी उत्तम विधि से किया कि विवाह की प्रथा समाज मे प्रतिष्ठित हुई और शिव-पार्वती वैवाहिक सबन्ध के आदर्श के रूप मे पूजित हुये। मातृ-तत्र की इस स्वच्छन्दता तथा सन्धिकाल की पुरुष के अतिचार से उत्पन्न उच्छृखल अराजकता मे शिव ने दोनो ओर जिस एकनिष्ठ भाव और सबन्ध की प्रतिष्ठा की वही सामाजिक जीवन के मगल का मूल-सूत्र है। शिव के द्वारा प्रवर्तित इस वैवाहिक सस्कृति मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य शिव का शान्त, गभीर, सात्विक, अनतिचारी और उदार चरित्र है। कदाचित मासाहार की तुलना मे फलाहार को महत्व देकर जीवन म सात्विकता का सूत्र-पात

करने का श्रेय भी शिव को ही है। दाम्पत्य भाव की प्रतिष्ठा शिव ने जिस सयम और उदारता के साथ की वह शिव के चरित का सबसे अधिक मार्मिक तत्व है। उनके तप, तेज, सयम आदि से प्रभावित होकर स्वय पार्वती ने उन्हे वर के रूप मे प्राप्त करने की इच्छा की तथा उन्हे प्रसन्न करने के लिए उनकी सेवा की। शिव का काम दहन इस बात का प्रमाण है कि उन्होने काम के अतिचार को नियन्त्रित करने के लिए दाम्पत्य सवन्ध मे काम के स्थान पर प्रेम तथा अतिचार के स्थान पर स्त्री के द्वारा स्वतत्र वरण को प्रतिष्ठित किया। पार्वती के द्वारा शिव का यह वरण ही स्वयंवर की प्राचीन प्रथा का बीज है। ऐसी स्वयंवर की प्रथा कदाचित् संसार के किसी देश में नहीं थी। अतिचार के स्थान पर शिव ने स्वतत्र वरण की कसौटी को भी तपस्विनी पार्वती की तपस्या के द्वारा अधिक कठोर किन्तु अधिक विश्वसनीय बना दिया। विवाह के बाद दाम्पत्य सबन्ध और भाव की जो घनिष्ठता शिव के चरित में मिलती है, वह भारतीय समाज का अभिप्सित आदर्श बन गई। अन्य देवताओ की कथाओ मे वियोग के प्रसग मिलते हैं, किन्तु समस्त पौराणिक कथाओ मे शिव-पार्वती सदा साथ साथ मिलते हैं। अनेक पौराणिक कथायें उनके सलाप के रूप में हैं। शिव-पार्वती के दाम्पत्य भाव की घनिष्ठता का कलात्मक अकन हिमालय प्रदेश मे मिलने वाली अखण्ड हर गौरी की मूर्तियो मे तथा उसका प्रतीकात्मक चित्रण अर्धनारीश्वर की कल्पना मे और उसका आध्यात्मिक निदर्शन शैव दर्शन के शिव-शक्ति अथवा प्रकाश-विमर्श के अभिन्न भाव मे मिलता है। सती के प्रति शिव का मोह उनके प्रेम को और प्रगाढ बना देता है। कालिदास के शब्दो मे पार्वती की सखियो ने शिव के इसी प्रगाढ प्रेम में पार्वती की साधना को सफल माना है (तथाविध प्रेम पतिश्च तादृश)। पति के वरण मे स्त्री की स्वतन्त्रता और दम्पत्ति का एकनिष्ठ प्रेम उस अतिचार और उच्छृखलता के पूर्णत विपरीत है, जिसने मातृतन्त्र के अवसान और पुरुष तन्त्र के उदय के बीच स्त्री की स्थिति को बहुत सकटापन्न बना दिया होगा। ऐसे स्वतंत्र, सात्विक, संयत, उदार और एकनिष्ठ दाम्पत्य भाव के प्रवर्त्तक होने के कारण ही शिव भारतीय परिवारो में, विशेषतः स्त्रियो के द्वारा, एक मगलमय आदर्श के रूप में पूजित हैं।

विवाह के अतिरिक्त शिव के चरित के अन्य अनेक प्रसग मागलिक भावों को सूचित करते हैं, तथा 'कल्याण' के पर्याय के रूप मे 'शिव' के नाम को सार्थक बनाते हैं। भस्मासुर आदि राक्षसो को वरदान देने मे उन्होंने जो उदारता दिखाई वह

भी समाज का एक मागलिक तत्व है। इसी उदारता के कारण वे अवटरदानी कहलाये (अशुतोष तुम अवटरदानी)। उनका सरल, सात्विक और तपोमय जीवन समाज के मगल की सही दिशा है। शिव ने अनेक शास्त्रो और विद्याओ का प्रवर्त्तन किया। इस दृष्टि से वे मनुष्य समाज के साम्कृतिक मगल के विधाता भी हैं। उन्होने अनेक राक्षसो का सहार भी किया। राक्षस अनीति और अतिचार के मार्ग पर चलने वाले बर्बर पुरुष ही थे। त्रिपुरी की कथा भी प्रतीकात्मक रूप मे उस सामजस्य का ही निदर्शन करती है जिसको सभी क्षेत्रो मे प्रतिष्ठित करके शिव ने मानव समाज का मगल का मार्ग दिखाया। इसी सरलता और स्वतन्त्रता के साथ शिवालयो मे शिव की पूजा होती है। वह भी धर्म के क्षेत्र मे मगल का सूत्र तथा अनीति और अतिचार की अर्गला है। शिव के जीवन की सरलता एव सात्विकता तथा राज्य एव वैभव का अभाव उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता के साथ-साथ लोक मगल की दिशा का निर्देश भी करते हैं।

शिव के चरित के साथ-साथ उनका अद्भुत पौराणिक रूप भी अनेक मागलिक रहस्यो से परिपूर्ण है। बाहरी दृष्टि से देखने पर उनका यह रूप बडा अद्भुत और विचित्र लगता है–शरीर पर चिता-भस्म, कटि मे बाघबर, हाथ मे त्रिशूल और डमरू, गले मे सर्प, मस्तक पर तृतीय नेत्र, जटा जूट पर चन्द्रमा की कला और उसके ऊपर गगा की धारा। शिव के रूप के कुछ उपकरण उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं, किन्तु अनेक उपकरण अद्भुत और विचित्र हैं। स्थूल रूप मे न उनकी कोई सगति दिखाई देती है और न उनकी कोई सार्थकता प्रतीत होती है। वैदिक और वैष्णव परम्परा मे प्राय शिव के इस विचित्र रूप का उपहास करने का प्रयत्न किया गया है। 'कुमार सभव' मे जब शिव ब्रह्मचारी के छद्मवेश मे तपस्विनी पार्वती की परीक्षा करने के लिए गये थे तब उन्होंने शिव के सम्बन्ध मे प्रचलित इन्ही प्रवादो को अपने व्यग्यो का आधार बनाया था। किन्तु वस्तुत शिव के इस पौराणिक और प्रतीकात्मक रूप के उपकरण गभीर अर्थ से परिपूर्ण है और इस अर्थ में जीवन के अनेक मागलिक तत्व समाहित है। शरीर पर चिता-भस्म का लेपन सभ्य समाज को एक वीभत्स कृत्य जान पडता है किन्तु प्राकृतिक दृष्टि से भस्म-धारण शीत से रक्षक है। इसीलिए नग्न रहने वाले नागा साधु आज भी भस्म धारण करते हैं। शिव का बाघबर ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी प्राचीनता का द्योतक है। किन्तु शिव का पौराणिक रूप प्रधानत प्रतीकात्मक है। साधारण अर्थ मे इस रूप के

सभी अद्भुत उपकरणो की व्याख्या नही की जा सकती। प्रतीकात्मक दृष्टि से चिता-भस्म का अभिप्राय यह हो सकता है कि हम जीवन की पार्थिवता को अगीकार करते हैं और उसका आदर करते हैं। चिता-भस्म का विशेष उद्देश्य शरीर की पार्थिवता का आदर है। चिता-भस्म पार्थिव शरीर का अन्तिम अवशेष है। उसे धारण कर हम अन्तिम अवस्था तक शरीर और जीवन की पार्थिवता का आदर करते हैं। मस्तक पर उस रज को धारण कर हम उसे शिरोधार्य बनाते हैं। यह आदर की पराकाष्ठा है। शिव के द्वारा प्रचलित यह भस्म धारण अन्य भारतीय सम्प्रदायो मे भी पाया जाता है। वैदिक परम्परा मे होलिका-दाह के बाद जो रजोधारण होता है, वह भी इस शृखला मे है। अनेक पर्वो के अवसर पर अग्नि खण्डो के द्वारा होने वाली देवी-पूजा के अवसर पर तथा देवी, हनुमान, शिव आदि के मन्दिरो मे कर्पूर-रज अथवा अन्य प्रकार की रज का मस्तक पर तिलक लगाया जाता है। पार्थिव जीवन और पार्थिव उपकरणो का यह सत्कार वेदान्त के द्वारा प्रचलित जगत के मिथ्यात्व की तुलना मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पार्थिव जीवन का यह सत्कार एक मर्यादा के अन्तर्गत ऐसे समन्वय की सृष्टि करता है जो जीवन को एकागी अध्यात्म की अपेक्षा अधिक सन्तुलित और पूर्ण बनाता है। इस मर्यादा का विधान स्वय शिव के तपस्वी जीवन और उनके उस प्रेम-पूर्ण परिणय मे मिलता है जो पार्वती की तपस्या और उनके स्वतन्त्र सकल्प के द्वारा सम्पन्न हुआ था। पार्थिव जीवन की महिमा और अध्यात्म का समन्वय शिव के चरित के अतिरिक्त शैव दर्शन के शिव-शक्ति साम्य मे भी मिलता है, जिसके अनुसार शिव की अभिन्न शक्ति अपने विमर्श से विश्व का विस्तार करती है तथा इस प्रकार पार्थिव जगत की सत्ता और लौकिक जीवन के व्यवहार को गौरव प्रदान करती है।

शिव का बाघबर ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी प्राचीनता का द्योतक है। शिव की कल्पना उस समय की है जब तक सभ्यता के विकास मे बल्कल वस्त्र का भी आविष्कार नही हुआ था और पशुओ का चर्म ही शरीर का आच्छादन था। बाघबर के स्थान पर शिव के प्रसग मे गजाजिन का भी वर्णन आता है। बाघ और गज दोनो ही बडे भयकर पशु हैं। उनका आखेट उस प्राचीन युग के पौरुष और पराक्रम का प्रमाण है। मुनियो का मृग-चर्म उस युग की तुलना मे बहुत अर्वाचीन है। शिव के आच्छादन के रूप मे बाघबर का प्रयोग चाहे उस युग की सभ्यता की ऐतिहासिक स्थिति के कारण ही हुआ हो किन्तु अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से हम शिव

के दिगम्बर वेश को सरलता का प्रतीक मान सकते हैं। भारतवर्ष जैसे उष्ण देश मे अधिक वस्त्रो का उपयोग अपेक्षित नही है। शिष्टाचार की दृष्टि से अधोवस्त्र के धारण की ही प्रथा प्राचीन काल मे भारतवर्ष मे प्रचलित थी। ऋषि-मुनि, राजा-देवता आदि सभी केवल अधोवस्त्र धारण करते थे। उत्तरीय का धारण एक अलकार माना जाता था। शिव का वाघम्बर भी अधोवस्त्र है। आधुनिक सभ्यता में वस्त्रों का बढता हुआ वैभव सरलता के विपरीत होने के साथ-साथ एक आन्तरिक शून्यता की प्रतिक्रिया है। स्वास्थ्य और मन के वैभव की दीनता को सभ्यता भव्य वस्त्रों के आवरण से ढँकने का प्रयत्न कर रही है। वस्त्रो के सौन्दर्य मे अपने आप मे कोई दोष नही है। किन्तु आर्थिक अपव्यय का कारण और अन्य अभावो का आवरण बन जाने पर वस्त्रो का सौन्दर्य दूषित हो जाता है। वस्त्रों तथा अन्य उपकरणो की सरलता और अल्पता जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य और आत्मिक आनन्द को बढाने का निमित्त बन सकती है। आर्थिक दीनता के कारण नही वरन् आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रभाव के कारण भारतीय जीवन मे यह सरलता का आदर्श सर्वदा समादृत रहा है। शैव तत्र और वेदान्त दर्शन दो प्रमुख भारतीय दर्शनो मे यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रकट है। मुनियो का सरल जीवन भारतीय आदर्श रहा है। वस्त्र और उपकरण दोनो ही दृष्टियो से शिव का जीवन इस सरलता का प्राचीनतम आदर्श है।

वाघवर के अतिरिक्त शिव के निवास, आहार आदि के उपकरण भी सरल एव वन्य हैं। वन्य फल-फूल ही शिव के आहार और प्रसाद हैं। प्राचीनता के साथ साथ यह सरलता के भी द्योतक हैं। उपकरणो की अल्पता जो प्राय शिव के उपहास का निमित्त बनती रही है वह वस्तुत जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य और आत्मिक वैभव के प्रकाशन का आवश्यक साधन है। अपरिग्रह के रूप मे इस सरलता को सभी भारतीय दर्शनों मे महत्व दिया गया है। आधुनिक युग में बढते हुए उपकरणो के वैभव में वेग से बढती हुई मनुष्य की आन्तरिक दीनता को देखते हुए उपकरणो की अल्पता और सरलता ही मानव-कल्याण का उत्तम मार्ग प्रतीत होती है। अल्पतम साधन के रूप में ही उपकरण अपेक्षित है। जीवन का वास्तविक सौन्दर्य आन्तरिक और आत्मिक है। उपकरण उसके साधन मात्र है। उपकरणो के साध्य बन जाने पर अन्तर का सौन्दर्य और आत्मा का आनन्द विलुप्त होने लगता है जैसा कि वर्त्तमान युग में हो रहा है। वर्त्तमान युग के बढते हुए

वस्तुवाद और वस्त्रवाद में मनुष्य का मन दीन हो रहा है। वस्तुओ और वस्त्रो के भार से मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा क्षीण हो रहे हैं। साधनो की विपुलता मे साध्य विलीन हो रहा है। उपकरणो की अल्पता और सरलता के साथ साथ वैभव के अभाव मे शान्ति और आनन्द का जीवन मगल का सिद्ध मार्ग है जिसे शिव ने प्रशस्त किया है। शिव का अरहड भाव अल्प लोक और विपुल अध्यात्म की सधि का सूत्र है। सभ्यता का विकास क्रम मे भी शिव के इस आदर्श का अनुशीलन कल्याणकारक होगा।

शिव का त्रिशूल मनुष्य के आखेट-शस्त्र का प्राचीनतम रूप है। शृगी उस आखेट का ही एक उपकरण है। योगीश्वर शिव के साथ त्रिशूल का सयोग कुछ अद्भुत सा जान पडता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह आदिम आखेट जीवी समाज मे शिव के द्वारा सात्विकता और आध्यात्मिकता के प्रवर्त्तन का द्योतक हो सकता है। शिव का फलाहार उस प्राचीन काल मे जीवन के साथ अध्यात्म के समन्वय का सूत्र है। सास्कृतिक अर्थ मे शिव का त्रिशूल अनीति का आवश्यक उपचार है। जिस प्रकार शिव के अध्यात्म मे जीवन के पार्थिव सत्य का समन्वय है, उसी प्रकार उनका यह अध्यात्म एकागी अहिंसा के दोषो से मुक्त है। **सात्विकता और आध्यात्मिकता का पूर्ण आदर करते हुए भी अनीति और अतिचार के दमन के लिए शक्ति का उपयोग करना होगा, तभी सस्कृति की उन्नति और रक्षा सम्भव हो सकेगी।** शिव ने असुरो के साथ युद्ध और उनका सहार भी किया है। यह उनके योग और अध्यात्म का दूसरा पक्ष है। त्रिदेवो की कल्पना मे शिव को विनाश का देवता माना जाता है। उनका ताण्डव नृत्य प्रलय का ही उपक्रम है। यह योग और अध्यात्म मे अनीति का अवरोध करने वाली सक्रिय शक्ति के समन्वय का सकेत करता है। शिव के भक्त के रूप मे परशुराम ने तथा द्वापर मे श्रीकृष्ण ने इसी समन्वित आदर्श की प्रतिष्ठा की थी, जो बुद्धि और गान्धी के एकागी अहिंसावाद के विपरीत है। आगे चलकर शिव के साथ पिनाक नामक धनुष का सयोग और काव्य मे उसकी टकार (हिमालय पर पिनाकी का धनुष-टकार बोला) के प्रसग उक्त समन्वय को परिपुष्ट बनाते हैं। शिव का त्रिशूल असुर निकन्दिनी दुर्गा का भी प्रमुख शस्त्र है। यह शिव और शक्ति के सामजस्य का ही सूचक है।

शिव का डमरु भी प्राय उनके सहारक रूप का सहयोगी माना जाता है। ताण्डव नृत्य मे भी शिव के डमरु नाद का योग रहता है, किन्तु नृत्य के और शब्द

के साथ डमरू का विशेष सम्बन्ध होने के कारण उसे कला का सहयोगी मानना ही अधिक उचित है। ताण्डव और लास्य दोनो मे ही वे डमरू का उपयोग करते हैं। ताण्डव सहार का नृत्य है और लास्य शृगार का नृत्य है। शिव पार्वती के साथ लास्य करते हैं। पार्वती शक्ति का रूप है। शक्ति सृष्टि की विधात्री है। शृगार सृष्टि का मूल मन्त्र है। अत लास्य मे शक्ति-रूपा पार्वती का सहयोग उचित है। ताण्डव नृत्य वे अकेले करते हैं। विधात्री शक्ति का सहरण उनके सहारक रूप मे हो जाता है। नृत्य प्राचीनतम कला है। शिव के नृत्य को कला का प्रतीक मान सकते हैं। वे नटराज कहलाते हैं और नृत्य के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। व्याकरण आदि शब्दमय शास्त्रो का उद्गम भी शिव के डमरूनाद से ही माना जाता है। दर्शन और अध्यात्म के अन्य अनेक शास्त्र शिव के द्वारा ही प्रवर्तित माने जाते हैं। शैव दर्शन का 'शिवसूत्र तो उनका साक्षात् प्रसाद है। समस्त व्याकरण शास्त्र का विस्तार चौदह माहेश्वर सूत्रो से हुआ है। कलाओ और शास्त्रो के आदि-प्रवर्तक के रूप में भी शिव लोक के सास्कृतिक मगल के प्रतीक है। कला और शास्त्र का सास्कृतिक जीवन म बडा महत्त्व है। आत्मिक समृद्धि का लोक मे विस्तार इन्ही रूपो मे होता है। शैव-तन्त्रो म शक्ति का नाम ही कला है। कला शक्ति का प्रथम स्फुरण है। प्रसिद्ध कलाये और शास्त्र शिव की सृजनात्मक शक्ति की सास्कृतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। **शिव का रूप जहाँ तप और योग से समन्वित अध्यात्म का प्रतीक है, वहाँ दूसरी ओर वह कला और शास्त्रो की सास्कृतिक अभिवृद्धि का प्रेरक भी है। इस प्रकार शिव के रूप में पार्थिव आधार, सास्कृतिक विकास और अध्यात्म का अद्भुत समन्वय मिलता है।**

शिव के कठ के सर्प उनके रूप को अद्भुत बना देते हैं। हम विषधर सर्पो से दूर रहते हैं, क्योकि उनसे हमे मृत्यु का भय रहता है। अनर्थकारी दुष्टो के लिए 'सर्प' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है। दुष्टो से भी हम भयभीत और दूर रहते हैं। किन्तु उनसे केवल दूर रहने से समाज की समस्या का समाधान नही हो सकता। इस समस्या के समाधान के दो मार्ग हैं— एक मार्ग दुष्टो के दलन का है और दूसरा मार्ग उनके उन्नयन का है। इन दोनो मार्गो म विकल्प नही है। दुष्टो के स्वभाव भेद के अनुसार दोनो ही मार्गो की आवश्यकता होगी। शिव के रूप मे इन दोनो ही मार्गो के सकेत हैं। उनका त्रिशूल दुष्टो के दलन का शस्त्र है। दूसरी ओर विषधर सर्प उनके कठहार बने हैं। स्नेह और आदर देने से

दुष्ट भी सुधर सकते हैं और समाज के शान्ति-प्रिय सदस्य बन सकते हैं, जिस प्रकार विषधर सर्प शिव के अलकार बन गये। इसके लिए कुछ निर्भयता और सत्कार का भाव अपेक्षित है। दुष्टों की अनीति और उनके अतिचार की समस्या समाज की कठिन समस्या है। एकागी अहिंसावाद से उसका उपचार नही हो सकता। शिव के रूप के द्वारा लक्षित दोनो मार्गो का समन्वय ही इस उपचार का एक मार्ग है। इस मार्ग से अनीति का उपचार करने पर ही लोक का मगल पूर्ण, स्थिर और अभ्रान्त हो सकता है; अन्यथा अनीति के सम्बन्ध में भ्रम, आशंका, आतंक आदि का बना रहना निश्चित है। काम-दहन, साधना और स्वेच्छा से संस्कृत विवाह, दुष्टो का दलन, दुष्टो का उन्नयन आदि विविध रूपों में अनीति का समाधान समाहित कर शिव का रूप सामाजिक मंगल का एक समृद्ध आदर्श उपस्थित करता है।

अनीति के समाधान का एक अन्य गम्भीर मार्ग शिव के नील-कंठ रूप में मिलता है। समुद्र-मन्थन के समय समुद्र से चौदह रत्न निकले थे, जिनमे विष वारुणी आदि भी थे। अमृत के ग्राहक तो सभी देवता थे, किन्तु विष को स्वीकार करने वाला कोई न था। महादेव ने यहाँ भी अपनी महानता दिखायी। किसी अन्य देवता के स्वीकार न करने पर उन्होने विष को स्वीकार किया और प्रसन्नता पूर्वक हलाहल का पान किया। कठगत करके स्वय शिव भी उस हलाहल को उदरस्थ न कर सके। उदरस्थ होने पर कोई भी पदार्थ शरीर मे आत्मसात हो जाता है। शरीर मे आत्मसात होने पर सभी विष घातक होते हैं, फिर उस घोर हलाहल की तो बात ही क्या है। सामाजिक व्यवस्था के मगलमय (शिव रूप मे) शरीर मे आत्मसात होने पर ससार रूपी समुद्र का घोर हलाहल घातक बन सकता है। अत शिव ने उसे कठ मे ही रोककर रखा। कठ केवल एक मार्ग है, वह हृदय, उदर आदि की भाँति शरीर का केन्द्रीय यन्त्र नही है। शिव के द्वारा कंठ में हलाहल का धारण अनीति के समाधान के तीसरे मार्ग का सकेत करता है। जीवन के सागर की गहराइयों मे छिपा हुआ दुष्टता का विष दुर्दमनीय है। उसका दलन कठिन है। प्रकट अनीति का दलन ही सम्भव है। स्नेह और सद्भाव से शिव के सर्पो की भाँति कुछ दुष्टो का उन्नयन सम्भव हो सकता है। किन्तु अनीति का कोई ऐसा रूप हो सकता है, जिसका समाधान दलन और उन्नयन दोनो मे किसी के द्वारा नही हो सकता। ऐसी अनीति के प्रति कुछ सहिष्णुता का मार्ग

अपनाना होगा, जैसा कि शिव ने हलाहल के प्रति अपनाया। किन्तु इस अनीति को ऐसे क्षेत्र पर सीमित करना होगा, जहाँ वह सक्रिय न हो सके और जहाँ से वह समाज के मंगलमय शरीर में व्याप्त होकर उसका विघात न कर सके। कंठ ऐसे ही माध्यमिक क्षेत्र का प्रतीक है। इस क्षेत्र में भी अनीति का कुछ कलुषकारी प्रभाव अनिवार्य है। शिव का कंठ भी हलाहल से नीला हो गया। किन्तु यह अनीति के पूर्ण उपचार की अन्तिम सीमा है, जो शिव के प्रतीक के व्यावहारिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण को सूचित करती है। अनीति के पूर्ण और सहज उच्छेदन की आदर्शवादी कल्पनाएं अव्यावहारिक और अयथार्थवादी हैं। शिव के प्रतीक में समाहित अनीति के उपचार के तीनों मार्गों का समन्वय इस समाधान का एक सन्तुलित व्यावहारिक और यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अनीति के इन गम्भीर समाधानों को समाहित करके शिव के प्रतीक की मांगलिकता भी अधिक परिपूर्ण, अधिक समृद्ध और अधिक यथार्थवादी बन गई है।

शिव के पौराणिक रूप के उपकरणों में सबसे अधिक अद्भुत उनके चूडालंकार हैं। बाघम्बर, त्रिशूल, सर्प, आदि ऐसे लौकिक उपकरण हैं, जिनकी संगति से हम साधारणतया परिचित हैं। शिव के अतिरिक्त अन्य लौकिक और सामान्य पुरुषों में भी ये उपकरण मिल सकते हैं। शिव के रूप के अंग बनकर ये उपकरण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अभिप्राय के वाहक बन गये हैं। किन्तु शिव के चूडालंकार अपने स्वरूप और संगति की दृष्टि से अलौकिक एवं अद्भुत हैं। शिव का तृतीय नेत्र तो पूर्णतः अलौकिक है। सामान्य पुरुष में उसकी संगति सम्भव नहीं है। उनके मस्तक की चन्द्रकला और जटा जूट से प्रवाहित गंगा ये दोनों हमारे परिचित उपकरण अवश्य हैं, किन्तु साधारण जनों में इनकी संगति की कल्पना नहीं की जा सकती है। शिव के ये तीनों चूडालंकार संगति की दृष्टि से जितने विचित्र हैं, तात्पर्य की दृष्टि से वे उतने ही अर्थ-सम्पन्न हैं।

शिव के तृतीय नयन का सम्बन्ध काम दहन से है। सामान्यतः शिव का रूप सर्वदा त्रिनयन है। किन्तु उनका तीसरा नेत्र सदा खुला नहीं रहता, वह सामान्यतः बंद रहता है। प्रलय के विनाश के समय ही वह खुलता है। एक बार कामदहन के समय भी वह खुला था। शिव का यह तृतीय नेत्र अग्नि-नेत्र है। इसने कामदेव को भस्म कर दिया था। प्रलय के समय खुलकर यह संसार को भस्म कर देता है। शिव का यह तृतीय नेत्र तप और साधना के दिव्य तेज का प्रतीक है।

शारीरिक होने की अपेक्षा यह तेज मानसिक और आत्मिक अधिक है। मस्तक मे इस तृतीय नेत्र की स्थिति यही सूचित करती है। मस्तक मानसिक और आत्मिक शक्ति का पीठ है। सामान्यत शक्ति मीलित रहती है। मूलाहार चक्र में कुडलिनी के शयन का यही अभिप्राय है। सामर्थ्य और सम्भावना की अवस्था का नाम ही शक्ति है; प्रकट और फलित होने से वह सृष्टि बन जाती है। तप और साधना की आध्यात्मिक शक्ति तो प्राय मीलित ही रहती है। शिव के तृतीय नेत्र के मालित रहने का यही रहस्य है। अवसर होने पर तप की वह शक्ति अपना कार्य करती है। इन कार्यो मे विनाश और सृजन दोनो ही सम्मिलित हैं। सृजन मगल का भावात्मक रूप है। जीवन का मगल स्वरूप से सृजनात्मक है। बाधा के निवारण और भूमिका के रूप मे इस सृजन के लिये विनाश भी अपेक्षित होता है। शिव का तृतीय नेत्र शक्ति के विनाशक रूप का प्रतीक है और शिव के जटाजूट की चन्द्रकला शक्ति के सृजनात्मक रूप की प्रतीक है। विनाश-विग्रह शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि इसी उग्रता की सूचक है। सृजन सौम्य और सुन्दर है। चन्द्रकला की सौम्यता और सुन्दरता सर्व विदित है। मागलिक व्यवस्था के क्रम में सृजन श्रेष्ठतर है। इसीलिये शिव के पौराणिक रूप में चन्द्रकला का स्थान उनके तृतीय नेत्र से ऊपर है। आवश्यक होते हुए भी विनाश विरूपता का कारण है। इसीलिये त्रिनेत्र शिव का नाम विरूपाक्ष है। तृतीय नेत्र से लक्षित तप और साधना का तेज मगल का एक आवश्यक साधन है। प्रकृति के अनुशासन, अनीति के उपचार आदि के लिये वह अत्यन्त आवश्यक है। केवल शारीरिक शक्ति इसके लिये पर्याप्त नही है। विनाशक शक्ति के मानसिक रूप का सकेत करने के लिये ही शिव के तृतीय नेत्र को मस्तक मे स्थान दिया गया है।

शिव के इस तृतीय नेत्र के चमत्कारो मे कामदहन सबसे अधिक प्रसिद्ध है। काम मनुष्य की सबसे अधिक प्रबल वृत्ति है। सृजन और आनन्द के अतिरिक्त काम अनेक अतिचारो और अनर्थो का हेतु भी बनता है। अत सास्कृतिक मगल के साथ समन्वय के लिये काम का नियत्रण आवश्यक है। यह नियत्रण आन्तरिक और आत्मिक शक्ति के द्वारा ही हो सकता है। शिव का कामदहन इसी नियत्रण का सूचक है। कामदहन के प्रसग में यह विदित है कि शिव ने काम की देह को भस्म किया था तभी से कामदेव को 'अनग' की सज्ञा मिली। देह या रूप प्राकृतिक और स्थूल है। कामदहन का अभिप्राय यही है कि काम के स्थूल रूप का नियत्रण

होना चाहिये। उसके सूक्ष्म रूप संस्कृति में अन्वित होकर आनन्द के स्रोत बन सकते हैं। कामदहन के बाद पार्वती के परिणय से यह प्रमाणित होता है कि शिव ने पूर्ण रूप से काम का विनाश नहीं किया। पूर्ण रूप से काम का विनाश सृष्टि और जीवन का विनाश है। पार्वती का परिणय यह संकेत करता है कि स्थूल और अतिचारी काम का दमन करके उसके सूक्ष्म और संस्कृत रूप का अन्वय मानव जीवन के लिये मंगलकारक है। शिव का कामदहन काम के इसी मांगलिक संस्कार का सूचक है। काम तथा अन्य अनीतियों का विनाशक होने के नाते शिव का तृतीय नेत्र जीवन के सांस्कृतिक मंगल का एक उच्च साधन है। शिव के पौराणिक रूप में उसका उच्च स्थान इस दृष्टि से उचित ही है।

शिव की चन्द्रकला उनके अलंकारों में सबसे अधिक विचित्र और सुन्दर है। कला और बिन्दु शैव तन्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। 'कला' शक्ति का पर्याय है। शिव की सृजनात्मिका शक्ति ही 'कला' कहलाती है। कला विकास का संकेत करती है। सृजन भी विकास है। चन्द्रकला सुन्दर होती है। सृजन भी स्वरूप से सुन्दर होता है। चन्द्रकला सृजनात्मक सौन्दर्य की सूचक है। सुन्दर होने के नाते चन्द्रमा सृजनात्मक ललितकलाओं को भी लक्षित करता है। 'शक्ति' सृजन सामर्थ्य है। तन्त्रों के मत में शक्ति शिव से अभिन्न है। एक ही सम्पूर्ण सत्य के अन्तर्मुख अनुभव रूप का नाम शिव है और उसकी बहिर्मुख अभिव्यक्ति की सामर्थ्य का नाम शक्ति है। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। अनुभव के आनन्द के बिना अभिव्यक्ति का सौन्दर्य शून्य है और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के बिना अनुभव शून्य एवं निष्प्राण है। इसीलिए शक्ति के बिना 'शिव' को 'शव' के समान माना जाता है। बिन्दु के दो अर्थ हैं। पाणिनि के अनुसार 'बिन्दु' का अर्थ 'वेत्ता' है (वेत्तीति बिन्दु) यह वेत्ता अनुभव और आत्मरूप शिव हैं। 'बिन्दु' का अर्थ 'शिव' हैं। शिव के लिंग इसी बिन्दु के स्थूल प्रतीक हैं। बीजमन्त्रों में चन्द्र और बिन्दु शक्ति और शिव के ही प्रतीक हैं। बिन्दु का दूसरा अर्थ अवयव है। (बिदिरवयवे)। शक्ति के सृजन की परम्परा में जो इकाइयाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें भी 'बिन्दु' कहते हैं। उनमे शिव रूप महारूप का अन्तर्भाव रहता है और सृजनात्मिका शक्ति की अभिव्यक्ति रहती है। यह बिन्दु एक परम्परा है। दो बिन्दुओं से विसर्ग ( )बनता है। एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु की उत्पत्ति यही विसर्ग अथवा सृष्टि का क्रम है। शिव स्वयं मूल अर्थ मे बिन्दु रूप हैं। क्योंकि वे

आत्मस्वरूप अथवा अनुभव स्वरूप हैं। इसीलिए शिव के पौराणिक रूप मे बिन्दु के प्रतीक का स्थान नही है, किन्तु उनकी अभिन्न शक्ति शक्ति की सूचक चन्द्रकला उनका चूडालकार है। शिव चन्द्रकला को शीश पर धारण करते हैं। तन्त्रो के मत मे शक्ति शिव की ललिता प्रेयसी है। वे उसका इतना आदर करते हैं कि उसे सिर पर धारण करते हैं। कृष्ण काव्य का "देख्यौ पलोटत राधिका पाँयन" इसी का समानान्तर भाव है। शिरोधार्य होने के साथ साथ चन्द्रकला शिव का अलकार भी है और उनके सौन्दर्य की वर्द्धक है। इस प्रकार शिव और चन्द्रकला (शक्ति) एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। यह परस्पर सम्भावन उस साम्य का व्यावहारिक रूप है। शिव की चन्द्रकला शिव और शक्ति के अभिन्न भाव, उनके साम्य, सृजनात्मक शक्ति के सौन्दर्य और शक्ति की महिमा की प्रतीक है। व्यवहार मे यह द्वितीया की बालकला मानी जाती है। किन्तु सिद्धान्तत यह प्रतिपदा की कला है। प्रतिपदा प्रतिपत्ति का पर्याय है और 'प्रतिपत्ति' का अर्थ 'विमर्श से युक्त अनुभव का प्रकाश' है। प्रतिपदा की यह चन्द्रकला प्रकाश और विमर्श के रूप मे शिव और शक्ति के साम्य की सूचक है। चन्द्रकला की यह अर्थ-सम्पत्ति विश्वमगल के अनेक तत्त्वो का उद्घाटन करती है और इस प्रकार शिव के मागलिक नाम को सार्थक बनाती है। इन तत्त्वो मे शक्ति का सृजनात्मक सौन्दर्य, शिव और शक्ति का साम्य, उनका परस्पर सम्भावन आदि मुख्य हैं। ये लोक-मगल के महिमामय और रहस्यमय सूत्र हैं। सैद्धान्तिक भाव के साथ साथ शिव-शक्ति अथवा शिव-पार्वती की उपमा से ये दाम्पत्य भाव मे भी अन्वित हो सकते हैं और लोक के सामाजिक मगल के पवित्र विधान बन सकते हैं।

शिव के विचित्र रूप के अलकारो मे उनके जटाजूट से प्रवाहित होने वाली गगा की धारा सबसे ऊपर है। उसका स्थान शिव के जटाजूट मे है और उसकी गति ऊर्ध्वमुखी है। गगा हिमालय से निकलती है और कैलाश पर शिव का निवास है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से भी गगा का शिव के साथ सयोग है। पौराणिक कथा के अनुसार गगा का अवतरण ब्रह्मा के कमडल से भूमि पर हुआ है। कथा इस प्रकार है कि सूर्यवशी राजा भागीरथ ने अपने पूर्वजो के उद्धार के निमित्त गगा को भूमि पर लाने के लिए तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर गगाजी भूमि पर आने को उद्यत हुई। किन्तु कठिनाई यह थी कि भूमि पर गगाजी का ठहरना सभव न था। वे पृथ्वी को पार कर पाताल मे चली जाती। गगाजी

के वेग को धारण करने वाली कोई भी शक्ति पृथ्वी पर नही थी। अत भागीरथ ने शिव की आराधना की। शिव ही गगाजी के वेग को जटाजूट मे धारण कर सकते थे। शिव के जटाजूट से निकल कर गगाजी की धारा भूमि पर प्रवाहित हुई है। गगा के अवतरण का यह रूपक विपुल सास्कृतिक और आध्यात्मिक अर्थ से परिपूर्ण है। तान्त्रिक अर्थ म गगा का अवतरण शक्तिपात का प्रतीक है। गगा का उज्ज्वल वग विद्युन्नाताकारा" कु डलिनी के समान है। साधक की देह मे कु डलिनी की गति निम्नन्दह ऊर्ध्वमुखी होती है किन्तु सिद्धान्तत तन्त्र मे शक्ति का पात ही मान्य है। शिव शक्ति को धारण करत हैं तभी वे शिव बनते हैं। तन्त्र के अतिरिक्त सामान्य आध्यात्मिक अर्थ मे गगा की धारा आत्मिक रस के ऊर्ध्वगामी प्रवाह की प्रतीक है। आत्मा चेतन्य स्वरूप है। चेतना एक अविकारी और अविच्छिन्न प्रवाह है। जलधारा आत्मा की इसी ऊर्ध्वगामी अविच्छिन्नता की द्योतक है। आत्मा पवित्र है। गगा जल भी पवित्र और अविकारी है। वर्षो तक एक पात्र मे रखा रहने पर भी वह सडता नही है। यह गुण ससार के किसी भी जल म नही है। रस और आनन्द के समान स्निग्धता भी जल म होती है। जो गगाजी का जल भर कर दूर ले जात हैं और फिर अपने घर जाकर गगाजली खोलते हैं उनकी ऐसी धारणा है कि उस गगाजली मे गगाजल उमडता है। यह भ्रम हो अथवा उसका कोई वैज्ञानिक आधार हो, फिर भी यह आत्मा की समृद्धि-शील वृत्ति को गगाजल के साथ प्राकृतिक अर्थ मे भी सगत बनाता है। पवित्रता अविकार्यता आदि के कारण ही गगा को ब्रह्मद्रव कहते हैं। गगाजल के प्राकृतिक गुण ब्रह्म के आध्यात्मिक गुणो के समान हैं। शिव के जटाजूट मे गगा का स्थान विचित्र शोभाकारक होने के साथ साथ अत्यन्त उपयुक्त भी है। मस्तिक चेतना का पीठ है। रसमयी, पवित्र, मधुर और आनन्दमय चेतना का उदय भी मस्तिष्क मे ही होता है। गगा की उज्ज्वल और पवित्र धारा चेतना के इसी उदय की सूचक हैं। चेतना का यह उदय जीवन का सर्वोच्च सत्य है। इसीलिए शिव के अलकारों मे गगा का सर्वोच्च स्थान है। चेतना का यह रूप सर्वोच्च सत्य होने के साथ साथ मानव के मगल का परम सूत्र भी है। गगा की धारा में शिव के मगलमय रूप की परम परिणति होती है।

इस प्रकार शिव के चरित के साथ-साथ शिव के पौराणिक रूप के विविध उपकरण पृथक-पृथक और सयुक्त रूप से मानवीय मगल के द्योतक हैं। उनके रूप

के ये उपकरण जिन तत्वो का सकेत करते है वे सभी तत्त्व मगल के विधायक है। शिव के चरित मे उनका शान्ति, साम्य और तप से युक्त दाम्पत्य लोक के सामाजिक मगल का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है। शिव का कामदहन इस मगल मत्र का सिद्ध कवच है। इसके अतिरिक्त व्याकरण, सगीत नृत्य आदि कलाओ के प्रवर्तक के रूप मे भी शिव मानव-मगल के विधायक हैं। शिव के पौराणिक रूप के उपकरण और अलकार भी मागलिक तत्वो का सकेत करते हैं। शिव का वाघम्बर और दिगम्बर वेप उनकी सरलता का द्योतक है। उनका आहार विहार भी सरल और मर्यादित है। ये सरलता और मर्यादा सभ्यता की वहिर्मुखी गति म सास्कृतिक मगल और आध्यात्मिक आनन्द का मार्ग निर्दशित करती हैं।

उनका भस्म-धारण भौतिकता के महत्त्व तथा सस्कृति और अध्यात्म के साथ इसके सामजस्य का सूचक है। उनका त्रिशूल अनीति के दलन का सदेश देता है तथा उनके सर्प दुष्टो के उद्धार के द्योतक हैं। शिव के रूप मे शान्ति और दमन दोनो के द्वारा अनीति के उपचार का मार्ग मिलता है। शिव का विषपान अनीति के उपचार के तीसरे मार्ग का भी सकेत करता है। उनका तृतीय नेत्र तप की विनाशक शक्ति का द्योतक है। उनके मस्तक की चन्द्रकला सृजनात्मक शक्ति की प्रतीक है। गगा की ऊर्ध्व मुखी धारा मे शिव के रूप और सस्कृति के लक्ष्य की परम परिणति होती है। रसमयी, पवित्र और अविकार्य चेतना का अखड और ऊर्ध्वगामी प्रवाह मानवीय मगल का परम सूत्र है। इस प्रकार शिव के चरित और पौराणिक रूप के विविध उपकरण लोक-मगल के विविध पक्षो को साकार बनाते है तथा शिव के नाम को सार्थक बनाते हैं। सब प्रकार से शिव लोकमगल के परिपूर्ण प्रतीक है। यह परिपूर्णता अन्य किसी देवता मे नही मिलती। इसीलिये शिव 'महादेव' कहलाते हैं। शिव का तान्त्रिक रूप भी मागलिक रहस्य को समाहित करता है। तन्त्रो के अनुसार 'शिव' आत्मा का वाचक है। शिव सूत्र मे शिव को आत्मा माना गया है। (शिव आत्मा) शिव' चिन्मय और आनन्द-मय है। यह प्रकाश स्वरूप है। शिव का यह आध्यात्मिक रूप वेदान्त के ब्रह्म के समान ही मगलमय है। शैव दर्शन के अनुसार शक्ति के साथ शिव की अभिनता है। शक्ति सृजनात्मक है। सृजनात्मक शक्ति के साथ शिव का साम्य आध्यात्मिक नि श्रेयस और लौकिक मगल के सामजस्य का विधान करता है। यह सामजस्य

शिव के वैवाहिक चरित में भी साकार हुआ है। इस प्रकार पौराणिक चरित, धार्मिक रूप, तान्त्रिक सिद्धान्त और आध्यात्मिक तत्व सभी रूपों में शिव का मांगलिक भाव प्रकाशित होता है। और 'शिव' के नाम को पूर्ण सार्थकता प्रदान करता है।

अध्याय २८

सत्य और शिवम्

शिवम् का सामान्य अर्थ कल्याण अथवा जीवन का मगल है। यह कल्याण जीवन का एक व्यापक और जटिल भाव है। इसमे अनेक तत्त्वो का समाहार हो सकता है। महादेव शिव के साथ कल्याण के वाचक शिवम् का शाब्दिक साम्य दोनो के भाव की समानता का सकेत करता है। इस साम्य का सक्षेप मे विवरण हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। महादेव शिव का पौराणिक चरित, धार्मिक रूप तथा तान्त्रिक और अध्यात्मिक स्वरूप मानवीय मगल की एक समृद्ध धारणा को लक्षित करते हैं। इनमे सामाजिक और सास्कृतिक जीवन के सनातन कल्याण के व्यापक और विविध तत्व समाहित हैं। यह समाधान शिव और शिवम् के शाब्दिक साम्य को सार्थक बनाता है। साहित्य की आलोचना मे शिवम् का प्रयोग सामान्यत कल्याण अथवा मगल के अर्थ मे ही होता है। आगे के अध्यायो मे हमने भी शिवम् का प्रयोग प्राय मगल के अर्थ मे ही किया है। महादेव शिव के पौराणिक, धार्मिक और आध्यात्मिक एव तान्त्रिक रूप से विश्व-मगल की यह कल्पना घनिष्ट रूप मे सम्बद्ध होने के कारण साहित्य मे शिवम् के विवेचन के क्रम मे शिव और शक्ति के प्रसग भी प्राय इस ग्रन्थ मे आये हैं। इन सभी प्रसगो मे शिव और शक्ति के मागलिक भाव का अन्वय ध्यान मे रखा गया है तथा मगल के सामान्य भाव मे अन्वित करके ही शिव और शक्ति के तान्त्रिक एव आध्यात्मिक रूप की व्याख्या की गई है।

साहित्य अथवा काव्य मे शिवम् अथवा श्रेय के स्थान का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व एक ओर सत्य तथा दूसरी ओर सौन्दर्य के साथ श्रेय के सम्बन्ध का कुछ स्पष्टीकरण उचित होगा। इस अध्याय मे हम सत्य और श्रेय के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। पिछले अध्यायो मे हम सत्य के दो रूपो का सकेत कर चुके हैं। सत्य का एक रूप व्यापक और दूसरा रूप सीमित है। व्यापक अर्थ मे सत्य जीवन और जगत के यथार्थ के साथ साथ जीवन के अभीष्ट लक्ष्य आदर्श अथवा मूल्य का भी वाचक है। सत्य की इस व्यापक कल्पना मे शिवम् और सुन्दरम् का भी

समाहार हो जाता है। शिव और सुन्दरम् भी जीवन के अभीष्ट लक्ष्य और मूल्य हैं। इस प्रकार व भी सत्य की व्यापक परिधि के अन्तर्गत आ जाते हैं। सत्य का यह व्यापक रूप सरल नही वरन् जटिल है। उसमे यथार्थ और उदासीन सत्ता अथवा वृत्ति के अतिरिक्त एक स्पृहणीयता का भाव भी समाहित है। यथार्थ सत्य के सभी रूप समान रूप से स्पृहणीय न हों यह भी सम्भव हो सकता है। विष और अनर्थ के समान हानिकारक यथार्थ अवाञ्छनीय माना जाता है। इनकी भी उपयोगिता सिद्ध करने वाले अन्तत इनम भी श्रेय का तत्त्व खोज कर इन्हें वाञ्छनीय सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुत सत्य का यथार्थ रूप केवल अनिवार्य सत्ता में सीमित है। उसकी सत्ता असंदिग्ध और अनिवार्य है। हित और अहित अथवा वाञ्छनीय और अवाञ्छनीयता के भाव उस अनिवार्य सत्ता के सम्बन्ध म अप्रासगिक हैं। सत्ता का यह यथार्थ और उदासीन रूप सत्य का सीमित रूप है। व्यापक अर्थ म जीवन के अभीष्ट आदर्श और मूल्य भी सत्य मे समाहित हो जाते हैं। किन्तु सत्ता और स्पृहणीयता के आधार पर हम सत्य के इन दो रूपो मे भेद करना होगा। सत्य का यह आदर्श और स्पृहणीय रूप ही शिवम् अथवा श्रेय माना जाता है। सत्य के उदासीन और यथार्थ रूप से विवेक करने के लिये इसे 'श्रेय' की पृथक सज्ञा दना उचित होगा। सामान्य व्यवहार म सत्य के व्यापक और सीमित दोना ही अर्थो म सत्य' शब्द का प्रयाग होता है। इसी कारण यथार्थ सत्य भाषण और ज्ञान रूप उदासीन सत्य को भी जीवन का स्पृहणीय लक्ष्य माना जाता है और इस प्रकार वे श्रेय के सन्निकट आ जाते हैं। ऐसे व्यवहार में सत्य का प्रयोग जीवन के अभीष्ट लक्ष्य मे होता है तथा जीवन के वाञ्छनीय मूल्यो को परम सत्य कहा जाता है। "प्रेम ही जीवन का सत्य है।" ऐसे कथन सत्य का प्रयोग श्रेय के अर्थ मे करते हैं। इन सकरित प्रयोगो मे एक ओर श्रेय को सत्य के अन्तर्गत और दूसरी ओर सत्य को श्रेय के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

किन्तु सत्य और शिवम् के रूपो मे समाहित होने वाले तत्त्वो मे अधिक स्पष्ट विवेक करने के लिये सत्य को यथार्थ और उदासीन सत्ता के अर्थ म सीमित रखकर जीवन के अभीष्ट लक्ष्य एव मूल्य को शिवम् अथवा श्रेय की सज्ञा देना अधिक उचित होगा। सत्य का यह रूप इस अर्थ मे सीमित है कि वह यथार्थ और उदासीन सत्ता तक ही सीमित है और जीवन के स्पृहणीय लक्ष्य उसकी परिधि के बाहर रह जाते हैं। देश काल की प्राकृतिक विमायें इस सत्य की मुख्य कोटियाँ हैं। इस सीमित

सत्य की अवगति अथवा कल्पना के लिये भी चेतना का अनुषग आवश्यक है। तर्क की यही मर्यादा दर्शन के विज्ञानवादो का सबसे बडा बल है। इसी आधार पर वे यथार्थवादो का खडन करते हैं। किन्तु शुद्ध विज्ञान वाद के अतिरिक्त अन्य विज्ञान वादी दर्शनो मे भी जो किसी भी रूप मे बाह्य सत्ता को स्वीकार करते हैं। यथार्थ की सत्ता और उसके स्वरूप को मूलत स्वीकार किया जाता है। यदि कान्ट के समान निर्वचन के लिये ज्ञान के अनुषग को अनिवार्य माना जाय तो फिर कान्ट के दर्शन के समान ही सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक दो रूप हो जाते हैं। फिर भी यथार्थ सत्य की स्वतन्त्र सत्ता और उसके स्वरूप की एक अन्तर्निहित धारणा शेष रह जाती है। इस प्रकार जहाँ अध्यात्मवाद के अनुसार शुद्ध यथार्थवाद असम्भव है और किसी न किसी रूप मे मानसिक तत्व का अनुषग सत्य की कल्पना मे अवश्य आ जाता है, उसी प्रकार अध्यात्मवाद का केवल एक ही रूप तर्कत सम्भव है, जिसे शुद्ध विज्ञानवाद कहा जाता है। बौद्ध परम्परा का योगाचार सम्प्रदाय और बार्कले का विज्ञानवाद इसके उदाहरण हैं। इस शुद्ध विज्ञानवाद की भी अनेक तार्किक कठिनाइयाँ हैं। इनमे सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि इसका प्रतिपादन नही किया जा सकता। इसका प्रतिपादन करना वस्तुत इसको खडित करना है। केवल मौन मान्यता ही इसका एक सगत रूप है। मौन की स्थिति मे भी व्यवहार और विचार मे बाह्य सत्ता का आभास मौन भाव से इसका खडन करता है। इस शुद्ध विज्ञानवाद के अतिरिक्त अध्यात्मवाद के अन्य सभी रूप उसी प्रकार अतर्कित रूप मे यथार्थ सत्य का परिग्रह करते हैं जिस प्रकार यथार्थवाद का प्रतिपादन अध्यात्मवाद के क्षितिज का स्पर्श करता है। यथार्थवाद की कठिनाइयो का प्रचार अध्यात्मवादी सम्प्रदायो मे बहुत किया गया है। यथार्थवाद की ओर से भी यथार्थवाद के प्रतिपादन और अध्यात्मवाद के खडन के लिए अनेक तर्क दिये गये हैं। ज्ञात नही कि किसी यथार्थवादी ने अध्यात्मवाद के विरुद्ध यह तर्क दिया है अथवा नही, कि एक दुस्साध्य शुद्ध विज्ञानवाद के अतिरिक्त अध्यात्मवाद के अन्य सभी रूप मूलत यथार्थवादी हैं क्योकि वे ज्ञेय जगत के आधारभूत यथार्थ सत्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्धान्तत स्वीकार करते हैं।

अस्तु यथार्थवाद और अध्यात्मवाद दोनो ही यथार्थ सत्ता के स्वतन्त्र रूप को स्वीकार करते हैं। स्वतन्त्र रूप मे यह सत्ता इस अर्थ मे उदासीन है कि मानवीय भावनाओ और अपेक्षाओ का आदर इसके स्वरूप का अग नही है तथा इसको

अवगति मे भी भाव का सम्लेष आवश्यक नही है। अध्यात्मवाद के आग्रह के अनुसार यदि ज्ञान का मानसिक अनुषग आवश्यक भी हो तो भी इसे भाव का अनुषग नही कहा जा सकता। 'ज्ञान' चेतना की एकमुखी प्रक्रिया है। एकमुखी होने के कारण वह उदासीन है। इसी लिए यथार्थ की अवगति उदासीन होती है। स्वरूप और अवगति दोनो ही दृष्टियो से यथार्थ उदासीन होता है। 'भाव' चेतना की उभयमुखी अर्थात् पारस्परिक वृत्ति है। एक प्रकार से वह चेतनाओ का सवाद है जो यथार्थ के सबन्ध मे कल्पनीय नही है। सम्पूर्ण यथार्थ जड न हो किन्तु यथार्थ का यह उदासीन रूप जडता के ही अनुरूप है। चेतना को भी हम यथार्थ मान सकते हैं किन्तु चेतना की ओर बढते ही यथार्थ का निर्धारण कठिन हो जाता है। चेतन यथार्थ मे भी भाव का सम्लेष आ जाता है। चेतन जगत के विवेचन की इन कठिनाइयो मे यथार्थवाद और अध्यात्मवाद की कठोर सीमायें विलय होने लगती हैं। इसी स्थिति मे सत्य और श्रेय की सीमायें भी विलीन होने लगती हैं। ऐसी स्थिति मे ही वेदान्त का ब्रह्म एक ओर परम सत्य और दूसरी ओर परमनि श्रेयम बना है। ब्रह्म की इस धारणा मे परम यथार्थ और परम भाव दोनो मिलकर एक हो गये हैं किन्तु चेतना के अवर धरातलो पर सत्ता और भाव, अवगति और भाव यथार्थ और सत्य, सत्य और श्रेय आदि का विवेक करना होगा। भाव ही इस विवेक का मुख्य आधार है। **चेतनाओ के संवाद में प्रकट होने वाला भाव ही यथार्थ और उदासीन सत्य से श्रेय का विभाजक है।**

इस भाव का सामान्य रूप साम्य है, जिसे हम समानता, सामजस्य, अविरोध, परस्पर सम्भावन आदि के अर्थ मे समझ सकते हैं। इसी साम्य के आधार पर श्रेय के आधारभूत भाव को 'समात्मभाव' कहा जा सकता है। समात्मभाव को हमने सभी सास्कृतिक मूल्यो का आधार माना है। यद्यपि सीमित अर्थ मे सत्य उदासीन और तटस्थ अवगति का विषय होता है फिर भी सत्य के साधक के मन मे सामाजिक समात्मभाव की अलक्षित प्रेरणा के बिना सत्य का अनुसधान सम्भव नही है। समात्मभाव का पूर्ण स्वरूप तो चेतनाओ के साम्य से बनता है किन्तु आत्मदान इस साम्य का एक महत्वपूर्ण अग है। **आत्मदान के बिना यह साम्य सम्भव नही हो सकता।** आत्मदान की स्पर्धा ही परस्पर सम्भावन के रूप में समात्मभाव के साम्य को दृढ और स्पष्ट बनाती है। कृष्ण काव्य के "दोऊ परै पैयाँ" मे यह आत्मदान ही सम्भावन बनकर समात्मभाव के साम्य का पोषक बना

है। यह आत्मदान अहकार की अर्गला बन कर ही समात्मभाव के साम्य का विधान करता है। चेतनाओ के साम्य की स्थिति स्पष्ट न होने पर यह आत्मदान एक निर्वैयक्तिक भाव बन जाता है। सत्य के अनुसधान मे यह निर्वैयक्तिकता अधिक स्फुट होती है। यही सत्य के अनुसधान को उदासीन और यथार्थ बनाती है। इस निर्वैयक्तिकता का कारण साधक के मन म अहकार का विगलन और समाज की भाँति उसकी चेतना की विषय लीनता है। सत्य साधक के अहकार का विलय वस्तुत अन्य व्यक्तियो के प्रति नही वरन् अनुसधेय विषय के प्रति होता है। सामाजिक व्यवहार मे उसकी विनय इसी विलय की प्रतिच्छाया है। सत्य के अनुसधान के विषय प्राय जड और बाह्य होते हैं। सजीव विषय भी अनुसधान के क्रम मे निर्जीव हो जाते हैं। जड और निर्जीव विषय के साथ चेतना का साम्य सामान्यत सम्भव नही है। भावना के प्रक्षेप के द्वारा कलात्मक जीवन तथा कलात्मक साधना मे यह सम्भव हो सकता है। इस प्रक्षेप के अभाव मे अचेतन विषयो क साथ भाव का सवाद सम्भव नही होता। भाव का यह प्रक्षेप सत्य के अनुसधान की तटस्थता मे बाधक होता है। अनुसधान क विषय का विषयभाव सुरक्षित रहता है और विषय रूप मे उसका अनुसधान सम्भव होता है। भाव प्रक्षेप की आत्मीयता और निकटता अनुसधान के अनुकूल न होकर अनुराग के अधिक अनुकूल होती है। सत्य के अनुसधान के लिये अपेक्षित तटस्थता, दूरी, बहिर्भाव आदि के कारण अनुसधान के विषय के साथ विषय-रूप म साधक का समात्मभाव सम्भव नही होता। केवल सामाजिक समात्मभाव की अलक्षित प्रेरणा सत्य के इस अनुसधान की प्रेरक शक्ति है। इसके अतिरिक्त सत्य के साधक के आत्मदान और विनय की भूमिका मे उसके मन मे समात्मभाव के लिये अपेक्षित भूमिका वर्तमान रहती है, यद्यपि सत्य की साधना क विषयनिष्ठ होने के कारण यह भूमिका अहकार-विहीन निर्वैयक्तिक विनय के रूप मे ही स्थिर रहती है तथा प्रत्यक्ष सामाजिक समात्मभाव के रूप मे उसके प्रतिफलन की सम्भावना बहुत कम रहती है। सत्य के सम्बन्ध मे साक्षात् समात्मभाव का अवसर सत्य के वितरण के प्रसग मे ही उपस्थित होता है।

अस्तु, सामाजिक समात्मभाव की अलक्षित प्रेरणा और वितरण मे व्यक्त समात्मभाव की सम्भावना के अतिरिक्त सत्य का अनुसधान तटस्थ और उदासीन होता है। इसके विपरीत शिवम् अथवा श्रेय के प्रसग में समात्मभाव साक्षात् रूप

में प्रतिफलित होता है। समात्मभाव की दृष्टि से सत्य और श्रेय का यह अन्तर स्पष्ट और महत्वपूर्ण है। श्रेय मूलत एक भाव है। 'भाव' संवेदना अथवा चेतना की आत्मगत स्थिति है। विषय के प्रभाव के रूप मे हम व्यक्ति के भाव की भी कल्पना नही कर सकते किन्तु वस्तुत यह भाव सामाजिक होता है। व्यक्ति के एकान्त म ऐन्द्रिक संवेदना से अधिक नही हो सकता। चेतना की विवृति के रूप मे यह भाव मूलत सामाजिक होता है। दूसरे शब्दों में 'भाव' मूलत सामाजिक होता है। 'भाव' चेतनाओं का परस्पर संवाद है। इस संवाद में समात्मभाव साक्षात् रूप में फलित होता है। श्रेय के श्रेष्ठतर रूप साक्षात् समात्मभाव और पारस्परिक भाव मे ही प्रकट होते हैं। श्रेय के प्राकृतिक रूपो की कल्पना व्यक्ति के सम्बन्ध में तथा व्यक्ति के साथ विषयो के प्रसग मे भी की जा सकती है। किन्तु केवल प्राकृतिक श्रेय मनुष्य जीवन मे कदाचित् ही मान्य होगा। पारस्परिक भाव के अभाव मे प्राकृतिक श्रेय का भी कोई मूल्य न रहेगा और वह कदाचित् ही मनुष्य का आकाक्ष्य रहेगा। मन्द चेतना के कारण पशुओं में प्राकृतिक व्यक्ति-वाद और श्रेय की स्थिति स्वस्थ और सहज है। किन्तु मनुष्य की समृद्ध चेतना के *कारण केवल प्राकृतिक श्रेय की स्थिति असाधारण, असह्य और उन्मादक बन* जायेगी। प्राकृतिक श्रेय की दृष्टि से भी श्रेय के अन्वय की दिशा सत्य के अन्वय की दिशा से भिन्न है। सत्य के अन्वय की दिशा साधक की ओर से विषय की ओर है। सत्य के अनुसधान मे विषय ही प्रधान होता है। श्रेय के अन्वय की दिशा विषय से मनुष्य की ओर होती है। मनुष्य ही प्रधान होता है। किन्तु विषय का मनुष्य मे अन्वय साक्षात् समात्मभाव की भूमिका के बिना सफल नही होता। मनुष्यो के परस्पर भाव संवाद की भूमिका मे ही प्राकृतिक श्रेय का यह अन्वय भी सफल होता है। अत चेतना के भाव-संवाद के रूप में साक्षात् समात्मभाव श्रेय का मूल आधार है। समात्मभाव के प्रसग में सत्य और श्रेय का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है।

सत्य को प्राय 'तत्व' भी कहते हैं। तत्व का अर्थ 'वस्तु का यथार्थ स्वरूप' है। सत्य के अनुसधान मे इसी का निर्धारण प्रमुख होता है। अत सत्य की दिशा वस्तुमुखी है। वस्तु की स्वतन्त्र और स्वरूपगत सत्ता ही सत्य का मूल मर्म है। मनुष्य उस सत्य की खोज करता है और मनुष्य के लिए उस सत्य का कुछ प्रयोजन भी हो सकता है। किन्तु इन दोनो रूपो मे ही सत्य के साथ मनुष्य का सबन्ध बहिर्गत

और आगतुक है। दोनों ही रूपो में मनुष्य के साथ सत्य का यह सम्बन्ध सत्य के स्वरूप को प्रभावित, निर्धारित अथवा निर्मित नहीं करता। सत्य के प्रयोजन को सत्य के स्वरूप का विधायक मान लेने पर सत्य की धारणा अपने सीमित अर्थ की परिधी को लाँघने लगती है और श्रेय के क्षितिजो की ओर बढती है। 'प्रयोजन' का तात्पर्य सत्य का मनुष्य के जीवन में अन्वय है। यही अन्वय श्रेय का मूल सूत्र है। प्राकृतिक उपयोग भी श्रेय के अन्तर्गत है और इस प्रयोजन का सरलतम रूप है। सिद्धान्त की दृष्टि से सत्य के प्राकृतिक प्रयोजन का अन्वय व्यक्ति के साथ सम्भव है। किन्तु वस्तुत वह सामाजिक समात्मभाव की भूमिका मे ही सार्थक होता है। श्रेय के श्रेष्ठतर रूपो मे समात्मभाव का यह आधार अधिक स्पष्ट और दृढ होता जाता है। समात्मभाव मूलतः श्रेय के स्वरूप का विधायक है। समात्मभाव के मूल से ही श्रेय की अन्य शाखायें पोषण प्राप्त करती हैं। सिद्धान्तत व्यक्तिगत प्रतीत होते हुए भी प्राकृतिक श्रेय भी समात्मभाव के आधार पर ही मनुष्य जीवन मे फलित होता है। सीमित अर्थ में सत्य का प्रयोग करने पर समात्मभाव, सत्य के स्वरूप का 'विधायक' नहीं है। सत्य और श्रेय के स्वरूप में यह एक महत्वपूर्ण अन्तर है।

श्रेय की परिकल्पना मे अनेक उपकरणो, क्रियाओ, सबन्धो आदि का समाहार होता है। ये सब मिलकर श्रेय के रूप को सम्भव, सफल और सार्थक बनाते हैं। किन्तु मूल रूप में श्रेय चेतना का एक भाव है। प्रत्यक्ष रूप मे व्यक्ति इस भाव का अधिष्ठान होता है। व्यक्ति की चेतना ही भाव के रूप मे साकार होती है। किन्तु वस्तुतः समात्मभाव के पारस्परिक संवाद में ही यह भाव पोषित होता है। सम्बन्ध की दृष्टि से पारस्परिक सम्बन्ध मे ही श्रेय का भाव साकार होता है। आन्तरिक रूप मे इस भाव की अभिव्यक्ति चेतनाओ के उस पारस्परिक साम्य की स्थिति मे होती है जिसे हमने 'समात्मभाव' का नाम दिया है। समात्मभाव के मूल से श्रेय के विशेष भावो की शाखाएँ पोषित होती हैं। यह समात्मभाव ही जीवन के मगल का मूल स्रोत है। इसीलिये श्रेय के साकार विग्रह-रूप शिव की महाभाव के रूप मे उपासना की जाती है। शैव तन्त्रो मे शिव को शक्ति मे अभिन्न मानते हैं। शक्ति शिव की सृजनात्मिका शक्ति है वह विश्व का विधान करती है। शिव और शक्ति की अभिन्नता को हम श्रेय और सत्य की अभिन्नता के रूप मे समझ सकते हैं। अभिन्नता का अर्थ यही है कि दोनो एक दूसरे के बिना

एकाङ्गी और अपूर्ण हैं। एक से पृथक दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती और न एक के बिना दूसरा सफल एवं सार्थक हो सकता है। विवेचन के लिये हमने सत्य और श्रेय के स्वरूप का पृथक पृथक निर्धारण किया है। सत्य के अर्थ को सीमित बनाकर ही यह संभव हो सका है। किन्तु इस प्रकार विवेचन में पृथक होते हुए भी यह व्यवहार में पृथक नहीं है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शक्ति और शिव पृथक नहीं होते। सत्य का तटस्थ और उदासीन अनुसंधान सम्भव और अपेक्षित है तथा प्रत्यक्ष रूप में श्रेय का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु समात्मभाव के अन्तर्गत आधार और उसकी मौलिक प्रेरणा के बिना यह अनुसंधान सम्भव नहीं है। समात्मभाव श्रेय का मूल स्रोत है। इस दृष्टि से सत्य के उदासीन अनुसंधान में भी श्रेय का अन्तर्भाव रहता है। इसी प्रकार यद्यपि मौलिक रूप में श्रेय चेतनाओं का पारस्परिक भाव है किन्तु सत्य के विविध रूप उपकरण बनकर उसके साथ बँधे रहते हैं। इन उपकरणों के बिना श्रेय उसी प्रकार शून्य रहता है जिस प्रकार शक्ति के बिना शिव केवल स्थाणु अथवा शव रह जाते हैं। शिव और शक्ति की अभिन्नता की भांति सत्य और श्रेय की अभिन्नता को मानकर उनके स्वरूप का अन्तर भाव और तत्व की गौणता एवं प्रधानता के आधार पर किया जा सकता है। सत्य मूलतः तत्व का स्वरूप है। समात्मभाव के स्वरूप में श्रेय का सूत्र सत्य में भी अन्तर्निहित है। किन्तु श्रेय के अन्य स्फुट रूपों और भावों के साथ सत्य का आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। सत्य इनका उपकरण बन सकता है किन्तु यह सम्बन्ध सत्य के स्वरूप का विधायक नहीं है। अतः इसे गौण मान सकते हैं। इसी प्रकार श्रेय का मुख्य रूप 'भाव' है। किन्तु यह भाव सत्य के उपकरणों में ही साकार होता है। श्रेय के स्वरूप में भाव को प्रधान और इन उपकरणों को गौण मान सकते हैं। फिर भी सत्य की उदासीनता के कारण इतना अन्तर है कि सत्य का स्वरूप श्रेय के भावों के बिना ही पूर्ण हो जाता है। सत्य के लिए यह भाव आवश्यक रूप से अपेक्षित नहीं है, क्योंकि सत्य का यह दृष्टिकोण वस्तुतः श्रेय का ही दृष्टिकोण है। किन्तु श्रेय के लिए सत्य के उपकरण आवश्यक हैं इनके बिना श्रेय साकार और सफल नहीं हो सकता, यद्यपि श्रेय का मुख्य और मूल स्वरूप भाव में ही निहित है।

सत्य और श्रेय में समात्मभाव की स्थिति और भाव के प्रसंग में उक्त भिन्नता होने के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं। मानवीय व्यापार होने के नाते

सत्य का अनुसधान और श्रेय की साधना दोनों ही चेतना की क्रियाएँ हैं। किन्तु सत्य का अनुसंधान करने वाली चेतना उदासीन होती है। इसके विपरीत श्रेय का साधन करने वाली चेतना भाव-प्रवण होती है। उदासीन चेतना दर्पण की भाँति होती है जो विषय, सत्ता अथवा तत्व को यथार्थ रूप मे ग्रहण अथवा प्रतिबिम्बित करती है। सत्य के अनुसंधान अथवा ज्ञान की यह चेतना ग्रहणात्मक है, रचनात्मक नहीं जैसा कि कान्ट मानते हैं। अध्यात्मवाद के तर्क के अनुसार सत्ता और सत्ता के रूप (काल, दिक् आदि) की कल्पना अनुभव के आधार से पृथक नहीं की जा सकती। फिर भी जिस प्रकार ऐसी स्थिति मे भी सत्ता अनुभव की सृष्टि नही है, उसी प्रकार सत्ता के रूप भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। वे चेतना की 'सृष्टि' नहीं हैं। उनकी सापेक्षता भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता का खडन नही करती। सत्य के सभी रूपो के अनुसधान मे यथार्थता का आश्रय और विश्वास रहता है। यथार्थता के आश्रय के कारण सत्य के स्वरूप और विधान मे एक अनिवार्यता होती है जो अनुसधान-कर्ता के लिये विवशता का कारण बन जाती है। सत्य का अनुसधान करने वाले अपने अहकार को त्याग कर सत्य के प्रति अपने को समर्पित कर देते हैं। अत वे इस विवशता का अनुभव विवशता के रूप मे नही करते। सत्य के समक्ष उनकी स्थिति ऐसी ही होती है जैसी कि ईश्वर के समक्ष समर्पण करने वाले भक्तों की होती है। तटस्थ और उदासीन होते हुए भी यह सत्य अनुसधान-कर्ताओं का भगवान ही है।

इसके विपरीत श्रेय की साधना करने वाली चेतना भाव-प्रवण होती है। भाव को हमने चेतनाओं का सवाद माना है जो साम्य से सुशोभित होता है। भाव की इस पारस्परिकता मे चेतना की उदासीनता भग हो जाती है और उसमें एक उल्लास उदित होता है। भावगत चेतना दर्पण के समान न होकर ज्वार की तरगो के समान होती है जो चन्द्रमा के आलोक से प्रकाशित होने के साथ-साथ उल्लसित भी होती है। समात्मभाव की दृष्टि से हमने सत्य और श्रेय में यह अन्तर किया है कि काल्पनिक समात्मभाव का आधार 'सत्य' के अनुसंधान को प्रेरित करता है, जबकि साक्षात् समात्मभाव 'भाव' के स्वरूप का विधायक है। प्राकृतिक सत्य के उपकरण श्रेय के भावो के अवलम्ब बन सकते हैं। किसी सीमा तक इस अवलम्ब की आवश्यकता भी मान सकते हैं। किन्तु भाव का स्वरूप चेतना से ही निर्मित होता है। चेतना भाव के स्वरूप का उपादान तत्व है। इसके साथ-साथ

चेतना भाव की विधायक भी है। दर्शन की भाषा मे यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म जगत का उपादान कारण है तथा निमित्त कारण भी है, उसी प्रकार चेतना भी भाव का निमित्त एवं उपादान कारण दोनो ही है। सत्य के समान केवल उदासीन ग्रहण अथवा प्रतिबिम्बन से भाव का निर्माण नहीं होता। भाव का प्रसव करने वाली चेतना रचनात्मक होती है। सत्य के उपादानों के अवलम्ब से वह भाव के चिन्मयस्वरूप का सृजन करती है। साक्षात् समात्मभाव और पारस्परिकता के अन्तर के अतिरिक्त यह रचनात्मकता भी श्रेय की एक ऐसी विशेषता है जो उसे उदासीन सत्य से पृथक् करती है।

इस रचनात्मकता के मूल मे भाव की विधात्री चेतना की स्वतन्त्रता रहती है। स्वतन्त्रता के आधार के बिना रचना सम्भव नही है। स्वतन्त्रता रचना की शक्ति और उसका मूल रहस्य है। सत्य की इस चेतना को भी हम ज्ञान के प्रकाशन के अर्थ मे स्वतन्त्र मान सकते हैं किन्तु ज्ञान के विषय और रूप के सम्बन्ध में वह यथार्थ के पराधीन होती है। भावागत चेतना भाव के स्वरूप और उसकी सत्ता दोनों की रचना के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र होती है। साक्षात् समात्मभाव भाव का वैभव है। यह स्वतन्त्रता भाव का सबसे बडा गौरव है। इस स्वतन्त्रता का बीज चेतना की संकल्प-शक्ति में रहता है। मनोविज्ञान भी सकल्प के साथ भाव का सम्बन्ध मानता है। तन्त्रो और दर्शनों के अध्यात्म में भी सकल्प अथवा इच्छा की शक्ति को शिव-रूप भाव की प्राण-प्रेरणा मानते हैं। सकल्प वस्तुत चेतना की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। वह चेतना का व्यक्त और रचनात्मक रूप है इसीलिए तन्त्रो मे इच्छा-शक्ति को विश्व की विधायिनी मानते हैं। सकल्प और चेतना की स्वतन्त्रता प्रकट और सक्रिय हो जाती है। रचनात्मकता और संकल्प-मूलकता भाव की विशेष विभूतियां हैं। इन विभूतियों के द्वारा भाव-सौन्दर्य के अधिक अनुरूप बनता है। इसी अनुरूपता के कारण तन्त्रो की इच्छा-शक्ति को 'सुन्दरी' की सज्ञा मिली है। कला का सौन्दर्य भी रचनात्मक है। वह स्वतन्त्र चेतना के द्वारा रूप की रचना है। यह रचनात्मकता भाव और कला के साम्य का रहस्यमय सूत्र है। इसी सूत्र के द्वारा श्रेय के भावो का कलात्मक सौन्दर्य के साथ ऐसा सामजस्य सम्भव होता है जैसा कि सत्य का कला के साथ नही हो पाता। सत्य के अनुसधान मे भी सकल्प की प्रेरणा होती है। किन्तु वह समात्मभाव के आधार की भांति अलक्ष्य और दूरगत होती है। जिस प्रकार साक्षात् समात्मभाव सत्य के

स्वरूप का विधायक नहीं है उसी प्रकार सकल्प भी सत्य के स्वरूप का विधायक नहीं है। **इसके विपरीत भाव का स्वरूप सकल्प की स्वतन्त्रता और चेतना की रचनात्मकता से साक्षात् समात्मभाव की भूमिका में निर्मित होता है। सकल्प, स्वतन्त्रता और रचनात्मकता 'भाव' के विधायक हैं।**

सत्य और श्रेय के उक्त विवेचन के आधार पर काव्य और कला के साथ इनके सम्बन्ध का निर्धारण किया जा सकता है। **अपने स्वरूप में कला सौन्दर्य की साधना है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है, रूप में ही सौन्दर्य का स्वरूप निहित है।** वाद्य सगीत के समान केवल रूपात्मक कला भी सम्भव हो सकती है, जिसमे किसी प्रकार के अर्थ तत्व का आधान नहीं रहता। चित्रकला की अल्पनाएँ तथा स्थापत्य कला की पच्चीकारी आदि मे भी कला की यह रूपात्मकता साकार होती है। रूप को पूर्णतया तत्व से अलग करना कठिन है। इस दृष्टि से शुद्ध रूपात्मक कला की कल्पना कदाचित असगत है। वाद्यसगीत और अल्पनाओ मे भी वायुमडल वाद्य-यन्त्र, चित्रफलक पत्थर, आदि के रूप मे तत्व का आधार खोजा जा सकता है। किन्तु वस्तुत यह कला के नैमित्तिक उपादान मात्र हैं। आधार के रूप मे ये उपादान आवश्यक अवश्य हैं। किन्तु कला के रूप मे समाहित तत्व का स्थान इन्हे नही दिया जा सकता। **कला की सम्पूर्ण रचना में समाहित तत्व ही कला के रूप का प्रतियोगी होता है।** यह शब्द, आकाश, वायु फलक, पत्थर आदि के समान कोई सामान्य उपादान नही होता वरन् वस्तु अर्थ आदि के समान कोई विशेष उपादान होता है। यह विशेष उपादान एक विशेष रूप से युक्त होता है। कला रूप के अतिशय की रचना अवश्य है और वह प्राय रूप के अतिशय मे तत्व को अन्वित करती है। वाद्य-सगीत के समान कुछ शुद्ध कलाय ही इसका अपवाद हो सकती हैं। कला की इस रूप-रचना के प्रसग मे यह ध्यान देने योग्य है कि कला मे तत्व के रूप मे जिन उपकरणो का ग्रहण होता है, उनमे, कला मे समाहित होने के पूर्व, रूप अन्वित रहता है। ये उपकरण सामान्य तत्व नही वरन् विशेष पदार्थ होते हैं। रूप का अभिन्न अन्वय ही इन्हे यह विशेषता प्रदान करता है।

इस प्रकार यदि कलाओ के रूपो मे सामान्यत तत्व का अभिन्न अन्वय रहता है तो दूसरी ओर कला का तत्व बनने वाले उपकरणो मे रूप का अभिन्न अन्वय रहता है। इस प्रकार रूप और तत्व प्राय अभिन्न रहते हैं। शक्ति और शिव की भाँति रूप और तत्व का भी कला मे अभिन्न भाव रहता है। वाद्यसगीत आदि

कुछ कला के रूपो को छोडकर सामान्यत शुद्ध रूपात्मक कला सम्भव नही है। वस्तु, अर्थ आदि के रूप मे तत्व का आदान करके ही कला का रूप साकार होता है। रूप और तत्व के सामजस्य में ही कदाचित कला की सम्पूर्णता साकार होती है। फिर भी इतना मानना होगा कि कला का विशेष स्वरूप रूप में ही रहता है। रूप ही कला का सौन्दर्य है और रूप की रचना ही कला है। इसीलिए संस्कृत भाषा में 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बन गया है, और तन्त्रों की सृजनात्मिका कलाशक्ति को सुन्दरी की सज्ञा प्रदान की गई है। कला की रचना मे निस्सन्देह तत्व को रूप से पृथक नही किया जा सकता और सामान्यत तत्व के बिना रूप की रचना सम्भव नही है। अत वस्तु, अर्थ, आदि के रूप मे तत्व का सन्निधान कला के रूप में अभिन्न भाव से रहता है। किन्तु कला मे ग्रहित ये तत्व ऐसे नही होते जिनका ग्रहण केवल कला म ही किया जाता हो। कला से पृथक भी जीवन के कलाहीन अनुभवो तथा कलाहीन शास्त्रों एव विज्ञानो मे ये तत्व अधिक स्पष्टता एव प्रमुखता से ग्रहण किये जाते हैं। प्रमुखता का अभिप्राय यह है कि रूप की तुलना मे इन तत्वो की प्रधानता रहती है। उपयोगितावादी जीवन और तत्ववादी शास्त्रो एव विज्ञानो मे तत्व का ही प्रमुख महत्व होता है। रूप के सौन्दर्य का इनमे कोई विशेष महत्व नही रहता। तत्व का उपयोग अथवा उसकी अवगति ही इनका मुख्य उद्देश्य होता है। उपयोगिता के प्रसग मे तो फलो के भक्षण की भाँति प्राय रूप को नष्ट किया जाता है। कला अथवा काव्य मे जिन तत्वो को उपादान के रूप मे ग्रहण किया जाता है उन तत्वो को रूप के सौन्दर्य से रहित जीवन के अनुभवो तथा शास्त्रो और विज्ञानो मे प्राप्त कर हम इस स्थिति का अवगम कर सकते हैं कि बिना कलात्मक रूप के भी उन तत्वों का निदर्शन सम्भव है। इस स्थिति मे वे तत्व कलात्मक रूप से अलग हो जाते हैं। अस्तु, कला की सम्पूर्ण रचना मे सामान्यत रूप और तत्व अभिन्न रहते हैं किन्तु अन्य स्थितियो मे वे ही तत्व कलात्मक रूप से अलग हो जाते हैं। अस्तु कला की सम्पूर्ण रचना मे सामान्यत रूप और तत्व अभिन्न रहते हैं, किन्तु अन्य स्थितियो मे वे ही तत्व कलात्मक रूप से पृथक निदर्शित होते हैं। जीवन के उपयोगितावादी अनुभवो तथा शास्त्रों एव विज्ञानो के अतिरिक्त साहित्य की आलोचनाओं मे भी इन तत्वों का विवेचन मिलता है। प्राय. आलोचनाओ में कलात्मक रूप के सौन्दर्य से अलग करके विविक्त रूप में ही तत्वो का निरूपण किया जा सकता है। रामचरितमानस, कामायनी, आदि

महाकाव्यों के दार्शनिक विवेचनों में रूप के सौन्दर्य से विलग्न तत्व का निदर्शन विपुलता से मिलता है।

अस्तु, चाहे सामान्यत तत्व से रहित कलात्मक रूप की कल्पना न की जा सकती हो किन्तु जीवन के अनुभवों तथा शास्त्रों एवं विज्ञानों में वही तत्व कलात्मक रूप से विरहित अवस्था में भी मिलता है। ऐसी अवस्था में वह तत्व कला का उपादान नहीं होता और न कला की रचना करता है। **इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कला का स्वरूप और सौन्दर्य मूलतः एवं मुख्यतः उसके 'रूप' में ही निहित है, यद्यपि सामान्यतः 'तत्व' को ग्रहण करके ही यह रूप साकार होता है।** तत्व की दृष्टि से इस तत्व की कुछ विशेषता भी हो सकती है तथा यह तत्व कलात्मक रूप का उपकारक भी हो सकता है। **किन्तु कला का विशेष स्वरूप और सौन्दर्य उस रूप में ही निहित है, जिसमें यह तत्व आकार ग्रहण करता है और अभिव्यक्त होता है।** रूप और तत्व का अभिन्नभाव मानवीय अनुभव की एक सरल और अनिवार्य स्थिति मात्र है। किन्तु उनकी यह अभिन्नता कलात्मक रचना में रूप की विशेष महिमा को मन्द नहीं करती। यह अभिन्नता कला की एक सामान्य परिस्थिति मात्र है। **कला की रचनात्मकता विशेषतः रूप की रचना में प्रकट होती है।** रूप के क्षेत्र में ही रचना का विशेष अवकाश भी है। तत्व की रचना सामान्यतः मनुष्य का अधिकार नहीं है। अधिकांश तत्व प्रकृति अथवा ईश्वर की देन है। तत्व की रचना कुछ अवतारी पुरुष ही करते हैं। जिन्हें ईश्वर का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह तत्व प्राकृतिक नहीं वरन् सामाजिक एवं सांस्कृतिक होता है। प्राकृतिक तत्व तो निसर्ग की रचना है। सामाजिक और सांस्कृतिक तत्व की रचना करने वाले कवि एक प्रकार से अवतारी पुरुष ही हैं। जो तत्व जीवन की वास्तविकता का अनुवाद नहीं है वरन् किसी परिमाण में कलाकार की कल्पना अथवा रचना है उसे कलाकार की सृष्टि माना जा सकता है। **किन्तु यह तत्व भी उसकी कला का उपादान मात्र है। उसकी कला का स्वरूप और सौन्दर्य 'रूप' में ही निहित रहता है।** जीवन के उपयोगी अनुभवों तथा शास्त्रों एवं विज्ञानों में जहाँ कहीं तत्व कलात्मक सौन्दर्य के विरहित तात्विक प्रमुखता के साथ मिलता है वहाँ भी तर्क-दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वह तत्व रूप से रहित नहीं है। यह तर्क केवल तर्क नहीं है, यह एक यथार्थ स्थिति का निदर्शन है। शुद्ध रूपात्मक कलाओं में तत्व से रहित रूप के सौन्दर्य की कल्पना

की जा सकती है। किन्तु अनुभव की किसी भी स्थिति मे रूप से रहित तत्व की उपलब्धि सम्भव नही है। जीवन के उपयोगी अनुभवो तथा शास्त्रो और विज्ञानो मे ग्रहीत तत्व भी रूप से रहित नही होता। किन्तु यह रूप उस तत्व का सहज और अनिवार्य अनुषग मात्र होता है। वह रूप किसी की रचना नहीं होता और न उसमें किसी प्रकार का अतिशय होता है। जहाँ हम इन सहज और अनिवार्य रूप मे भी सौन्दर्य देखते हैं वहाँ उसमें हम दैवी रचना का आरोपण करते हैं अथवा निरुपयोगिता आदि की दृष्टि से उसमे रूप का अतिशय देखते हैं। सामान्यत वह रूप एक सहज और अनिवार्य अनुषग ही रहता है जो रचना और अतिशय से रहित होने के कारण कलात्मक सौन्दर्य का विधायक नही बनता। ऐसे रूप का अनुषग रहते हुए भी जीवन के उपयोगी अनुभवो तथा शास्त्रो एव विज्ञानो मे तत्व ही प्रमुख रहता है। इसके विपरीत कला एव काव्य म रचना और समृद्धि से अन्वित रूप का अतिशय ही प्रधान होता है। इसी रूप के अतिशय मे कला और काव्य के कलात्मक स्वरूप का सौन्दर्य निहित रहता है।

यदि कला के स्वरूप का सौन्दर्य प्रधानत रूप में ही निहित है तो यह एक विचारणीय प्रश्न है कि सत्य और श्रेय का कला एव काव्य में क्या स्थान है? अपने मूल रूप मे सत्य और श्रय जीवन के तत्व ही हैं। सामान्यत तत्व रूप से रहित नही होता इस दृष्टि से सत्य और श्रेय के तत्व मे भी रूप का अनिवार्य अनुषग रहता है। किन्तु इस रूप मे रचनात्मकता और अतिशय की विशेषता नहीं होती। इसीलिए वह रूप सौन्दर्य का विधायक नही होता। कला और काव्य की रचना मे सत्य और श्रेय का ग्रहण तत्व के रूप मे ही होता है। अत कला के साथ और श्रेय के सम्बन्ध का प्रश्न सामान्यत कला के रूप के साथ तत्व के सम्बन्ध का प्रश्न है। तत्व की दृष्टि से भी सत्य और श्रेय के स्वरूप मे कुछ अन्तर है। इस दृष्टि से सत्य और श्रेय दोनो का कलात्मक अन्वय समान विधि से न हो यह सम्भव है। सत्य और श्रेय के स्वरूप भेद के आधार पर कला के रूप सौन्दर्य के साथ उनके अन्वय मे भी कुछ अन्तर हो सकता है।

सत्य और श्रेय के स्वरूप का अन्तर ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। मुख्यत वह अन्तर सत्य की उदासीनता और श्रेय की भावक प्रवणता का अन्तर है। कला के रूप सौन्दर्य के साथ सत्य और श्रेय के सम्बन्ध के प्रसग मे सत्य की उदासीन सत्ता तथा श्रेय की भाव प्रवणता के प्रभाव का विशेषत विचार करना होगा। काव्य

के विषय मे यह अनेक वार स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य एक कला है और कला रूप का अतिशय है। कला का स्वरूप इस रूप के अतिशय मे ही निहित है। इतना अवश्य है कि वाद्यसगीत तथा अल्पनाओ के अतिरिक्त कदाचित ही कोई ऐसी कला है जो केवल रूपात्मक हो तथा जिनका तत्व के साथ अन्तरग सम्बन्ध न हो। *कला का सौन्दर्य रूप मे ही निहित रहता है। फिर भी वह सौन्दर्य किसी न किसी* तत्व को समाहित करके ही साकार होता है। यह रूप तत्व की ओर से उदासीन भी नही है। तत्व का स्वरूप अनेक प्रकार से इस रूप के सौन्दर्य को साकार बनाने मे योग देता है। शिव और शक्ति के समान तत्व और रूप का साम्य कला की पूर्णता का निर्माण करता है। काव्य का माध्यम सार्थक शब्द होता है। अत अर्थ का आदान काव्य के स्वरूप का आवश्यक लक्षण है। शब्द और अर्थ अथवा रूप और तत्व के साम्य से उत्तम काव्य की सृष्टि होती है, फिर भी परिभाषा और विवेक की दृष्टि से *यह ध्यान रखना होगा कि काव्य का कलात्मक सौन्दर्य* विशेषत अभिव्यक्ति के रूप मे ही निहित रहता है, चाहे तत्व का अपना स्वरूप *अनुकूलता और सहयोग के द्वारा इस रूप के सौन्दर्य को सम्भव और सम्पन्न बनाता* है। यह अनुकूलता और सहयोग की बात सभी तत्वो के साथ सही नही होती। जीवन और जगत के सभी तत्व स्वरूपत रूप के सौन्दर्य से युक्त अथवा अनुकूल नही होते। जीवन के जिन तत्वो को हमने सत्य की सीमित परिधि मे रखकर उन्हे उदासीन माना है उनमे रूप का स्फुट सौन्दर्य नही होता। ऐसे उदासीन तत्वों की ओर से काव्य के रूपगत सौन्दर्य को अधिक सहयोग नही मिलता। इसीलिये जिस काव्य मे इस उदासीन सत्य का तत्व के रूप मे ग्रहण होता है वह अधिक सुन्दर नही बन पाता। *साम्य की मन्दता के कारण उसका सौन्दर्य सम्पन्न नही होता।* प्रकृति-वर्णन और वृत्त वर्णन के काव्य इसके उदाहरण हैं। इतिवृतात्मक काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से *सबसे अधिक दीन माना जाता है। प्रकृति वर्णन का काव्य भी कलात्मक दृष्टि* से इतना ही दीन होता है। प्रकृति के स्वतत्र रूप मे भी कवि सौन्दर्य देखता है। प्रकृति के रूप का यह सौन्दर्य काव्य के सौन्दर्य से मिलकर उसे द्विगुणित बना देता है, यद्यपि सभी प्रकृति वर्णनो मे सौन्दर्य के दोनो रूपो का समवाय नही होता। इसीलिए प्रकृति के वर्णन भी काव्य की दृष्टि से बहुत कम सुन्दर होते हैं। कलात्मक सौन्दर्य से युक्त होने पर अथवा मानवीय भावो की भूमिका मे समवेत होने पर वे निस्सदेह अधिक सुन्दर बन जाते हैं। मानवीय भावो के आरोपण से

प्राकृतिक सत्य की उदासीनता दूर हो जाती है और वह कलात्मक सौन्दर्य के अनुकूल बन जाता है। भाव के स्वरूप मे रूप के अकुर उदित होने लगते है और वे काव्य एव कला मे रूप तथा तत्व के साम्य को अधिक सहज बनाते हैं। काव्य के साथ सत्य और श्रेय के स्वरूप का यह अन्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

स्वरूप की दृष्टि से सत्य और श्रेय मे अनेक अन्तर हैं। इनमें वे अन्तर अधिक विचारणीय हैं जो कला एव काव्य के साथ श्रेय के सामजस्य को प्रभावित करते हैं। सीमित अर्थ मे सत्य के सभी रूप उदासीन होते हैं। भाव का योग इस उदासीन सत्य का स्वरूपगत लक्षण नही है। श्रेय के प्राकृतिक रूप व्यक्तिगत हित की दृष्टि से तो उदासीन नही हैं किन्तु यदि 'भाव' को हम मनुष्यो के पारस्परिक भाव के अर्थ मे ही समझे तो इस भाव की तुलना मे प्राकृतिक श्रेय को भी उदासीन मानना होगा। पारस्परिक भाव के अभाव में और अकेलेपन की स्थिति में प्राकृतिक श्रेय भी उदासीन हो जाते है, यह एक सामान्य अनुभव है। इसीलिये सभ्यता के विकास मे प्राकृतिक श्रेयो के साथ साथ सामाजिक भाव की भूमिका विकसित हुई है। आधुनिक युग मे यह भूमिका क्रमश क्षीण हो रही है। इसीलिये आधुनिक जीवन मे उदासीनता बढ रही है। प्राकृतिक सत्य प्राकृतिक और सास्कृतिक प्रेम मे तथा प्राकृतिक श्रेय, सास्कृतिक श्रेय मे अन्वित होकर भाव पूर्ण बन जाते हैं। तत्व की दृष्टि से प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय दोनो उदासीन होने के कारण अभिधा के विषय है। अभिधा अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। उसमें रूप का सौन्दर्य इतना नही निखरता कि वह कला को आकार दे सके। तत्व की प्रधानता के कारण अभिधा विज्ञान और शास्त्र की रचना करती है। पारस्परिक भाव मे, जिसे हम सास्कृतिक श्रेय कह सकते हैं, तत्व का ऐसा उल्लास हो सकता है जो सहज ही रूप के अतिशय की सृष्टि कर देता है। सास्कृतिक भाव की अभिव्यक्ति सहज भाव से सौन्दर्य की ओर अभिमुख होती है। इसीलिये भावो की व्यञ्जना अनायास ही सुन्दर काव्य की रचना करती है। इस रचना मे रूप का सौन्दर्य अधिक परिमाण मे समाहित होने पर यह सहज सुन्दर भाव और अधिक सुन्दर बन जाता है। अनेक काव्यो मे अधिक कलात्मक सौन्दर्य न होने पर भी भावो की यह अभिव्यक्ति सुन्दर प्रतीत होती है। कलात्मक रूप का सौन्दर्य अधिक होने पर कुछ श्रेष्ठ काव्यो मे यह भाव और भी अधिक सुन्दर बन गये हैं। भाव के सहज रूप में एक भंगिमा होती है जो काव्य अथवा कला को

व्यंजना के अनुरूप होती है। यह भगिमा भाव के तत्व में उल्लसित होने वाले रूप का सहज अतिशय है। इसी अतिशय से युक्त होने के कारण भाव सहज, सुन्दर एव कलात्मक होता है। इसी कारण भाव साक्षात जीवन को कलात्मक एव सुन्दर बनाता है। **भाव की व्यजना से युक्त जीवन एक प्रकार का साक्षात् काव्य है। काव्य के 'रूप' में अन्वित होकर वह काव्य का काव्य बन जाता है।** प्रकृति-वर्णन और भाव निरूपण के प्रसग मे तत्व के रूप-गत सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति के रूप-गत सौन्दर्य का विवेक आवश्यक है। इसी विवेक के द्वारा कलात्मक सौन्दर्य के विभिन्न स्तरो का विवेचन हो सकता है। **इन स्तरो का सकेत इस प्रकार है।** प्रकृति का उदासीन सत्य रूप के सहज अतिशय से रहित होने के कारण कलात्मक सौन्दर्य मे कठिनता से अन्वित होता है, यद्यपि इतना अवश्य है कि कोई भी तत्व पूर्णत रूप-रहित नही होता, अत कोई भी तत्व कला का उपादान बनने के अयोग्य नही है। प्रकृति के सौन्दर्य का 'रूप' उसे कला के अधिक अनुकूल बनाता है। प्राकृतिक श्रेयो मे तत्व की प्रधानता ही रहती है, रूप का अधिक महत्व नही होता। तत्व का यह महत्व उपयोगिता के रूप मे फलित होता है। रूपगत सौन्दर्य के अनुकूल न होने के कारण प्राकृतिक श्रेयो को कला एव काव्य में कम स्थान मिलता है। जहाँ वे कला अथवा काव्य के उपादान बने हैं वहाँ भी वे प्राकृतिक सुख एव रुचि के कारण अधिक आकर्षक बने हैं तथा उनके सम्बन्ध मे कलात्मक सौन्दर्य का महत्व अधिक नही है। पारस्परिक भाव एव अभिव्यक्ति के 'रूप' से अन्वित होकर ही वे कलात्मक सौन्दर्य के महत्व के साथ सगत बन सके हैं। **सांस्कृतिक श्रेय ही भाव के ऐसे रूप हैं जिनमें रूप के अतिशय की तरंगें उठती हैं। अभिव्यक्ति के रूप इन तरगो पर किरणो के समान विलास करते हैं और दोनों के समन्वय से जीवन के पटल पर एक श्रेष्ठ कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है।**

प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय की उदासीनता का कारण समात्मभाव का अभाव है। इनके स्वरूप मे समात्मभाव का आधार नहीं होता इसीलिये ये उदासीन होते हैं। **समात्मभाव का अभाव ही उदासीनता का कारण है।** कला और इसके सौन्दर्य के प्रसग मे हमने अनेक वार सकेत किया है कि समात्मभाव उसका मूल आधार है। समात्मभाव कला के स्वरूप और उसके रूपगत सौ... का निर्माण नही करता फिर भी यह असदिग्ध है कि वह कला के रूप सौ...

रचना का आधार अवश्य है। कला का सौन्दर्य तो रूप के अतिशय में ही स्फुटित होता है किन्तु समात्मभाव कला की सृजनात्मक प्रेरणा का स्रोत है। समात्मभाव की भूमिका में ही कलात्मक सौन्दर्य की रचना सम्भव होती है। प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय के उदासीन रूपों में समात्मभाव का आधार नहीं रहता किन्तु समात्मभाव के आधार के बिना ये कला के उपादान नहीं बन सकते। समात्मभाव की भूमिका में उदासीन सत्य और उदासीन श्रेय में भी भाव के अंकुर फूटने लगते हैं तथा वे जिनके उदासीन तत्व को सौन्दर्य की ओर अभिमुख करते हैं। सांस्कृतिक भावों के श्रेय में समात्मभाव उनके स्वरूपगत तत्व की भाँति समवेत रहता है। समात्मभाव सौन्दर्य की आत्मा है। यह आत्मा सांस्कृतिक श्रेय के भावों में व्याप्त रहती है। इसीलिए वे सहज सुन्दर होते हैं। इसीलिए सौन्दर्य की रचना करने वाले रूप के अतिशय में उनका समन्वय अधिक सफल होता है और श्रेष्ठतर कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। उदासीन सत्य और प्राकृतिक श्रेय के साथ तुलना में सांस्कृतिक श्रेय का यह अन्तर महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक श्रेय के भावों में समवेत समात्मभाव जीवन का एक साक्षात् सत्य होता है। इसके साक्षात् सत्य की सजीवता ही सांस्कृतिक भावों को उदासीन सत्य और प्राकृतिक श्रेय की तुलना में अधिक सजीव बनाती है। कला की सौन्दर्य रचना में जिस समात्मभाव की प्रेरणा रहती है वह जीवन का साक्षात् सत्य नहीं होता, वह काल्पनिक अधिक होता है। उदासीन सत्य और प्राकृतिक श्रेय के तत्वों में किसी काल्पनिक समात्मभाव का अन्वय उन्हें कलात्मक सौन्दर्य का उपादान बनाता है। इनके उपादानों से निर्मित कला एवं काव्य में उदासीन तत्व काल्पनिक, समात्मभाव और रूप का अतिशय ये तीन विधायक अंग होते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य में प्रकृति के उपकरणों में समवेत रूप का अतिशय और मिल जाता है। प्राकृतिक श्रेय जो प्राकृतिक सत्य पर अश्रित हैं, जब कला एवं काव्य के उपादान बनते हैं तो साक्षात् समात्मभाव की भाव-विभूति मिलने पर वे अधिक सम्पन्न सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। सांस्कृतिक श्रेयों के भाव सबसे अधिक सम्पन्न सौन्दर्य की रचना करते हैं। उनके तत्व में भी साक्षात् समात्मभाव और रूप के अतिशय का सहज समवाय रहता है। कला का आधारभूत काल्पनिक समात्मभाव और कलात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य (रूप का अतिशय) मिल कर इन्हें और अधिक सुन्दर बना देते हैं तथा श्रेष्ठतम सौन्दर्य की रचना करते हैं।

अध्याय २१

शिवम् के रूप

उदासीन सत्य की तुलना मे शिवम अथवा श्रेय एक रचनात्मक भाव है। सत्य अवगति का विषय है। ग्रहणात्मक चेतना तटस्थ और उदासीन रूप मे उसका ग्रहण करती है। यह उदासीनता और तटस्थ दृष्टिकोण सत्य और उसके साधक के बीच एक आवश्यक भेद का कारण बनता है। सत्य के अनुसधान के लिए इस भेद का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। साधक के सत्य मे तन्मय होने पर अनुसधान का प्रश्न समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत शिवम् अथवा श्रेय रचनात्मक चेतना का एक स्वतन्त्र भाव है। स्वतन्त्रता, सकल्पमूलकता और रचनात्मकता के अतिरिक्त श्रेय में एक आत्मीयता का भाव भी रहता है। प्राकृतिक श्रेय तो सत्य की भाँति प्रधानत ग्रहणात्मक ही होता है। केवल इतना अन्तर है कि जहाँ सत्य का ग्रहण उदासीन एव तटस्थ होता है वहाँ प्राकृतिक श्रेय का ग्रहण आस्वादन के सुख से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक श्रेय का अन्वय भी मनुष्य के जीवन म होता है। इस अन्वय मे प्राकृतिक श्रेय के उपादान मनुष्य के जीवन मे आत्मसात अथवा तन्मय हो जाते हैं। इसे आध्यात्मिक अर्थ मे आत्मीयता नही कहा जा सकता क्योकि इसमें साम्य नही होता। इस अन्वय को आहार कहना अधिक उचित है। यह एकपक्षीय होता है। इसमे श्रेय के उपादान जीवन मे विलीन होकर अपना स्वरूप एव अस्तित्व खो देते हैं। इसके विपरीत सास्कृतिक श्रेय में एक साम्य होता है। सास्कृतिक श्रेय मुख्यत सामाजिक सम्बन्धो मे साकार होता है। इस साम्य का लक्षण चेतना के दो बिन्दुओ या अधिक बिन्दुओ के द्वारा एक दूसरे का सम्भावन है। सत्य तथा प्राकृतिक श्रेय के उपादान सास्कृतिक श्रेय के उपकरण बन सकते हैं किन्तु स्वरूप से चेतना का यह रचनात्मक भाव है।

श्रेय का यह भाव अनेक रूपो मे साकार होता है। सत्य के विविध रूप तथा प्राकृतिक श्रेय के अनेक भेद और जीवन की अनेक परिस्थितियाँ श्रेय के इन अनेक रूपो का निर्माण करती हैं। सत्य के विभिन्न रूपो का विवेचन पिछले अध्यायो म हो चुका है। वहाँ उनका विवेचन सत्य की दृष्टि से ही हुआ है। श्रेय के उपकरणो

के रूप मे यह विवेचन फिर करना होगा। शिवम् अथवा श्रेय के विविध रूपों का तथा काव्य के साथ उनके सम्बन्ध का विवेचन भी विस्तार पूर्वक अगले अध्यायों म किया जायगा। यहाँ हमे श्रेय के इन भेदो का केवल सक्षेप म निर्देश करना अभीष्ट है। इस निर्देश के पहले श्रेय के स्वरूप की कुछ सूक्ष्म मीमासा उचित होगी। श्रेय के स्वरूप के सम्बन्ध म कुछ सकेत पिछले अध्याय मे सत्य और श्रेय के विवेक के प्रसग म किये जा चुके हैं। सत्य की उदासीन अवगति की तुलना में श्रेय एक रचनात्मक भाव है। श्रेय का सृजन करने वाली चेतना अधिक स्वतन्त्र और सकल्प मूलक होती है। इसके अतिरिक्त श्रेय का भाव आत्मीयता की भूमिका में ही साकार होता है। यह आत्मीयता वेदान्त के अद्वैतभाव के समान है। प्रकृति के विषयों में भिन्नता रहती है। अद्वैत आत्मा का ही भाव है। इसी अद्वैत मे श्रेय का आत्मीय-भाव ही प्रकट होता है। यह भेद मूलक विषयों और अहकार से ऊपर रहने वाली आत्मा का भाव है। यह आत्मा चेतन और प्रकाश स्वरूप है, यद्यपि इसके कुछ लोक ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें सामान्य सविषय चेतना के अर्थ मे सचेतन नही कहा जा सकता। किन्तु सविषय चेतना से अतीत होने के कारण आत्मा के ये लोक अनुभूति के प्रकाश एव स्पदन से रहित नही होते। आत्मीयभाव के साम्य और सम्भावन में ही श्रेय का मर्म निहित है। इसी को हमने साक्षात् समात्मभाव कहा है और इसे हमने श्रेय के सभी रूपों का सामान्य आधार माना है। एक दूरान्वित भाव के रूप मे तो यह समात्मभाव सत्य के उदासीन अनुसधान की भी अन्तर्गत प्रेरणा है। सौन्दर्य की रचनाओं मे भी काल्पनिक समात्मभाव अथवा समात्मभाव की आकाक्षा का आवश्यक आधार रहता है। सत्य और सौन्दर्य में कदाचित इतना अन्तर है कि सौन्दर्य की साधना के लिए साक्षात् समात्मभाव का कुछ सम्पुट आवश्यक है। यह साक्षात् समात्मभाव सौन्दर्य की रचना की नीव है। इस नीव के ऊपर सौन्दर्य का प्रासाद बहुत कुछ काल्पनिक समात्मभाव से रचा जाता है। श्रेय जीवन का साक्षात् रूप है। इसलिए वह साक्षात् समात्मभाव की भूमि में ही फलित होता है। सत्य और सौन्दर्य भी जीवन के अग अवश्य हैं किन्तु विशेष रूप मे सत्य का अनुसधान और सौन्दर्य की साधना जीवन के कुछ पृथक अग बन जाते हैं तथा समग्र एव साक्षात् जीवन से कुछ अलग हो जाते हैं। दर्शनो और कलाओं के जीवन से अलग हो जाने का यही कारण है। ये प्राय जीवन को अपना विषय बनाते हैं। किन्तु इनका विषय बन जाने पर जीवन की साक्षात् सजीवता नष्ट हो जाती है।

विषय रूप में ग्रहीत जीवन सत्य का आधार और सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है। किन्तु वह अपने साक्षात् एव सजीव रूप मे शेष नही रहता। सत्य के एकान्त अनुसधान मे यह सजीवता लौट करके भी नहीं आती। सौन्दर्य के सामाजिक आस्वादन में कुछ इसका प्रत्यावर्तन होता है। कला के सौन्दर्य का आस्वादन साक्षात् समात्मभाव की स्थिति मे अधिक सजीवता के साथ होता है। यह सजीवता कलात्मक सौन्दर्य मे विषय रूप मे ग्रहीत जीवन को कुछ अधिक सजीव बना देती है।

किन्तु साक्षात् समात्मभाव की स्थिति मे रचित होने के कारण श्रेय का स्वरूप प्रत्यक्षत सजीव है। साक्षात् समात्मभाव का प्रसग तो सास्कृतिक श्रेयो में ही दिखाई देता है। किन्तु श्रेय के प्राकृतिक रूप भी व्यापक अर्थ मे सजीव होते हैं। जीवन के प्राकृतिक धर्मो और क्रियाओ के साथ उनका घनिष्ठ अन्वय होता है। अनुभूति और क्रिया ही जीवन का मर्म है। सत्य मे उदासीन तत्त्व के प्रमुख होने के कारण तथा सौन्दर्य मे रूप के पृथक हो जाने के कारण जीवन की यह सजीवता आवश्यक और प्रकट नही रहती। किन्तु श्रेय का जन्म ही इस सजीवता की स्थिति में होता है और इसके रहते ही वह इसके स्वरूप में सुरक्षित रहता है। यह सजीवता तो प्राकृतिक श्रेय मे भी रहती है, यद्यपि साक्षात् समात्मभाव का आधार प्राकृतिक श्रेय के कठोर प्राकृतिक रूप मे आवश्यक नही है। प्राकृतिक अर्थ में जीवन सवेदना मात्र है। यह सवेदना पशुओ मे भी होती है किन्तु मनुष्य जीवन की दृष्टि से आत्मा जीवन का मर्म है। आत्मा के भाव मे सवेदना अथवा चेतना अधिक सूक्ष्म, अधिक गम्भीर, अधिक व्यापक और अधिक मार्मिक बन गई है। आत्मा के योग से सवेदना की सजीवता भी अधिक तीव्र हो जाती है। साक्षात् समात्मभाव की स्थिति मे हमे इस तीव्रता का अनुभव होता है। समात्मभाव से युक्त होकर प्राकृतिक श्रेय भी श्रेयस्तर बन जाते हैं। सभ्यता और सस्कृति के क्रम मे प्राकृतिक श्रेयो का ऐसा विकास हुआ है। अपने प्रधानत. प्राकृतिक रूप मे भी वे साक्षात् समात्मभाव के पूर्वाधार तथा उसकी उत्तराकाक्षा की अपेक्षा करते हैं। इनके बिना पूर्णत प्राकृतिक और कठोर व्यक्तिगत स्थिति मे इन प्राकृतिक श्रेयो का आस्वादन भी नीरस हो जायेगा।

श्रेय के सास्कृतिक रूपो में साक्षात् समात्मभाव की सजीवता रहती है। समात्मभाव की आत्मीयता सांस्कृतिक श्रेयो की महिमा को बढाती है। व्यक्तियो

अथवा विन्दुओ की दृष्टि से इस समात्मभाव का लक्षण साम्य है। परस्पर सम्भावन मे यह साम्य चरितार्थ होता है। इस साम्य और सम्भावन के दो पक्ष हो सकते हैं, यद्यपि इनको पृथक् करना सम्भव नही है। ये दो पक्ष भाव के आदान और प्रदान के रूप मे प्रकट होते हैं। आत्मीयता के प्रसग मे परभाव की स्थापना कठिन है फिर भी व्यावहारिक अर्थ मे पर का सम्भावन 'प्रदान' कहलाता है। एक का प्रदान दूसरे के लिए आदान बन जाता है। सम्भावन का यह आदान वस्तुत प्रदान का एक अनिवार्य फल है, किन्तु साम्य और सम्भावन की भावना में प्रदान ही प्रमुख होता है। दोनो ओर से प्रदान का अनुरोध आदान अवश्य बन जाता है। इस प्रकार व्यवहार की दृष्टि से प्रदान ही समात्मभाव के साम्य और सम्भावन का मर्म है। मूलत यह प्रदान आत्मदान है। इस आत्मदान की अभिव्यक्ति अनेक रूपो मे होती है। आदर, आलोक, सृजन की प्रेरणा आदि इनमें मुख्य हैं। आदर मे समात्मभाव और साम्य की मानवीयता चरितार्थ होती है। आलोक के बिना यह आदर अहकार बन जाता है तथा समात्मभाव और साम्य को खडित करता है। प्रदान का यह फल आत्मघाती है। कुपुत्र की तरह वह अपने वश का नाश करता है। अत आलोक से अचित होने पर ही आदर श्रेय का सरक्षक बन सकता है। आलोक आत्मा का स्वरूप है। अत वह आत्मदान के सभी रूपो मे अन्तर्निहित एव आभासित रहता है। आदर की प्रेरणा और आलोक के प्रकाश मे जीवन की सृजनात्मक परम्परा आगे बढती है। यह सृजनात्मक परम्परा ही जीवन का मूल मर्म और जीवन की सरक्षक है। जीवन का तात्पर्य सृजन की परम्परा ही है। इस परम्परा के नष्ट होने पर जीवन ही नष्ट हो जायेगा। अत श्रेय का वास्तविक रूप इस सृजनात्मक परम्परा मे ही चरितार्थ होता है। परम्परा के अर्थ में यह सृजन सौन्दर्य के समान केवल सृष्टि नहीं है वरन् यह सृष्टाओ का सृजन है। केवल सृजन से नहीं वरन् सृष्टाओ के सृजन से ही यह परम्परा अक्षुण्ण रह सकती है। अन्धविश्वास, तिरस्कार, अपमान, उपहास आदि आदर और आलोक के विपरीत होने के कारण श्रेय की सृजनात्मक परम्परा के घातक हैं। अनीति और अधकार का निवारण इसके निषेधात्मक साधन हैं। जागरण और शान्ति इसके विधायक साधन हैं। शिव और शक्ति के साम्य की भांति आत्मभाव और सृजन की परम्परा मे यह श्रेय अमर होता है।

प्रसग के अनुसार सत्य की भांति श्रेय के भी कई भेद किये जा सकते हैं।

सत्य के भेद विषयो के प्रसग के अनुसार किये जा सकते हैं। श्रेय के भेदो म भी विषय का अनुषग और आधार रहता है, क्योंकि आत्मा का भाव होते हुए भी श्रेय प्राय विषयो के उपकरणो मे ही साकार होता है। इसके अतिरिक्त जीवन और सस्कृति के कुछ दृष्टिकोण भी श्रेय के विभाजन के आधार बनते हैं। केवल प्राकृतिक श्रेय की कठोर सम्भावना बहुत सदिग्ध है। फिर भी व्यावहारिक सरलता की दृष्टि से प्राकृतिक श्रेय को श्रेय का सरलतम रूप माना जा सकता है। श्रेय का यह रूप पशुओ मे भी मिल सकता है, यद्यपि मनुष्य के जीवन मे वह केवल प्राकृतिक नही रह गया है। आत्मा की विभूति से अचित होकर प्राकृतिक श्रेय सास्कृतिक श्रेय के क्षितिजो का स्पर्श करता रहा है। किन्तु दूसरी ओर प्रवृति के अनुरोध उसकी प्राकृतिकता को भी दृढ बनाते रहे हैं। जीवन और सस्कृति के क्षेत्र में एक प्रकार से आत्मा और प्रकृति का सघर्ष चलता रहा है। श्रेय का सरलतम और एक प्रकार से निम्नतम रूप प्राकृतिक श्रेय मे मिलता है। प्राकृतिक श्रेय जीवन की नैसर्गिक आकाक्षाओ का अवलम्ब है। जड सत्ता मे जब कभी जीवन का उदय हुआ होगा वही से प्राकृतिक श्रेय का आरम्भ हुआ होगा। आहार और प्रजनन इस प्राकृतिक श्रेय के दो मूल रूप हैं। सभ्यता के विकास मे अनेक भौतिक उपकरण इनके अवलम्ब बन गये हैं। 'आहार' आहार्य के रूप और अस्तित्व का विनाश करके उसे आत्मसात करना है। इस प्रकार आहार अधिक स्वार्थमय है। इसके अतिरिक्त प्रजनन एक प्रकार का आत्म विभाजन है। आहार मे आदान अधिक है। प्रजनन मे कुछ प्रदान का आभास मिलता है। केवल इतना अन्तर है कि प्राकृतिक सृजन का यह प्रदान सचेतन नही है। काम के प्रसग म प्रजनन की प्रक्रिया म जो सचेतनता होती है वह भी एक स्वार्थमयी सम्वेदना है। पशुओ और मनुष्यो के जीवन में प्रजनन से अधिक इस सवेदना का महत्व रहता है। शारीरिक और मानसिक आकाक्षा की पूरक होने के नाते इस सम्वदना को भी आहार कह सकते हैं। इस प्रकार स्वार्थ में केन्द्रित रहना प्राकृतिक श्रेय का एक मौलिक लक्षण है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक श्रेयो म एक विवशता और एक बाह्यता रहती है जो प्रकृति से अनुगत लक्षण है। सभ्यता के विकास म प्राकृतिक श्रेय के उपकरणो का अधिक विकास हुआ है। इसीलिए उसम अहकार, स्वार्थ, पराधीनता आदि की वृद्धि होती रही है। प्राकृतिक सत्य की भाँति प्राकृतिक श्रेय के उपकरण और धर्म भी कला और काव्य के उपादान बनते हैं। इनमे जीवन

की निम्नतम कृतार्थता प्रकट होती है। यह कृतार्थता भी श्रेय का एक सामान्य लक्षण है जो श्रेय के सभी रूपों में व्याप्त रहता है।

श्रेय का दूसरा रूप सामाजिक श्रेय है। एक प्रकार से सामाजिकता श्रेय का सामान्य लक्षण है। श्रेय की कल्पना मनुष्य जीवन और समाज के प्रसंग में ही की जा सकती है। एक प्राकृतिक श्रेय ही ऐसा है जिसकी सम्भावना व्यक्ति के एकान्त भाव में भी रहती है। अकेला होने पर भी मनुष्य की प्राकृतिक आकांक्षाएँ रहती हैं और उनकी पूर्ति में वह कृतार्थता मानता है। इस कृतार्थता के आधार पर प्राकृतिक श्रेय को भी श्रेय माना जा सकता है। मनुष्य जीवन के आदिम काल में जब मनुष्य पशु के समान रहा होगा उस समय प्राकृतिक श्रेय ही मनुष्य के जीवन का एक मात्र श्रेय रहा होगा। समाज और सभ्यता का विकास होने पर प्राकृतिक श्रेय में सामाजिक और सांस्कृतिक भावों का समन्वय हुआ है। किन्तु प्राकृतिक श्रेयों का मौलिक रूप सुरक्षित रहा है। व्यक्ति की परिधि में सीमित रहना प्राकृतिक श्रेय का मौलिक गुण है। यह उसका स्वरूप है। अत वह बदल नहीं सकता। सामाजिक अनुषंग और सांस्कृतिक रूप इस मौलिक आधार में अक्षुण्ण रहने वाले प्राकृतिक श्रेय को अधिक सम्पन्न बनाते हैं। ऐसी स्थिति में मूलत प्राकृतिक रहते हुए भी प्राकृतिक श्रेय केवल प्राकृतिक नहीं रहता। फिर भी सामाजिकता प्राकृतिक श्रेय के स्वरूप का आवश्यक लक्षण नहीं है। प्राकृतिक श्रेय के हित का अन्वय अन्तत व्यक्ति में ही होता है। इसी आधार पर सामाजिक श्रेय को प्राकृतिक श्रेय से भिन्न किया जा सकता है।

सामाजिक श्रेय का स्वरूप भी सामाजिक है। सामाजिक सम्बन्धों में ही सामाजिक श्रेय सम्पन्न हो सकता है। जिस प्रकार सामाजिक अनुषंग प्राकृतिक श्रेय को सम्पन्न बनाते हैं उसी प्रकार सामाजिक श्रेयों में भी प्राय प्राकृतिक आधार रहता है। ऐसी स्थिति में प्राय श्रेय के दोनों रूपों का विवेक करना भी कठिन हो जाता है। प्राकृतिक अथवा सामाजिक भाव की प्रधानता के आधार पर यह विवेक किया जा सकता है। मुख्य और विशेष रूप से सामाजिक भाव एवं सम्बन्ध से युक्त होने पर ही हम मानवीय श्रेय को सामाजिक कह सकते हैं। सामाजिक श्रेय का सामाजिक होने का अभिप्राय यह नहीं कि वह व्यक्तिगत नहीं होता। प्रत्यक्ष रूप में समाज व्यक्तियों का समूह है, यद्यपि समूह मात्र से समाज का निर्माण नहीं होता। मनुष्यों के समूह में कुछ पारस्परिक और आन्तरिक

सम्बन्ध होने पर ही उसे समाज कहा जा सकता है। कुछ दार्शनिक तथा कुछ साम्यवादी मान्यताओ के अनुसार समाज को एक स्वतन्त्र इकाई मानकर उसे व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इन मान्यताओ के अनुसार समाज की इस समग्रता के सामने व्यक्ति का मान तुच्छ हो जाता है। कुछ सामाजिक मान्यताए व्यक्ति को अधिक महत्व देती हैं। व्यक्ति और समाज के सामजस्य के प्रयत्न भी किये गये हैं। एक पक्षीय धारणाओ की अपेक्षा यह सामजस्य अधिक श्रेष्ठ है। किन्तु वस्तुत यह सामजस्य व्यक्ति और समाज को दो पृथक इकाइयां मानकर सम्भव नही हो सकता। समाज कोई पृथक् इकाई नही है। कुछ सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी अवश्य हो सकती हैं जिनमे किसी विशेष व्यक्ति का अधिकार न हो, किन्तु सामान्य रूप से अनेक व्यक्तियो का अधिकार हो। सामाजिक श्रेय के ये रूप भी अन्तत व्यक्तियो मे ही अन्वित होते हैं। **व्यक्ति ही सत्ता की मूल इकाई है।** समाज, सामाजिक व्यवस्थाए और सामाजिक श्रेय उससे पृथक् नही हैं, फिर भी सामाजिक भाव तथा सामाजिक व्यवस्थाओ के मूल आधार केवल व्यक्तिगत नही हैं। वे व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता मे सीमित नही हैं। व्यक्ति की जो आकाक्षाएँ व्यक्ति की इकाई मे ही पूर्ण हो सकती हैं उन्हे तो पूर्णत व्यक्तिगत ही माना जा सकता है किन्तु उसकी जो आकाक्षाएँ अन्य व्यक्तियो के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर रहती हैं वे पूर्णत व्यक्तिगत नही हैं। **वे स्वरूप से ही सामाजिक हैं।** व्यक्तियो के पारस्परिक भाव और साम्य मे ही उन आकाक्षाओ का स्वरूप फलित होता है। मौलिक रूप मे सामाजिक तो ऐसे ही भावो और व्यापारो को कहा जा सकता है, अन्यथा आधार और अनुपग की दृष्टि से तो मनुष्य के वे प्राकृतिक धर्म और श्रेय भी सामाजिक हैं जो अपने स्वरूप मे व्यक्तिगत हैं। सभ्यता के आदि मे तो ये अधिक पूर्णतया व्यक्तिगत थे, सभ्यता के विकास के साथ साथ इनमे मनुष्यो का पारस्परिक आश्रय और सामाजिक अनुपग बढता गया है। **किन्तु स्वरूप और हित के आस्वादन की दृष्टि से ये प्राकृतिक धर्म व्यक्तिगत ही रहते हैं।** व्यक्ति ही इनके अन्वय का केन्द्र रहता है। सामाजिक भाव मनुष्य के आनन्द का मौलिक स्रोत है। अतएव वह मनुष्य की आकाक्षा को निरन्तर प्रेरित करता रहा है। इसीलिये प्राकृतिक श्रेयो के व्यक्तिगत रूप सभ्यता के विकास मे सामाजिक प्रसग और परिवेश मे सज्जित हुए हैं। इनके सामाजिक प्रसग का मनुष्य के लिये इतना महत्व है कि प्राकृतिक हित की अपेक्षा सामाजिक भाव को प्रधान मानना सभ्यता का सूचक

समझा जाता है। प्रीतिभोज में भोजन से अधिक प्रीति का महत्त्व मानते हैं। यह सामाजिक भाव का अपने स्वरूप मे आदर है।

इस प्रकार सामाजिक श्रेय की कई श्रेणियां हैं। इसका सबसे सरल और आरम्भिक रूप वह है जिसमे सभ्यता के आदिम काल मे प्राकृतिक श्रेयो के प्रसग मे पारस्परिक सहयोग और आदान-प्रदान बढा होगा। इस आरम्भिक स्रोत से सामाजिक श्रेय का विकास दो दिशाओं मे हुआ है—एक तो प्राकृतिक प्रसगो मे विकसित होने वाला सामाजिक भाव प्रधान बनता गया। पारस्परिक होने के कारण यह सामाजिक भाव आनन्द का महान स्रोत है। भारतीय सस्कृति मे इसका सवर्धन विपुलता के साथ हुआ है। दूसरी ओर सभ्यता की प्रगति मे कुछ ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओ एव सस्थाओ का विकास हुआ है, जो अधिकार की दृष्टि से निर्वयक्तिक अथवा सामूहिक हैं तथा उपयोग की दृष्टि से व्यक्तिगत हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उनका उपयोग व्यक्ति पृथक्-पृथक् रूप मे करते हैं, पारस्परिक भाव इनके उपयोग का आवश्यक अग नही है। इन व्यवस्थाओं को प्राय नागरिक सुविधाओ मे गिना जाता है। यातायात के साधन, उत्पादन, व्यवसाय आदि के उद्योग, पुस्तकालय, धर्मशाला आदि निर्वयक्तिक सामाजिक श्रेय के उदाहरण हैं। सुख और आनन्द सामाजिक श्रेय के इन रूपो के विभाजक माने जा सकते हैं। प्राकृतिक श्रेय और निर्वयक्तिक सामाजिक श्रेय में एक समानता है। दोनों का उपयोग और अन्वय व्यक्ति में होता है। पारस्परिक भाव इनके स्वरूप का आवश्यक अग नही है। इनका अनुभव व्यक्तिगत आकाक्षा की पूर्ति और प्राकृतिक सुख के रूप में होता है। प्राकृतिक सुख प्रधानत ऐन्द्रिक होता है। व्यक्तिगत होने के साथ साथ क्षणिकता उसका एक अन्य प्रमुख लक्षण है। आनन्द एक प्रकार से आत्मिक सुख है। आत्मिक होने के कारण वह अधिक स्थायी होता है। इसके अतिरिक्त वह व्यक्तिगत नही होता। पारस्परिक भाव जिसको हमने समात्मभाव कहा है, यह आनन्द का स्वरूपगत आधार है। सुख अनुभव-काल में ही वर्तमान रहता है, वह स्मृति में स्थायी नहीं रहता। अत वह अनुभव मे आवृत्ति की आकाक्षा जाग्रत करता है और भविष्य की आकाक्षा को प्रेरित करता है। नई नई उत्पत्ति और विनाश सुख का लक्षण है। इसके विपरीत आनन्द स्मृति में स्थायी रहता है और समृद्ध होता है। अतृप्ति के स्थान पर वह तृप्ति का कारण होता है। अत भावी आकाक्षा को प्रेरित नही करता। व्यावहारिक रूप मे उसे अतीत की विभूति

मान सकते हैं, यद्यपि अतीत होते हुए भी वह चिरतन तथा कालातीत प्रतीत होता है। काल का लक्षण गति है, किन्तु प्राकृतिक विषयो पर उसका प्रभाव क्षय के रूप मे होता है। क्षय के विपरीत वर्धमान होने के कारण आत्मिक आनन्द कलातीत प्रतीत होता है। यह आत्मिक आनन्द हमारे मत मे समात्मभाव से प्रेरित पारस्परिक भाव का आनन्द है और उस आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न है, जिसे प्राय व्यक्तिगत साधना का लक्ष्य और स्वरूप से निर्वैयक्तिक माना जाता है। निर्वैयक्तिक श्रेयो मे विद्या के समान कुछ बौद्धिक श्रेयो को अनुभव मे व्यक्तिगत होते हुए भी स्थायी आनन्द का स्रोत माना जा सकता है। वस्तुत विद्या का आनन्द आत्मिक आनन्द के उतना ही निकट है जितना कि दर्शनो के अनुसार बुद्धि को आत्मा के निकट माना जाता है। पारस्परिक भाव आवश्यक न होते हुए भी विद्या का बौद्धिक आनन्द स्वरूप से व्यक्तिगत नही है। कदाचित बौद्धिक आनन्द अहकार-मूलक व्यक्तिगत सुख तथा पारस्परिक अथवा निर्वैयक्तिक आत्मिक आनन्द के अन्तराल की वस्तु है।

श्रेय का तीसरा रूप सास्कृतिक है। सस्कृति का विकास भी जीवन की सामाजिक भूमिका मे होता है। मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्ध और भाव के बिना सस्कृति की कल्पना नही की जा सकती। अनुभव और अन्वय मे तो जीवन की सभी बातें व्यक्तिगत होती हैं, किन्तु सस्कृति के रूप और भाव स्वरूप से इस अर्थ मे सामाजिक होते हैं कि वे पारस्परिक सम्बन्ध और भाव म ही चरितार्थ होते हैं। सास्कृतिक श्रेय को भी हम एक प्रकार से सामाजिक श्रेय मान सकते हैं। सामाजिक श्रेय के वे रूप, जो स्वरूप से सामाजिक है और पारस्परिक भाव मे सम्पन्न होते हैं, सास्कृतिक श्रेय के अत्यन्त निकट हैं। पारस्परिक भाव म ही आनन्द का उद्रेक होता है। यह आनन्द ही पारस्परिक भाव का लक्षण है। स्वरूप से सामाजिक श्रेय तथा सास्कृतिक श्रेय दोनो मे ही यह लक्षण मिलता है। सास्कृतिक श्रेय की एक विशेषता कलात्मक रूप का सौन्दर्य है, जो सामाजिक श्रेय के अन्य रूपो का आवश्यक लक्षण नहीं है। विदेशी विद्वानों तथा सस्कृति की आधुनिक व्याख्याओ के अनुसार मनुष्य के सामाजिक विकास मे प्रकट होने वाले समस्त क्रिया कलाप सस्कृति की परिधि के अन्तर्गत हैं। इन क्रिया-कलापो म धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि आध्यात्मिक एव रचनात्मक व्यापारो के साथ साथ उद्योग, व्यवसाय, इतिहास, शासन आदि प्रकृति-प्रधान प्रवृत्तियो की भी गणना की जाती है। इस प्रकार

आधुनिक परिभाषा के अनुसार अध्यात्मिक और प्राकृतिक दोनो ही प्रकार की प्रवृत्तियो से प्रभावित क्रिया कलापो को सस्कृति की परिभाषा के अन्तर्गत माना जाता है । अग्रेजी में 'कल्चर' शब्द की व्युत्पत्ति में कोई ऐसा विशेषण नहीं है जो मनुष्य के अन्य व्यापारो से सस्कृति का विभाजक बन सके । कृषि के वाचक 'कल्टस' के लैटिन मूल से निर्मित कल्चर' शब्द व्यापक अर्थ मे 'कृति' का पर्याय है । मनुष्य की सभी कृतियाँ इसके अन्तर्गत आजाती हैं । इसी आधार पर स्वतन्त्रता और रचनात्मकता से विभूषित आध्यात्मिक एव कलात्मक कृतियाँ तथा पराधीनता से प्रभावित, प्रकृति से प्रेरित एव रचनात्मकता से रहित कृतियाँ—ये दोनो समान रूप से सस्कृति की व्याख्याओ मे स्थान पाती हैं ।

सस्कृति की यह पश्चिमी धारणा पश्चिमी जीवन की विशेषताओ के अनुकूल है । सस्कृति का वाचक 'कल्चर' जीवन के इसी विकास को मुखरित करता है । पश्चिमी जीवन के विकास में प्रकृति का अनुरोध अधिक है । अधिकार, वैभव, साम्राज्य, शासन आदि के प्राकृतिक आकर्षण से प्रेरित होकर ही पश्चिमी जीवन का उन दिशाओ मे विस्तार हुआ है जो इतिहास मे विदित हैं । भारतीय जीवन की आस्थाएँ आध्यात्मिक अधिक हैं । अत उसका विकास पश्चिम से भिन्न दिशाओ मे हुआ है । प्रकृति के अनुरोध की अपेक्षा इस विकास में स्वतत्रता और रचनात्मकता का प्रभाव अधिक है । स्वतत्रता का व्यक्तिगत भाव व्यक्ति के क्रिया कलापो में पराधीनता का अभाव एव आत्मतन्त्रता की प्रधानता है, दूसरी ओर उसका सामाजिक भाव दूसरो की स्वतत्रता का आदर है । स्वतत्रता के अभिमानी आधुनिक विद्वान और विचारक प्राय स्वतत्रता के इन महत्वपूर्ण पक्षो को भूल जाते हैं और केवल पराधीनता के अभाव के निषेधात्मक पक्ष को ही स्वतत्रता का सर्वस्व मानते हैं । रचनात्मकता मे स्वतत्रता अन्तर्निहित रहती है, वह विशेष रूप से रूप और भाव की रचना में अभिव्यक्त होती है । भारतीय जीवन के विकास में अध्यात्मिकता के प्रभाव के कारण स्वतत्रता और रचनात्मकता की अभिव्यक्ति बहुत अधिक परिमाण में हुई है । धर्म और अध्यात्म के कलात्मक एव उदार रूपो में, जो दूसरो की स्वतत्रता का पूर्णत आदर करते हैं, सामाजिक जीवन के अनेक पर्वो तथा पारिवारिक जीवन के विविध सस्कारो मे यह अभिव्यक्ति साकार होती है । इस अभिव्यक्ति मे अध्यात्म और कला का परिपूर्ण समन्वय साक्षात् जीवन के साथ हुआ है । भारतीय धारणा के अनुसार यही सस्कृति का सजीव एव सर्वोत्तम रूप है । मनुष्य का कृतित्व इसमे सबसे अधिक महिमा के साथ व्यक्त होता है। सस्कृति के 'सम्'

उपसर्ग से लक्षित साम्य का भाव भी कृतित्व के इस रूप में सबसे अधिक परिमाण मे प्रकट होता है। कृतित्व का यही रूप 'सस्कृति' शब्द को सबसे अधिक सार्थक बनाता है। सस्कृति का दूसरा रूप कला, साहित्य, दर्शन आदि की कृतियो मे मिलता है। इनमे भी स्वतन्त्रता और रचनात्मकता की अभिव्यक्ति होती है किन्तु ये कृतियाँ जीवन का साक्षात् रूप नही हैं, इन्हे जीवन का अग माना जा सकता है किन्तु अधिक व्यापक रूप मे ये कृतियाँ जीवन को विषय बनाती हैं। इन कृतियो में जीवन का विषय के रूप मे ग्रहण एव चित्रण होता है। जीवन का साक्षात् एव सजीव रूप न होते हुए भी ये कृतियाँ रचनात्मक है तथा सस्कृति की परिधि के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। साक्षात् जीवन को साकार करने वाली तथा जीवन को विषय रूप मे ग्रहण करने वाली, इन दोनो ही प्रकार की कृतियो मे सस्कृति का मौलिक भाव सुरक्षित रहता है। इनके अतिरिक्त प्रकृति की विवशता से प्रभावित एव प्रेरित कृतियो को भारतीय परिभाषा के अनुसार सस्कृति के अन्तर्गत सम्मिलित नही किया जा सकता। भारतीय अर्थ मे 'सस्कृति' पद 'कृति' मात्र का पर्याय नही है। सस्कृति की पश्चिमी परिभाषा से प्रभावित एव शासित भारतीय विद्वान 'सस्कृति' के पद और भाव की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सके हैं। उनका यह प्रमाद भारतीय सस्कृति के प्रति महान अपराध है।

इस प्रकार भारतीय धारणा के अनुसार सस्कृति के उक्त दोनो रूपो मे आध्यात्मिक भाव से प्रेरित स्वतन्त्रता एव रचनात्मकता की अभिव्यक्ति होती है। भौतिक माध्यम की कृतियो मे रचनात्मकता की अभिव्यक्ति प्रधानत रूप की रचना म हीं होती है। मौलिक सृजन के अर्थ मे मनुष्य भौतिक तत्व का सृजन नही कर सकता किन्तु मानसिक, बौद्धिक एव आत्मिक तत्व की रचना मे उसका अधिकार है। धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि इस अधिकार की अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमे तत्व की ही प्राधानता होती है, यद्यपि भारतीय धर्म और दर्शन मे धर्म के साथ दर्शन के तथा साक्षात् जीवन के साथ धर्म के समवाय के कारण इनमे रूप का कालात्मक सौन्दर्य भी समाहित हुआ है। सास्कृतिक कृतियो के अन्तर्गत रूप का कलात्मक सौन्दर्य प्रमुखत साहित्य और कला तथा सस्कृति के उन साक्षात् रूपो मे मिलता है जिनका सकेत ऊपर किया गया है। यह सौन्दर्य के साथ सस्कृति के सम्बन्ध का निर्देश है। इसी प्रकार श्रेय का समवाय भी सस्कृति के इन रूपो मे समान प्रकार से नहीं होता। विज्ञानो और दर्शनो मे तो प्रमुखत सत्य का ही अनुसधान होता है।

दर्शन के कुछ आध्यात्मिक रूप श्रेय का स्पर्श अवश्य करने लगते हैं, फिर भी दर्शन प्रधानत एक बौद्धिक प्रयास है और सत्य ही उसका लक्ष्य है। जहाँ दर्शन आध्यात्मिक बन जाता है वहाँ सत्य और श्रेय की परिधियाँ मिलने लगती हैं। सस्कृति के जिन रूपो में आध्यात्मिक तत्व की रचना होती है उनमें श्रेय का सन्निधान सबसे अधिक सम्भव है। इस दृष्टि से धर्म श्रेय का साधक है। धर्म के जिन रूपों ने जिस परिमाण में श्रेय का खडन किया है वे उसी सीमा में अधर्म बन गये हैं। सस्कृति के जो साक्षात् रूप भारतीय जीवन मे सबसे अधिक विकसित हुए हैं उनमे श्रेय और सौन्दर्य का समान रूप से सामजस्य है। जीवन के श्रेय को वे कलात्मक और सुन्दर रूप मे साकार बनाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय सस्कृति के साक्षात् रूप सबसे अधिक सुन्दर और मगलमय हैं। रचनात्मकता के समवाय के कारण भारतीय धर्म और अध्यात्म के रूप भी कलात्मक एव सुन्दर बन गये हैं। सस्कृति का ऐसा सम्पन्न रूप कदाचित ही कहीं मिल सकेगा। धर्म और अध्यात्म का ऐसा कलात्मक रूप भी अन्यत्र दुर्लभ है। श्रेय के साक्षात् समवाय की दृष्टि से तो धर्म और अध्यात्म तथा सस्कृति के इन साक्षात् रूपो को ही श्रेय से सम्पन्न माना जा सकता है। विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, आदि दूरान्वय की दृष्टि से श्रेय के साधक माने जा सकते हैं किन्तु श्रेय के साथ इनका कोई सीधा सम्बन्ध नही है। आध्यात्मिक स्वतत्रता से प्रेरित होने के कारण ये सभी श्रेय के अनुकूल हैं। प्राकृतिक और सामाजिक श्रेयों का भी सस्कृति के सभी रूपो मे सामजस्य हो सकता है किन्तु साहित्य और कला का साक्षात् लक्ष्य श्रेय नहीं है। विज्ञान का लक्ष्य सत्य है। साहित्य और कला का लक्ष्य सौन्दर्य है। स्वतत्रता और रचनात्मकता से प्रेरित होने के कारण इनके स्वरूप मे श्रेय का अन्तर्भाव रहता है। साहित्य और कला का स्वरूप श्रेय के अनुरूप है। किन्तु तत्व रूप मे श्रेय का ग्रहण इनके लिए आवश्यक नही है। जीवन के जो रूप मगलमय नही माने जाते उनका भी ग्रहण और चित्रण साहित्य तथा कला मे होता है। साहित्य एव कला के साथ तथा इस प्रकार सौन्दर्य के साथ श्रेय का सम्बन्ध एक विवाद का विषय है।

श्रेय का चौथा रूप आध्यात्मिक है। यह श्रेय का वह रूप है जिसका आश्रय आत्मा है। आत्मा का विवेचन भारतीय दर्शन मे बहुत मिलता है फिर भी दर्शनो ने उसको अन्तत अनिर्वचनीय माना है। वह विषयो, इन्द्रियो, मन, बुद्धि, आदि के परे कोई ऐसा तत्व है जिसका विवरण करना कठिन है। चैतन्य-स्वरूप होने के

कारण आत्मा हमारे समस्त अनुभवो का आधार है। अत वह आत्मा के अनुभव का भी आधार है। अनुभव मे ही उसका आभास मिल सकता है। अन्य किसी भी प्रकार से उसका वर्णन करना सम्भव नही है। आत्मा के अनुभव को दर्शनो मे जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है। आत्मा की प्राप्ति को नि श्रेयस कहते हैं। वह जीवन के श्रेयो मे सर्वोत्तम है।

आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय होने के कारण आध्यात्मिक श्रेय के सम्बन्ध मे कुछ कहना कठिन है। जिस प्रकार अनिर्वचनीय होते हुए भी अरुन्धती न्याय से दर्शनो मे आत्मा का निदर्शन किया गया है उसी प्रकार आध्यात्मिक श्रेय का भी कुछ सकेत किया जा सकता है। जिस प्रकार आत्मा समस्त मानसिक और भौतिक विषयो से परे है उसी प्रकार आध्यात्मिक श्रेय भी श्रेय के अन्य रूपो से भिन्न है। प्राकृतिक श्रेय से उसकी भिन्नता सबसे अधिक स्पष्ट है। प्राकृतिक श्रेय वाह्य विषयो पर अवलम्बित हैं। वे इन वाह्य विषयो के आस्वादन के सुख हैं। प्रकृति की समस्त गति के समान वे काल से प्रभावित हैं। अत प्राकृतिक श्रेय अल्पस्थायी होते हैं। प्राकृतिक सुख तो प्राय क्षणिक होते है। इसके विपरीत आत्मिक अनुभव का आनन्द अनन्त और अक्षय होता है। आत्मिक श्रेय आन्तरिक है। वह वाह्य विषयो के प्राकृतिक सुख की भांति व्यक्ति निष्ठ नही है। यद्यपि आध्यात्म के व्यावहारिक विवरणो मे व्यक्ति को ही साधना और मोक्ष का अधिष्ठान माना गया है फिर भी वस्तुत आत्मा और मोक्ष स्वरूप अहकार एव व्यक्तित्व से अतीत है। व्यक्तित्व सत्ता का परिच्छेद है तथा अहकार उस परिच्छिन्नता का अनुभव है। आत्मा समस्त परिच्छेदो से परे और अनन्त है। व्यक्तित्व से अतीत होने के कारण उसे निर्वैयक्तिक कहा जा सकता है। यह निर्वैयक्तिकता आध्यात्मिक श्रेय को अन्य तीनो प्रकार के श्रेयो से भिन्न बनाती है। प्राकृतिक, सामाजिक और सास्कृतिक श्रेय व्यक्तित्व से अतीत नही हैं। प्राकृतिक श्रेय तो मुख्यत व्यक्ति के अधिष्ठान मे ही सम्पन्न होता है। व्यक्तियो के पारस्परिक भाव मे अनुष्ठित होते हुए भी प्राकृतिक श्रेय का अधिष्ठान मुख्यत व्यक्ति ही रहता है। सामाजिक और सास्कृतिक श्रेय व्यक्ति की इकाई मे ही सीमित नहीं रहते। व्यक्ति के अधिष्ठान मे आश्रित होते हुए भी वे व्यक्तियो के पारस्परिक भाव मे सम्पन्न होते हैं। जहाँ प्राकृतिक श्रेय मे व्यक्तित्व की प्रधानता होती है वहाँ सामाजिक और सास्कृतिक श्रेय मे पारस्परिक भाव मुख्य होता है।

किन्तु आध्यात्मिक श्रेय मे व्यक्तित्व का सश्लेप किसी भी रूप मे नही रहता। पारस्परिक भाव मे व्यक्तियो के ऊपर एक आध्यात्मिक अतिशय अवश्य उत्पन्न होता है। यह आध्यात्मिक अतिशय प्राकृतिक व्यक्तित्व की पृथिवी को आच्छादित कर उसे अनेक प्रकार से सरस और अलकृत बनाता है। किन्तु आध्यात्मिक अतिशय का यह आकाश सदा प्रकृति और व्यक्तित्व की पृथ्वी के क्षितिजो का स्पर्श करता रहता है। सामाजिक और सास्कृतिक श्रेय अध्यात्म और प्रकृति के द्यावा-पृथिवी का एक अद्‌भुत सम्मिलन है। इनके सम्मिलन का चमत्कार ही लौकिक जीवन की मर्यादा और महिमा है। इसके विपरीत प्राकृतिक श्रेय विषय और व्यक्तित्व की पृथिवी पर ही सीमित रहता है तथा आध्यात्मिक श्रेय आत्मा का शून्य और अनन्त आकाश है। सभी सम्पर्को से रहित होने के कारण इसे 'कैवल्य' भी कहा जाता है। आध्यात्मिक कैवल्य के इस अनन्त आकाश मे अज्ञात जीवन की कितनी नक्षत्र-मालाएँ और कितनी नीहारिकाएँ अन्तर्निहित हैं, इनका अनुसधान आध्यात्म के आकाश के साहसिक अन्तरिक्ष यानी वास्तविक अनुभव के द्वारा ही कर सकते हैं। बौद्धिक विज्ञान के दूर दर्शक यन्त्रो के द्वारा इनका आभास ही प्राप्त किया जा सकता है। दर्शनो मे अध्यात्म-लोक के इस आभास का ही विवरण मिलता है। इस विवरण में आध्यात्मिक श्रेय की अलौकिकता, अक्षयता और आनन्दमयता को महत्व दिया गया है। अध्यात्म का यह आनन्द स्वय अनिर्वचनीय है और आत्मिक अनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है। वस्तुत यह विषयो के समान समझने की वस्तु नही है। यह अनुभव मे ही आस्वाद्य है। इसका आस्वादन, साधक को विभोर बना देता है। वह उसके आलोक और उल्लास मे निमग्न हो जाता है। सास्कृतिक श्रेय मे अध्यात्म का प्रभाव कुछ अधिक रहता है। अत सास्कृतिक श्रेय के कुछ श्रेष्ठ रूपो मे आध्यात्मिक श्रेय के आभास् मिलते हैं। फिर भी अपने पूर्ण रूप में आध्यात्मिक श्रेय सास्कृतिक श्रेय से भिन्न है। सास्कृतिक श्रेय में आध्यात्मिक भाव की विपुलता होते हुए भी प्राकृतिक विषय और व्यक्तित्व का जो संश्लेष बना रहता है वह आध्यात्मिक श्रेय में पूर्णत विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक श्रेय पूर्णत. अलौकिक है।

कला और काव्य के साथ श्रेय के इन रूपो का क्या सम्बन्ध है, यह एक जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न का मर्म कला में रूप और तत्व का स्थान है। कला सौन्दर्य की साधना है। सौन्दर्य 'रूप का अतिशय' है। 'रूप' में ही कला का

सौन्दर्य पूर्ण है। परिभाषा की दृष्टि से तत्व का संयोग कला के लिए आवश्यक नहीं है। वाद्य-संगीत और चित्रकला की अल्पनाओं की भांति कला के ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं जिनमे सौन्दर्य का स्वरूप केवल 'रूप' मे ही परिपूर्ण हो जाता है। यदि कला के सौन्दर्य को केवल 'रूप' मे ही परिपूर्ण माने तो किसी भी प्रकार के तत्व का सयोग सौन्दर्य के लिये अवान्तर है। इस दृष्टि से सत्य और श्रेय दोनो ही 'तत्व' होने के कारण कला के अन्त पुर में सहज प्रवेश के अधिकारी नहीं हं। कला के रूप मे तत्व का सयोग सौन्दर्य का अनुग्रह है और उसकी साकार अभिव्यक्ति का व्यावहारिक माध्यम है। कला के व्यावहारिक रूपो मे प्राय सौन्दर्य के रूप के साथ सत्य और श्रेय के तत्वो का समन्वय मिलता है। अधिकाश कलाएँ इसी समन्वय मे चरितार्थ होती हैं। सत्य के साथ सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है और इनके समन्वय की क्या कठिनाइयाँ हैं, इसका विवेचन 'सत्यम्' के प्रसग मे विस्तार-पूर्वक किया जा चुका है। यहाँ सौन्दर्य के साथ श्रेय के सम्बध मे कुछ सकेत करना हमे अभीष्ट है। यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य के रूप की तुलना में सत्य के समान श्रेय भी तत्व ही है। अत सौन्दर्य के साथ श्रेय के सामजस्य की कठिनाइयाँ रूप और तत्व के समन्वय की सामान्य कठिनाइयाँ हैं। फिर भी सभी तत्व समान नही हैं। उनके रूपो मे भिन्नता होने के कारण सौन्दर्य के साथ इनके समन्वय स्थितियाँ भी भिन्न बन गई हैं। प्राकृतिक सत्य की भाँति प्राकृतिक श्रेय भी एक प्रकार से उदासीन होता है। यह उदासीनता सौन्दर्य के साथ उनके समन्वय की स्थितियाँ भी भिन्न बन गई हैं। प्राकृतिक सत्य की भाँति प्राकृतिक श्रेय भी एक प्रकार से उदासीन होता है। यह उदासीनता सौन्दर्य के साथ इनके सामजस्य की एक मौलिक कठिनाई है। प्राकृतिक सत्य में प्राय. एक सहज रूप का सौन्दर्य होता है जो कला के रूप के साथ सत्य के सामंजस्य को सुगम बनाता है। प्राकृतिक सत्य के रूप का यह सौन्दर्य प्राय कला के रूप-सौन्दर्य की कमी को पूरा करता है। इसी कारण प्रकृति के वर्णन कला की दृष्टि से अधिक सुन्दर न होते हुए भी प्राय प्रकृति के रूप-सौन्दर्य के कारण सुन्दर बन जाते हैं। प्राकृतिक श्रेय में सहज रूप का सौन्दर्य नहीं होता। प्राकृतिक श्रेय प्रकृति के उपादानो का उपभोग है। इस उपभोग मे प्रकृति के उपादानो का रूप नष्ट होता है। फल-फूलो के भक्षण मे उनका सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। अत. एक प्रकार से प्राकृतिक श्रेय सौन्दर्य का विघातक है। दूसरी ओर प्राकृतिक श्रेय सुखकर

होता है। साक्षात् अनुभव के अतिरिक्त कल्पना म भी वह सुख देता है। प्राकृतिक श्रेय के वर्णन कल्पना का सुख उत्पन्न करत हैं। इसीलिये इनको विषय बनाने वाली कृतियाँ लोक प्रिय बन जाती हैं। प्राकृतिक श्रेय के तत्व से निर्मित काव्य के सम्बन्ध में तत्व की कल्पना से प्रसूत सुख और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में विवेक करना आवश्यक है। साहित्य क अनुरागियो और आलोचको का प्राय इस सम्बन्ध में भ्रम रहता है। यह भ्रम इस विवेक क महत्व को घटाता है।

सामाजिक और सास्कृतिक श्रेय में प्राकृतिक सुख के अतिरिक्त एक 'भाव' रहता है। चेतनाओ का पारस्परिक सवाद होने के कारण यह भाव सौन्दर्य के स्वरूप के अधिक अनुकूल है। अत श्रेय के इन रूपो का सौन्दर्य के साथ सामजस्य अधिक सुकर और सफल हो सकता है।

प्राकृतिक और सामाजिक श्रेय को विपुलता के साथ काव्य का विषय बनाया गया है। प्राकृतिक दृश्यो और मनुष्य के प्राकृतिक भावो के वर्णन काव्य म बहुत मिलते हैं। इनमे बहुत से वर्णन सुन्दर हैं। प्रकृति के वर्णनो मे प्रकृति के रूप का सौन्दर्य साधारण वर्णनो को भी सुन्दर बनाता है। कालिदास और पत के प्रकृति वर्णनो की भाँति जहाँ प्रकृति के रूप सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी पर्याप्त है वहाँ प्रकृति के वर्णन चतुर्गुण सुन्दर बन गये हैं। प्राकृतिक भावो के वर्णनो मे जीवन के अध्ययन और अनुभवो का एक सहज प्रभाव होता है। इसके साथ साथ जहाँ रामचरितमानस की भाँति अभिव्यक्ति पर्याप्त है वहाँ ये भावो के चित्रण प्रभावशाली होने के साथ साथ सुन्दर भी बन गये हैं। रामचरित मानस, कामायनी, कुरुक्षेत्र, पार्वती, उर्वशी, आदि काव्यो मे गम्भीर सामाजिक तत्वो का समावेश हुआ है। इनमे 'पार्वती' का सामाजिक तत्व परिमाण मे सबसे अधिक प्रचुर है, किन्तु कामायनी और उर्वशी मे सौन्दर्य का समन्वय सबसे अधिक हुआ है। 'पार्वती' मे सामाजिक श्रेय को प्रत्यक्ष और गम्भीर रूप मे काव्य का विषय बनाया गया है। सास्कृतिक श्रेय के प्रथक् रूप को विचारको ने प्राय कम महत्व दिया है। साहित्य और कला स्वय सस्कृति का रूप है। उसमे साहित्य और कला के स्थान का प्रश्न ही एक प्रकार से असगत है। कुछ सामाजिक और नैतिक आदर्शो को ही सस्कृति मे प्रमुख समझा जाता है और साहित्य के सास्कृतिक अध्ययनो मे उनकी खोज की जाती है। ये आदर्श भी सस्कृति के तत्व हैं, किन्तु सस्कृति के सजीव रूप मे ये तत्व विशेष 'रूपो' मे साकार होते हैं। तत्व और रूप का समन्वय सस्कृति को

पूर्ण बनाता है। भारतीय परम्परा में पर्व, सस्कार, उत्सव, आदि के रूपो में सस्कृति के ये सजीव और साक्षात रूप इतनी विपुलता के साथ मिलता है कि जितनी विपुलता के साथ अन्य किसी देश में मिलना कठिन है। फिर भी काव्य में सांस्कृतिक श्रेय के इन रूपो को बहुत कम स्थान दिया गया है। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' और कालिदास के काव्यो के अतिरिक्त सस्कृति के इन सजीव रूपो का प्रसग काव्य मे बहुत कम मिलता है। इस दृष्टि से कदाचित् कालिदास भारतवर्ष के सबसे अधिक सास्कृतिक कवि हैं और रामचरित-मानस हिन्दी का सबसे अधिक सास्कृतिक काव्य है।

आध्यात्मिक श्रेय एक अलौकिक और रहस्यमय तत्व है। उसकी अभिव्यक्ति कठिन है, क्योंकि वह स्वरूप से अनिर्वचनीय है। फिर भी शब्द में कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह अलौकिक और अनिर्वचनीय तत्व की भी अलक्षित रूप से व्यजना करने में समर्थ है। फिर भी बहुत कम भाषाओ म आध्यात्मिक श्रेय को काव्य मे स्थान दिया गया है। पश्चिमी भाषाओ के अधिकाश काव्य लौकिक विषय से ही सम्बन्ध रखते हैं। पश्चिमी देशो मे अध्यात्म की साधना को भी अधिक महत्व नही दिया गया है। भारतवर्ष मे अध्यात्म की साधना बहुत गम्भीरता के साथ हुई है। अत भारतीय सस्कृति मे भी अध्यात्म को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। 'सत्यम्' के प्रसग मे हमने जिसे आध्यात्मिक सत्य कहा है वह आध्यात्मिक श्रेय से भिन्न नही है। दार्शनिक विवेचन का विषय बनकर अध्यात्म 'सत्य' बन जाता है। वही हमारी साधना का लक्ष्य बनकर 'श्रेय' कहलाता है। भारतवर्ष मे अध्यात्म का विवेचन और साधन बहुत हुआ है, किन्तु इसके साथ २ काव्य मे इसकी अभिव्यक्ति भी बहुत हुई है। अध्यात्म का जितना काव्य भारतवर्ष में मिलता है उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। सस्कृत भाषा मे अध्यात्म का काव्य अधिक विपुल है। इसके साथ साथ वह बहुत सुन्दर भी है। शैव तन्त्र और वेदान्त की परम्परा म यह काव्य अधिक मिलता है। भक्ति का काव्य भी सस्कृत म बहुत है। हिन्दी म अध्यात्म का काव्य तो अधिक नही मिलता, किन्तु भक्ति का काव्य प्रचुरता से मिलता है। आधुनिक हिन्दी के रहस्यवादी काव्य म अध्यात्म का पुट अधिक है। महादेवी वर्मा के गीतो मे अध्यात्म की अत्यन्त मुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक काव्य हिन्दी के इस काव्य की प्रेरणा है। अध्यात्म के भाव मे एक अद्भुत मार्मिकता होती है। अध्यात्म की कोटि पर पहुँच कर भाव इतना तीव्र

और प्रबल बन जाता है कि उसकी व्यंजना एक सहज सुन्दर रूप में होती है। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, रवीन्द्रनाथ और महादेवी के गीतों में इस अध्यात्म का सौन्दर्य अवलोकनीय है। एक ओर अध्यात्म के भाव अनिर्वचनीय होते हैं किन्तु दूसरी ओर अध्यात्म का भाव शिव के समान शक्ति के साथ अभिन्न होने लगता है। उसका मर्म अनिर्वचनीय रहते हुए भी वह उसी प्रकार सहज रूप में व्यक्त होता है जिस प्रकार शिव का तत्व शक्ति के द्वारा विश्व में विवृत होता है। प्राकृतिक और सामाजिक तत्वों को रूप के साथ भाव का यह तादात्म्य इतना सुलभ नहीं है। एक प्रकार से श्रेय के सभी रूप किसी न किसी परिमाण में अध्यात्म के भाव और रूप के इसी तादात्म्य को प्राप्त कर अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से अलंकृत होते हैं। केवल इतना अन्तर है कि आध्यात्मिक काव्य में वह तादात्म्य काव्य के स्वरूप में समाहित हो जाता है, वहाँ प्राकृतिक और सामाजिक श्रेयों के प्रसंग में वह तादात्म्य काव्य के स्वरूप में समाहित नहीं होता वरन् वह केवल कवि का अन्तर्भाव रहता है। काव्य में समाहित होने पर वह तादात्म्य प्राकृतिक और सामाजिक श्रेय को भी 'भाव से' सांस्कृतिक बना देता है। यद्यपि इसमें संस्कृति के रूप का अनुष्ठान नहीं होता तथा संस्कृति और कलात्मक अभिव्यक्ति दोनों के सौन्दर्य के समागम में वह चतुर्गुण सुन्दर बनता है।

अध्याय ३०

काव्य और शिवम्

सत्य के जिस व्यापक और पूर्ण अर्थ का पिछले अध्यायों में निर्देश किया गया है तथा जिसकी कल्पना कुछ तत्व दर्शनों में अन्तिम सत्य के रूप में की गई है, वह केवल जिज्ञासा का समाधान करने वाला उदासीन सत्य नहीं है वरन् वह जीवन के तत्व और लक्ष्य का ऐसा समग्र रूप है जिसमें जीवन की पूर्णता और मनुष्य की समस्त आकांक्षाओं की परितृप्ति होती है। यह स्पष्ट है कि बौद्धिक सत्य के अतिरिक्त जीवन का श्रेय और सौन्दर्य भी सत्य की इस व्यापक कल्पना में समाहित है। जिन दर्शनों में सत्य के इस पूर्ण रूप का प्रस्ताव किया गया है, वे उसे पूर्ण निरपेक्ष सत्य अत बुद्धि, कर्म और कल्पना की सापेक्ष कोटियों से परे मानते हैं। सत्य होते हुए भी यह बौद्धिक सत्य से भिन्न है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय के भेद के लिए स्थान नहीं है। इसी प्रकार इसमें श्रेय का समाहार होते हुए भी यह शुभ और अशुभ असिद्ध और साध्य, स्व और पर आदि की सापेक्ष कोटियों से अतीत है। सुन्दरम् के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में अधिक विवेचन नहीं है, फिर भी यह स्पष्ट है कि सुन्दर और असुन्दर, द्रष्टा और दृश्य आदि के सापेक्ष भेदों से वह परे है। ऐसा पूर्ण और निरपेक्ष सत्य वेदान्त के ब्रह्म के समान एक और अनन्त ही हो सकता है। व्यवहार में उसकी चर्चा भी उपचार मात्र है। ऐसे पूर्ण सत्य के समग्र रूप में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के स्वरूप का विविक्त निरूपण सम्भव नहीं है, वह एक साथ सत्य, शिव और सुन्दर है। उसमें सत्य, शिव और सुन्दर एक रूप हो जाते हैं। वेदान्त का ब्रह्म सत्य की ऐसी ही कल्पना है।

किन्तु दर्शन, साहित्य और व्यवहार में सत्य, शिव और सुन्दर का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया जाता है। वे एक नहीं हैं। ऐसे प्रयोग में सत्य का अभिप्राय तथ्य और सिद्धान्त के उन अनेक रूपों से है जिनका अनुसंधान मनुष्य की जिज्ञासा तटस्थ भाव से करती है और जिनकी अवगति से उसे प्रकाश और प्रसाद मिलता है। शिवम् और सुन्दरम् केवल अवगति के विषय नहीं है। उनमें हमारी चेतना की भावनामय आकांक्षा अपना आनन्द खोजती है। यद्यपि शिवम् और

सुन्दरम् दोनों की कल्पना कुछ विद्वानों ने व्यक्तिगत भावों के रूप में की है, किन्तु वस्तुतः उनका स्वरूप व्यक्तित्व में सीमित नहीं है। व्यक्तित्वों में केन्द्रित चेतनाओं के सम्पर्क, सम्प्रेषण और संवाद में ही शिवम् और सुन्दरम् के भाव साकार होते हैं। समात्मभाव को हम दोनों का सामान्य स्वरूप कह सकते हैं। जब दो या अधिक चेतनाएँ एक दूसरे की भावविभूति में परस्पर भाग लेती हैं, तो शिवम् और सुन्दरम् का उदय होता है। एक चेतना का दूसरी चेतना के सृजनात्मक विकास और निर्माण में आत्मीय भाव से योग विशेष रूप से 'शिवम्' कहा जा सकता है। अपनी भाव-सम्पत्ति की दूसरे के प्रति अभिव्यक्ति 'सुन्दरम्' का विशेष स्वरूप है। यह अभिव्यक्ति अर्थ का अवबोधन नहीं (वह सत्य की सीमा के अन्तर्गत है), वरन् आकृति की व्यंजना है। इस आकृति की व्यंजना के रूप में अभिव्यक्त होने पर ही समात्मभाव विशेष रूप से सुन्दरम् का रूप ग्रहण करता है।

सुन्दरम् में अपनी अनुभूति और आनन्द का दूसरों को भोगी बनाने की प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा से अहकार और स्वार्थ का परार्थ और पारस्परिकता में विस्तार होता है। फिर भी अनुभूति के मर्म में अहकार का केन्द्र बना रहता है। अभि-व्यक्ति के रूपों में यह अहकार का केन्द्र कला और काव्य के उद्गम के रूप में रहता है। सुन्दरम् की स्थिति में व्यक्तित्व के मूल को त्यागने की आकांक्षा नहीं होती। यदि प्रकृति के दिव्य सौन्दर्य अथवा ईश्वर के अलौकिक सौन्दर्य में यह सुन्दरम् उदात्त बन जाता है तो विस्मय और भय का उदय होने पर अहंकार के केन्द्र का विलय सम्भव होता है। उदात्त के प्रति श्रद्धा, भय, विस्मय, आकर्षण आदि में अहंकार का समर्पण सुन्दरम् की सीमा लांघ कर एक दूसरे क्षेत्र में आजाता है। उदात्त के प्रति यह समर्पण की भावना शिवम् के प्रति हमारी भावना के इस अर्थ में समान है कि दोनों में ही हम अहकार के केन्द्र से बाहर आकर अहंकारातीत तत्वों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु इन तत्वों के स्वरूप और इनके साथ हमारे सम्बन्ध में अन्तर है। उदात्त के प्रति हमारा सम्बन्ध समर्पण का सम्बन्ध है और उसमें हमारी श्रद्धा के साथ-साथ उस तत्व के भय एवं विस्मयकारी रूप का भी प्रभाव है। अतः हमारी श्रद्धा के साथ-साथ हमारी विवशता और उस तत्व के चमत्कार का भी प्रमाण है। इसीलिए यह भावना धार्मिक सम्प्रदायों में ही अधिक पाई जाती है। जहाँ वह काव्य में मिलती है वहाँ उस काव्य का रूप धार्मिक भावना के ही अधिक निकट है। इसीलिए कवियों में प्रायः यह भावना

अन्तिम वय मे पाई जाती है। अस्तु एक प्रकार से उदात्त के प्रति समर्पण का भाव वृद्धत्व का लक्षण है। रामचरित मानस, विनय पत्रिका, गीताजलि, सूर के विनय के पद तथा आधुनिक रहस्यवादी कवियो के कुछ समर्पण शील गीत तथा सस्कृत के आचार्यो और भक्तो के स्तोत्र आदि रचनाएं इसी कोटि के अन्तर्गत हैं।

इसके विपरीत शिवम् में दूसरो की अनुभूति तथा उनके सुख-दुख और आनन्द में भागी बन कर उन्हे सहयोग का रस और ओज देने की भावना होती है। सुन्दरम् में रसानुभूति का वितरण और प्रदान प्राप्ति का साधन बनता है। शिवम् में परानुभूति की प्राप्ति प्रदान का साधन बनती है। परानुभूति के भागी बनने की प्रेरणा हमें अहकार के केन्द्र से बाहर लेजाती है। शिव के भाव की यह गति आत्मतत्र है परतत्र नही। अहकार का अतिक्रमण कर और दूसरो के साथ समात्मभाव हमारी स्वच्छन्द चेतना के स्वतत्र विस्तार का फल है। इसमें भक्ति का भय *विस्मय और आकर्षण कारण नही है वरन् प्रेम और सौहार्द की कोमल करुणा* कारण है। धर्म की उपासना और शिव-भाव की मगल साधना में यही अन्तर है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अवगति सत्यम् का स्वरूप है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति सुन्दरम् का तथा रचनात्मक आत्मदान शिवम् का स्वरूप है। अभिव्यक्ति को भी हम मानसिक भाव-सृष्टि कह सकते हैं, किन्तु वह पूर्णत आत्मगत रचना है। इसीलिए चेतना के स्वरूप को मूलत रचनात्मक मानते हुए भी प्रसिद्ध इटैलियन दार्शनिक क्रोचे का कला-सिद्धान्त अभिव्यजनावाद कहलाता है। जिस भाव सृष्टि को क्रोचे चेतना का स्वरूप मानते हैं वह चेतना की आन्तरिक और आत्मगत अभिव्यक्ति ही है। इसके विपरीत शिव की सृष्टि न केवल भावगत है और न केवल आत्मगत। सृजन का मूल और सर्वोत्तम रूप तो स्रष्टाओ का सृजन है। शिव-पार्वती की पुण्य कथा मे कुमार-सम्भव का यही रहस्य है। विष्णु और उनके अवतारो मे शिवत्व के इस तत्व का अभाव है। स्रष्टाओ का स्रष्टा होने के कारण ही परमात्मा 'कवि पुराण' कहलाता है। स्रष्टाओ का सृजन केवल प्राकृतिक धर्म नही वरन् एक पूर्ण सास्कृतिक धर्म है। सम्भूत कुमारो तथा अन्य व्यक्तियो के मन और जीवन मे एक प्रेरणामयी भाव सृष्टि के बिना यह सृजन का प्राकृत धर्म पूर्ण नही हो सकता। कौषीतकी उपनिषद् मे पुत्र को आत्मा मानने का यही आशय है। ब्रह्मा के द्वारा प्रजापतियो की मानसी सृष्टि का भी यही रहस्य है।

प्राकृत सृष्टि भाव सृष्टि का एक प्राकृत आधार है। इस भाव सृष्टि के वैभव से ही प्राकृत सृष्टि सार्थक होती है। इसी की प्रेरणा से सामाजिक सम्बन्धो और व्यवहारो के भाव प्रवण रूपो मे सृजन का धर्म समृद्ध और पूर्ण होता है। स्रष्टाओ का सृजन भाव कोटि तक न आ सकने के कारण प्रकृति का सृजन-धर्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे ही सीमित रह गया। इसीलिए प्रकृति के विकास-क्रम को भाव सृष्टि मे पूर्ण बनाने के लिए प्रकृति को मनुष्य की समृद्ध चेतना की अपक्षा हुई।

सृजन के इन त्रिविध रूपो में ही शिव की कल्पना पूर्ण होती है। इनमे स्रष्टाओ की प्राकृत सृष्टि मगल-परम्परा का प्राकृत आधार है। सामाजिक सम्बन्धो और आर्थिक व्यवस्थाओ की रचना जीवन और जगत मे उसका उपयोगी और अनुरूप आकार है। किन्तु शिवत्व का मर्म भाव-सृष्टि ही है। इस भाव-सृष्टि का स्वरूप दूसरो के भाव में अपने भाव का योग देकर उसे समर्थ और सम्पन्न बनाना है। इसे केवल अभिव्यक्ति नही कह सकते। मूलत यह अहकार से अतीत एक व्यापक भाव-लोक की रचना है। यदि इसे हम अभिव्यक्ति भी मानें तो इसका तात्पर्य शिवम् मे सुन्दरम् का समन्वय ही होगा। यदि सत्य की अवगति के अभिव्यक्ति और प्राप्ति के दोनो पक्षो का समाहार भी भाव-सृष्टि के आलोक के रूप मे कर लिया जाए तो शिवम् के इस रूप मे सत्यम् और सुन्दरम् दोनो का समन्वय हो जाता है। किन्तु जीवन और सस्कृति की इस कल्पना में शिवभाव ही प्रमुख है। सत्य उसका आधार और सुन्दरम् उसका सौन्दर्य है। सृष्टि-विधान की पौराणिक कल्पना मे क्षीर-सागर मे शेप शय्या पर विष्णु के आसन, उनके नाभि कमल पर ब्रह्मा की स्थिति तथा शेप फणो पर स्थित पृथ्वी के कैलाश शिखर पर शिव के सर्वोच्च आसन का यही रहस्य है। क्षीर सागर सृजन की मातृ शक्ति का अनन्त प्रतीक है। इसी रहस्य को भुलाकर भारतीय सस्कृति पथभ्रष्ट हुई तथा भारतीय समाज पराजित हुआ। दोनो की इस अधोगति से प्रभावित साहित्य भी जीवन और सस्कृति की इस पूर्ण और मगलमयी कल्पना का कोई महत्व पूर्ण प्रतिष्ठान हमे न दे सका। 'कुमारसम्भव' और 'किरातार्जुनीय' की कुछ आशिक कल्पनाओ को छोडकर हिन्दी और सस्कृत के समस्त काव्य मे शिव-कथा पर आश्रित कृतियो का अभाव इस धारणा का प्रमाण है।

सामान्यत आत्मदान ही शिवम् का वास्तविक स्वरूप है। किन्तु उपदेश,

अनुग्रह, उपकार, आदि अनेक रूपो मे आत्मदान का व्यवहार होता है। शरीर और व्यक्ति के प्राकृतिक और सीमित हित भी श्रेय के अन्तर्गत गिने जाते हैं। दर्शन-काव्य और जीवन सभी मे इस व्यापक और इन विविध अर्थो मे शिवम् का प्रयोग हुआ है। अत शिवम् के इन विभिन्न रूपो की शिवम् के सामान्य रूप मे स्थिति और काव्य में उनके स्थान का विवेचन आवश्यक है। **आत्मदान की सृजनात्मक प्रेरणा के द्वारा लोक-मगल की परम्पराओ को दृढ बनाना ही सास्कृतिक साधना है।** व्यक्ति अथवा कर्त्ता की दृष्टि से प्रकृति की मर्यादा और चिन्मय भावना का उत्कर्ष ही इस साधना का लक्षण है। किन्तु जीवन की चेतना व्यक्ति मे सीमित नही है अत चिन्मय भावना का उत्कर्ष पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे उसका विस्तार है। वस्तुत यह विस्तार चेतना का स्वरूप और धर्म है। सत्य की दृष्टि से यह अवगति के आलोक का विस्तार है। सत्य की अवगति के वाह्य तथा निरपेक्ष उपादानो का ग्रहण करके चिन्मय भावो का आन्तरिक निर्माण चेतना का आत्मगत धर्म है। *क्रोचे की कलात्मक अभिव्यक्ति का यही रूप है।* इसमे सुन्दरम् की आत्म-गत अभिव्यक्ति होती है। इस आत्मगत अभिव्यक्ति मे एक अपूर्व आह्लाद का उदय होता है। इस आह्लाद मे एक आमन्त्रण है। यही आन्तरिक आह्लाद दूसरो को कलाकार के अनुभव मे भाव लेने के लिये आमन्त्रित करता है। यही आमन्त्रण सामाजिक सुन्दरम् का सिद्धान्त है। परार्थ का प्रसग होने के कारण इस अभिव्यक्ति और आमन्त्रण मे भी शिव का बीज है। किन्तु शिव का स्वरूप आत्म-दान है। सृष्टाओ के सृजन की जो परम्परा लोक-मगल की सरणि है उसका *सिद्धान्त आत्मदान ही है। व्यक्ति की साधना मे चिन्मय भावना का उत्कर्ष* इसी आत्मदान मे पूर्ण और कृतार्थ होता है। साधना का शिवत्व इसी मे सार्थक होता है। यह आत्मदान कर्त्ता की दृष्टि से आत्मा का विस्तार है किन्तु ग्राहक की दृष्टि से उसकी चेतना के स्फुरण, जागरण, उत्कर्ष और भाव सम्पन्नता आदि मे कर्त्ता की चेतना का स्वतन्त्र, सरल तथा स्नेह और सद्भाव पूर्ण योग है। **भाव की सृष्टि ही अभिव्यक्ति में सुन्दरम् और आत्मदान में शिवम् बन जाती है।** सुन्दरम् की अभि-व्यक्ति का स्वरूपगत पर्यवसान कर्त्ता और ग्रहीता का आह्लाद है। सामान्यत *कला का अनुराग हमे कला का सृष्टा नही बनाता किन्तु कोई भी मागलिक* आदर्श हमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन मे निर्माण की प्रेरणा देता है। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति भी सुन्दरम् के नवीन सृजन की प्रेरणा बन

सकती है, किन्तु तब सुन्दरम् मे शिवत्व की स्फूर्ति का आरम्भ हो जाता है। सृजन की प्रेरणा शिव का स्वरूप है। आत्मदान इस सृजनात्मक प्रेरणा का ही सिद्धान्त है। इसी के द्वारा सास्कृतिक सृजन की परम्परा का विकास होता है। प्राकृतिक सृजन मे भी शुक्र-बीज आत्मदान के द्वारा ही सृष्टि के सौन्दर्य की सृजनात्मक परम्परा का पोषण करते हैं। सुन्दरम् की सृष्टि में शिव का ही बीज है। अहकार और व्यक्तित्व का आत्म विस्तार तथा दूसरे की चेतना के उत्कर्ष में सहयोग ही आत्मदान का मर्म है। उसमे अभिव्यक्ति का आह्लाद एक सामाजिक आनन्द बन जाता है।

कर्त्ता की दृष्टि से आत्मदान शिव का स्वरूप है। किन्तु ग्राहक की दृष्टि से शिव का तात्पर्य उसके व्यक्तित्व और भावो का सम्मान तथा स्वतन्त्रता है। वस्तुत इस आत्मदान में इतना एकात्मभाव रहता है कि 'स्व' और 'पर' का भेद इसमे कृत्रिम और भ्रान्तिकारक है। इन सीमाओ को भग करके ही आत्मदान का आरम्भ होता है और एक असीम एकात्मभाव मे वह फलित होता है। यही भाव उपनिषदो का 'भूमा' है। यही आध्यात्मिक आनन्द का अक्षय स्रोत है। हम इसे समात्मभाव कह सकते हैं।

किन्तु व्यवहार के लिए हमें शिव के तत्व-विवेचन म 'स्व' और पर का भेद करना पडता है। अहकार और व्यक्तित्व की जो सीमाएँ हमारे विचार और व्यवहार मे स्पष्ट होगई हैं उनको ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक है। हमारे सामान्य व्यवहार और विचार मे स्व और पर का सम्बन्ध प्राय रहता है। इतना अवश्य है कि निश्चत रूप मे यह 'स्व' और 'पर' विचार के प्रत्याहार हैं। इनके समानार्थक कोई निश्चित और सीमित तत्व हमारे व्यक्तित्व मे नही होते। केवल प्राकृतिक और शारीरिक क्षेत्र मे इनका निश्चित अर्थ है। इनका कारण यह है कि देश और काल की सीमा मे परिच्छिन्न होने के कारण शरीर और भौतिक वस्तुओ के क्षेत्र मे तादात्म्य नही होता। तादात्म्य का आरम्भ होते ही 'स्व' और 'पर' की निश्चित सीमाएँ विलय होने लगती हैं। यह भाव-क्षेत्र की बात है। 'भाव' देश-काल के प्राकृतिक विधानो का दास नही है। प्राकृतिक तत्वों के विपरीत भाव-क्षेत्र मे यौगपद्य, विस्तार और वृद्धि सम्भव है। सभव ही नही, ये भाव के स्वभाव हैं। भाव की इस शक्ति मे 'स्व' और 'पर' केवल अवगम के मर्यादा-विन्दुओ के रूप मे शेष रह जाते हैं। वे औपचारिक हैं, वास्तविक नही। इन्ही

बिन्दुओं को संकेत करके सुन्दरम् को अभिव्यक्ति और शिव को आत्मदान कहा गया है।

'भाव' आत्मगत चेतना में अनुभूति की सजग और सजीव वृत्ति का उद्भावन है। प्राकृतिक वृत्तियों का संवेदनात्मक भाव एक विशेष स्थान रखता है। काव्य में भी सम्वेदना के सूचक शब्द कल्पना में इसका उद्भावन करते हैं। किन्तु भाषा में ऐसे शब्दों की भी प्रचुरता है जो संवेदना में रूढ नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वाक्य और पद में एक *शब्दातीत व्यजना रहती है। जिसके अर्थ का स्फोट* अतीन्द्रिय चेतना में ही होता है। **भाव का यह अतीन्द्रिय क्षेत्र ही कला और संस्कृति का मुख्य विषय है।** अतीन्द्रिय होने के कारण यह प्रकृति के नियमों से परे है। व्यक्ति के केन्द्र में इन अतीन्द्रिय भावों का उदय आरम्भ से ही इन नियमों का अतिक्रमण है। भाव की आत्मगत अनुभूति में भी इतना विस्तार और इतनी तन्मयता होती है कि इस स्वगत भाव में भी देश, काल और अहकार की सीमाओं का विस्मरण हो जाता है। यह विस्तार स्वप्रकाश चेतना के जाग्रत भाव का सहज स्वभाव है। **सुन्दरम् और शिव हमारे भाव-लोक की इसी भूमि में उदित होते हैं। जहाँ हम अपने इस भाव-लोक की विभूति में भाग लेने के लिए दूसरों का आमंत्रण करते हैं *वहाँ सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होती है* और जहाँ *हम दूसरों के* भाव-लोक में अपनी आत्मा की विभूति का योग देते हैं वहाँ शिव की सृष्टि होती है।** स्नेह सहानुभूति, सेवा आदि शिव के अनेक रूप हैं किन्तु इन सभी रूपों में आत्मदान का भाव समान रूप से व्याप्त है। अभिव्यक्ति के आमंत्रण में भी दूसरे का सम्मान है फिर भी अभिव्यक्ति के मूल में आत्म गौरव की भावना भी छिपी रहती है। यह अहकार का सरल और सुन्दर रूप है। समस्त कला कृतियों में कृतित्व का अभिमान इसका प्रमाण है कि अहकार का यह रूप सुन्दरम् के स्वरूप का अंग है। प्राचीन भारत की कुछ कला, काव्य, धर्म, दर्शन आदि की कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें अहकार के इस श्लेष का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। महान् *कृतियों में प्रक्षेप करने वाले तथा महान् आचार्यों के नाम से अपने ग्रन्थ छोड़ने वालों* में तो इस सरल अहकार का और भी तीव्र मोह छिपा हुआ था। ऐसी अनाम रचनाएँ कला और काव्य के क्षेत्र में कम मिलती हैं, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अधिक। इसका कारण यह है कि कला में सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का इस सरल और मृदुल अहकार से कोई विरोध नहीं है। वेद के मंत्रों में भी ऋषिकुलों के

कृतित्व का भाव कुल परम्पराओ मे व्यापक बन गया। कुल परम्परा एक स्मरण मात्र है, अहकृतित्व के रूप मे नही। लोक-गीतो और लोक-साहित्य मे ही इसका पूर्ण अभाव मिलता है। इसका कारण यह है कि लोक-साहित्य में अभिव्यक्ति और आत्मदान, सुन्दरम् और शिवम् एकाकार हो जाते हैं। महाभारत, पुराण आदि भी लोक-साहित्य के ऐसे महासागर हैं जिनमे अहकार के अगणित बिन्दु विलय हो जाते हैं।

आत्मदान का आरम्भ इस अहकार की बिन्दु के विलय से ही होता है। इस विलय की भूमिका मे कर्त्ता का आत्मगत भाव दूसरे के भाव लोक मे एकात्मक होने के लिए आकुल हो उठता है। यदि व्यक्तियो के सम्बन्ध की दृष्टि मे इसका औपचारिक विवेचन करें तो यह स्पष्ट है कि जहाँ अभिव्यक्ति के आमत्रण मे दूसरे के *प्रति सम्मान का सहज भाव है वहाँ उसमे आत्म गौरव के अहकार का एक* सूक्ष्म अनुरोध भी है। इसके विपरीत आत्मदान मे दूसरे का सम्मान समानता से भी अधिक है। जहाँ यह भाव-योग, शिक्षा, उपदेश, आग्रह, आरोपण आदि के रूप मे होता है वहाँ शिव का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित नही होता। यह आत्मदान की अपेक्षा आरोपण अधिक है। आत्मदान का यह रूप सभ्यता के इतिहास मे अमगल का कारण ही अधिक बना है। धर्म और राजनीति के इतिहास इसके प्रमाण हैं। शिव के आत्मदान का वास्तविक रूप शिक्षा, उपदेश, आग्रह, आरोपण आदि से रहित *भाव-योग* है। व्यावहारिक दृष्टि से हम इसे *सहयोग* कह सकते हैं। स्नेह इसका अन्तर्भाव है। स्वतंत्रता इसकी नीति है। यह स्वतत्रता एक उभयपदी वृत्ति है। कर्त्ता की ओर से प्रकृति की प्रेरणा अथवा आकाक्षा से रहित होकर चेतना के सहज भाव का स्वतत्र विस्तार होने पर तथा ग्राहक की दृष्टि से उसके स्वातन्त्र्य मे भग न करने पर ही यह भाव-योग वास्तविक आत्मदान *बनता है। इसे आत्मा का भाव सहयोग कहें तो अधिक उचित होगा। साधना* इस भाव योग की व्यक्तिगत भूमिका है। सामाजिक जीवन मे यह साधना आत्म-दान की प्रणाली बन जाती है। प्रेम इसका स्वरूप है। तादात्म्य अथवा एकान्त इसका चिन्मय भाव है। सहानुभूति, समानुभूति आदि से पृथक करने के लिए हम इसे *समात्मभाव* की सम्भूति कह सकते हैं। शिव के जीवन मे ये *साधना* और प्रेम पूर्णत चरितार्थ हुए हैं। इसीलिए शिव साकार मगल हैं।

सत्य काव्य का आधार अवश्य है किन्तु वह उसका सर्वस्व नही है। सत्य

का अनुसधान विज्ञान और दर्शन का विषय है। सत्य के आधार काव्य के उपादान बन सकते हैं। किन्तु केवल सत्य से काव्य के स्वरूप का निर्माण नही होता। सत्य के अतिरिक्त शिव और सुन्दर का भी काव्य मे समवाय होता है। कुछ कलावादी सम्प्रदाय केवल सौन्दर्य को कला का लक्ष्य मानते हैं। उनकी दृष्टि मे कला और कविता का कोई अन्य प्रयोजन नही है। केवल सुन्दर अभिव्यक्ति मे कला और काव्य की कृतार्थता है। कला कला के लिए है, किसी अन्य प्रयोजन के लिए नही। किन्तु विश्व के सभी महान् कवियो की कृतियाँ इस बात के उदाहरण हैं और यही काव्य की प्राचीन परम्परा है कि उसमे काव्य सत्य पर आश्रित होता है और जीवन का श्रेय उसका लक्ष्य है। काव्य-प्रकाशकार ने नि श्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है। उसे उन्होने 'पर-निर्वृति' की सज्ञा दी है। समस्त भारतीय परम्परा मे काव्य मे शिव तत्व को महत्व दिया गया है। लोक-मगल और नि श्रेयस दोनो का समवाय काव्य के प्रयोजन मे माना गया है। वाल्मीकि के आदि काव्य से लेकर सस्कृत के सभी काव्यो मे किसी न किसी रूप मे मगल का समावेश है। कविता केवल वाणी का विलास नही है। कालिदास के काव्य मे सौन्दर्य के वाणी विलास के साथ जीवन के मागलिक तत्वो का भी सन्निवेश है। विश्व के सभी महान् कवियो की कृतियाँ मागलिक लक्षण से परिपूर्ण हैं। हिन्दी मे 'रामचरित मानस', 'कामायनी' आदि महान् कृतियो मे जीवन के मगल की प्रधानता है। 'रामचरितमानस' मे भक्ति के रूप मे इस मगल की प्रतिष्ठा की गई है। 'कामायनी' मे एक मनोवैज्ञानिक विकास की भूमिका मे जीवन की आनन्दमयी परिणति का चित्रण किया गया है। 'पार्वती' महाकाव्य मे एक विराट सामाजिक भूमिका मे लोक-मगल और आध्यात्मिक श्रेय की समन्वित प्रतिष्ठा की गई है।

सत्य की भाँति शिव के भी अनेक रूप हैं। शरीर और इन्द्रियो के सुख से लेकर सामाजिक शान्ति और आध्यात्मिक आनन्द तक जीवन के अनेक लक्ष्यो के रूप मे कल्याण की कल्पना की गई है। इन सभी मे जीवन का कुछ न कुछ हित निहित है। यदि काव्य जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति है तो यह स्पष्ट है कि इन सभी का काव्य मे स्थान है। जीवन-दर्शन और काव्य दोनो मे मूल प्रश्न यही है कि जीवन की मगलमयी व्यवस्था मे इनका क्या स्थान और महत्व है। जीवन की एक प्रगतिशील परम्परा मे इनका क्रमागत सहयोग क्या है ? इन विभिन्न लक्षणो की

क्या मर्यादा है ? जीवन के अन्तिम लक्ष्य का रूप क्या है और उस लक्ष्य मे अन्य सभी लक्ष्यो का अन्वय किस प्रकार हो सकता है ? सक्षेप मे जीवन के लक्ष्यों की एक मगलमयी और समन्वित व्यवस्था का रूप क्या है ? अन्तिम प्रश्न यह है कि शिव तत्व का कविता से क्या सम्बन्ध है ? काव्य के स्वरूप मे अन्वित होकर किस प्रकार शिव उसका उपादान बनता है ? 'शिवम्' काव्य का अग अथवा उपादान ही है या 'शिव काव्य' का कोई अपना स्वतत्र स्वरूप भी है। इन सब प्रश्नो का उत्तर भी कविता के स्वरूप, शिव की परिभाषा और जीवन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। कविता की कोई भी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। किन्तु उसके उदगम के सम्बन्ध मे सभी एकमत हैं। हृदय की मर्ममयी अनुभूति मे कविता का उद्रेक होता है। अनुभूति की उष्मा से द्रवित होकर कवि का हृदय-हिमाचल सहस्र धाराओ मे फूट पडता है। *कविता इसी भाव प्रवाहिनी का प्राण* सगीत है। इन्ही सहस्र धाराओ के सम्मिलन से निर्मित और कवि की भागीरथी साधना से भाषा की भूमि पर अवतरित पुण्य प्रवाहा भागीरथी कविता की अमृत परम्परा है। सभी महान् कवियो की कविता का आरम्भ और उनकी प्रगति इसी भागीरथी के अनुकूल है। विश्व का काव्य ऐसी अनेक धाराओ के सगम का महातीर्थ है।

आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी करुणामयी अनुभूति से सहसा द्रवित होकर फूट पडी थी। रामायण नही वरन् क्रौंच मिथुन की सम्वेदना से प्रसूत वाल्मीकि का प्रसिद्ध श्लोक वास्तविक आदिकाव्य है। जैसा की ध्वन्यालोककार ने कहा है 'शोक श्लोकत्व मागत"। कवि की शोक मयी करुणानुभूति श्लोक के रूप मे मूर्त होकर मुखरित हो उठी थी। वही आदि कविता थी पत्नी की भर्त्सना से विचलित होकर तुलसी की मर्म-वेदना राम-चरित के रूप मे मुखरित हुई। कवि प्रसाद की घनीभूत पीडा आँसू बनकर बरस पडी। उन्ही आँसुओ का सचय कामायनी मे प्रवाहित हुआ। कवि पन्त के वियोगी कवि की आह ही गान बन कर गु जित हो उठी। 'युगान्त' के बाद 'स्वर्ण धूलि' और 'स्वर्ण किरण' मे भी उस गु जन की प्रतिध्वनि है। 'निराला' के काव्य मे उनके जीवन की महती वेदना ही सहस्र धाराओ मे फूट पडी है। महादेवी के गीतो मे मीरा की अन्तर्वेदना मुखरित हो उठी है। विदेशी कवियो मे भी कविता का उद्गम प्राय इसी मर्म भावना मे मिलेगा। बीएट्रिस के वियोग की मर्म

वेदना ने दाते के महाकाव्य (डिवाइन कॉमेडी) का रूप लिया। गेटे और शेक्स-पियर के काव्य मे भी एक व्यापक और गम्भीर अनुभूति का विस्तार है।

व्यक्तिगत होते हुए भी कवि की अनुभूति व्यापक होती है। कवि की वेदना समवेदना बनकर कविता को समाज की विभूति बनाती है। इसीलिए मूलत 'स्वान्त सुखाय' होते हुए भी कविता को पूर्णत व्यक्तिगत नही माना जा सकता। अपनी अनुभूति से उदित होकर कविता की धारा जीवन की भाव-भूमि पर प्रवाहित होती है। कवि की वेदना के स्रोत मे लोक जीवन की अनेक अनुभूतियाँ सवेदना के स्रोत बन कर मिल जाती हैं और इन सबके सगम से ही काव्य की लोक मगला भागीरथी का प्रवाह बनता है। अत अनुभूति कविता का उद्गम है, सवेदना उसका विकास है, लोक जीवन उसकी भाव-भूमि है जिस पर कविता की व्यापक धारा प्रवाहित होती है। यह अनुभूति वस्तुत' कवि के एकान्त और अहकार में सीमित अनुभूति नहीं, वरन् समात्मभाव की सम्भूति है। प्रश्न यह है कि कविता की इस प्रवाहिनी की दिशा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है? तुलसीदासजी की भाँति कविता को 'स्वान्त सुखाय' मानना कवि के विनम्र भाव का द्योतक है। केवल रमणीयता या मनोरजन भी कविता का उद्देश्य नही है। रसवादियो का रस-निष्पादन भी कविता के पूर्ण स्वरूप की व्याख्या नही करता। रस की व्यक्ति-निष्ठता कविता के सामाजिक प्रयोजन की उपेक्षा करती है। प्राचीन काव्य-शास्त्र की रस-योजना और उसके रस विभाजन मे जीवन और काव्य के अनेक उपादानो का समावेश नही हो पाता। शिवं से कविता की दिशा और काव्य के लक्ष्य का सकेत किया जा सकता है। किन्तु शिव के व्यापक स्वरूप और लोक की मगल मुखी व्यवस्था के विविध अगो का स्पष्ट निरूपण ही काव्य के इस लक्ष्य की समुचित व्याख्या कर सकता है। जीवन के उपादान, साधन, धर्म और साधना के किन २ रूपों की किस प्रकार की व्यवस्था को मगलमयी कहा जा सकता है और काव्य मे उसकी प्रतिष्ठा किस रूप मे अभीष्ट है, इसका उत्तर ही शिव के साथ कविता के सम्बन्ध का निर्धारण कर सकता है।

सत्य मनुष्य की जिज्ञासा का लक्ष्य है। विचार का अनुसधान जिसे प्राप्त कर कृतार्थ होता है, वही सत्य है। एक दृष्टि से यह सत्य एक परम्परा है और अनुसधान की गति मे इसका क्रमिक उद्घाटन होता है। दर्शन का यह अनुरोध है कि सत्य का एक चरम रूप भी है। इस अन्तिम और पूर्ण सत्य को प्राप्त कर

हमारी जिज्ञासा पूर्णत समाहित हो जाती है। इस सत्य की प्राप्ति हमारी जिज्ञासा का ही पूर्ण समाधान नही वरन् हमारी समस्त ग्रान्तरिक ग्राकाक्षाग्रो की परितृप्ति है। वेदान्त का ब्रह्म ऐसा ही सत्य है। ऐसे सत्य को प्राप्त कर ग्रौर कुछ भी प्राप्य शेप नही रह जाता। हमारी समस्त कामनाएँ इस सत्य मे कृतार्थ हो जाती हैं। इसीलिए माण्डूक्य उपनिषद् मे इस परब्रह्म को 'शिवम्' भी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यह चरम सत्य सत्य होने के साथ-साथ जीवन के मगल का भी परम रूप है।

ब्रह्म के समान जीवन ग्रौर जगत के ग्रन्य सत्यो के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि व पूर्णत जीवन-निरपेक्ष नही हैं। विज्ञानो ग्रौर दर्शनो मे उनका ग्रनुसधान ग्रौर ग्रध्ययन निस्सदेह एक निरपेक्ष भाव से होता है। किन्तु यह निरपेक्ष दृष्टिकोण ग्रनुसधान ग्रौर ग्रध्ययन के बौद्धिक क्षेत्र तक ही सीमित है। इसके ग्रतिरिक्त इन निरपेक्ष तथ्यो ग्रौर सिद्धान्तो का जीवन से सम्बन्ध होता है। जीवन पर इनके प्रभाव को हम शिव ग्रथवा ग्रशिव मानते हैं। यह सब जीवन के एक प्रयोजन को सामने रख कर ही होता है। जीवन की मगल-भावना निश्चित रूप से प्रयोजन-मुखी है। जीवन मे यह भावना इतनी प्रबल होती है कि निर्जीव ग्रौर निरपेक्ष प्राकृतिक तथ्यो में भी हम मगल ग्रथवा ग्रमगल का ग्रारोप करते हैं। कविता ग्रौर लोक व्यवहार दोनो मे ही यह दृष्टिकोण प्राय देखने को मिलता है। प्रकृति मे सवेदना ग्रथवा भावना का ग्रारोप इसी का सूचक है। प्रकृति का हँसना, रोना ग्रादि मनुष्य के ही हर्ष ग्रौर शोक का प्रतिबिम्ब है।

इसी प्रकार विज्ञान के तथ्यो ग्रौर सिद्धान्तो को भी विज्ञान के बाहर हम जीवन के मगल की दृष्टि से ही देखते हैं। ग्राधुनिक मूल्यवादी विचारको की तो यह धारणा है कि सत्य भी जीवन का एक मौलिक मूल्य है। ग्रसत्य की ग्रपेक्षा हम सत्य को ग्रधिक महत्व देते हैं। सत्य की साधना मे हम जीवन का गौरव मानते हैं। इस दृष्टि से सत्य जीवन से पूर्णत निरपेक्ष नही है। जीवन का मूल्य होने के नाते हम उसे 'शिवम्' भी कह सकते हैं। वस्तुत जीवन ग्रौर साहित्य का सत्य वही है जो शिवम् भी है ग्रथवा 'शिवम्' ही जीवन का सत्य है। काव्य ग्रौर साहित्य मे सत्य का निरपेक्ष चित्रण नही होता। कविता का उद्गम ग्रनुभूति है। राग ग्रथवा भावना से ग्रनुप्राणित ग्रनुभूति मे सिक्त होकर ही सत्य कविता का विपय बनता है। जीवन ग्रौर भावना से सम्बन्ध होते ही सत्य मे शिव या ग्रशिव का भाव

आजाता है। प्राकृतिक तथ्यों और सिद्धान्तों की अपेक्षा मन और जीवन के तथ्यों तथा सिद्धान्तों के विषय मे यह और भी अधिक सत्य है। जीवन से प्रसूत होने के कारण उनका जीवन से आन्तरिक सम्बन्ध है। अत वे पूर्णत निरपेक्ष नहीं हैं।

'शिवम्' भी सत्य के समान जीवन की एक व्यापक कल्पना है। जिस प्रकार सत्य मे अवगति के अनेक रूप सम्मिलित हैं उसी प्रकार शिव मे भी अनेक रूप श्रेयों का सन्निधान हैं। जीवन के लिए (उसकी रक्षा और उसके गौरव के लिए) जो कुछ भी हितकर है वह सब शिवम् के अन्तर्गत है। जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताएँ भी इसके बहिर्गत नहीं हैं। अशिवता प्रकृति के अतिचार से पैदा होती है। प्रकृति स्वत अशिव नहीं है। इस अतिचार के लिए मनुष्य स्वय उत्तरदायी हैं। पशुओं मे प्रकृति की यह नैसर्गिक मर्यादा है। मनुष्यों मे यह मर्यादा चेतना के सजग अनुशासन के रूप मे ही आ सकती है। चेतना के अनुशासन से मर्यादित होकर प्रकृति मानवीय सस्कृति का आधार बन जाती है। प्रकृति का सस्कार उसे सास्कृतिक श्रेयों के साथ समन्वय के योग्य बनाता है। सास्कृतिक श्रेयो का रूप भाव मय है। प्रकृति का वस्तु तत्व उसका उपादान और माध्यम बन जाता है। प्राकृतिक हित अपने प्राकृतिक अर्थ में स्वार्थमय है। इस स्वार्थमय हित को 'प्रेय' कहना अधिक उचित है। इसमे एक स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक सुख है। इस सुख के कारण ही प्रय प्रिय और प्राणिमात्र का अभीप्सित बनता है।

सास्कृतिक श्रेयों की आकाक्षा के बीज भी मनुष्य की आन्तरिक चेतना मे निहित हैं। इस अर्थ मे हम श्रेय को भी स्वार्थ कह सकते हैं। किन्तु यह स्वार्थ प्राकृतिक स्वार्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। प्रकृति देश और काल से नियमित है। अत देश काल मे अन्वित होने के कारण प्राकृतिक स्वार्थ एक कठोर सीमा मे सकुचित हो जाता है। देश की दृष्टि से पृथकत्व और काल की दृष्टि से अयौगपद्य प्रकृति के रूपों का लक्षण है। जो एक स्थान पर है वह दूसरे स्थान पर नहीं हो सकता, जो एक काल मे है वह दूसरे काल म नहीं हो सकता। देश काल के साथ साथ व्यक्तित्व भी प्राकृतिक हित की एक सीमा है। एक व्यक्ति का प्राकृतिक स्वार्थ स्वरूपत दूसरे का प्राकृतिक स्वार्थ नहीं बन सकता।

सास्कृतिक श्रेयों के प्राकृतिक उपादानो पर प्रकृति के ये सभी नियम लागू होते हैं। किन्तु सास्कृतिक श्रेयों का रूप चिन्मय भाव है। चेतना स्वरूपत देश, काल, व्यक्तित्व आदि की सीमाओं से अतीत है। ये चेतना के विषय हैं, अत

इनमे व्याप्त होते हुए भी चेतना पूर्णत इनमे परिच्छिन्न नहीं हो सकती। प्रकृति के उपादानो का ग्रहण और प्रकृति के नियमो का निर्वाह करते हुए भी चेतना के भाव इन नियमो के अतीत हो कर ही कृतार्थ होते हैं। उनके स्वरूप की सार्थकता और पूर्णता इस अति प्राकृतिकता और अतीन्द्रियता मे ही है। प्राकृतिक उपादानों के तथा प्रेयो के स्वार्थमय सकोच के विपरीत निरन्तर आत्म-विस्तार सास्कृतिक श्रेयो का स्वरूप है। इस विस्तार के विभाजन, आत्मदान और तादात्म्य मे प्रकृति और स्वार्थ के सब नियम खडित हो जाते हैं। विभाजन मे क्षीण होने के स्थान पर सास्कृतिक श्रेय और समृद्ध होते हैं। वस्तुत विभाजन ही उनकी समृद्धि का साधन है। स्वार्थ के सकोच और सीमा से वे और क्षीण होते हैं।

प्राकृतिक श्रेय (प्रेय) जीवन के साधन हैं और सास्कृतिक श्रेय उसके साध्य अथवा लक्ष्य हैं। साधन और साध्य के रूप मे जीवन की भाँति कला और काव्य मे भी प्राकृतिक हित और सास्कृतिक श्रेय दोनो का ग्रहण किया जाता है। दोनो जीवन के मगल के साधक हैं। अत इन दोनो रूपो में व्यक्त होने वाले शिवम् का काव्य मे स्थान है। किन्तु जिस प्रकार सत्य को उपादान के रूप में ग्रहण करने से सत्य काव्य का सामान्य विशेषण नहीं बन जाता उसी प्रकार उपादान के रूप में शिवम् का ग्रहण करने से 'शिव काव्य' की सृष्टि नहीं होती। उपादान काव्य का जीवन-तत्व है। सामान्य विशेषण उसका कला-रूप है। इस कला रूप के आकार मे उपादान का समन्वय काव्य की सृष्टि करता है। जिस प्रकार जहाँ भी सत्य है वहाँ काव्य का होना आवश्यक नही है। काव्य का स्वरूप तो सुन्दरम् है। उस स्वरूप से एकात्मक होकर ही सत्यम् और शिवम् काव्य के सामान्य विशेषण बन सकते हैं। उपादान और आकार की एकात्मता ही काव्य का विधान है। सत्य की भाँति काव्य में शिव के भी उभय-विध उपादानों का ग्रहण हुआ है, किन्तु विरले ही काव्य 'शिव काव्य' बनने में सफल हुए हैं। इस सफलता के लिए तीन प्रकार का समन्वय अपेक्षित है। एक तो प्राकृतिक हितो का सास्कृतिक श्रेयो से दूसरा सास्कृतिक श्रेयो का शिवम् के सामान्य स्वरूप से और तीसरा इन सबका काव्य के स्वरूप अथवा सौन्दर्य से। एक और भी चौथा समन्वय अपेक्षित हो सकता है वह जीवन के सिद्धान्त-तत्व-रूप सत्य से शिवम् और सुन्दरम् दोनो का। वस्तुत सत्य के इस रूप का शिवम् से भेद करना कठिन है। भारतीय दर्शनो तथा ग्रीक दर्शनो मे सत्य और ज्ञान की प्रधानता का कारण

सत्यम् और शिवम् की अभिन्नता ही है। प्रमुख भारतीय दर्शन नि श्रयस को ज्ञान-रूप ही मानते हैं। ग्रीक दर्शन मे भी सोक्रेटीज श्रेय को ज्ञान रूप ही मानते थे। सत्य और सास्कृतिक श्रेय मे उसी प्रकार समानता है जिस प्रकार तथ्य और प्राकृतिक श्रेय मे है। सिद्धान्त सत्य और सास्कृतिक श्रेय दोनो चेतना के भाव हैं। प्राकृतिक तथ्य ही जीवन के साधन बन कर प्राकृतिक श्रेय बन जाते हैं। इसी प्रकार जीवन के व्यापक सिद्धान्त जो सत्य कहलाते हैं साधनाओ मे अन्वित होकर सास्कृतिक श्रेय बन जाते हैं। वही सिद्धान्त जो अवगति का विषय बन कर सत्य कहलाते हैं, जीवन के निर्माण, विकास और आनन्द की प्रेरणा बन कर 'शिवम्' बन जाते हैं। अन्तत सत्य ही शिव है और शिव ही सत्य है। एक के पूर्ण रूप मे दूसरे का समाहार है। सत्य और शिव की इस अन्तिम एकात्मता के कारण काव्य के विधान मे दोनो का समन्वय अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक हितो का सास्कृतिक श्रेयो मे तथा दोनो का शिवम् के सामान्य स्वरूप मे तथा इन सबके काव्य के स्वरूप (सुन्दरम) मे समन्वय द्वारा ही 'शिव काव्य' का विधान पूर्ण होता है। सुन्दरम् का स्वरूप अभिव्यक्ति है तथा शिवम् का स्वरूप आत्मदान है। जीवन के सामान्य सिद्धान्त तत्व अभिव्यक्ति मे सुन्दरम् और आत्मदान मे शिवम् बनते हैं। किन्ही भी सिद्धान्तो और तथ्यो की सफल अभिव्यक्ति सत्य काव्य की विधायक होती है किन्तु चरम और पूर्ण सत्य ही शिवम् के साथ एक रूप होता है। उसी की अभिव्यक्ति शिव काव्य' की सृष्टि करती है। तथ्यो की अभिव्यक्ति से जिस प्रकार इतिवृत्त का काव्य बनता है उसी प्रकार प्राकृतिक हितो की अभिव्यक्ति से 'प्रेय काव्य' बनता है। प्रेय काव्य को हम एक सकुचित अर्थ मे ही 'शिव काव्य' कह सकते हैं। वास्तविक 'शिव काव्य' वही है जिसमें सास्कृतिक श्रेयो की सुन्दर अभिव्यक्ति हो। सास्कृतिक श्रेय चेतना के भाव हैं। चेतना मे इनका आविर्भाव वस्तुत अभिव्यक्ति के रूप मे ही होता है। अत मूलत शिवम् स्वरूप से ही सुन्दर है। इसीलिए चेतना म इन मगल तत्वा का उदय होने पर आनन्द का अभ्युदय हाता है। आनन्द सृजन और अभिव्यक्ति का फल है।

इन सास्कृतिक श्रेयो मे शिवम् का सामान्य स्वरूप व्याप्त है। शिवम् का सामान्य स्वरूप आत्मदान है। सास्कृतिक श्रेय की अभिव्यक्ति आत्मदान के रूप मे होती है। आत्मदान दूसरे के भाव के साथ अपने चिन्मय भाव का योग और

तादात्म्य है। अपनी भाव-सम्पत्ति के समर्पण से दूसरे की भाव-सम्पत्ति का संवर्धन और साथ ही अपने भाव की समृद्धि शिवम् का सामान्य स्वरूप है। इस आत्मदान में अभिव्यक्ति अनुस्यूत है। *अतः शिवम् के स्वरूप में सुन्दरम् का सहज अन्वय है।* शिव तथा अन्य मंगलमय देवताओं के सुन्दर स्वरूप का यही रहस्य है। दूसरे की चेतना में अपने चिन्मय भाव का योग आत्मदान होने के साथ-साथ अभिव्यक्ति भी है। अभिव्यक्ति चेतना के भाव का प्रकाश है। यह प्रकाश चेतना का स्वरूप धर्म है। चेतना प्रकाश-स्वरूप और प्रकाशमय ही है। साथ ही उसका स्वरूप सृजनात्मक भी है। जहाँ तक वह तथ्यों और सिद्धान्तों को निरपेक्ष और स्वतन्त्र मानती है वहीं तक सत्य और अवगति की सीमा है। सत्य के साथ चेतना की समान-धर्मिता का उद्घाटन होते ही सत्य चेतना की सृष्टि ही प्रतीत होने लगता है। *इसी प्रतीति से सत्य में सुन्दरम् का आविर्भाव होता है। चेतना की सृष्टि* के रूप में सत्य की अवगति अभिव्यक्ति बन कर सुन्दर हो जाती है। इसी प्रकार आत्मदान से चिन्मय भाव की सृष्टि और दूसरे की चेतना में उसका योग अभिव्यक्ति बन कर शिवम् को सुन्दरम् बना देते हैं।

इस प्रकार जीवन में तो शिवम् और सुन्दरम् एक दूसरे के स्वरूप में अन्तर्निहित हैं। आत्मीयता का भाव दोनों का मूल स्वरूप है। यही आत्म-भाव आत्मदान में शिवम् और अभिव्यक्ति में सुन्दरम् है। आत्मदान में समात्म-भाव के रूप में *अनायास अभिव्यक्ति का उदय होता है। अभिव्यक्ति भी केवल रूपात्मक योजना में कृतार्थ नहीं होती, वह भी समात्मभाव में ही सुन्दर बनती है।* किन्तु काव्य में शिवम् और सुन्दरम् का आधान सदा जीवन के अनुरूप नहीं होता। भाषा के प्रयोग और विचार के संयोग के कारण काव्य में दोनों का प्रत्याहार के रूप में भी ग्रहण होता है। जिन काव्यों में रूपात्मक योजना की अभिव्यक्ति प्रधान होती है, वे प्रधानतः सुन्दर हैं। उनमें शिवम् का तत्व के रूप में आधान आवश्यक नहीं। इसी प्रकार जिन काव्यों में आत्मदान का तत्व प्रधान है वे प्रधानतः शिव काव्य हैं, किन्तु अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से रहित होने के कारण इन काव्यों में आत्मदान उपदेश और शिक्षा बन गया है। अतः इन्हें काव्य कहना उपचार मात्र है। इनके श्रेय तत्व में सुन्दरम् का समन्वय न हो सकने के कारण इनमें काव्य का स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हुआ है। अनेक नीति ग्रन्थ तथा रामायण के समान महाकाव्यों में मिलने वाले श्रेय तत्व इसी प्रकार कवित्व से हीन हैं।

श्रेय के अभिधान की अपेक्षा आकृति की व्यंजना में उसका अन्तर्निधान 'शिव-काव्य' के विधान के अधिक अनुरूप है।

अस्तु, सत्य के समान 'शिवम्' से भी काव्य का दोहरा सम्बन्ध है। सत्य के समान शिवम् का भी अपना स्वरूप है। काव्य के उपादान के रूप मे गृहीत होकर वह काव्य का अग बनता है। उपादान के रूप मे शिवम् के इस ग्रहण को 'काव्य मे शिवम्' कहा जा सकता है किन्तु इससे 'शिव-काव्य' की रचना नही होती। उपादान काव्य का तत्व है, किन्तु सर्वस्व नही। काव्य का एक अपना स्वरूप है। उस स्वरूप मे अन्वित होकर ही काव्य का तत्व काव्य के स्वरूप से एकाकार होता है। काव्य के स्वरूप से एकाकार होकर ही शिवम् काव्य के स्वरूप का विशेषण बनता है और 'शिव काव्य' की सृष्टि होती है। विशेषण एक व्यापक धर्म है जो समस्त विशेष्य मे व्याप्त होकर उससे एकाकार हो जाता है। यह एकाकारता एक सहज सामजस्य है, आयास से आरोपित ऐक्य नही। वस्तुत यह सहज सामजस्य ही ऐक्य का वास्तविक स्वरूप है। यह ऐक्य एक आन्तरिक स्वरूप है, जिसमे शिव और काव्य का एक रूप मे समवाय होता है। शास्त्रो और नीति काव्यो मे शिव का तत्व काव्य के स्वरूप से समन्वित न हो सका, अत 'शिव काव्य' की सृष्टि न हो सकी। दूसरी ओर अनेक सुन्दर काव्य है, जिनमे काव्य के रूप सौन्दर्य की विवृत्ति हुई है, किन्तु उनमे जीवन के शिव का समाहार नही हो सका है। कला और अभिव्यक्ति की प्रधानता की दृष्टि से लिखे गये सभी काव्य इसी कोटि मे है। जिस प्रकार सत्य की अपेक्षा शिवम् से जीवन का अधिक गम्भीर और आन्तरिक सम्बन्ध है उसी प्रकार काव्य के साथ शिव का सत्य की अपेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवम् का सामान्य स्वरूप आत्मदान है। आत्मदान अथवा समात्मभाव की सम्भूति इसका लक्षण है। सत्य का विविक्त रूप एक उदासीन और स्वतन्त्र सत्ता है। जीवन और काव्य मे उपादान के रूप मे उसका ग्रहण किया जाता है। सत्य के कुछ रूपो का जीवन और चेतना से सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु सत्य के रूप मे उनका विवेचन भी तटस्थ भाव से होता है। शिवम् के साथ यह तटस्थ भाव सम्भव नहीं है। शिवम् का उदय मानव चेतना के सामाजिक भाव में होता है। जीवन के प्राकृतिक प्रेय केवल उसके अस्तित्व के आधार है। सत्ता का सकट होने पर तो उनका मोह सर्वाधिक होता है। किन्तु जीवन की पूर्णता की व्यवस्था मे उनका रूप इतना स्वार्थमय

नहीं रहता। वे शिवम् के आत्मभाव का नमस्कार प्राप्त कर सामाजिक जीवन के श्रेय में अन्वित होते हैं। इस समात्मभाव में ही काव्य के सौन्दर्य और रस का उदय होता है।

सत्य की अपेक्षा शिवम् के स्वरूप के साथ काव्य के स्वरूप का अधिक साम्य और अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला के साथ काव्य का समान रूप अभिव्यक्ति का सुन्दरम् है। उसमें शिवम् का पूर्ण समन्वय होने पर 'शिव काव्य' की सृष्टि होती है। इस समन्वय का रूप यह है कि शिवम् के मुख्य लक्षण अभिव्यक्ति के सुन्दरम् में अनुस्यूत होकर एकाकार हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फलों *अथवा पुष्पों के रूप में रस सौन्दर्य से एकाकार हो गया है।* वस्तुत शिव रस स्वरूप ही है। रस आनन्दमय है। वेदान्त में ब्रह्म और शैव दर्शन में शिव रस-स्वरूप तथा आनन्दमय ही हैं। अध्यात्म के अनुसार यही जीवन का चरम सत्य और साधना का लक्ष्य है। विश्व इसी सत्य की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। *व्यवहार की सापेक्ष दृष्टि से जो आत्मदान शिवम् का सामान्य लक्षण है* वह भी सृजनात्मक प्रेरणा में ही सार्थक होता है। कला की सृजनात्मक शक्ति भी शिव की विवृति है। किन्तु जीवन का सृजनात्मक धर्म अधिक व्यापक है। उस व्यापक सृजनात्मक धर्म को अपना विषय बनाकर ही कला और काव्य शिवम् को साकार कर सकते हैं। *आत्मदान शिवम् की सामाजिक प्रेरणा का ही धर्म है।* सृजन का आधार शक्ति है। इसीलिए शक्ति शिव से अभिन्न है। शक्ति का रूप तेजोमय है। सृजन की पूर्णता स्रष्टाओं की परम्परा में है। ईश्वर की सृष्टि इसीलिए कला और काव्य का पूर्ण रूप है। आत्मदान के भाव द्वारा जीवन और संस्कृति की सृजनात्मक परम्पराओं को प्रेरणा देने वाला काव्य ही शिव काव्य है। आत्मदान और सृजन को केवल उपादान के रूप में ग्रहण करने से शिव काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इसे 'काव्य में शिवम्' का उदाहरण कह सकते हैं। शिव का पूर्ण रूप सुन्दरम् भी है। शिव की अभिन्न शक्ति का नाम 'सुन्दरी' है। उपादान के रूप में ग्रहीत शिवम् के तत्वों का अभि-व्यक्ति के सौन्दर्य में पूर्ण समन्वय होने पर ही शिवम् काव्य का रूप और विशेषण बनता है। इसके लिए सृजनात्मक प्रेरणा और परम्परा के विषय रूप में ग्रहीत होने के अतिरिक्त सृजन के तेज और सत्य के आलोक का काव्य के सौन्दर्य में एक रस होना आवश्यक है। शिव सत्य भी है। अत अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में प्रकाश

की उज्ज्वलता अपेक्षित है। किन्तु साथ ही उसमे तेज की शक्ति भी चाहिए। मधुर काव्य रमणीय तथा प्रेय हो सकता है किन्तु श्रेय बनने के लिए माधुर्य को ओज की प्रसन्नता का वरदान बनना होगा। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शिव का लास्य और प्रणय उनके तेज का ही अनुग्रह है। रीति की भाषा मे ओज शिव काव्य की सहज वृत्ति है। आत्मदान और सृजन में शिवम् के अन्य तत्वो के समन्वय के समान ओज में प्रसाद और माधुर्य का अन्वय शिव काव्य की रीति है।

काव्य के साथ शिवम् के सम्बन्ध के प्रसग मे एक बात और विचारणीय है। सुन्दरम् एक चरम और मौलिक मूल्य है। काव्य और कला स्वय अपने साध्य हैं, वे किसी के साधन नही हैं। इसी आधार पर कुछ कवियो, कलाकारो और विद्वानो ने 'कला कला के लिए है', सिद्धान्त का प्रतिपादन और समर्थन किया है। तात्पर्य यह है कि काव्य को किसी अन्य प्रयोजन का साधन नही बनाया जा सकता। चाहे 'कला कला के लिए है' का केवल रूपात्मक सिद्धान्त कितना ही आपत्ति-जनक हो, किन्तु यह निश्चित है कि काव्य और कला साधन नहीं हैं। वे स्वय अपने साध्य हैं। उनका मूल्य अपने आप मे है। काव्य और सुन्दरम के मूल्य की मौलिकता और चरमता के कारण ही ग्रीक विचारको तथा रस्किन के द्वारा कला को नैतिकता का साधन मानने पर सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास मे अनेक आपत्तिया हुई तथा जिन विचारको ने सौन्दर्य शास्त्र का नीतिशास्त्र से पृथक किया उन्हे इसके लिए श्रेय दिया गया। ऐसी स्थिति मे काव्य का शिवम् के साथ सम्बन्ध और काव्य मे शिव का समवेश किस रूप मे हो सकता है ?

इस समस्या के मूल मे जटिलता के कारण तीन हैं। एक तो नीतिशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र दोनो मे श्रेय और सौन्दर्य की कल्पना मे व्यक्ति मूलकता का आग्रह अधिक रहा है। श्रेय के सामाजिक रूप को कुछ महत्व भी दिया गया किन्तु सौन्दर्य को प्राय व्यक्तिगत भाव के रूप मे ही माना गया है। दूसरे सौन्दर्य की रूपात्मक कल्पना प्रधान रही है। जहां सौन्दर्य को चिन्मय भाव के रूप मे माना गया है वहां भी उसका रूप व्यक्तिगत है। तीसरे शिवम् और सुन्दरम् दोना के चिन्मय भाव होते हुए भी उनके स्वरूप के सामान्य लक्षण की भूमिका मे उनके विशेष रूपो को समझने का प्रयत्न नही हुआ। हमारे मत में समात्मभाव शिवम् और सुन्दरम् का सामान्य लक्षण है। समान लक्षण होने के कारण हमारे मत में शिवम् और सुन्दरम् का काव्य में समन्वय सहज सम्भव है। सामान्य चिन्मय भाव

मे दोनो के समन्वय का आधार उनके सहज स्वरूप में निहित है। शिवम् का वास्तविक स्वरूप इस समन्वय के सर्वथा अनुकूल है। काव्य में नैतिकता के जिस स्वरूप के सनिवेश तथा जिस रूप के प्रतिपादन के लिए काव्य के उपयोग को आपत्ति की दृष्टि से देखा जाता है वह वस्तुत शिवम् का खण्डित रूप है। उसमे समात्मभाव की अपेक्षा भेद, उपदेश, अनुग्रह, शिक्षा आदि का भाव अधिक आ जाता है। समात्मभाव के खण्डित होने पर शिवम् और सुन्दरम् के समन्वय का सूत्र भी विच्छिन्न हो जाता है। शिवम् के ये खण्डित रूप चेतनाओ के उस आन्तरिक सामजस्य को भग कर देते हैं जिसमे समात्मभाव के आधार मे आकृति की व्यजना का सौन्दर्य स्फुटित होता है।

एक दूसरे प्रकार से शिवम् और सुन्दरम् का समन्वय तत्व और रूप का समन्वय है। अन्य कलाओं में रूप की प्रधानता होती है किन्तु काव्य के स्वरूप में रूप और तत्व दोनों का सहज समन्वय है। इस समन्वय का मूल शब्द की सार्थकता है। 'अर्थ' शब्द मे निहित चिन्मय भाव है। शब्द-दर्शन में शब्द को चिद्रूप मानकर शब्द और अर्थ के इस समन्वय को एकत्व की सीमा तक पहुँचा दिया है। जो 'कला को कला के लिए' मानते हैं, वे भी तत्व से रहित काव्य की कल्पना नहीं कर सकते। तत्व को गौण और रूप को प्रधान मानने पर प्रयोगवाद जैसे रूपात्मक काव्य की रचना होती है। किन्तु काव्य का सफल और पूर्ण रूप तत्व और रूप के समन्वय से ही निर्मित होता है। यह तत्व शिव रूप ही है। मगल ही जीवन का तत्व है। उसे चिन्मय मानने पर भी वह समात्मभाव की सृजनात्मक प्रेरणा है। यह समात्मभाव शिव का ही नहीं सुन्दरम् का भी मूल स्वरूप है। समात्मभाव के आधार पर सुन्दरम् की आकृतिमय अभिव्यक्ति जीवन के सुन्दर और मगलमय रूपो की सृजनात्मक प्रेरणा बनकर शिवम् और सुन्दरम् के सहज समन्वय में चरितार्थ होती है। इस समन्वय मे शिवम् और सुन्दरम् यमुना और गगा की भाँति मिलकर एक हो जाते हैं, फिर भी परम्पराओ मे वे गगा की भाँति काव्य के नाम से ही प्रसिद्ध होते हैं। काव्य मे भी शिवम् का तत्व सुन्दरम् के रूप के साथ एकाकार होकर 'शिव काव्य' की सृष्टि करता है।

अध्याय ३१

प्रेय और श्रेय

शिवम् का सामान्य अर्थ जीवन का हित अथवा कल्याण है। इस कल्याण की कल्पना बहुत व्यापक है। व्यापक दृष्टि से इसमे जीवन के सभी मूल्यो का समाहार हो सकता है। जीवन की जितनी आकाक्षाएँ और अभीप्साएँ हैं, उन सभी की पूर्ति जीवन के हित की पूर्णता के लिए आवश्यक है। अत जीवन के अनेक लक्ष्य कल्याण की व्यापक कल्पना मे सम्मिलित हैं। **इन सभी लक्ष्यो अथवा हितो को दो मुख्य भागो में विभाजित किया जा सकता है।** एक भाग के अन्तर्गत प्राकृतिक हित है जो मुख्यत शारीरिक और व्यक्तिगत हैं। इन हितो की प्राप्ति सुखकर होती है। अत ये स्वभावत प्रिय होते हैं। प्रिय होने के कारण इनको 'प्रेय' कहा जाता है। इनके अतिरिक्त जीवन के जो अन्य मानसिक, आध्यात्मिक अथवा सामाजिक लक्ष्य हैं, उन्हे प्राकृतिक हितो से भेद करने के लिए हम सास्कृतिक हित कह सकते हैं। इन सास्कृतिक हितो को ही मुख्यत श्रेय माना जाता है। यद्यपि मनुष्य जीवन के समस्त व्यवहार का निमित्त और माध्यम व्यक्ति ही है, किन्तु सास्कृतिक श्रेयो की विभूति पूर्णत व्यक्तित्व की परिधि मे सीमित नहीं है। इन श्रेयो मे प्राय सभी लक्ष्य ऐसे हैं जिनका महत्व अपने आप मे है और जिनकी साधना व्यक्तित्व से ऊपर उठकर की जाती है। यह ठीक है कि इन श्रेयो का फल भी व्यक्ति के लिए ही होता है, किन्तु इन फलो के लाभ मे व्यक्तित्व अपनी सकीर्ण सीमाओं मे नही रहते। इन श्रेयो के स्वरूप और फल मे व्यक्तित्व पारस्परिकता और परार्थ भाव मे विस्तीर्ण हो जाते हैं। इन सास्कृतिक श्रेयो का मनुष्य जीवन मे इतना महत्व है कि प्राकृतिक प्रेय भी पूर्णत शरीर व्यक्तित्व और स्वार्थ की सीमा मे सकुचित नही रह गए हैं। यद्यपि प्राकृतिक होने के कारण उनके फल व्यक्तिगत और स्वार्थमय ही हैं, (यह प्रकृति के नियम की ही मर्यादा है) फिर भी सभ्यता के रूपो मे ये सास्कृतिक भावो के विस्तार के निमित्त बन गए हैं। उनमे बहुत कुछ सीमा तक सास्कृतिक श्रेयो का समन्वय भी हुआ है। यही समन्वय सस्कृति की समृद्धि की दिशा है। इस समन्वय मे प्राकृतिक प्रेय सामाजिक अनर्थो की सम्भावनाओ

से ऊपर उठकर स्वार्थ मे अन्वित होते हुए भी समाज के सामान्य हित मे समन्वित होते हैं तथा *सास्कृतिक समृद्धि की प्राकृतिक भूमि का निर्माण करते हैं।* प्राकृतिक हितो का स्वार्थमय फल शारीरिक और व्यक्तिगत अर्थ मे सुख है। सास्कृतिक सुख का स्वरूप आनन्द है। सुख और आनन्द शब्दो के प्रयोग म सर्वदा उचित विवेक नही हुआ है, किन्तु सुख की अनुभूति के दो रूपो मे स्पष्टत भेद है। सुख व्यक्तिगत और शारीरिक सवेदना है जो प्रकृति के नियमो के अनुकूल होने के कारण प्राकृतिक प्रेय कही जा सकती है। व्यक्तिगत काल और दिक् प्रकृति के नियम की मर्यादाएँ हैं। सुख स्वार्थमय है एक व्यक्ति का सुख दूसरे को प्राप्त नही हो सकता, एक वस्तु का सुख तद्रूप मे ही दूसरे को नही मिल सकता। देश और काल के अयौगपद्य का नियम भी सुख के सम्बन्ध म कठोर है। सुख वर्तमान की सवेदना है जो देश काल से नियमित होती है। **आनन्द में सुख की ये प्राकृतिक मर्यादाएँ अतिक्रान्त हो जाती है।** हम एक दूसरे के आनन्द मे भाग ले सकते हैं। *विभाजन से सुख की क्षति होती है किन्तु आनन्द की वृद्धि होती है।* एक ही काल म एक ही विषय अनेक व्यक्तियो के आनन्द का कारण बन सकता है। यह आनन्द मन और आत्मा का भाव है। सुख शरीर का धर्म है। उपनिषदो मे इस *आनन्द को आध्यात्मिक माना गया है। कही कही इसके लिए सुख शब्द का भी* प्रयोग किया गया है, (यो वै भूमा तदेव सुखम्)[२१] किन्तु यहाँ अभिप्राय शारीरिक सुख से नही, अनन्त आध्यात्मिक आनन्द से है। समृद्धिशील मानने पर आनन्द को अनन्त मानना होगा।

कठ उपनिषद् मे जीवन के इन दो लक्ष्यो का सकेत किया गया है तथा उन्हें प्रेय और श्रेय की सज्ञा दी गई है। उपनिषद् का वचन है कि जीवन मे प्रेय और श्रेय मिले जुले रहते हैं, अत उनका विवेक करना कठिन है। सम्यक् परीक्षण करके कोई धीर पुरुष ही उनमे विवेक करता है।[२२] **सामान्यत मनुष्यो की प्रवृत्ति प्रेय की ओर होती है, यह स्वाभाविक है।** प्रेय प्रधानत इन्द्रियो और मन के विषय हैं। इन्द्रियो की गति बहिर्मुखी है और वह स्वभाव से ही विषयो की अनुकूल-वेदनीयता में ही अपना सुख खोजती हैं। **'श्रेय' आत्मिक अध्यवसाय और साधना के *विषय है, अत उनकी ओर मनुष्य की गति स्वाभाविक नहीं होती।* सास्कृतिक सुख और आनन्द के अभिलाषी सकल्प द्वारा श्रेय के मार्ग पर चलते हैं।** आध्यात्मिक उद्योग का यह मार्ग कठिन ही है। ज्ञात नही कि कठ उपनिषद् मे

श्रेय और प्रेय के मिश्रित रहने का तात्पर्य क्या है। कई प्रकार से इनका मिश्रण सम्भव है। इसका एक रूप तो भ्रान्ति है, जिसमे हम प्रेय को ही श्रेय समझ लेते हैं। दूसरा रूप प्रेय मे श्रेय का समन्वय और सास्कृतिक भावना का सन्निधान है। तीसरा रूप श्रेय मे प्रेय की भावना का उदय है। पिछले दो रूपो के फलस्वरूप जीवन मे प्रेय के श्रेय मे पूर्णत समन्वित होने पर एक मगलमयी सास्कृतिक व्यवस्था बनती है, जिसे हम सामाजिक नि श्रेयस् कह सकते हैं। सम्भवत उपनिषद् का तात्पर्य प्रेय और श्रेय के मिश्रण के पहले ही रूप से है। शेष दो रूप श्रेय की साधना के अनुकूल होने के कारण स्पृहणीय हैं। वस्तुत प्रेय और श्रेय स्वरूप से इतने भिन्न हैं कि उनका सकर नही हो सकता। अध्यासभाष्य के शब्दो मे हम इन्हे अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव कह सकते हैं किन्तु फिर भी इनका परस्पर अध्यारोप होता है। मुख्यत यह अध्यास श्रेय पर प्रेय का अध्यारोप है। चाहे हम प्रेय को ही श्रेय समझने लगें अथवा चाहे हम श्रेय पर प्रेय को आरोपित करदें, दोनो ही रूपो मे श्रेय के प्रभाव की ही प्रधानता है। सक्षेप मे भ्रम और अविवेक का कारण प्रेय का ही सहज आकर्षण है। उपनिषद् वचन का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जीवन और जगत के पदार्थो मे से कौनसा प्रेय और कौनसा श्रेय है, यह विवेक करना कठिन है। इसका परिणाम यही होगा कि हम प्रेय को ही श्रेय समझने लगते हैं। यह भ्रान्ति का वही पहला रूप है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। सहज प्रियता के कारण प्रेय मे ही मनुष्य की रुचि अधिक होती है। धर्म और अध्यात्म के श्रेयमय क्षेत्र मे भी प्रेय प्रवेश कर गया है। बहुत से लोग प्रेय मे ही उलझ कर और उसे ही श्रेय मानकर वास्तविक श्रेय से वचित रह जाते हैं। यह प्रेय को ही श्रेय समझ लेने वाली पहली भ्रान्ति है। अधिकाश धर्म सम्प्रदायो का पतन इसी भ्रान्ति के कारण हुआ। व्यक्तिगत साधनाओ में भी प्राय यह भ्रान्ति रह जाती है। इससे बचना बहुत कठिन है। अहंकार प्रेय का अन्तिम और अत्यन्त दुर्जेय रूप है।

उपनिषद् का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि श्रेय ही जीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य है और उसकी साधना करनी चाहिए। इस साधना के लिए धैर्य और विवेक का सम्बल अपेक्षित है। उपनिषद् श्रेय को आध्यात्मिक मानती है। इसका तात्पर्य यही है कि वह प्राकृतिक, स्वाभाविक और शारीरिक प्रेय से भिन्न है। अध्यात्म दर्शनो मे प्राय इस श्रेय को व्यक्तिगत माना जाता है। यह सत्य है कि आध्यात्मिक श्रेय की

साधना भी व्यक्ति के केन्द्र मे शरीर के माध्यम मे होती है। किन्तु इस साधना मे व्यक्तित्व के केन्द्र का विस्तार अध्यात्म के विशाल क्षितिजो मे होता है और शरीर के प्राकृतिक धर्म भी साधना के सस्कार से उन्नत और श्रेयोभिमुख हो जाते हैं। वस्तुत आध्यात्मिक साधना का आधार व्यक्ति होते हुए भी वह प्रेयकामी व्यक्ति से भिन्न है। प्रेय सीमित और स्वार्थमय होता है, अध्यात्म स्वरूप से ही अनन्त है। जीवन और व्यवहार मे वह व्यक्तित्वो के समात्मभाव मे फलित होता है। इस दृष्टि से उसे सामाजिक श्रेय भी कह सकते हैं। श्रेय और सस्कृति बहुत कुछ एक दूसरे के पर्याय हैं। अत इसे सास्कृतिक श्रेय कहना एक प्रकार की पुनरुक्ति है। जहाँ श्रेय के व्यापक प्रयोग म अथवा अविवेक की भ्रान्ति मे प्राकृतिक प्रेय को भी श्रेय के अन्तर्गत मान लिया जाता है, वहाँ इससे पृथक करने के लिए आध्यात्मिक श्रेय को सास्कृतिक श्रेय कहना उचित है। वेदान्त के उत्तरकालीन सम्प्रदायो में आध्यात्मिक श्रेय की सामाजिकता का स्पष्ट सकेत नही है, किन्तु सभी वेदान्तो का यह सरल सत्य है कि आत्मा व्यक्तिगत और परिच्छिन्न नही है। उपनिषदो मे अनेक प्रसगो मे सामाजिक स्नेह और सदभाव मे आध्यात्मिक श्रेय को अभिव्यक्ति के स्पष्ट सकेत मिलते हैं।[२४] सर्वात्मभाव मे भाव की व्यापक समष्टि है।

अस्तु श्रेय का वास्तविक रूप आध्यात्मिक और सामाजिक है। वह विशेषत आत्मा का भाव है, जो चेतनाओं के सामजस्य और समात्मभाव में साकार होता है। प्रेय के भौतिक उपकरण और शारीरिक सुख सहयोगी बन सकते हैं, उनमे कोई आवश्यक विरोध नही है। इतना अवश्य है कि श्रेय मे समन्वित होने के लिए प्रेय को अपनी प्रकृत उच्छृखलता छोडकर एक मर्यादा का अनुशीलन करना होगा। पशुओ के जीवन मे तो प्रेय की एक नैसर्गिक मर्यादा है। अत उसमे अतिचार कम होता है। बुद्धि, कल्पना, वैभव, सगठन, आदि की समृद्धि के कारण मनुष्य जीवन में अतिचार की सम्भावनाएँ अधिक बढ गई हैं। प्रेय के इस अतिचार से कर्ता के व्यक्तिगत हित की भी हानि होती है, साथ ही दूसरों की भी मागलिक सुविधाओ में बाधा होती है। प्राय यह अतिचार सामाजिक अत्याचार बन जाता है। इन अत्याचारो की अनेक परम्पराएँ प्रकट और प्रच्छन्न रूप मे मनुष्य के इतिहास और समाज म प्रचलित हैं। हमारे सामाजिक जीवन साहित्य और कला म भी प्रेय की बहुत कुछ अतिरजना रही है। इसका कारण यह है कि प्रेय मे एक सहज सुख और आकर्षण है। मनुष्य अनायास प्रेरणा से उसमे अनुरक्त होता है। प्रय के

अतिचार मे भी मनुष्य को तत्काल मे अधिक सुख की प्रतीति होती है। अतिचार के अहित विलम्बित परिणामो मे ही स्पष्ट होते हैं। उनकी पूर्व कल्पनाओ के लिए बुद्धि का अध्यवसाय अपेक्षित है। किन्तु केवल बुद्धि के अध्यवसाय से प्रेय के अतिचार का निरोध सम्भव नही है। बुद्धि में दृष्टि है, प्रेरणा नहीं है। अत. बुद्धि की धारणाएँ भावना में समन्वित होकर ही जीवन के अनुशासन की प्रेरणा बनती है। इस अनुशासन का नाम ही साधना है। सयम इस साधना का तत्र है। संयम और साधना से मर्यादित होकर प्रेय के प्राकृतिक उपकरण सस्कृति के आधार बनते हैं। प्रेय की यह मर्यादा उसके अतिचार का निरोध ही नही करती वरन् सास्कृतिक धरातलो पर उसका उन्नयन भी है। निरोध एक निषेधात्मक क्रिया है। यह उन्नयन ही साधना और सयम का भावात्मक फल है। प्राकृतिक दृष्टि से अपने मौलिक धरातल पर रहते हुए भी सस्कृति मे अन्वित प्रय श्रेष्ठ भावो के निमित्त बनते हैं। साधना और सयम का अर्थ प्रेय के स्वाभाविक स्वरूप का हनन अथवा उनके धर्म का खण्डन नही है। इस हनन और खण्डन का परिणाम सस्कृति नही, विकृति होगी। अत साधना और सयम का सास्कृतिक उद्देश्य प्रेय की प्रवृत्ति मे स्वस्थ तृप्ति के सतोष का समाधान है। इस समाधान के द्वारा अपने स्वस्थ रूप और धर्म मे प्रतिष्ठित प्रेय भावात्मक रूप से सास्कृतिक उन्नयन और साधना का सक्रिय सहयोगी बनता है। प्रेय के प्राकृतिक धर्मो मे सास्कृतिक भावो का भी अन्वय सम्भव है। इस प्रकार प्रेय के क्षेत्र मे सास्कृतिक भावो का विस्तार और सास्कृतिक भावो मे प्रेय का अन्वय व्यापक सास्कृतिक समन्वय का मूल सूत्र है। यह समन्वय ही संस्कृति का पूर्ण और स्वस्थ रूप है। यही स्वस्थ कला और काव्य की प्रेरणा तथा उनका लक्ष्य है। इस समन्वय मे प्रेय का रूप श्रेय से एकाकार हो जाता है और वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक मगल का माध्यम और साधन बन जाता है।

श्रेय से समन्वित प्रेय की प्रियता अक्षुण्ण रहते हुए भी श्रेय के सस्कार मे उसे एक मर्यादा मिल जाती है और वह आनन्द के अनुकूल हो जाता है। शरीर और इन्द्रियो का प्राकृतिक सुख अनर्गल अतिचार से विमुख होकर अपनी सीमाओ मे ही मन और आत्मा के आनन्द का सहयोगी बनता है। इस समन्वय मे प्रकृति और सस्कृति, प्रेय और श्रेय का भेद नही मिट जाता, किन्तु दोनो मे सामजस्य स्थापित हो जाता है। प्रवृति और श्रेय सास्कृतिक श्रेय के उपकरण बन जाते हैं।

प्राकृतिक पदार्थो और प्रेयो के माध्यम मे ही श्रेयों के रूप साकार होते हैं। यद्यपि श्रेय का स्वरूप मन और आत्मा के भाव हैं, किन्तु प्रेय के समन्वित होने पर वे *चिन्मय भाव प्राकृतिक पदार्थो और प्रेयो के माध्यम में ही रूप ग्रहण करते हैं।* यह श्रेय शिवम् का समानार्थक है। प्रेय के स्वार्थ और सम्भव अनर्थ के विपरीत परार्थ इसका लक्षण है। प्रेय के परिग्रह के विपरीत आत्मदान इस श्रेय अथवा शिवम् का सामान्य स्वरूप है। **आत्मदान दूसरे की विकासशील चेतना में अपनी चेतना की विभूति का भावयोग है।** दूसरे के व्यक्तित्व का गौरव और उसकी स्वतन्त्रता का आदर इसका मुख्य लक्षण है। यह आत्म गौरव और आत्म स्वतन्त्रता के साथ पूर्णत सगत है। श्रेय और संस्कृति के क्षेत्र मे एक का गौरव दूसरे के *गौरव का बाधक नही है। श्रेय का आत्मदान एक गौरव-पूर्ण आत्मा का स्वतत्र* धर्म है। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता के साथ-साथ समानता को भी आत्म-गौरव कह सकते हैं। **श्रेय का आत्मदान एक सृजनात्मक धर्म है।** यह सृजन मुख्यत सास्कृतिक श्रेय के चिन्मय भावो की रचना और स्थापना है। यद्यपि यह रचना प्राकृतिक प्रेयो के माध्यम मे ही साकार और यह स्थापना जीवन की प्राकृतिक भूमि पर ही होती है। सस्कृति का यह सृजनात्मक रूप एक परम्परा मे ही सफल होता है। इस परम्परा के निर्वाह के लिए सृष्टाओ का सृजन अपेक्षित है। आत्मदान का भाव-योग केवल स्वरूप अथवा धर्म से ही सृजनात्मक नही है, वरन् वह सृष्टाओ के आत्मनिर्माण की प्रेरणा भी बनता है। **आत्मदान के भाव योग से सृष्टाओं के निर्माण में ही सस्कृति की परम्परा अमर और अक्षुण्ण रहती है।**

दूसरो का गौरव, उनकी स्वतंत्रता का आदर और समानता का भाव आत्म-दान के शिवम् के सृजनात्मक धर्म के भावात्मक लक्षण हैं। किन्तु इनके विपरीत व्यक्ति और समाज कला और साहित्य की ऐसी अनेक निषेधात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, जो श्रेय की भावात्मक साधना में अनेक प्रकार से बाधक बनती रही हैं। *ये बाधाएँ समाज की श्रेय-साधना मे अहितकर हैं।* इन बाधाओ के निराकरण के लिए कला, काव्य, साहित्य और सामाजिक व्यवस्था मे शिवम् की भावात्मक साधना के तत्वों का सन्निधान अपेक्षित है। **इनमें सबसे प्रथम और महत्वपूर्ण तत्व आलोक-दान है।** आत्मा चिन्मय है, वह स्वप्रकाश और आलोकमय है। अतः आलोकदान एक प्रकार से आत्मदान का ही रूप है। प्रसाद और ऋजुता आलोक के गुण हैं। प्रकाश किरणों की वक्रता उनकी गति की ऋजुता मे अन्तर्हित हो जाती है, उसी

प्रकार प्रसाद की ऋजुता मे अन्तर्हित आलोक की व्यंजना श्रेयोमय कला और काव्य का मुख्य गुण है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास के काव्य में आलोक और प्रसाद की उज्ज्वल विभूति अवलोकनीय है। आलोक और प्रसाद के उज्ज्वल अवकाश मे अपने और दूसरे के जीवन का सास्कृतिक सत्य प्रकाशित होता है। इस सत्य का प्रकाशन समस्त सास्कृतिक विकास की आवश्यक भूमिका है। अत शिवम् की साधना मे सबसे अधिक बाधक वे रचनाएँ हैं जो किसी भी रूप मे इस आलोक और प्रसाद के प्रसार में बाधक हैं अथवा उसके अनुकूल नही हैं। धर्म और सत्य के सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता और अनारोपण आलोक के विस्तार का मूल स्रोत है। आग्रह और आरोपण इस स्रोत का अवरोध कर सकते हैं। खेद की बात है कि शैली की दृष्टि से जो रामचरित मानस अत्यन्त प्रसन्न और उज्ज्वल है, धार्मिक आरोपण की दृष्टि से वह आलोक के प्रसार मे सबसे अधिक बाधक है। रामचरित-मानस मे राम को परब्रह्म मानकर उनकी परब्रह्मता की स्थापना बडे आग्रह के साथ की गई है। यद्यपि यह कहा जाता है कि तुलसीदास ने वैष्णव धर्म और शैव धर्म के सामजस्य का प्रयत्न किया है। इस प्रसग म 'शिव द्रोही मम दास कहावा' आदि के उद्धरण दिये जाते हैं। किन्तु इस सामजस्य मे तुलसीदास का राम के प्रति स्वाभाविक पक्षपात रहा है। उन्होने राम की भक्ति के लिए शिव के द्रोह को बाधक अवश्य माना है। किन्तु राम के अतिरिक्त अन्य किसी देवता तथा पात्र को समुचित गौरव नही दिया है। शिव को राम का भक्त बना कर उन्होने स्वय शिव को राम की तुलना म हीन बनाने का प्रयत्न किया है। शिव के विवाह आदि का उपहास पूर्ण वर्णन करके उन्होने पाठको की दृष्टि मे शिव के लिए गौरव का कोई अवसर नही रखा है। बालि और रावण जैसे राम के प्रतापी शत्रुओ को भी राम का भक्त बनाकर उन्होने राम कथा के सतुलन को एक-पक्षीय बना दिया। बार-बार राम की महिमा के वर्णन और राम के गुण गान से राम-चरितमानस का आकाश छाया हुआ है। ऐसे वातावरण मे अन्य देवताओ और पात्रों के प्रति उचित आदर का दृष्टिकोण रखना पाठकों के लिये सम्भव नहीं है। राम के महत्व और भक्ति की अतिरंजना अन्य पात्रो के गौरव और अन्य भावो के लिए कोई स्थान शेष नही रह गया।

भक्ति के समान शृगार की अतिरजना मनोहर होते हुए भी एक ऐसे मोह की सृष्टि करती है जिसमे चेतना का स्वतत्र आलोक मद हो जाता है। शृगार,

भक्ति, वैराग्य आदि किसी की भी अतिरंजना और किसी का भी आग्रह आलोक-दान के तथा सांस्कृतिक श्रेय के विकास के अनुकूल नहीं है। अतिशयोक्ति और अलौकिकता भी भ्रम का उत्पादन करने के कारण तथा किसी विश्वास का प्रचार आग्रह के कारण शिवम् की साधना के विपरीत हैं। पर मत का तिरस्कार, व्यक्ति का अपमान तथा उपहास आदि आलोकदान में ही बाधक नहीं शिवम् की साधना के लिये अपेक्षित स्वतन्त्रता और समानता के भी विपरीत हैं। इन बाधाओं और भ्रान्तियों के विपरीत आलोक और ओज क उज्ज्वल प्रकाश तथा तेजोमयी प्रेरणा से समन्वित होकर शिवम् का आत्मदान सांस्कृतिक श्रेय के विकास की स्फूर्ति बनता है तथा स्रष्टाओं के सृजन की प्रेरणा बनकर सांस्कृतिक श्रेय की समृद्धिशील परम्परा को अमर बनाता है। शैली और तत्व दोनों ही दृष्टि से उक्त बाधा और भ्रान्तियों से मुक्त तथा प्रकाश और प्रेरणा से युक्त काव्य ही वास्तविक शिव काव्य है।

आलोकदान के अतिरिक्त सृजनात्मक प्रेरणा श्रेय का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। सृजन की प्रेरणा जीवन की गतिशील वृत्ति है। गति के लिए दिशा का बोध और मार्ग का प्रकाश अपेक्षित है। अत सृजनात्मक प्रेरणा भी आलोक के द्वारा ही सफल हो सकती है। आलोक आत्मा का विस्तार है। प्रेरणा आत्मा की स्फूर्ति है। वस्तुत आलोक और प्रेरणा आत्मदान के बीज के दो दल हैं। इन्हीं दो दलों के पोषण से आत्मदान सृजनात्मक परम्परा मे सफल होता है। प्रेय मे एक सहज आकर्षण होता है। अत प्रेय पर आश्रित परम्परा का निर्माण और निर्वाह अधिक सरलता से किया जा सकता है। प्रेय की परम्परा कला, साहित्य आदि के सहयोग के बिना व्यावहारिक जीवन मे जीवन की अपेक्षाओं के आधार पर भी चल सकती है। वस्तुत यह इसी रूप मे अधिक चलती है। साहित्य और कला मे प्रतिष्ठित प्रेय इस परम्परा को दृढ बनाने में सहायक हो सकता है। फिर भी साहित्य मे प्रेय का ग्रहण समाज मे उसकी परम्परा को दृढ बनाने के लिये बहुत कम किया जाता है। कुछ धार्मिक और राजनीतिक तत्वों को छोड कर स्वय साहित्य के क्षेत्र मे यह बहुत कम हुआ है। साहित्य के निर्माताओं ने जो प्रेय का ग्रहण साहित्य के उपादान के रूप मे किया है वह प्रेय के प्रति सहज आकर्षण से प्रेरित होकर ही किया है। साहित्य मे श्रेय का ग्रहण सहज आकर्षण के द्वारा सम्भव नहीं है। श्रेय भी किसी स्थिति में आकर्षक बन सकता है किन्तु यह व्यक्ति और समाज के संस्कारों के आधार पर ही सम्भव हो

सकता है। सस्कार और सकल्प के आधार पर ही कवि और कलाकार अपनी रचनाओ में श्रेय का ग्रहण करते हैं। प्रेय के सहज आकर्पण की तुलना मे सस्कार और सकल्प दुर्लभ है। इसीलिये कला और काव्य में श्रेय का ग्रहण कम हुआ है। अधिकाश कला और काव्य प्रेय के उपदान मे सौन्दर्य की सृष्टि है। जहाँ श्रेय का ग्रहण हुआ है, वहाँ उसमे सौन्दर्य का समन्वय प्राय कम हो सका है। इसका कारण यह है कि श्रय का स्वरूप स्पष्ट रखने के लिये अभिधा का आधार आवश्यक होता है। सौन्दर्य की व्यजना के रगीन आवरण मे श्रेय तिरोहित हो सकता है। श्रेय मे एक प्ररणा अवश्य होती है। उसमें आलोक और प्रेरणा का सगम होता है। किन्तु प्राय श्रेय की प्ररणा अनुकरणात्मक होती है। सृजनात्मक परम्परा की प्रेरणा के लिये प्रजनन के प्राकृतिक धर्म से लेकर आत्मदान की प्रेरणा तक अनेक भूमियो का जीवन सस्कृति और साहित्य मे सन्निधान अपेक्षित है। विस्तृत होने के साथ साथ यह जटिल और कठिन है। अत कदाचित ही किसी काव्य मे यह सम्भव हो सका है। सबसे बडी कठिनाई सौन्दर्य के स्थिर रूप और श्रेय की सृजनात्मक परम्परा के गतिशील रूप के विरोध के कारण उत्पन्न होती है। सौन्दर्य का सम्मोहन स्थिरता का कारक है। अत श्रय की सृजनात्मक परम्परा का काव्य के स्वरूप मे समन्वय करना कठिन है। उपादान के रूप मे भी इम परम्परा को कदाचित ही किसी काव्य मे ग्रहण किया गया है। उपादान के रूप मे इसका ग्रहण करके भी सौन्दर्य के स्थिर सम्मोहन के साथ इमका सामजस्य कठिन है।

प्रेय और श्रेय का विवेचन प्राय दोनो को एक दूसरे के विरुद्ध मानकर किया जाता है। विरोधी होने पर दोनो एक दूसरे के बाधक बन जाते हैं। कठ उपनिषद् मे प्रेय और श्रेय के विरोध का सकेत तो नही है, किन्तु उन दोनो को स्पष्ट रूप से भिन्न माना गया है। उपनिषदो की सामान्य धारणा मे प्रेय और श्रेय का विरोध स्पष्ट रूप से मिलता है। उपनिषदो का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। श्रेय से उसका अभिप्राय आध्यात्मिक श्रेय से ही है। वेदान्त के मत मे लौकिक प्रेय इस आध्यात्मिक श्रेय मे बाधक है। इसलिये उपनिषदो और वेदान्त में सन्यास को अधिक महत्व दिया गया है। ससार को मिथ्या मानकर वेदान्त म हेय बताया गया है। वेदान्त का यह मत नितान्त असमीचीन नही है। लौकिक प्रेय का मोह सामान्यत इतना प्रबल होता है कि वह आध्यात्मिक ज्ञान और

आध्यात्मिक श्रेय को तिरोहित कर देता है। लौकिक प्रेय की प्रवृत्ति अध्यात्म के आवरण की ओर है। प्रेय की तनिक भी अतिरंजना होने पर, यह आवरण और भी सघन होजाता है। प्रेय में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। अत उसमे अतिरंजना और अतिचार की सम्भावना भी स्वाभाविक ही होती है। प्रेय की इसी प्रवृत्ति के कारण अपने स्वरूप मे निर्दोष होते हुए भी वह समाज के इतिहास मे अतिचारो का दोषी बना है। इसी कारण अध्यात्मवादी उसे श्रेय का विरोधी मानते रहे हैं। दो विरोधी तत्वो की सगति अथवा उनका सामजस्य सम्भव नही है। इसीलिये कठ उपनिषद् मे उनमे से एक को चुनने की बात कही गई है और धीर पुरुष को उनमे विवेक करने का गौरव दिया गया है। विरोध के साथ-साथ उपनिषदो मे इन दोनो के बीच प्राय होने वाली भ्रान्ति को भी जोर दिया गया है। इसी भ्रान्ति के कारण दोनो के बीच विवेक का महत्व भी माना गया है।

किन्तु उपनिषदो के इस एकागी दृष्टिकोण से भिन्न एक दूसरा दृष्टिकोण भी सम्भव है। जिसके अनुसार प्रेय और श्रेय का सामजस्य हो सकता है। यह दृष्टिकोण भी एक प्रकार से आध्यात्मिक ही होगा किन्तु इसके अनुसार प्राकृतिक और लौकिक प्रेय का विरोध आवश्यक एव अनिवार्य नही है। लौकिक प्रेय की अपेक्षा करने के स्थान पर यह दृष्टिकोण उसका उचित आदर करेगा। **फिर भी प्रेय के साथ श्रेय का सामंजस्य अध्यात्म के द्वारा प्राकृतिक प्रेय के संस्कार एवं उन्नयन के द्वारा ही हो सकेगा।** इस दृष्टि से यह सामजस्य का दृष्टिकोण भी आध्यात्मिक ही रहेगा। क्योंकि प्राकृतिक प्रेय को आदर देते हुए भी इसमें अध्यात्म का प्रभाव ही प्रधान होगा। शैव-तंत्र के दृष्टिकोण मे प्रेय और श्रेय का यह सामजस्य सबसे अधिक सतुलित रूप मे मिलता है। शिव और शक्ति का साम्य इस सतुलन का सूत्र है। शैव-दर्शन के शिव वेदान्त के ब्रह्म के समान ज्ञान-स्वरूप है। शक्ति सृष्टि की विधात्री है। शिव और शक्ति के अभिन्न होने के कारण यह सृष्टि मिथ्या नही है। सत्य और महत्व की दृष्टि से शिव और शक्ति अथवा आत्मा और प्रकृति का पद समान है। यह समानता ही शैव दर्शन के साम्य का मर्म है। वेदान्त के एकागी अध्यात्म मे आत्मा की अधिक महिमा रही है तथा प्रकृति की भर्त्सना होती रही है। प्रकृति और प्रेय के प्रति इस अन्याय से बचने के लिए शैव-दर्शन ने समानता और साम्य को मानते हुए भी शक्ति को अधिक मान दिया है। शक्ति के

विना शिव को स्थाणु और शव माना जाता है। शक्ति का शिव इतना आदर करते हैं कि वे उसे अपने शीप पर स्थान देते हैं। शिव के मस्तक की चन्द्रकला इसी शक्ति की प्रतीक है। शिव के जटाजूट की गगा भी शक्ति का ही प्रवाह है। 'कला' सामान्य रूप से *सृजनात्मक है। चन्द्रकला के प्रतीक में आलोक शान्ति वृद्धि* और आह्लाद का सकेत अधिक है। गगा की धारा म सृजनात्मक प्रवाह की निरतरता का विशेष सकेत है। **शक्ति को अधिक मान देकर शैवन्दर्शन ने वेदान्त के एकागी अध्यात्मवाद के अन्याय का परिमार्जन किया है।** किन्तु वस्तुत उनका *सिद्धान्त शक्ति के प्रति पक्षपात नही वरन शिव और शक्ति दोनो का साम्य है।* साम्य का मूल अभिप्राय समानता और सामजस्य ही है। एक को अधिक मान देने से वह साम्य भग हो जाता है। किन्तु इस साम्य के प्रसग मे सवसे अधिक आशका दूसरे की हीनता की रहती है। इसी हीनता की आशका से बचने के लिये परस्पर सम्भावन को साम्य की सुरक्षा का सूत्र माना है। ब्रज परम्परा के 'दोऊ परै पैयाँ' मे इस परस्पर सम्भावन का एक उत्तम उदाहरण मिलता है। परस्पर सम्भावन का अभिप्राय एक दूसरे को आदर देना है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रकृति और *अध्यात्म अथवा प्रय और श्रय एक दूसरे के उत्कर्ष मे सहायक हो।* इनके साम्य और सामजस्य का यह रूप वेदान्त मे प्रतिपादित इनके विरोध के विपरीत है। इस परस्पर सभावन से युक्त सामजस्य मे ही शैव दर्शन का साम्य सफल होता है।

उपनिषदो के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुरूप प्रेय प्राकृतिक है और श्रय *आध्यात्मिक है। प्रय का अभिप्राय उस वस्तु से है जो प्रिय है अथवा प्रिय बनने* योग्य है। प्रिय वस्तु वह है जिसे कि हम चाहते हैं। श्रय का अभिप्राय उस वस्तु से है जो कल्याणकारी है तथा जिससे हमे कृतार्थता प्राप्त होती है। एक दृष्टिकोण से प्राकृतिक वस्तुओ को भी कल्याणकर माना जा सकता है तथा आध्यात्मिक वस्तु *को भी प्रिय माना जा सकता है।* प्रिय वही है जिसे हम चाहते हैं और जिसके सम्पर्क मे हम सुख का अनुभव करते हैं। आत्मा भी हमारी आकाक्षा का लक्ष्य बन सकती है और उसे भी हम चाह सकते हैं। किन्तु वस्तुत वह हमारे स्वरूप से भिन्न नही है, *वह हमारा ही आन्तरिक स्वरूप है। अत आत्मा को चाहना अन्य* सुखकारी बाह्य वस्तुओ को चाहने के समान नही है। आत्मा का सुख और आकर्षण भी प्राकृतिक वस्तुओ के सुख से भिन्न है। वह एक प्रकार का अलौकिक आनद है। अत सामान्य अर्थ में आत्मा को 'प्रेय' कहना उचित नहीं है। इसी

प्रकार प्राकृतिक पदार्थों को भी एक अर्थ मे कल्याणकारी माना जा सकता है। वे भी किसी सीमा तक हमारे हितकारी हैं। उन्हे प्राप्त कर कुछ कृतार्थता का अनुभव भी हो सकता है। फिर भी उनमे प्रियता का आकर्षण ही मुख्य होता है। प्रियता और कृतार्थता के भावों को प्रधान मानकर प्रेय और श्रेय में विवेक करना ही उचित है। कठ उपनिषद् मे इनके बीच इसी विवेक को महत्व दिया गया है। चाहे हम प्राकृतिक अथवा आध्यात्मिक पदार्थों मे किसी को भी प्रेय अथवा श्रेय दोनो ही मानें किन्तु एक ही पदार्थ के प्रसग मे भी प्रेय और श्रेय के भाव भिन्न हैं। इन भावो की भिन्नता को स्वीकार करने पर एक ही पदार्थ के प्रति हमारे दो भिन्न दृष्टिकोण हो जाते हैं। जब हम प्राकृतिक पदार्थ को प्रेय मानते हैं तो उनके प्रति प्रियता के कारण हमारा मोह और आकर्षण होता है। जब हम उसी प्राकृतिक पदार्थ को श्रेय मानते हैं तो प्रियता के आकर्षण की अपेक्षा हमारा दृष्टिकोण हित और कृतार्थता का होता है। प्रेय में एक आकाक्षा, अतृप्ति और आकुलता होती है। इसके विपरीत श्रेय शान्ति और तृप्ति प्रदान करता है। अध्यात्म के श्रेय को सुरक्षित रखने के लिये योगियो ने उसे प्रेय की छाया से बचाया है। योग-दर्शन मे अतिम समाधि को आनद से ऊपर बताया गया है। वेदान्त के आचार्यो ने समाधि के रसास्वादन को भी बाधक माना है। इस प्रकार प्रेय को आवश्यक रूप से प्राकृतिक तथा श्रेय को आवश्यक रूप से आध्यात्मिक न मानते हुए भी प्रेय और श्रेय के भावो मे विवेक करना आवश्यक है।

प्रेय और श्रेय को प्रकृति और अध्यात्म का पर्याय मान कर भी इनमे सामजस्य की कल्पना की जा सकती है। इस सामजस्य को समझने और प्राप्त करने के लिये प्रकृति के स्वरूप तथा अध्यात्म के साथ उसके सामजस्य और विरोध की सम्भावनाओ को गम्भीरता के साथ समझना आवश्यक है। प्रकृति और प्रेय बहुत कुछ एक दूसरे के पर्याय हैं। प्रकृति का अनुकूल पक्ष सम्वेदना में प्रेय बन जाता है। अपने स्वरूप मे प्रकृति को उदासीन मान सकते हैं। उदासीनता के साथ हित और अहित का प्रश्न नही उठता। जब मानवीय जीवन पर प्रकृति के प्रभावों का अकन किया जाता है तभी हित और अहित के प्रश्न उठते हैं। इन प्रभावो की दृष्टि से प्रेय का बहुत कुछ अश हित का सूचक सिद्ध होता है। प्रकृति और प्रेय की हितकर सम्भावनाओं के आधार पर ही जीवन का निर्वाह और सभ्यता का विकास सभव हो सका है। सभ्य जीवन प्रेय और श्रेय का समन्वय ही है।

किन्तु प्रकृति के श्रेय रूप की कुछ मर्यादाएँ हैं। इन मर्यादाओं के अनुकूल ही प्रेय को श्रेय का गौरव प्राप्त होता है। इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करने पर प्रेय श्रेय का विरोधी बन जाता है। जहाँ तक प्रेय हितकर होता है वहाँ तक उसमें श्रेय का भी अन्तर्भाव होता है। इसी प्रकार श्रेय में प्रेय भी सम्मिलित हो सकता है। श्रेय के स्वरूप और उसकी व्यवस्था में जो अनुकूल प्राकृतिक आधार समाहित रहते हैं, वे श्रेय में सम्मिलित प्रेय ही हैं। मर्यादाओं का अतिक्रमण जब श्रेय का खंडन करता है तो उसके साथ-साथ श्रेय में समाहित प्रेय का भी विरोध होता है। इस प्रकार प्रेय की उच्छृंखलता आत्मघाती बन जाती है। इस आत्मघात के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अधिक भोजन पाचन क्रिया को दुर्बल करके भोजन के आनंद को ही नष्ट कर देता है। काम का अतिचार काम के सुख को नष्ट कर देता है। जीवन को सुखी बनाने के लिये संचित धन चोरों का आकर्षण बनकर जीवन को ही संकटापन्न बना देता है।

प्रेय की उक्त मर्यादाएँ दो प्रकार की हैं। एक मर्यादा प्राकृतिक है। इसे प्रकृति का सहज भाव कह सकते हैं। अपने सहज भाव में प्रकृति बहुत सीमित और सुखकर है। वस्तुतः प्रकृति के सहज भाव में ही उसका प्रेय रूप खिलता है। इस सहज रूप में प्रकृति तीव्र और तृप्तिकर होती है। यही उसकी प्रेयता का लक्षण है। सभ्यता की कृत्रिमताओं और विवशताओं से प्रकृति के प्रेय का यह सहज भाव मंद होता गया है। उसे तीव्र बनाने के लिए सभ्यता में प्रेय की अतिरंजनाएँ हुई हैं। इन अतिरंजनाओं ने प्रेय और श्रेय दोनों का विघात किया है। प्रेय की दूसरी मर्यादा आध्यात्मिक है। अध्यात्म मनुष्यों के एक आन्तरिक साम्य का भाव है। प्रकृति के स्वार्थ के विपरीत उसे परार्थ के द्वारा परखा जा सकता है। अध्यात्म का प्रकृति से कोई आवश्यक विरोध नहीं है। अपनी सहज मर्यादा में प्राकृतिक प्रेय अध्यात्म के अनुकूल भी हो सकता है। किन्तु विरोध न होते हुए भी प्राकृतिक प्रेय और अध्यात्म का श्रेय स्वरूप से एक दूसरे से भिन्न है। कठ उपनिषद् में उनके इसी भेद का संकेत किया गया है। अपने सहज भाव में सीमित रहने पर तथा अध्यात्म के परार्थभाव का खंडन न करने पर प्रकृति का प्रेय अध्यात्म के श्रेय के अनुकूल बन जाता है। भारतवर्ष की जैसी धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में इस अनुकूलता में भी अधिक प्रेय का श्रेय में समन्वय सम्भव हो सकता है। इस समन्वय में प्रेय का आधार और सहज गुण अक्षुण्ण

रहते हुए भी उसमे अध्यात्म के भाव की प्रधानता होती है। संस्कृति के रूपो में सौन्दर्य इस भाव को अलकृत करता है। संस्कृति के ये रूप प्रेय के सत्य, अध्यात्म के श्रेय और कला के सौन्दर्य के सगम है। अपने सहज रूप मे सीमित रहने पर 'प्राकृतिक प्रेय' श्रेय के प्राकृतिक और आध्यात्मिक किसी भी रूप का खडन नही करते। ऐसी स्थिति में स्वरूप से भिन्न होते हुए भी प्रेय और श्रेय मे विरोध नहीं रहता। प्रेय और श्रेय के विरोध की जो बात कही जाती है, वह तभी कही जाती है, जबकि प्रेय, अतिरजना के द्वारा अध्यात्म की मर्यादाओ का उल्लघन करता है। मनुष्य के मोह के कारण यह अतिरजना प्राय होती है। प्रेय के इन परिणामो को ध्यान मे रखकर प्रेय और श्रेय को प्राय विरोधी बताया गया है। भारवी के 'हितमनोहारि च दुर्लभवच' मे इसी विरोध का सकेत है। प्रेय मे सहज आकर्पण होता है। श्रेय सकल्प-साध्य होता है। अत वह प्राय प्रिय नहीं होता। उसकी बात भी हमे प्रिय नही लगती। भारवि की उक्ति का यही अभिप्राय है।

अस्तु, प्रेय के कई रूप हो सकते हैं। उसका एक रूप शुद्ध और सहज प्राकृतिक प्रेय है। इसी को हम प्राकृतिक श्रेय भी मान सकते हैं। प्रेय का दूसरा रूप अतिरजित और आत्मघाती प्रेय है। अध्यात्म और सस्कृति के अनुकूल होने पर तथा उनमे अन्वित होने पर प्राकृतिक प्रेय के अन्य रूप बन सकते हैं, जिन्हे श्रेय की प्रधानता के कारण धार्मिक अथवा सास्कृतिक श्रेय कहना होगा। आध्यात्मिक श्रेय के अतिरिक्त श्रेय का अन्य कोई ऐसा रूप नही है जो अपने कैवल्य मे स्थित रह सके। अध्यात्म का कैवल्य एक अनिर्वचनीय तत्व है। साधना के द्वारा ही उसका आभास मिल सकता है। उसका अधिक विवेचन सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त श्रेय के सभी रूप प्राकृतिक प्रेयो के उपादानो मे साकार होते हैं। ये उनसे भिन्न नहीं हैं, जिन्हे हमने ऊपर धार्मिक और सास्कृतिक श्रेय का नाम दिया है।

प्रेय और श्रेय के इन सभी रूपो को कला और काव्य मे स्थान मिला है। इतना अवश्य कहना होगा कि कला और काव्य मे प्रेय की ही प्रधानता है। कुछ काव्य मे प्रेय के सहज रूप का वर्णन भी मिलता है। किन्तु जिस प्रकार सभ्यता मे प्रेय का यह सहज रूप भग होता गया, उसी प्रकार साहित्य मे भी उसका स्थान कम होता गया। प्रेय के अतिरजित रूप काव्य और कला के ही उपादान बने हैं। किसी सीमा तक कला और काव्य ने इस अतिरजना मे योग भी दिया है। श्रेय

का शुद्ध आध्यात्मिक रूप अनिर्वचनीय है। साहित्य और कला मे उसका निरूपण कठिन है। पश्चिमी चिंतन मे इस आध्यात्मिक श्रेय की गवेषणा और साधना भी अधिक नही हुई है। अध्यात्म की साधना भारतीय परम्परा की एक महती विशेषता है। उसी के अनुरूप अध्यात्म का काव्य भारतीय साहित्य का विशेष गौरव है। भक्ति के काव्य में भी अध्यात्म के भाव की विपुलता है। अध्यात्म और भक्ति का इतना विपुल काव्य किसी भी अन्य देश में दुर्लभ है। जिसे हमने धार्मिक और सास्कृतिक श्रेय कहा है, उसकी ओर कवियो का ध्यान कम गया है। अध्यात्म में प्रेय के अन्वय की प्रणाली को कवि और कलाकार अधिक ध्यान नही दे सके। इसका कारण यही है कि अध्यात्म के साधक सत कवियो के अतिरिक्त अन्य अधिकाश कवि अपनी भावना मे प्रेय से ही अधिक प्रभावित रहे और उस सामजस्य को अधिक ध्यान न दे सके जो श्रेय के उक्त रूपो का आधार है। ससार की भाषाओ मे धार्मिक काव्य कम हैं। जो कुछ मिलता है उसमे मर्यादित प्रेय का पर्याप्त सामजस्य नही है। हिन्दी का भक्ति काव्य भी इसका अपवाद नही है। प्राय धर्म, भक्ति और अध्यात्म का काव्य अपने स्वरूप मे सीमित रहा है। अनेक बार प्रमाद वश उसने प्रेय और श्रेय दोनो का खडन भी किया है। सास्कृतिक श्रेय की कल्पना मे प्रेय, श्रेय और सौन्दर्य का जो सामजस्य अपेक्षित है उसकी ओर कवियो का ध्यान कम गया है। आधुनिक युग मे कामायनी और उर्वशी मे इस सामजस्य का प्रयास अधिक स्फुट रूप मे दिखाई देता है। किन्तु दोनो मे ही प्रेय की प्रबलता है। इनमे अध्यात्म के साथ प्रेय अथवा काम का ऐसा सामजस्य सफल नही हो सका है, जैसा कि कवियो को अभीष्ट रहा है। इसका कारण यह है कि कवियो की धारणा मे इस सामजस्य के सूत्र और सिद्धान्त स्पष्ट नही हैं। पार्वती मे कदाचित ये सूत्र अधिक स्पष्ट और दृढ हैं।

अध्याय ३२

संस्कृति और काव्य में प्रेय

प्रेय का अनुराग सहज और स्वाभाविक है। अत यह कोई आश्चर्य की बात नही कि साहित्य के इतिहास मे प्रेय काव्य ही अधिक है और वही अधिक लोकप्रिय है। जिन कवियो कि प्रतिभा ज्ञान के आलोक से प्रकाशित और सामाजिक श्रेय से प्रेरित होती है, उन्होने अपनी कृतियो मे श्रेय के तत्वो का भी ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, रवीन्द्र, प्रसाद आदि महान कवियो के प्रयत्न इसी ओर रहे हैं। प्रकृति का परित्याग न तो सम्भव है और न हितकर। अत प्रकृति और प्रेय का काव्य मे ग्रहण स्वाभाविक और उचित है। यदि कोई विचारणीय प्रश्न हो सकता है तो यही कि इन कृतियो मे प्रेय का ग्रहण किस रूप और मात्रा मे तथा किस मर्यादा के साथ हुआ है। प्रेय के केवल प्रेय के रूप मे ग्रहण करने से तो प्रेय काव्य की सृष्टि हो हो सकती है। शिवकाव्य का उपादान बनने के लिए प्रेय को मर्यादा का सस्कार अपेक्षित है। भक्ति काव्य को छोडकर शेष सस्कृत और हिन्दी के काव्य के विषय मे यदि यह कहा जाए कि उसमे प्रेय की ही प्रधानता है तो अनुचित न होगा। काव्य के इस प्रेय उपादान को शिव का सस्कार भी बहुत कम प्राप्त है। इस सबका कारण प्रकृति की प्रबलता और उसकी प्रभविष्णुता ही है। कवि भी मनुष्य है। प्रतिभा होते हुए भी प्रकृति की प्रेरणाएँ उसके मन मे भी दूसरो के समान होती हैं। सामान्यत प्रतिभा केवल एक प्रकाश है। वह सत्य को आलोकित करती है। सत्य स्वरूपत निरपेक्ष है। इसीलिए वह विज्ञान और तत्व शास्त्र का विषय है। सत्य का निरपेक्ष रूप अनिवार्यत शिव नही है। आत्मदान की भावना और साधना के सयोग से वह शिव बन सकता है। साधना के समन्वय के अभाव के कारण ही विज्ञान, धर्म और तत्व-शास्त्र के अनेक तत्व मगलमय बनने मे असमर्थ रहे। साधना प्रकृति अथवा स्वभाव नहीं है, वह एक आत्मिक अध्यवसाय है जिसे सजग चेतना के द्वारा ही प्रेरित किया जा सकता है। इसके लिए भी साधना और शिव के स्वरूप का प्रतिभा मे आलोकित होना आवश्यक है। इसलिए प्रतिभा और सत्य का स्वरूप शिव के

बिना अपूर्ण रहता है। ऐसी पूर्ण प्रतिभा दुर्लभ है। अत हम बुद्धि के चमत्कार के रूप मे ही उसे मानते आए हैं। इस अपूर्ण प्रतिभा के द्वारा सत्य और सुन्दरम् के अदभुत रूपो का उद्घाटन हुआ है किन्तु शिव के पूर्ण रूप की प्रतिष्ठा काव्य मे कम हो सकी। जीवन के समान साहित्य मे भी शिव की प्रतिष्ठा के लिए साधना अपेक्षित है। इसीलिए प्राचीन ऋषियो के काव्य मे ही वह अधिक मिलता है। उनका जीवन भी साधनामय था। वाल्मीकि के समान साधनामय जीवन वाले कवि दुर्लभ हैं। इसीलिए वाल्मीकि रामायण के समान शिव काव्य भी विरले ही हैं। मनुष्य के सहज स्वभाव के कारण अधिकाश कवियो के जीवन मे प्रकृति और प्रय का प्रभुत्व ही अधिक रहा है। सत्य के उद्घाटन मे प्रेय का प्रभाव प्रतिभा का बन्धन नही बनता, इसीलिए ससार मे शिव-काव्य की सृष्टि करने वाले कवियो की अपेक्षा महान वैज्ञानिक और तत्वदर्शी दार्शनिक अधिक सख्या मे हुए हैं। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति मे भी प्रतिभा का कौशल प्रेय के प्रभाव से मन्द नहीं होता। इसके विपरीत यदि प्रय ही कला और काव्य का विषय हो तो प्रेय का अनुराग प्रतिभा को और अधिक स्फूर्ति देता है। इसीलिए कला और काव्य के क्षेत्र में जहाँ शिव दुर्लभ है वहाँ सुन्दरम् की प्रचुरता है। सुन्दरम् प्रतिभा का चमत्कार है। शिव साधना का फल है जो प्रय के अतिरजित अनुराग से बाधा पाता है। प्रेय के सस्कार और मर्यादा की भूमि पर उसकी साधना समव और सफल हो सकती है।

साधना का इतना सम्बल बहुत कम कवियो के जीवन मे प्राप्त हो सका। कवि भी मनुष्य है। उसकी प्रतिभा के चरण भी प्रकृति की भूमि पर रहते हैं। किन्तु कवियो की दृष्टि भी वैज्ञानिको की अपेक्षा इस प्रकृति पर अधिक रही है। वैज्ञानिक जहाँ प्रकृति को तटस्थ दृष्टि से देखता है, वहाँ कवि की दृष्टि में वासना का रस रहता है। अपनी प्रकृति के प्रभाव के साथ साथ प्रकृति का एक सामाजिक प्रभाव भी कवि को बाध्य करता है। दूसरो से प्रशसा और अनुमोदन की आकाक्षा स्वाभाविक होती है। यह व्यक्ति की प्रकृति का सामाजिक पक्ष है। मृत्यु के भय के समान यह यश की कामना भी बालकों से लेकर बडे-बडे सन्त महन्तो तक की दुर्बलता है। समाज मे अपने को अन्य सब कसौटियो से हीन पाने वाले कवि के लिए इससे प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक है। केवल रचना को अपने कृतित्व का अन्तिम लक्ष्य मानकर सतोष कर लेना बहुत कठिन है। भवभूति

जैसे आत्मविश्वासी और प्रतिभाशाली कवि को भी समाज की उपेक्षा से क्षोभ हुआ था। काव्य प्रकाश के कर्त्ता वाग्देवतावतार श्री मम्मटाचार्य ने भी जहाँ नि श्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है वहाँ यश को उसका प्रथम प्रयोजन कहा है। जीवन मे मगलमयी साधना की स्वल्पता और प्रकृति के सहज अनुराग के साथ-साथ यश की कामना से प्रेरित होकर ही अधिकाश कवि ऐसे काव्य की रचना म प्रवृत्त हुए हैं जो प्रेय की प्रधानता के कारण आत्म सतोष के साथ-साथ उनकी सामाजिक कीर्ति का भी साधन बना। यह स्पष्ट है कि काव्य के ये रूप पूर्ण अर्थ मे कवि के अन्तिम लक्ष्य नही बन सके। प्रकृति के अनुराग तथा अर्थ और यश की कामना से प्रेरित काव्य सुन्दर तो हो सकता है किन्तु उसका शिव होना अत्यन्त सदिग्ध है। साधारण पाठक-समाज मे भी प्रकृति और प्रय का अनुराग ही अधिक होता है अत उनकी रुचि के अनुरूप उपादानो का काव्य का विषय बनाने वाले कवि ही अधिक लोकप्रिक और यश के भागी बनते हैं। शृगार और भक्ति के काव्य की लोक-प्रियता का यही रहस्य है।

अस्तु कवियो के जीवन मे साधना की कमी और प्रेय के प्रति सहज अनुराग होने के कारण काव्य मे प्रय का ग्रहण ही अधिक हुआ है। यश की कामना और पाठको के प्रेय का अनुरजन करके उसकी प्राप्ति के मोह ने काव्य में प्रेय के प्रश्रय को और भी अधिक दृट किया है। जहा तक यह प्रेय काव्य प्रकृति का ही पोषण करता है वहाँ तक उसे प्रकृति काव्य ही कहा जायगा। सास्कृतिक काव्य उसी को कहा जा सकता है जिसमे प्रेय और प्रकृति का ग्रहण करते हुए भी उनमे श्रेय के सस्कार का समवाय हो। प्रेय और प्रकृति के विभिन्न रूपों का श्रेय के विविध रूपों से समन्वय होने पर ही काव्य शिव और सस्कृत बनता है। श्रेय के ये विविध रूप शिव के सामान्य स्वरूप मे समवेत रहते हैं। शिव का स्वरूप आत्मदान ही है। यह आत्मदान दूसरो की चित्त-सम्पत्ति मे अपनी चित्त-सम्पत्ति का भाव-योग है। यह भावयोग मूलत एक आत्मिक व्यापार है, किन्तु जिस प्रकार प्रकृति की सत्ता और उसके धर्म से आत्मा का कोई विरोध नही है, उसी प्रकार आत्मा के भाव-योग से प्रकृति के उपकरणो और व्यापारो का कोई विरोध नही है। जीवन की निसर्ग व्यवस्था में प्रकृति आत्मा का माध्यम है। जीवन मे आत्मा और प्रकृति के साथ-साथ प्रकृति के सस्कार की शक्ति भी उद्भूत हुई है। अत प्रकृति के उपकरणो और व्यापारो के माध्यम से आत्म-दान के भावयोग की मगलमयी विधि सम्भव ही

नही वरन् जीवन की कृतार्थता का समीचीन मार्ग है। अत यद्यपि आत्मदान का स्वरूप एक स्वतन्त्र और आत्मिक व्यापार है किन्तु लोक व्यवहार मे प्रकृति के उपकरणो और व्यापारो के माध्यम से इसका स्थूल और लौकिक रूप निर्मित होता है। आत्मदान का यह स्थूल और लौकिक रूप पूर्णत प्राकृतिक नही है। आत्मा के भाव-योग का सस्कार प्राप्त करके यह जीवन का एक स्वतन्त्र और सास्कृतिक धर्म वन जाता है। प्रकृति के पदार्थों और धर्मों का जो व्यापार पूणत प्राकृतिक नहीं है उसे आत्मा के अन्तर्भाव की विभूति प्राप्त है। इस प्रकार जीवन में आत्मा का भावानुयोग प्राप्त कर प्रकृति के उपकरण और व्यापार सस्कृति की विभूति बनते हैं। सस्कृति की यथार्थता और प्रकृति का कृतार्थता का यही मार्ग है। भक्ति म भावना के महत्व, आतिथ्य मे प्रम के महत्व तथा सभी सामाजिक सम्बन्धो मे वस्तु की अपेक्षा आत्मा के भाव के महत्व का यही कारण है। गीता के पत्र पुष्प, शबरी के वर, विदुर की भाजी द्रौपदी की रसोई और सुदामा के तन्दुल इस आत्मविभूति से ही अमर गौरव को प्राप्त हुए।

जीवन और सस्कृति मे प्रकृति के समायोजन और सस्कार का जा माग है वही मार्ग उसके लिए काव्य मे भी अनुसरणीय है। जीवन की भाति काव्य में भी प्रकृति के उपकरणो और धर्मो का ग्रहण स्वाभाविक तथा समीचीन है। किन्तु काव्य को शिव और सस्कृत रूप देने के लिए उनमें आत्मा के अनुयोग की भावना देना भी आवश्यक है। इसी भावना से प्रकृति के प्रेय जीवन के श्रेय और सस्कृति के रस बनते हैं। प्रकृति के प्रया का ग्रहण तो स्वाभाविक होने के कारण प्राय सभी काव्यो मे होता है किन्तु उनमे आत्मा के भाव सस्कार का अनुयोग बहुत कम को प्राप्त हुआ है। जिनकी यह धारणा है कि प्रकृति के अतिरंजित चित्र दुष्परिणामो के प्रभाव से वैराग्य मे सहायक होते हैं वे भ्रम मे हैं। भागवत धर्म की शृगारमयी परम्परा के साहित्य और धार्मिक जीवन म जो विकृत परिणाम हुए हैं, उनसे इसकी पुष्टि होती है। मदिरो की कथा और भक्ति तथा शृगार के साहित्य मे श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की लीलाओ का ही प्राधान्य होना यही सूचित करता है कि धर्म की छाया मे जीवन और काव्य दोनो मे प्रकृति का ही पोषण होता रहा। यह स्वाभाविक था क्योकि धर्म और काव्य के इस रूप म आत्मा के सस्कार का स्पष्ट योग नही था। प्रतीकवाद के अनुसार इस शृगारमय भक्ति-काव्य की आध्यात्मिक व्याख्या की जा सकती है। किन्तु जब तक इन प्रतीकों में

आध्यात्मिक अन्वय का असंदिग्ध सूत्र अन्तर्निहित नहीं होता तब तक इनका प्रयोजन सफल नहीं हो सकता। प्रतीकों की प्राकृतिक रमणीयता उसके लौकिक अर्थ के ग्रहण की ओर ही मन को प्रवृत्त करती है। भागवत धर्म और भक्ति-काव्य में इस शृंगारिक प्रतीकवाद का परिणाम भी यही हुआ कि ये प्रतीक अपने प्रयोजन में निष्फल रहे हैं। रम्भा-शुक सम्वाद के स्पष्ट उपदेश, भागवत के भ्रान्त प्रतीक, रघुवंश के अन्तिम सर्ग के वैराग्यमय परिणाम, इन काव्यों में संस्कार के साधक नहीं बन सके, क्योंकि इनमें चित्रित प्रकृति के प्रेयों की रमणीयता रमण की वृत्ति को ही पाठक के मन में पोषित करती है। वाल्मीकि रामायण और रामचरित-मानस दो ही ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें प्रकृति के उन्नयन के संस्कार अभीष्ट रूप में सन्निहित हैं। कालिदास के काव्यों और प्रसाद की कामायनी में प्रेय और शृंगार के स्थल अधिक रमणीय बने हैं और पाठकों की रुचि भी उन्हीं में अधिक रही है। पाठ्य-क्रमों में मेघदूत और कामायनी के आरम्भिक सर्गों का प्रचलन इस तथ्य का समर्थन करता है। अश्वघोष के सौन्दरनन्द काव्य का उद्दिष्ट नन्द का वैराग्य ही है। किन्तु विद्यार्थियों और पाठकों में उसके आरम्भिक शृंगारमय सर्ग ही अधिक प्रचलित हैं। हिन्दी के रीतिकालीन और छायावादी काव्य में तो क्रमशः व्यक्त और अव्यक्त रूप में शृंगार की ही प्रधानता है।

अस्तु अधिकांश काव्य में प्राकृतिक प्रेयों का ही ग्रहण अधिक हुआ है। यह स्वाभाविक है। प्रकृति के उपकरणों के समान प्राकृतिक प्रेयों में भी एक सहज आकर्षण और आमन्त्रण है। वे सहज सुन्दर हैं। इसी कारण काव्य के सहज उपादान बने हैं। प्राकृतिक प्रेय स्वतः अशिव नहीं है। ये प्राकृतिक प्रेय भी काव्य में चेतना के भाव बनकर ही व्यक्त होते हैं। अतः एक रूप में इन्हें शिव का भाव भी सहज प्राप्त हो जाता है। किन्तु इनके मूल स्वरूप में प्रकृति के स्वार्थ की सीमाएँ सन्निहित होने के कारण ये शिव के सामान्य स्वरूप में कठिनता से ही अन्वित हो पाते हैं। प्रकृति और स्वार्थ में रूढ होने के कारण ये मनोहर होते हैं। इसीलिए प्रेय काव्य इतना लोकप्रिय है। प्रेय भावों में प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति हुई है अतः वे निसर्गतः सुन्दर हैं। प्राकृतिक मर्यादा के सहज रूप में इन प्रेयों का मनुष्य और समाज के मंगल से कोई विरोध नहीं है। किसी सीमा तक यह भी सत्य है कि वे सांस्कृतिक मंगल के आधार और साधन हैं। प्राकृतिक प्रेयों को सांस्कृतिक श्रेयों की सुन्दर भूमिका मान सकते हैं। सांस्कृतिक व्यवस्था में उनका यही उचित स्थान है।

उनकी यह मर्यादा ही संस्कृति के साथ उनके अन्वय का सूत्र है। **प्रकृति की मर्यादा संस्कृति का आरम्भ है। इस मर्यादा के सूत्र के द्वारा ही संस्कृति के भावो में अन्वित होकर प्रकृति कल्याणी बनती है।** शिव और संस्कृत काव्य में भी प्रकृति के संस्कार की यही प्रणाली है। मनुष्य जीवन म प्राकृतिक प्रेयो के श्रेय मे अन्वय का कोई नैसर्गिक विधान नहीं है। पशुओ के जीवन मे एक प्राकृतिक मर्यादा है। किन्तु मनुष्य के जीवन मे मन की उच्छृखल गति के कारण इस मर्यादा के अतिचार की सम्भावनाएँ ही अधिक रहती हैं। अत मनुष्य जीवन मे यह मर्यादा सचेतन अनुशासन और सजग साधना के रूप मे ही प्रतिष्ठित हो सकती है। इसी मर्यादा की साधना के लिए मनुष्य ने इतिहास मे नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक अनुशासनो के दर्शन विकसित हुए।

निसर्ग प्रकृति की प्रेरणा और प्रक्रिया इतनी प्रबल है कि प्रकृति के अनुशासन के समस्त विधान प्राय असफल होते रहे हैं। मनुष्य के जीवन और इतिहास की भाँति उसके कला और काव्य मे भी प्रकृति की यह विवशता और मर्यादा की असफलता प्रकट होती रही है। जीवन की भाँति ही काव्य मे भी प्राकृतिक प्रेयो का ग्रहण प्रचुरता से हुआ है। ये प्रय काव्य प्रकृति का रजन करने के कारण लोकप्रिय और रमणीय बने। यह साहित्य के निम्न लोक की बात है किन्तु यह सत्य है कि प्राकृतिक प्रेयो का जितना उच्छृखल और अमर्यादित रूप साहित्य म होता है, वह उतना ही अधिक लोकप्रिय होता है। माया, जासूस आदि पत्रो की लोकप्रियता का यही रहस्य है। सिनेमा के आधुनिक प्रचार का कारण भी यही है। लोक-संस्कृति के रूपो मे भी उसके कुछ आभास मिल सकते हैं। सामाजिक शील का शिष्टाचार उसकी सहज मर्यादा बन गया है। अन्यथा इनमे प्रेय का मनोहर रूप प्रचुरता से व्याप्त है। प्रेम और तिलिस्म की कहानियाँ तथा सिनेमा मे प्रेय के अतिरजित और अमर्यादित रूप का कारण व्यापार का मोह है। कला और काव्य की कृतियाँ इन दोनो सीमाओ के बीच मे है। उन्हे एक ओर सामाजिक शील का अनुशासन प्राप्त नही है किन्तु दूसरी ओर व्यापार का मोह भी उनकी अतिरजना का कारण नही बन सकता। प्रणेता और सीमित पाठक वर्ग की मनोभावनाएँ इस प्रेय के स्रोत और उसकी सीमा हैं। किन्तु अधिकाश काव्य को प्रेममय बनाने के लिए ये दो ही उपकरण पर्याप्त हैं। वाल्मीकि रामायण, रामचरित-मानस, भक्ति-काव्य आदि को छोडकर संस्कृत और हिन्दी के साहित्य मे प्रेय काव्य की

प्रचुरता है। वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र का आधार भूत रस सिद्धान्त इसकी मूल प्रेरणा है। शान्त के अतिरिक्त सभी रसों के स्थायी भाव इस प्रेय प्रकृति के ही आन्तरिक रूप हैं। विभाव अनुभाव आदि उसके बाह्य उपकरण हैं। यद्यपि काव्य-शास्त्र के प्रणेताओं ने निःश्रेयस को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है, किन्तु वस्तुतः इस निःश्रेयस के साधक बहुत कम काव्य हैं। रघुवंश के अन्तिम सर्ग की भाँति शृंगार विलास के दुष्परिणामों की ओर सकेत कर देने से साहित्य और संस्कृति को निःश्रेयस का मार्ग नहीं मिलता। 'रम्भा-शुक सम्वाद' जैसी उपदेशात्मक कृतियों में भी रम्भा के वचनों के समान प्रकृति के उत्तेजक भावों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। श्रीमद्भागवत गीत गोविन्द आदि के तथा-कथित अध्यात्म की अवतरणा का भी यही रहस्य है। हिन्दी का रीतिकालीन काव्य और कृष्ण सम्प्रदाय के पीठों की गति इस असफलता के प्रमाण हैं। काव्य-शास्त्र ने स्वयं शृंगार को रसराज मानकर प्रकृति के इस रंजन का बीज साहित्य के स्थायीभाव के रूप में आरोपित किया है। हमारे अधिकांश काव्य ग्रन्थ इसी बीज से निकले हुए साहित्य वृक्ष के पल्लव, पुष्प और फल हैं। व्यक्ति की रचनाओं पर सामाजिक शिष्टाचार का अनुशासन भी नहीं रह सकता। इसीलिए इन काव्यों को लोक-गीतों की भाँति समाज की मर्यादा का सहज संस्कार भी प्राप्त नहीं है।

प्रेय को रमणीय रूप मे प्रस्तुत करके जीवन मे केवल प्रेय का अनुराग पोषित करने वाले काव्य शिव और संस्कृत काव्य नहीं कहे जा सकते। प्रकृति और प्रेय जीवन के आवश्यक साधन हैं। उनमें स्वरूपतः कोई दोष नहीं है किन्तु जीवन और काव्य में उनको मनुष्य का साध्य बना देना मूल्यों के सांस्कृतिक सम्बन्धों का विपर्यय है। आधुनिक युग मे वंचितों और दलितों के प्राकृतिक अधिकारों को काव्य का विषय बनाने वाले कवि प्रेय को पोषित करने वाले कवियों की अपेक्षा सत्य और श्रेय के अधिक निकट हैं। किन्तु हिन्दी और संस्कृत का अधिकांश शृंगार काव्य (और दोनों मे शृंगार की ही प्रचुरता है), प्रायः इस विपर्यय का दोषी है। उसमें प्रेय और शृंगार को साध्य के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया है। दोनों का ऐसा अतिरंजित रूप किसी भी सर्वजन हितकारी व्यवस्था में स्थान नहीं पा सकता। इनकी यह अतिरंजना आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से ही दोषपूर्ण नहीं है, वरन् सामाजिक दृष्टि से भी मनुष्य के गौरव और उसकी स्वतन्त्रता के अनुकूल नहीं है। शृंगार और विलास की अतिरंजना नारी के गौरव और स्वातन्त्र्य के प्रतिकूल है।

साथ ही इस अतिरंजित विलास की आर्थिक भूमिका भी राजसी और पूंजीवादी अर्थतंत्र में ही संभव हो सकती है। प्रगतिवादी आलोचकों का यह आरोप कि यह अधिकांश काव्य पूंजीवादी और सामन्तवादी परम्परा का काव्य है, नितान्त निर्मूल नहीं है। प्रेय और प्रकृति काव्य के उपादान हो सकते हैं। प्रेय काव्य भी शिव काव्य हो सकता है। कम से कम प्रेय काव्य का अशिव होना आवश्यक नहीं है। किन्तु जो प्रेय काव्य आर्थिक अथवा सामाजिक किसी भी रूप में मनुष्य के गौरव, उसकी स्वतंत्रता आदि जीवन के मंगल विधानों का अति-क्रमण करता है वह असंदिग्ध रूप से अशिव है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारा अधिकांश काव्य इस अशिवता के दोष से दूषित है।

प्रकृति और प्रेय का एक ऐसा सहज और निसर्ग रूप भी हो सकता है, जो जहाँ एक ओर सचेतन संस्कारों के अभाव के कारण अधिक संस्कृत भी नहीं कहा जा सकता तथा दूसरी ओर बुद्धि के अतिरंजित विलास से रहित होने के कारण विकृतियों से भी मुक्त होता है। वनवासी मुनियों और वन्य जातियों के जीवन में इस सरल प्राकृतिक जीवन का रूप देखा जा सकता है। ये वनवासी न प्रकृति से अनभिज्ञ होते थे और न प्राकृतिक धर्मों से विमुख होते थे। प्रकृति 'जीवन' का एक सहज भाव है। उसके धर्म पशुओं के जीवन में भी नैसर्गिक नियमों से संचा-लित होते हैं। जहां यह प्राकृतिक धर्म चेतना के संस्कारों से परिष्कृत नहीं हुए हैं तथा बुद्धि के विलास से विकृत नहीं हुए हैं वहाँ मनुष्यों के जीवन में भी पशुओं के समान निसर्ग नियमों के अनुकूल वे संचालित होते हैं। वस्तुतः इस नैसर्गिक भाव में ही प्रकृति स्वस्थ रहती है। स्वस्थ प्रकृति निसर्गतः शिव है। पशुओं की भाँति उसमें एक प्राकृतिक मर्यादा है। वह मर्यादा एक सचेतन विधान न होते हुए भी शिव के सिद्धान्तों के अनुकूल है। मनुष्य के गौरव और उसकी स्वतंत्रता की हानि प्रकृति व नैसर्गिक धर्मों से नहीं होती वरन् मन और बुद्धि के सहयोग से प्रकृति के अतिचार द्वारा होती है। मनुष्य जीवन में मन और बुद्धि के विकास से जहाँ एक ओर सभ्यता और संस्कृति के विकास की प्रेरणायें मिली हैं वहाँ दूसरी ओर अतिचार और विकृति की सम्भावनाएँ भी पैदा हुई हैं। संस्कृति में प्रकृति के समन्वय के लिए प्रकृति के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। स्वस्थ और निसर्ग प्रकृति संस्कृति का दृढ़ आधार है। संस्कृति इस आधार पर कुछ प्राकृतिक उप-करणों से तथा कुछ आत्मिक उपादानों से आत्मभाव का विस्तार है। यह आत्म-

भाव ही शिव है। इसीलिए शिव को संस्कृति का महत्वपूर्ण तथ्य माना जाता है। स्वस्थ प्रकृति के आधार, उसके आत्मभावना-युक्त विस्तार और स्वतन्त्र आत्मभाव को हम संस्कृति के तीन लोक कह सकते हैं। मंगलमय जीवन और संस्कृति में इन तीनों की एक संगतिपूर्ण व्यवस्था थी। वैदिक और उपनिषद् काल का जीवन इसका प्रमाण है। नागरिक सभ्यता के विकास के बाद भी मुनियों के आश्रमों और वन्य जातियों में यह जीवन सुरक्षित था। अभिज्ञान शाकुन्तल की सरल प्रकृति साहित्य में इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

नागरिक सभ्यता की कृत्रिमताओं ने मंगलमयी संस्कृति के तीन लोकों की संगति भ्रष्ट कर दी है। प्रय पर आश्रित होने के कारण नागरिक सभ्यता में सुख और सुविधाओं के विधान ही बढ़ते गये। बुद्धि की अतिरंजनाओं से इनका विकास विनाश की ओर होता गया। नागरिक जीवन के इतिहास में सभ्यता की यह विलासमुखी गति देखी जा सकती है। अधिकांश काव्य इसी गति का कलापूर्ण लेखा है। नागरिक सभ्यता की इस विडम्बना के दो कारण हैं। एक तो यह है कि उपनिषद् काल के बाद विकसित होने वाले एकांगी अध्यात्मवाद ने जहाँ शिक्षित जीवन को आत्मभाव से अनुप्राणित करने का प्रयत्न किया वहाँ दूसरी ओर स्वस्थ प्रकृति के आधार को सुरक्षित रखने की चेष्टा नहीं की। वस्तुतः अध्यात्मवाद के आचार्य नागरिक जीवन की विकृति और अतिरंजित प्रकृति को अध्यात्म में बाधक मानने के कारण उसकी भर्त्सना को दर्शन की आवश्यक भूमिका मानने लगे। इस विक्षोभ में वे अध्यातम और संस्कृति दोनों के लिए स्वस्थ प्रकृति के महत्व को भूल गये। परिणाम यह हुआ कि एकांगी होने के कारण वह अध्यात्म असफल रहा। दूसरा कारण नागरिक जीवन की सुविधाओं और विलास का आकर्षण था। इस आकर्षण ने न तो स्वस्थ प्रकृति के आधार को सुरक्षित रहने दिया और न अध्यात्म के आत्मभाव को ही सफल होने दिया। आधार और लक्ष्य के विशृंखल हो जाने पर उनका संयोजक सेतु व्यर्थ हो जाता है। इसी कारण भारतीय काव्य में आत्मभाव से अनुप्राणित स्वस्थ प्रकृति का चित्रण वाल्मीकि रामायण और शाकुन्तल के अतिरिक्त बहुत कम है। शाकुन्तल में भी राजा दुष्यन्त के अतिचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस प्राचीन काल में भी नागरिक सभ्यता की उच्छृंखलता वन्य जीवन की स्वस्थ प्रकृति को विकृत बनाने लगी थी।

मंगलमयी संस्कृति के तीनों लोकों की संगति के विच्छिन्न हो जाने के कारण

काव्य में तीनो लोको मे से एक की भी समुचित प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। उसके स्थान पर अतिरजित प्रकृति का बौद्धिक विलास ही अधिक मिलता है। प्राचीन जीवन व्यवस्था मे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और गृहप्रवास के रूप म इन्ही तीन लोको की सगति को समाज मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था। नागरिक सभ्यता के प्रभाव से जब इन तीन लोको की सगति विच्छिन्न होने लगी तभी से यह आश्रम व्यवस्था भी शिथिल हो गई। नागरिक निवासो के सुख सुविधा और विलासो को छोडकर युवको को विद्या के लिए तथा वृद्धो को अध्यात्मसाधना के लिए वनो मे जाना दुष्कर हो गया। मुसलमानी आतक के कारण प्रचलित बाल विवाह तीनो लोको की विश्रृखलता का एक ऐतिहासिक कारण बन गया। स्वस्थ प्रकृति की भूमिका क्षीण होजाने के कारण भारतीय समाज और साहित्य दोनो का ही पतन हुआ। मगलमयी सस्कृति के स्वस्थ निर्माण की प्रेरणाएँ शिथिल और सम्भावनाएँ सीमित हो जाने के कारण जीवन और काव्य दोनो में अतिरजित मनाविलास ही एक आनन्द का मार्ग रह गया। एकागी अध्यात्म और भक्ति भी कुछ श्रद्धालुओ के सतोष और आत्मवचना का साधन बन सके। नागरिक सभ्यता की विलास-मुखी वृत्तियो से भक्ति और अध्यात्म भी कलुषित होते रह हैं। यह कलुष प्राय उनकी असफलता का कारण बना।

स्वस्थ और मगलमय सस्कृति तथा काव्य के स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसकी रचना तीनो लोका की सगति पर ही आश्रित हो सकती है। यह सगति इन तीनो लोको का ऐसा समन्वय है जिसमे प्रकृति और आत्मा दोनो का स्वतत्र रूप सुरक्षित रहता है तथा साथ ही मध्यलोक के व्यवहार मे प्रकृति को आत्मा का सस्कार और आत्मा को प्रकृति का आधार प्राप्त होता है। मगलमयी सस्कृति के लिए जहाँ एक ओर प्रकृति का शिवत्व के सिद्धान्तो मे अन्वय तथा उसके द्वारा प्रकृति का सस्कार अपेक्षित है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति की अपने स्वरूप मे स्वस्थ स्थिति भी आवश्यक है। यदि देह जीवन और सस्कृति का अनिवार्य आधार है, तो प्रकृति की स्वस्थता का परित्याग कर इनका विकास सम्भव नही है। नागरिक सभ्यता के विकास म ज्यो ज्यो यह स्वस्थ प्रकृति का आधार उच्छिन्न होता गया है त्यो त्यो विकृति और विलास बढते गये हैं। आधुनिक साहित्य, सभ्यता और जीवन म इसकी वर्तमान पराकाष्ठा देखी जा सकती है।

स्वस्थ प्रकृति का अभिप्राय आवश्यक रूप से वन्य जीवन और वन्य आचार से नहीं। प्रकृति का धर्म अपनी प्रवृत्तियों में पूर्ण है। उन प्रवृत्तियों में तीव्र आकांक्षा और परितृप्ति स्वस्थ प्रकृति के सहज भाव हैं। आन्तरिक और वाह्य उद्दीपनो का अल्पतम प्रयोग प्रकृति के स्वाथ्य का लक्षण है। पशुओ मे प्रकृति का स्वस्थ रूप अपनी निसर्ग नगनता और सरलता मे मिलता है। उसमे न सभ्यता का आवरण है और न बुद्धि की विकृति है। भोजन और काम प्रवृति की दो मुख्य वृत्तियाँ हैं। पशुओ के जीवन मे दोनो की आकाशा अपनी नैसर्गिक और आन्तरिक आकाशा की तीव्रता मे सुरक्षित है। पशुओ की भोजन वृत्ति तो आन्तरिक बुभुक्षा की तीव्रता से ही प्रेरित होती है। भोजन प्राप्ति का प्रयत्न उसकी शारीरिक तीव्रता और मानसिक रुचि को और भी वडा देता है। पशुओ की काम-वृत्ति मे भोजन की अपेक्षा उद्दीपन का विधान प्रकृति ने अधिक किया है, फिर भी वह इतना अधिक नही है जो उसकी स्वाभाविक आकाशा की कृत्रिम उत्तेजना बन कर उनके स्वास्थ्य और आनन्द के लिए अहितकर हो। उद्दीपन का एक रूप प्रकृति के वातावरण मे मिलता है, जो पशुओ के ऋतु, काल के अनुसार होता है। उद्दीपन का दूसरा रूप पशुओ के नरो के रूप, सज्जा, वाणी आदि शारीरिक गुणो मे है। उद्दीपन का विधान नर की रूप सज्जा मे होने के कारण पशुओ के काम को एक पारस्परिक मर्यादा है। उसमे नर की ओर से अनावश्यक अतिचार की आशकाएँ कम हैं। प्रकृति के उद्दीपन ऋतुकाल के अनुसार काम की स्वाभाविक आकाक्षा का सम्वर्धन करने वाले उपकरण मात्र हैं, वे कृत्रिम आकाक्षा की उत्तेजना के साधन नही है। स्वाभाविक और आन्तरिक आकाक्षा की तीव्रता के कारण पशुओं की प्रवृत्तिया पूर्ण आनन्द और पूर्ण तृप्ति प्रदान करती हैं। तृप्ति की पूर्णता भी आकाक्षाओ की अनावश्यक उत्तेजना मे बाधक है। अस्तु, स्वाभाविक और आन्तरिक आकाक्षा की यथाकाल तीव्रता और परितृप्ति की पूर्णता स्वस्थ प्रकृति के दो मुख्य लक्षण हैं जो पशुओ के जीवन मे सरल रूप में मिलते हैं।

मनुष्य के जीवन में बुद्धि और सभ्यता के विकास ने स्वाभाविक आकाक्षाओं को कृत्रिम बना दिया है। बुद्धि ने सुविधा और विलास की योजनाएँ बनाकर उनकी स्वाभाविक तीव्रता को मन्द कर दिया है। आकाक्षाओ की इस मन्दता मे तीव्रता का उत्तेजन करने के लिए मनुष्य ने अनेक कृत्रिम विधानों का आविष्कार किया है। भोजन की नियमित व्यवस्था और नर-नारी का स्थायी सम्बन्ध दोनों

प्राकृतिक वृत्तियो की नैसर्गिक तीव्रता में मन्दता के कारण है। अत इनकी उत्तेजना के लिए सभ्यता ने अनेक कृत्रिम साधनो का अवलम्ब लिया है। जिनको भरपेट भोजन नही मिलता उनकी बात तो जाने दीजिए किन्तु जिनके लिए पेटभर मिलने की नियमित व्यवस्था है उनमे एसे कितने हैं जिन्हे स्वाभाविक और तीव्र भूख का अनुभव होता है तथा भूख की तीव्रता के कारण जो तृप्ति की पूर्णता का अनुभव करते हैं ? अधिकाश लोग समय के नियम और अभ्यास के आधार पर भोजन करते हैं। नियम के अभ्यास से कुछ मन्द और कृत्रिम भूख भी जग ही जाती है किन्तु स्वाभाविक और तीव्र भूख न होने के कारण तृप्ति का पूर्ण और स्वाभाविक आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस अभाव की पूर्ति के लिए मनुष्य ने भोजन के रूप, रग, शैली आदि मे उद्दीपन और आनन्द के कृत्रिम उपकरणा का सन्निधान किया है। स्वाभाविक बुभुक्षा की तृप्ति क सरल साधन मनुष्य की सभ्यता मे षट्रस-व्यजन बन गए हैं। इन व्यजनो मे रुचि के उद्दीपन के कृत्रिम साधन हैं। षट्रस भी अपने पृथक और कृत्रिम रूपो म स्वाद का सम्वर्धन करके रुचि के उद्दीपक बनते हैं। पारिवारिक और सामूहिक भोजन की प्रणाली भोजन के आनन्द का एक सामाजिक उद्दीपन है। भोजन एक पूर्णत शारीरिक प्रवृत्ति है, इसलिए सभ्यता के ये कृत्रिम उपकरण प्रकृति के स्वास्थ्य के लिए सर्वदा हितकर नही है। एक ओर रस की व्यजना भोजन के मानसिक आनन्द को बढाती है वहा अन्य व्यवस्थाएँ दूसरी ओर भूख की स्वाभाविक तीव्रता को मन्द करती हैं। इससे भोजन के आनन्द मे तो कमी हुई ही है किन्तु इससे भी बढकर मनुष्य के स्वास्थ्य की क्षति हो रही है। इस क्षति के कारण प्रकृति के प्रश्रय म स्वस्थ, स्वतन और आनन्दमय जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य औषधि, डाक्टर और अस्पताल के दैनिक अवलम्ब से जी रहा है।

भोजन का रस और आनन्द उसके बाह्य उपकरणा की अपक्षा भूख की स्वाभाविक तीव्रता मे अधिक है। तीव्र भूख मे रूखा सूखा भोजन करके तथा मन्द भूख मे नाना विध व्यजनो से अपने को अर्चित करके इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। यह अनुभव प्राय हम होता रहता है और प्रतिवार वह यही प्रमाणित करता है कि हमारी सभ्यता मे बढती हुई कृत्रिमता मनुष्य जीवन के नैसर्गिक स्वास्थ्य और सहज आनन्द के स्रोता का शोषण कर रही है। अपनी प्रियतमा के साथ एक रोटी लेकर वृक्ष के नीचे प्रेम के गीत गाते हुए उमर खय्याम

ने यह कल्पना की थी कि ऐसी स्थिति मे वह सुनसान वन ही स्वर्ग है। यह कल्पना जीवन का अन्ततम सत्य है। इस सत्य का भाव यही है कि एक ओर स्वाभाविक वुभुक्षा और दूसरी ओर प्रीति की मानसिक प्रसन्नता भोजन में रस का स्रोत है। शवरी के बेर, विदुर की भाजी, द्रोपदी की रसोई और सुदामा के तन्दुल को भगवान ने जो अपार महत्व दिया उसका रहस्य भक्ति की महिमा के साथ-साथ यह भी है कि इस भाव से अनुप्राणित होने पर सरलतम भोजन भी उत्तम आनन्द का साधन बन जाता है। वन या बाग मे फल तोड-तोड कर खाने वाले बालकों का आनन्द भगवान के द्वारा उद्घाटित इस रहस्य का प्रतिदिन समर्थन करता है। भूख और भाव की महिमा ही भोजन के आनन्द का रहस्य है, इस रहस्य को भूल कर ही सभ्यता में अनेक व्याधियां उत्पन्न हो रही हैं।

भोजन की भाँति काम पूर्णत शारीरिक वृत्ति नही है। भारतीय परम्परा मे काम को 'मनसिज' की सज्ञा दी गई है। इसका अभिप्राय यही है कि शारीरिक प्रवृत्ति होने के साथ-साथ काम एक मानसिक वृत्ति भी है। शरीर और मन दोनो की आकाक्षा के सयोग से काम का आनन्द भोजन की अपेक्षा कही अधिक बढ गया है। किन्तु साथ ही कल्पना और बुद्धि के सहयोग ने काम के अतिचार की सम्भावनाएँ भी मनुष्य के जीवन मे बहुत बढ गई हैं। इस अतिचार की सम्भावना से नैतिक अनर्थ उत्पन्न हुए हैं। यह भी एक महत्वपूर्ण किन्तु नास्कृतिक प्रश्न है। प्राकृतिक दृष्टि से यह अधिक विचारणीय है कि इस अतिचार की सम्भावना तथा उसमें बुद्धि और कल्पना के सहयोग से सन्निहित उद्दीपनो की कृत्रिमता से काम की स्वाभाविक आकाक्षा की तीव्रता और उसकी तृप्ति के आनन्द में क्या वृद्धि अथवा क्षति हुई है? इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि भोजन और काम दोनो प्राकृतिक प्रवृत्तियां हैं, फिर भी दोनो के विधान, वृत्ति, व्यापार और फल में बहुत अन्तर है। भोजन मुख्यत. जीवन का आधार और साधन है उसमे रसना का स्वाद मात्र एक क्षणिक और अल्प आनन्द है। पूर्णत. शारीरिक और प्राकृतिक होने के कारण भोजन, देश, काल, व्यक्तित्व आदि के प्राकृतिक नियमों से सीमित हैं। सामाजिक बनकर भोजन भी पारस्परिक और सास्कृतिक आनन्द का निमित्त बन गया है। किन्तु फिर भी भोजन के धर्म का प्राकृतिक रूप अपनी प्राकृतिक सीमाओं से ऊपर नहीं उठ सका है। भोजन का पदार्थ उसी शरीर के लिए हितकारक है जो उसे ग्रहण करता है। दूसरे के हित की कामना उसमें सभ्यता का एक उपचार

मात्र है। किन्तु काम का प्राकृतिक विधान ही प्रकृति के स्वार्थ की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। **मिथुन धर्म होने के कारण उसका प्राकृतिक विधान ही एक पारस्परिक आनन्द का स्रोत है।** प्राकृतिक आकाक्षा होते हुए भी काम म भोजन की अपेक्षा इस पारस्परिकता के अतिरिक्त एक और विशेषता है। वह यह कि काम की प्राकृतिक मर्यादा इतनी निश्चित नही है जितनी कि भोजन की है। भोजन म भी हम अतिचार करते हैं। इस अतिचार को ब्राह्मणो ने तो विद्या से भी बढकर अपना धर्म बना लिया है। किन्तु इस अतिचार की एक सकीर्ण सीमा है। भोजन बाह्य पदार्थ का आदान है और उदर के आकार की सीमा उसकी मर्यादा है। इस आकार के विस्तार की सम्भावना अत्य त सीमित है। इसके अतिरिक्त भोजन मे वर्तमान अतिचार भावी आकाक्षा को विलम्बित और मन्द करता है। यह प्रतिबन्ध भी भोजन की एक अन्य प्राकृतिक मर्यादा है। इसके अतिरिक्त भोजन मे अतिचार अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न करके भी भोजन की स्वाभाविक आकाक्षा को मन्द और तृप्ति के आनन्द को अल्प बनाता है।

किन्तु काम का विधान भोजन से बहुत भिन्न है। शारीरिक और प्राकृतिक वृत्ति होते हुए भी वह प्रकृति के नियमो के बन्धनो से भोजन की अपेक्षा अधिक मुक्त है। प्राकृतिक दृष्टि से भी भोजन और काम के स्वरूप तथा धर्म मे अन्तर है। भोजन बाह्य पदार्थ का आदान है। उसका ऐन्द्रिक रस आगन्तुक और क्षणिक है। उसकी रुचि और आनन्द इस रस पर निर्भर नही है। अत अशन का ऐन्द्रिक व्यापार उसका साधन मात्र है, उसके स्वरूप का आवश्यक अग नही। भोजन का मुख्य स्वरूप और धर्म उदर मे पदार्थ का आदान है। यह धर्म और फल ही उसका मुख्य प्राकृतिक स्वरूप है। किन्तु इसके विपरीत काम एक परस्पर ऐन्द्रिक व्यापार है। भोजन की अपेक्षा उसम मानसिक सकल्प की प्रेरणा अधिक है। मानसिक सकल्प और बाह्य प्रेरणाओ से उसके उद्दीपन की सभावनाए भोजन की अपेक्षा कही अधिक हैं। इस सभावना और पारस्परिकता के कारण काम का मानसिक और सामाजिक रूप अधिक महत्वपूर्ण बन गया है।

भोजन की तुलना मे ऐन्द्रिक व्यापार का यौगपद्य और आनन्द की पारस्परिकता काम के प्राकृतिक धर्म की विशेषता है। इसके अतिरिक्त मानसिक वृत्ति होने के कारण उद्दीपन का अतिरेक तथा क्रिया का अतिचार दो काम की विशेष सम्भावनाएँ हैं। भोजन के सम्बन्ध मे इन दोनो अतियो की जितनी सकीर्ण सीमा है उतना

ही काम के सम्बन्ध मे उनके लिए मुक्त और विस्तृत क्षेत्र है। सभ्यता, संस्कृति, कला और काव्य के रूप तथा योग और आयुर्वेद के उपचार उद्दीपनो की अतिरंजना के उदाहरण हैं। काम के अतिचारो से भी मनुष्य का धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास भरा हुआ है। ये अतिरेक और अतिचार प्रकट होने के साथ-साथ प्रच्छन्न रूप मे भी मिलते हैं। डा० फ्रायड ने मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के द्वारा काम के इन प्रच्छन्न प्रभावो का उद्घाटन किया है। सामाजिक जीवन से लेकर कला की वृत्ति और धार्मिक भावना तक अनेक भ्रान्तियो को उन्होने अनावृत किया है। कला और काव्य में शृंगार का प्रभुत्व इसका प्रमाण है। अनन्त-यौवना अप्सराओ का स्वर्ग काम की अतिरंजित कामना की पराकाष्ठा है।

बुद्धि और कल्पना की मानसिक शक्ति से काम का संयोग इस अतिरंजना का मूल कारण है। पशुओ की मादा के विपरीत नारी के रूप मे सौन्दर्य का उत्कर्ष उद्दीपन का एक स्थायी साधन बन गया है। इन दोनो ने मिलकर अतिचार के प्रकट और प्रच्छन्न मार्गो का समाज मे अनुसंधान और स्थापन किया है। इस अतिरेक और अतिचार मे पुरुष अपनी अतिरंजित कामना की तृप्ति का आनन्द खोजता रहा है। किन्तु उसकी यह खोज कहाँ तक सफल हो सकी यह संदिग्ध है। इस खोज मे भोजन की तुलना मे काम की वृत्ति की विपरीतता और बढती गई। भोजन से भूख शान्त होती है किन्तु इसके विपरीत भोग से काम की वासना और बढती है। धर्म और नीति के शास्त्रो ने काम को अग्नि की उपमा देकर भोग को घृत के समान उसका वर्धक बताया है।[८५] धर्म नीति के सिद्धान्त मे एक सत्य भी है कि जहाँ एक ओर भोग से काम की तृप्ति होती है वहाँ दूसरी ओर उसकी वासना का विजृम्भण भी होता है। इस द्विविध फल के कारण काम मानव जीवन की एक विचित्र पहेली बन गया है। बिहारी के मृग की भाँति जितना काम की माया के जाल से अपने को मुक्त करने का मनुष्य ने प्रयत्न किया है उतना ही वह उसमे अधिक उलझता गया है।

इन प्रयत्नो मे एक ओर सतो की भर्त्सना है और दूसरी ओर विलासियों की अतिरंजित कामनाएँ हैं। भोजन के समान भोग से काम की भूख की ऐसी सहज शान्ति नही होती। तृप्ति के साथ अतृप्ति भी बढती है। सन्तो की भर्त्सना से भी उसका समाधान नही होता। धर्म, दर्शन और नीति सब जीवन के संस्कार के बौद्धिक प्रयास हैं। बुद्धि सत्य का प्रकाशन कर सकती है किन्तु भावना के संयोग

के बिना साधना की प्रेरणा नहीं बन सकती। 'काम' देह की प्रवृत्ति और मन की वासना है, अतः बुद्धि का उस पर अधिक अधिकार नहीं। इसी कारण धर्म और नीति के प्रयास साधारण जनता ही के लिए नही स्वय धर्म और नीति के विधाताओ के लिए भी सफल नही हो सके हैं। विश्वामित्र, शातकर्णि आदि के समान कितने ऋषि और मुनि काम की उत्तेजनाओ के समक्ष अपने दीर्घ तप से स्खलित हुए हैं। महाभारत और पुराणों के प्रणेता वेद-व्यास, मत्स्यकन्या सत्यवती के साथ महामुनि परासर के अतिचार के अवतार थे। इसका निष्कर्ष यही है कि काम का समाधान न भर्त्सना से हो सकता है और न अतिरजित भोग से। सस्कृति में काम के समुचित समन्वय के लिए हमें उसके प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाना होगा। इस स्वस्थ दृष्टिकोण के लिए हमे काम के स्वरूप, उसकी स्वस्थ तृप्ति के साधन और उसकी मर्यादाओ को समझना होगा।

काम के स्वरूप के कई पक्ष हैं। वह एक शारीरिक और प्राकृतिक प्रवृति है, किन्तु साथ ही साथ एक मानसिक वासना भी है। शरीर की आकाक्षा के साथ-साथ मन की भावना के साथ भी उसका गहरा सम्बन्ध है। इस कारण उसमे भोजन के समान प्राकृतिक मर्यादा का विधान नही है। नारी के रूप मे सौन्दर्य का उत्कर्ष उद्दीपन की एक स्थायी व्यवस्था बन गया है अत उसमे पशु जगत की सहज मर्यादा भी नही है। भोग के वासना-वर्धक फल और कल्पना की अतिरजना के कारण स्वय मनुष्य पर इस मर्यादा के विधान और व्यवहार का उत्तरदायित्व आ पडा है। एक प्रकार से मनुष्य समाज के सभी उत्तरदायित्व नर नारी के समान अधिकार हैं, किन्तु काम के क्षेत्र मे अतिचार का अपराधी पुरुष अधिक है। अत इस मर्यादा के विधान और अनुशीलन का प्रमुख उत्तरदायित्व पुरुष पर ही है। शिव-पार्वती की कथा मे शिव के काम दहन का पुरुष के लिए यही मौलिक और सनातन सदेश है। सास्कृतिक मर्यादा की इस दिशा मे पुरुष का नेतृत्व ही अधिक आवश्यक है। काम की मर्यादा का अभिप्राय काम का दमन अथवा उसकी उपेक्षा नही है, वरन् केवल उसका सस्कार और उन्नयन है। शिव के द्वारा पार्वती का वरण मानवीय सम्बन्ध मे मर्यादामय काम की भावमय प्रतिष्ठा का उदाहरण है।

काम के स्वस्थ रूप के अधिगम और मर्यादामय रूप की प्रतिष्ठा के लिए यह समझना आवश्यक है कि काम का मानसिक और सामाजिक अनुषग भोजन

की अपेक्षा अधिक है। भोजन मनुष्य के साथ वस्तु के सम्बन्ध का धर्म है। इसके विपरीत काम मनुष्य के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का व्यापार है। इसके अतिरिक्त भोजन भोक्ता के शरीर की रक्षा का साधन मात्र है किन्तु काम जाति की परम्परा के सृजन का साधन है। भोजन की कृतार्थता रक्षण में ही है किन्तु सृजन काम के स्वरूप और कृतित्व का महत्वपूर्ण अग है। भोजन का फल (उसके लाभ, हानि) प्राकृतिक और व्यक्तिगत है, किन्तु काम का फल मानवीय और सामाजिक है। सृजन के अभाव मे काम का केवल व्यापार भी सामाजिक है। उसकी मर्यादा भोजन के समान व्यक्तिगत और प्राकृतिक नही हो सकती। इसी कारण साहित्य और शास्त्र मे उसकी सास्कृतिक और सामाजिक मर्यादा के ही प्रयास किये गये हैं। यह सांस्कृतिक मर्यादा शिवं के सिद्धान्त के आधार पर ही हो सकती है। इसीलिए वह शिव की कथा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। शिवं का मूल सिद्धान्त आत्मदान है। वह आत्मभाव से दूसरे की भाव सम्पत्ति में अपनी भाव-सम्पत्ति का स्वतंत्र अनुयोग है। दूसरे के व्यक्तित्व का गौरव और उसकी स्वतत्रता का सम्मान उसके दो मुख्य आधार हैं। इन आधारो पर ही काम के सस्कार की मर्यादा प्रतिष्ठित हो सकती है। इस मर्यादा मे उद्दीपनो की अतिरजनाएँ और काम के अतिचार दोनो ही सहज मर्यादित हो जाते हैं। यह मर्यादा ही काम का सस्कार है और यही उसका स्वस्थ स्वरूप है।

काम के इस सस्कृत और स्वस्थ रूप मे काम का दमन साधन नहीं है। इसका साधन शिवत्व का प्रेम और उसकी उदारता है। सस्कृति में काम के समन्वय का अर्थ काम को उसके प्रकृत आधार से उच्छिन्न करना नहीं। यह एक आश्चर्य की बात है किन्तु यह सत्य है कि उद्दीपनो के अतिरिक्त और विलास के अतिरिक्त कृत्रिम रूपों में काम की उत्तेजनाएँ उसकी प्रकृति को अतिरंजित करके विकृत बनाती हैं। 'विकृति' प्रकृति और संस्कृति के बीच की खाई है। संस्कार और मर्यादा प्रकृति को संस्कृति से संयोजित करने वाले सेतु हैं। यह असंदिग्ध है कि स्वस्थ मानवीय संस्कृति जहाँ एक ओर भोग का अतिचार भी नहीं है वहाँ दूसरी ओर वैराग्य का दमन भी नहीं है। संस्कृति के पूर्ण और स्वस्थ विकास के लिए प्रकृति के स्वस्थ और अविकृत रूप की रक्षा आवश्यक है। यह प्रकृति और स्वस्थ रूप वही है, जिसमे प्रवृति की वृत्तियाँ अपने सहज रूप में तीव्र आकां-

क्षाम्रो के साथ सुरक्षित है और इन तीव्र आकाक्षाम्रो की तृप्ति के आनन्द मे फलित होने की सम्भावना भी अखण्डित है।

जिस प्रकार भोजन के क्षेत्र मे कृत्रिमताम्रो के विस्तार ने भूख की निसर्ग तीव्रता और भोजन की तृप्ति के आनन्द को मन्द कर दिया है उसी प्रकार काम के क्षेत्र मे भी उद्दीपनो और अतिचारो ने काम की स्वस्थ और तीव्र आकाक्षा के प्राकृतिक स्रोतो को मन्द कर दिया है। मनोविलास मे लीन रहने के कारण तथा मन्दाग्नि की सहज सीमा के कारण स्वास्थ्य यौवन और काम के इस नैसर्गिक किन्तु निगूढ रहस्य को समझने मे हम आज अधिक समर्थ नही हैं। काम शास्त्रो और काव्य-शास्त्रो की प्राचीन कृतियो मे काम के स्वस्थ और समर्थ रूप के जो वर्णन मिलते हैं उनसे हम इस सम्बन्ध मे अपनी भ्रान्ति और असमर्थता का अनुमान लगा सकते हैं। मन्दाग्नि के कारण दाल-भात खाने वाला तथा अग्नि उद्दीपन पाचन और रेचन के उपचारो द्वारा उदर-धर्म का निर्वाह करने वाला दाल बाटी आदि के जैसे सात्विक अथवा अन्य पाको और मिष्टान्नो से युक्त राजसी किन्तु दोनो ही रूपो मे भारी भोजन का स्वाद और महत्व नही समझ सकता, उसी प्रकार कृत्रिम उद्दीपनो और मानसिक उत्तेजनाम्रो के सहारे दुर्बल काम का मन्द लालन करने वाले आधुनिक सभ्य नागरिक स्वस्थ प्रकृत काम के समर्थ रूप और प्रबल आनन्द की कल्पना नही कर सकते।

अध्याय ३३

नारी, काम और काव्य

जीवन सप्रयोजन है। हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियो की गति भी लक्ष्यमुखी है। ये प्रवृत्तियाँ अनेक हैं और विविध लक्ष्यो म अपनी तृप्ति खोजती हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियो के अतिरिक्त मनुष्य मे कुछ अन्य आन्तरिक आकाक्षाएँ भी हैं। जिनकी ओर मनुष्य ने अधिक ध्यान नही दिया है। दर्शनो म इन्हे आध्यात्मिक आकाक्षाओ के अन्तर्गत माना जाता है। ये सभी प्रवृत्तियां और आकाक्षाएँ अपने लक्ष्यो को प्राप्त कर तृप्त होती हैं। इस तृप्ति मे हम सुख, सतोष, हर्ष और आनन्द का अनुभव करते हैं। कभी इसी अनुभव का और कभी उन लक्ष्यो को जिनसे ये अनुभव प्राप्त होते हैं 'शिव' कहा जाता है। विचार और सस्कृति के इतिहास म दृष्टि भेद से विविध अनुभूतियो अथवा उनके आधारभूत लक्ष्यो को मगलमय माना गया है।

इस क्रम म सबसे पहले इन्द्रियो का प्राकृतिक सुख और भोग आता है। इन्द्रियो के व्यापार मे और उनकी प्रवृत्तियो की तृप्ति म जो सुख होता है वह स्पष्ट है। हमारा साधारण जीवन बहुत कुछ इन्द्रियो के विषयो की ही साधना है। हमारा भोजन, भोग आदि इसी सुख की साधना के कर्म हैं। इन्द्रियो की ये प्रवृत्तियाँ इतनी वेगवति होती हैं कि उनका निरोध अत्यन्त कठिन है। असख्य सन्तो, ज्ञानियो और दार्शनिको की निरन्तर भर्त्सना के बाद भी समस्त लोक का अधिकाश जीवन इन्द्रियों के सुख की साधना मे ही व्यतीत होता है। सन्तो और ज्ञानियो मे भी ऐसे लोग अपवाद रूप ही होगे जिन्होंने ऐन्द्रिक सुख की भावना से पूर्णत मुक्ति पा ली हो। किसी न किसी रूप मे शरीर और इन्द्रियो के सुख का राग सन्तो मे भी देखने को आता है।

शरीर और इन्द्रियो के सुख को जीवन का लक्ष्य मानने वाले पश्चिमी दर्शन मे सुखवादी कहलाते हैं। भारतीय चार्वाक सम्प्रदाय इसी वर्ग के अन्तर्गत है। ग्रीस मे एपीक्यूरस का सम्प्रदाय भी सुखवादी था। यूरोपीय विचार के आधुनिक युग मे इङ्गलैण्ड का उपयोगितावादी सम्प्रदाय मूलत सुखवादी ही था। यूरोपीय

दर्शन और संस्कृति के लौकिक-वादी होने के कारण वहाँ सुखवादी विचारधारा का पर्याप्त महत्व और मान मिला। उसमे उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया यह दूसरी बात है। यूरोपीय दर्शन और संस्कृति त्याग और सन्यास को महत्व नही देती है। इसलिए यूरोप मे सुखवाद का जीवन दर्शन मे एक आदर युक्त स्थान है। जहा उसके दोषो का संकेत किया जाता है वहाँ जीवन मे सुख के महत्व का पर्याप्त महत्व भी माना गया है।

किन्तु भारतीय दर्शन की सामान्य गति इसके विपरीत है। भारतीय दर्शन मे अध्यात्म का इतना आग्रह रहा है कि प्राय सभी सम्प्रदायो मे इन्द्रियो के सुख की भर्त्सना की गई है। कठोपनिषद् मे लौकिक सुख को सामान्यत 'प्रय' कह कर उसे श्रेय से पृथक माना गया है।[२६] कठोपनिषद् मे ही नचिकेता ने यम के समस्त प्रलोभनो को ठुकराकर मृत्यु का रहस्य जानने का अनुरोध किया है।[२७] अन्यत्र इन्द्रियो के भोग को खेद कारक और जीवन की शक्ति का शोषक कहा गया है।[२८] दर्शन के अतिरिक्त हमारे भक्ति काव्य, नीति काव्य और सन्त साहित्य मे लौकिक सुख की भर्त्सना कम नही है।

किन्तु लौकिक काव्य का दृष्टिकोण इतना विरक्तिमय नही रहा है। सस्कृत और हिन्दी दोनो की भाषाओ के काव्यो मे लौकिक सुख का पर्याप्त स्थान है। कालिदास, श्री हर्ष, देव, बिहारी आदि अनेक कवियो के काव्य मे शृगार की प्रचुरता है। आधुनिक काव्य मे भी शैली की नवीनता अवश्य है किन्तु लौकिक सुख और शृगार का प्रभुत्व प्राचीन काव्य से कम नही है। इसका कारण यही है कि मनुष्य की प्रकृति की स्वाभाविक गति सुख और शृगार की ओर है। मनोविज्ञान यहाँ तक कहने का दु साहस करेगा कि सन्तो और ज्ञानियो की भर्त्सना भी सुख और शृगार के प्रति उनकी अध्यात्म भावना की स्वस्थ प्रतिक्रिया नहीं है। आसक्ति और भर्त्सना दोनो ही विषयो के प्रति हमारे बन्धन के सूचक हैं। अत भर्त्सना करने वाले सन्त और ज्ञानी भी उन विषयो के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। इनके प्रति उनकी भावना पूर्णत वीत-राग और सम नही है। अत साहित्य और सस्कृति के सम्बन्ध मे यह प्रश्न विचारणीय है कि स्वस्थ काव्य और स्वस्थ सास्कृतिक व्यवस्था मे सुख और शृगार का सतुलित दृष्टिकोण क्या है?

ऐन्द्रिक सुख के उतने ही रूप है जितने इन्द्रियो के भेद हैं। दर्शन, श्रवण, स्पर्श, स्वाद आदि सभी मे सुख मिलता है। ऐन्द्रिक सुख के ये अनेक रूप परम्परागत

काव्य मे शृंगार के अन्तर्गत समाहित होगये हैं। शृंगार की व्यापक कल्पना मे सभी ऐन्द्रिक सुख सचारी आदि विभावो के तथा अनुभावो के अन्तर्गत समाविष्ट मिलते हैं। 'शृंगार' स्त्री और पुरुष का रागात्मक भाव है। उनका प्राकृतिक सम्बन्ध इस राग और भाव का आधार है। स्त्री और पुरुष विश्व के व्यापक सत्य के दो प्रमुख रूप हैं। उपनिषदो मे ऐसे आख्यान मिलते हैं जिनमे यह सकेत किया गया है कि सृष्टि के आदि में मूल सत्ता ने मिथुन रूप ग्रहण कर विश्व का विस्तार किया। जहाँ सन्तों और ज्ञानियों की शृंगार, काम और नारी की भर्त्सनाएँ पूर्णत निस्सार नहीं हैं वहाँ यह भी सत्य है कि नर और नारी का भेद, सम्बन्ध, आकर्षण, अनुराग और सम्मिलन सृष्टि की परम्परा के लिए ही आवश्यक नहीं वरन् जीवन की पूर्णता का एक आन्तरिक रहस्य है। आध्यात्मिक सत्य के अनुरागी भी अपने आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए शृंगार के प्रतीका का आश्रय लेते रहे हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् मे आत्मा और परमात्मा के सम्मिलन को दम्पति के आलिंगन के समान रस और तन्मयता पूर्ण बताया है।[६] तुलसीदासजी ने राम के प्रति ऐसे ही प्रेम की अर्थना की है जैसा कामी को नारी के प्रति होता है। नर और नारी के आन्तरिक अनुराग और सम्बन्ध का मर्म इतना सरल नही है कि दार्शनिक भर्त्सना द्वारा उसे उन्मूलित किया जा सके। सन्तो और दार्शनिको की असफलता इस सत्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किसी सीमा तक प्राकृतिक मोह और आकर्षण मनुष्य की इस विवशता का कारण माना जा सकता है किन्तु यह पूर्ण सत्य नही है। नर नारी का सम्बन्ध शृंगार और काम की अपेक्षा अधिक व्यापक है। शृंगार और काम का भी जीवन और सस्कृति मे एक अखण्डनीय स्थान है। नर-नारी के व्यापक सम्बन्ध का काव्य और सस्कृति मे क्या अभीष्ट रूप और स्थान है, यह एक मौलिक और महत्वपूर्ण प्रश्न है।

भारतीय सस्कृति मे नारी की प्रतिष्ठा एक व्यापक सम्बन्ध की भूमिका में की गई है। नर और नारी विश्व जीवन की धारा के दो अभिन्न कूल हैं। एक ही जीवन धारा की लहरें दोनो को आन्दोलित करती हैं। एक ही धारा के भ्रमर दोनो को भ्रान्त करते हैं। शान्ति और पूर्णता का एक ही महासागर दोनो का लक्ष्य है। जीवन की धारा के सरल, सुन्दर, विषम, बीहड सभी प्रकार के मार्ग मे दोनो सहगामी हैं। इस प्रकार जीवन मे दोनो का समान स्थान है। फिर भी जीवन की धारा का रूप दोनो कूलो की ओर एक सा नही है। उनके मोड, कगार

आदि आदि मे भेद है। सामाजिक और राजनीतिक अधिकारो की समानता मानते हुए भी नर और नारी के शारीरिक निर्माण और प्राकृतिक धर्मो मे एक स्पष्ट भेद है। इस भेद के कारण दोनो एक दूसरे के पूरक बन गये हैं। सामाजिक समानता की दृष्टि से दोनो का स्वतन्त्र सहयोग उनके सयुक्त जीवन का सफल और सार्थक बनाता है।

किन्तु पुरुष-तन्त्र समाज की सस्कृति और उसका साहित्य इस स्वतनता और समानता का अधिक मान न कर सका। इसका मूल कारण यह है कि नर और नारी के सम्बन्ध के मूल आधार काम का मनुष्य सस्कृति मे समुचित समायोजन न हो सका। 'काम' जीवन की परम्परा का आधार है। शरीर का धर्म होने के साथ साथ वह मन का भी आनन्द है। पशु जीवन मे काम की एक प्राकृतिक मर्यादा है। शरीर और इन्द्रियो का धर्म होने के कारण ऐन्द्रिक आकाक्षा तथा शारीरिक श्रान्ति और शान्ति उसकी सहज सीमाएँ हैं। इन्द्रिया का सीमित सुख और सृजन पशु-जगत मे काम के प्रयोजन हैं। पशुओ मे कल्पना का विकास न होने के कारण उसका मानसिक विजृम्भण नही है। पशुओ की मादा के लिए तो काम का ऐन्द्रिक सुख अत्यन्त सीमित है। उससे कही अधिक महत्वपूर्ण उसका मातृत्व है। पशुओ के नरो मे वात्सल्य बहुत कम पाया जाता है। उनमे पितृत्व प्रस्फुटित नही हुआ है। अत ऐन्द्रिक सुख ही उनके लिए काम का सर्वस्व है।

किन्तु ऐसा होते हुए भी पशुओ मे काम की एक सहज मर्यादा है। इस मर्यादा का एक आधार तो काम का केवल शरीर और इन्द्रियों तक सीमित होना तथा मनोविजृम्भण का अभाव है। एकेन्द्रिय सन्निकर्ष होने के कारण पशुओं में काम का शारीरिक सुख भी सीमित है। इस मर्यादा का एक दूसरा आधार पशुओ की मादा मे सौन्दर्य और आकर्षण का अभाव है। रूप, रग, वाणी आदि का वैभव प्रकृति ने पशु जगत मे नर को अधिक दिया है। मादा मे कोई आकर्षण न होने के कारण नर के लिए उसकी ओर से उद्दीपन का कोई अवसर नही है। अत पशुओ मे नर का काम प्राय उसकी आन्तरिक आकाक्षा पर ही निर्भर रहता है। इसी कारण वह अतिचार का रूप भी नही ले पाता। मनुष्य-समाज के समान अतिचार के आर्थिक यत्रो, सगठित तत्रो, सामाजिक षड्यन्त्रो और सास्कृतिक छलो का अवकाश भी वहां नही है।

मनुष्य जगत मे यह समस्त व्यवस्था विपरीत हो गई है। नारी के अग-

विन्यास और रूप लावण्य मे सौन्दर्य का इतना अपूर्व उत्कर्ष हुआ है कि कवियों ने उसे विधाता की सौन्दर्य-रचना की सीमा माना है।[१०] मनुष्य देह मे विशेषत नारी के अगो मे निर्लोम सम्वेदन की व्यापक सम्भावना का विकास होने के कारण तथा मेरुदण्ड और मुक्त हाथो के कारण काम का मुख एकेन्द्रिय सन्निकर्ष के स्थान पर सर्वांग-रमण का आनन्द बन गया है। नारी के रूप लावण्य मे आकर्षण का विकास नर के लिए उद्दीपन का एक अनन्त स्रोत बन गया है। नारी का यह रूप पुरुष के अतिचार का कारण बना। दूसरे मनुष्य मे स्मृति और कल्पना का विकास होने के कारण काम एक शारीरिक आकाक्षा मात्र न रह कर एक मानसिक वासना के रूप मे उदित हुआ। इसीलिए काम की 'मनोज' सज्ञा है। मन की कोई मर्यादा नही है। अत मनुष्य का काम मानसिक बन कर एक अनन्त वासना बन गया। इसी वासना ने मातृत्व की विवशताओ से पीडित नारी को एक पराधीन अर्थतत्र तथा एक आतकमय सामाजिक व्यवस्था के शासन मे बाध कर अपनी वासना का आखेट बनाया।

गृहस्थाश्रम की सुविधाओ के कारण परिवार के बन्धनो को मान लेने पर भी पुरुष उसके कई उत्तरदायित्वो की उपेक्षा करता रहा है। अपनी सुविधा के लिए नारी का अर्थभार न मुक्त करके अर्थतत्र का तो वह अपना एकाधिकार मानता रहा है। किन्तु परिवार के अन्य कार्यो का भार उसने एक मात्र नारी पर छोड दिया है। पशुओ के नर की भाति मनुष्य के नर मे भी वात्सल्य का अधिक विकास न हो सका। शिशु के पालन और विकास मे पुरुष का सहयोग बहुत कम रहा है। यह कल्पना बडी विचित्र मालूम होगी किन्तु नितान्त असगत नहीं है कि पुरुष का यह असहयोग ही हमारी सभ्यता की अनेक आधुनिक विडम्बनाओं का मूल कारण है। पारिवारिक जीवन मे पुरुष का उचित सहयोग न होने के कारण पुरुष के जीवन मे एक सतुलित सास्कृतिक दृष्टिकोण का विकास न हो सका। नारी के साथ समानता और सहयोग का भाव न रहने के कारण पुरुष अपनी सभ्यता तथा सामाजिक व्यवस्था मे नारी के यथोचित रूप की प्रतिष्ठा न कर सका। इसी कारण पुरुष का विकास भी एकागी और असन्तुलित रहा। उसका बाह्य जीवन अर्थ तत्र के अनन्त जाल मे उलझ गया और उसका आन्तरिक जीवन काम की वासना के अनन्त विजृम्भण मे लीन हो गया। अर्थतत्र का एकाधिकार और उसकी समृद्धि बहुत कुछ उसके काम का ही साधन बनी। अर्थ एक बाह्य तत्व है। उसका

शारीरिक भोग सीमित है। ऐश्वर्य अहकार का पोषण करता है। फिर भी काम की आन्तरिक तृप्ति उसमे नही है। अत काम का वासनामय जीवन ही पुरुष के सुख का प्रमुख साधन बना।

मनुष्य के जीवन मे भी काम की एक प्राकृतिक सीमा है। इस प्राकृतिक सीमा को भी उसने बहु-विवाह व्यभिचार, वेश्याचार, वाजीकरण आदि के द्वारा यथा-सम्भव बढाने का प्रयत्न किया है। किन्तु इन प्रयत्नो की सीमा है। अत मन की निस्सीम कल्पना ने अनन्त यौवन और अनन्त-यौवना अप्सराओ के स्वर्ग की रचना की। धर्म, कला, साहित्य काव्य और संस्कृति की सीमा मे प्रकट और प्रच्छन्न रूपो मे पुरुष की वासना का यह स्वर्ग सदा पलता रहा है। वैष्णव धर्म मे भागवती भक्ति, राधा कृष्ण के प्रेम और गोपियो के रास की लोकप्रियता का यही रहस्य है। इन लौकिक प्रतीको की वासनामय प्रेरणा के ज्वार मे श्रीमद्भागवत और गीत गोविन्द का आध्यात्मिक तत्व तिरोहित होगया। महलो, मन्दिरो आदि मे भी कला के नाम से इसी स्वर्ग का चित्रण पृथ्वी पर होता रहा है। काव्य मे इस वासना का विस्तार धर्म और कला से कम नही हुआ है। मध्यकाल और आधुनिक काल के हिन्दी कवियो मे शृगार की विपुलता है। काम सूत्र के प्रभाव से काव्य शास्त्र मे काम का ही प्रभुत्व रहा है। वीर रस के काव्य इने गिने ही हैं। करुणा, हास्य आदि के अवसर काव्यो मे कुछ स्थलो पर ही दिखाई देते हैं। हिन्दी के सूर, तुलसी के अतिरिक्त वात्सल्य का महत्व न प्राचीन सस्कृत कवियो मे दिखाई देता है और न मध्य युग तथा आधुनिक काल के हिन्दी कवियो मे। सस्कृत काव्य शास्त्र की मौलिक रस व्यवस्था मे तो कदाचित वात्सल्य के लिए स्थान ही नही है। इसका मुख्य कारण यही है कि पुरुष की वासना नारी के मातृत्व को पर्याप्त मान न दे सकी और न अपने पितृत्व के गौरव को समझ सकी।

नारी के साथ काम और वासना के एक दिक् सम्बन्ध को ही प्रमुख मानने के कारण पुरुष के काव्य मे शृगार का ही साम्राज्य है। भारतीय सस्कृति मे नारी के जिस चतुर्विध रूप की प्रतिष्ठा दिखाई देती है उसका समुचित निर्वाह साहित्य तथा काव्य मे नही हो सका। हमारी लोक-सस्कृति में माता, भगिनी और पुत्री के रूप में नारी का जितना अधिक मान है, काव्य में इन रूपो की उतनी ही उपेक्षा है। कालिदास ने अपनी कृतियो मे नारी के मातृत्व का भी गौरवमय वर्णन किया

है। किन्तु अन्य संस्कृत तथा हिन्दी कवियो मे प्रायः इसका अभाव है। पुत्री भाव का जो मार्मिक प्रसंग अभिज्ञान शाकुन्तल मे मिलता है वह एक प्रकार से अपवाद सा ही है। कन्या और वहिन के रूप मे नारी के गौरव का चित्रण काव्यों मे बहुत कम मिलता है। सबसे अधिक नारी का प्रेयसी रूप ही कवियो को आकर्षित करता रहा है। प्रेयसी पत्नी का सर्वस्व नहीं है। प्रेयसी केवल रति और शृंगार का ही अवलम्बन है तथा पत्नी इसके अतिरिक्त जीवन के अन्य धर्मों की भी संगिनी है। प्रेयसी की आसक्ति में भूले हुए कवि पत्नी के व्यापक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा भी काव्य मे नही कर सके। रघुवंश और कुमार सम्भव के अतिरिक्त इसका संकेत भी बहुत कम मिलता है। हिन्दी मे केवल "रामचरितमानस" मे एक उत्कृष्ट रूप मे इसका चित्रण है।

अस्तु नारी के एकांगी रूप से ही अपनी वासना का अतिरंजित सम्बन्ध मानने के कारण पुरुष के काव्य मे शृंगार और विलास की प्रचुरता है। यह स्पष्ट है कि यह जीवन का अत्यन्त सङ्कुचित और एकांगी दृष्टिकोण है। कदाचित् यह काम का भी स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। देवताओ की निरन्तर पराजय और रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण का क्षय काम के अतिचार के परिणाम का संकेत करते हैं। काम के स्वस्थ दृष्टिकोण का संकेत हमें शिव के काम-दहन में मिलता है। क्षुब्ध वैराग्य और तन्मय आसक्ति दोनों एकांगी और अस्वस्थ दृष्टिकोण है। विकृति और विलास दोनों में ही दोष है। काम के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण तप संयम और योग से उसका संस्कार तथा संस्कृत जीवन में उसका समन्वय है। भोग की मर्यादा मातृत्व का मान, सृजन का गौरव तथा नारी के साथ समानता का सहयोग काम के सांस्कृतिक समन्वय के सिद्धान्त हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर एक स्वस्थ, संतुलित और प्रगतिशील संस्कृति की परम्परा का निर्माण हो सकता है।

यह भारतीय संस्कृति और साहित्य का दुर्भाग्य है कि 'शिवकथा' के इस सांस्कृतिक रहस्य को कवियों ने उचित सम्मान नहीं दिया। कुमारसम्भव मे शिव-*कथा के सांस्कृतिक रहस्य के उद्घाटन की अपेक्षा काव्य के परम्परागत शृंगार का* विलास ही अधिक है। संस्कृत के कवि रत्नाकर का 'हरविजय' बौद्धिक चमत्कार और वर्णनो से परिपूर्ण है। मध्य युग मे वैष्णव धर्म के वैभव और आकर्षण तथा कृष्णचरित की लोकप्रियता के कारण हिन्दी के कवि तो शिव को एकदम भूल गये। 'रामचरितमानस' की भूमिका के उपहासपूर्ण प्रसंग तथा 'पार्वतीमंगल'

के अतिरिक्त हिन्दी मे शिव काव्य नाम के लिए भी नही है। **कदाचित 'पार्वती' भारतीय साहित्य का प्रथम महाकाव्य है जिसमें शिवकथा का रहस्य तथा शिव-पार्वती के जीवन के आधार पर नर नारी के व्यापक और स्वस्थ सास्कृतिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा की गई है।** एक अपूर्व दृष्टिकोण होने के कारण ही परम्परा की सीमाओ से प्रभावित समाज मे उसका उचित स्वागत नही हो सका।

ऐन्द्रिक सुखो मे काम ही मुख्यत काव्य का विषय बना। अन्य ऐन्द्रिक विषय स्वतत्र रूप से अधिक महत्व के भागी नही हुए। काम के सहकारी के रूप मे उनका स्थान गौण है। काम स्वस्थ जीवन का एक महत्वपूर्ण अग है। अत उसमे स्वरूपत कोई दोष नही है। स्त्री पुरुष के गम्भीर प्रेम का वह निगूढ आधार है। गीता मे भगवान ने धर्माविरुद्ध काम को अपनी विभूतियो मे स्थान दिया है।[51] स्रष्टाओ मे कदर्प को सर्वश्रेष्ठ माना है।[52] काम मनुष्य जाति की परम्परा और जीवन के आन्तरिक सुख का आधार है। व्यक्तिगत जीवन मे उसका महत्वपूर्ण स्थान असन्दिग्ध है। किन्तु काम की सामाजिक व्यवस्था मे अनेक दोष आपन्न हो गये हैं। पुरुष का अनाचार ही उनका मूल कारण है। नारी का निर्यातन उसकी स्वतत्रता का तिरस्कार, उसके गौरव की अवहेलना और उसकी श्लीलता का अपमान इस अतिचार के परिणाम हैं।

साहित्य और काव्य भी व्यवहार मे सामाजिक हैं। चाहे कवि की आन्तरिक अनुभूतियो मे ही कविता का मूल उद्गम हो किन्तु काव्य की धारा का प्रवाह सामाजिक जीवन की भावभूमि पर ही होता है। अनुभूति का प्रकाशन स्वान्त सुखाय नही वरन् लोकोपयोग के लिए होता है। इस लोकोपयोग के साथ कवि मे यश की कामना भी रहती है चाहे वह कितने ही नम्र और प्रच्छन्न रूप मे हो। इस प्रकार काव्य का उद्गम व्यक्तिगत अनुभूति होते हुए भी उसका उपयोग सामाजिक है। अत यह प्रश्न नितान्त सगत है कि काव्य मे काम की अभिव्यक्ति की सामाजिक मर्यादा क्या है? स्त्री पुरुष के व्यक्तिगत जीवन मे काम जिस आन्तरिक आनन्द का साधक है वह सभ्यता की दृष्टि से दम्पति की पूर्णत व्यक्तिगत विभूति है। वैज्ञानिक दृष्टि से काम शास्त्र विवाहितो की शिक्षा का शास्त्र है। **किन्तु काव्य में उसके स्वरूप, स्थान और अभिव्यक्ति की मर्यादा सामाजिक हित और श्लीलता के दृष्टिकोण से ही निर्धारित होगी।**

पुरुष-तत्र समाज जिस प्रकार अपनी सामाजिक व्यवस्थाओ में नारी के हित, स्वातन्त्र्य और शील की उपेक्षा करता आया है उसी प्रकार पुरुष का काव्य भी इस

अपराध का दोषी है। समाज मे चाहे पुरुषतत्र का प्रभुत्व हो किन्तु वस्तुत समाज स्त्री और पुरुष दोनो की सयुक्त व्यवस्था का नाम है। अत सभ्यता की श्लीलता की मर्यादा दोनो के प्रति औचित्य की भावना से ही निर्धारित होगी। काव्य और कला मे शृगार और काम के प्रचुर प्रसगो म नारी का चित्रण जिस रूप मे होता रहा है वह पुरुष के राग का रजन करने के कारण उसे प्रिय हो तो कोई आश्चर्य नही। किन्तु विचारने की बात यह है कि अपने रूप, सौन्दर्य और शील के साथ पुरुष के कला और काव्य का यह उन्द्रृखल व्यभिचार नारी को भी उतना ही प्रिय है। यदि हम कालिदास के इस कथन को भी थोडी देर के लिए मानले कि नारी के सौन्दर्य की कृतार्थता प्रियो के प्रेम और अपने सौभाग्य मे है (प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता) तो भी यह कथन नारी के जीवन की व्यक्तिगत सीमा मे ही चरितार्थ होता है। नारी का मातृत्व और उसका प्रणय प्रम के विश्रम्भ का अवलम्ब चाहता है। कोई भी नारी अपनी इच्छा से अपने को सामान्या बनाना नही चाहती। अपने रूप और सौन्दर्य का सामाजिक प्रदर्शन उसे वस्तुत कहा तक अभीष्ट है यह सन्देह का विषय है। सम्भवत यह सत्य है कि वह अपने रूप को सामाजिक खिलवाड का विषय नही बनाना चाहती। उसके नग्न शिख का सामाजिक प्रदर्शन और रति के रहस्यो का सार्वजनिक उद्घाटन उसकी श्लीलता की मर्यादा का अतिक्रमण करता है।

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो हमारा सस्कृत और हिन्दी का अधिकाश शृगार-साहित्य अश्लीलत्व दोष का अपराधी है। जो व्यवहार या वचन सभ्य समाज मे सबके सामने उचित नही है वही अश्लील है। श्लीलता सभ्य व्यवहार की शिष्टता की मर्यादा है। यह श्लीलता सभ्यता का सामान्य धर्म है। सभ्यता की भाँति इसका विभाजन नही हो सकता। प्रश्न किया जा सकता है कि हमारा कितना शृगार काव्य ऐसा है जो सबके सामने पढा जा सके ? पार्वती के पवित्र आदर्श का अनुशीलन करने वाली भारतीय कन्याओ के समक्ष उस काव्य का कितना अश रखा जा सकता है ? नारी के नख शिख के बीच ही अपनी तीर्थ यात्रा पूर्ण करने वाले काम सेवी कवियो से यह पूछा जा सकता था कि क्या आपका यह काव्य आपकी कन्याओ और बहनों के योग्य है ? कुमार सम्भव और शाकुन्तल के शृगार पर मुग्ध रहने वाले, सौन्दरनन्द के चतुर्थ सर्ग को माध्यमिक कक्षाओ के विद्यार्थियो के लिए पाठयक्रम मे निर्धारित करने वाले तथा हिन्दी के रीति काव्य

को विद्यार्थियों तक के लिए पठनीय मानने वाले समाज मे यह समझ सकना कठिन है कि काव्य का काम-विलास किसी भी साहित्य की विभूति नही बन सकता। ऐसा नग्न शृंगार न समाज और सभ्यता का ही हित कर सकता है और न वह नवयुवको और युवतियो के समक्ष सामाजिक शील और श्रेय का सुन्दर आदर्श उपस्थित कर सकता है।

एक बात और विचरणीय है कि शृगार का जो नग्न चित्रण तथा नारी के अगो का जो स्थूल आकर्षण सस्कृत और हिन्दी के काव्य मे मिलता है वह उतने परिमाण और उस रूप मे यूरोपीय काव्य मे नही मिलता। होमर, वर्जिल, दान्ते, गेटे और शेक्सपीयर के काव्य मे शृगार का स्थान गौण है। उनमे हमे जीवन की अनेक गम्भीर समस्याओ का चित्रण मिलता है जिनमे स्त्री पुरुष का सम्बन्ध केवल एक है। आश्चर्य की बात है कि शेक्सपीयर की कृतियो मे नायिकाओ की प्रधानता होते हुए भी स्थूल शृगार के स्थल बहुत कम हैं। इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या यह हो सकती है कि भारतीय समाज मे कई कारणो से काम-वृत्ति का दमन अधिक रहा। शृगार के काव्य की प्रचुरता कविता मे उस दमन की प्रतिक्रिया है। समाज मे इस काव्य का स्वागत भी इसी प्रतिक्रिया पर आश्रित है। यह निर्विवाद है कि नारी के रूप और अग की परिक्रमा ही काव्य का सर्वस्व नही। दमित वासनाओ की प्रकट और प्रच्छन्न अभिव्यक्ति सत्काव्य का सृजन नही कर सकती। जो कविता को भी कामिनी के ही रूप मे देखकर कालिदास को उसका कान्त मानते रहे और उनके 'विलास' को सरस्वती का वैभव मानते रहे, उनके लिए काम और काव्य के स्वस्थ रूप का समझना सहज नही है। कामिनी के हृदय के युगल गोलार्द्ध ही जिनके लिए विश्व की सीमा रहे उनके लिए उस परिधि के बाहर के व्यापक सत्य को समझना कठिन है। तपोलीन पार्वती के स्तनो पर भी जिनकी कामुक दृष्टि रही, जो शीतकाल मे नारी के उरोजो मे गर्मी का गढ बनाते रहे, जो राधा की कचुकी मे कृष्ण के कन्दुक खोजते रहे, जो पेड की छाया मे भी परिहृत वसना दमयन्ती और रति श्रान्ता व्रज वनिता का रूप देखते रहे तथा जो सरोवर बन कर भी अवसन श्यामा के उतरने की कामना करते रहे, उन महाकवियो की कुशल दृष्टि की बलिहारी है।

काम-दमन की जिन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो मे इस कुत्सित काव्य की रचना

हुई उन्ही परिस्थितियो मे यह काव्य प्रचार और प्रशंसा पाता रहा। पुरुष की प्रसुप्त वासना का रजन करने के कारण उसके लिए यह रमणीय अर्थ का प्रतिपादक बना रहा। किन्तु शिष्ट और कुलीन नारी की इसके प्रति क्या प्रतिक्रिया है ? इसका भी किसी ने अनुमान लगाया। प्रयाग विश्व विद्यालय की डा० शैलकुमारी का 'आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी' नामक अन्वेषण ग्रन्थ इस प्रतिक्रिया का एक सकेत है और पुरुषो के लिए पठनीय है।

जो लोग यह तर्क देते हैं कि काम और शृगार भी जीवन का एक तथ्य है, अत काव्य में उसका स्थान है, उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि इसके अतिरिक्त भी जीवन के कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्य हैं अथवा नहीं। यदि हैं तो शृगार की तुलना में सस्कृत और हिन्दी के काव्य मे उनका क्या स्थान है ? जीवन की जिन गम्भीर समस्याओं का मथन हमे गेटे, मिल्टन और शेक्सपीयर में मिलता है वह भारतीय काव्य मे कहा है ? जो रघुवश के अन्तिम सर्ग की भाँति यह तर्क देते हैं कि विलास के परिणामो की शिक्षा शृगार के काव्य का उद्देश्य है, वे भ्रम में हैं। शृगार का रमणीय वर्णन काम का उद्दीपन ही कर सकता है, उसका सस्कार नही। शिक्षा के लिए सकेत मात्र पर्याप्त है, विस्तृत वर्णन आवश्यक नही है।

सत्य यह है कि नारी के प्रति शृगार के काव्य का विलासमय दृष्टिकोण मनोविकृति का ही द्योतक है। स्वस्थ दृष्टिकोण मे काम ही प्राकृतिक मर्यादा के भीतर नारी के शील और सौन्दर्य के प्रति आदर की भावना रहती है, जिसका अधिकाश शृगार काव्य मे अभाव है। नारी पुरुष का खिलौना नहीं, उसकी संगनी और सहयोगिनी है। इस नाते वह स्वतत्रता और सम्मान की अधिकारिणी है। आदर का यह स्वस्थ दृष्टिकोण हमारे अधिकाश काव्य में नही अपनाया जा सका यह स्पष्ट है। डा० शैलकुमारी का मत है कि भारतीय समाज और साहित्य में नारी के प्रति दो विरोधी भावनाएँ रही जिनका स्रोत और परिणाम कदाचित एक ही है। सन्त कवि नारी की भर्त्सना करते रहे और शृगारी कवि उसके नग्न चित्रण में अपनी वासना की अभिव्यक्ति खोजते रहे। सन्तो की भर्त्सना एक औषधि के रूप मे रही। रीति कवियों का शृंगार एक पराजित जाति के लिए मद्य बन कर उसे वासना में विभोर बनाता रहा। किन्तु नर नारी के पवित्र प्रेम का अमृत जीवन-रस हमारे काव्य में कहाँ है ? कालिदास की आश्रम वासिनी और तपो-योगिनी शकुन्तला के

पवित्र सौन्दर्य और प्रेम का समादर पुरुष का दुष्यन्त कब कर सका। तपस्विनी पार्वती के पवित्र रूप की मर्यादा का मान तो स्वयं कालिदास भी न कर सके। **समानता, स्वतन्त्रता और समादर के स्वस्थ भाव से काम और नारी की प्रतिष्ठा हमारे काव्य में न हो सकी।**

भर्त्सना और विलास के दृष्टिकोण के अतिरिक्त नारी का एक तीसरा रूप है जो हमें प्रसाद की 'कामायनी' में मिलता है। यह नारी का वही श्रद्धामय रूप है जो 'रामचरित मानस' की सीता में प्रतिष्ठित हुआ है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'कामायनी' की श्रद्धा सीता से अधिक सक्रिय और मनु की साधना में सहायक है। किन्तु पुरुष के प्रति अनन्य निष्ठा का भाव दोनों में समान है। सीता और श्रद्धा दोनों नारी के उसी रूप की प्रतीक हैं जो पुरुष के विश्वासरजत नग के पद तल में पीयूष स्रोत के समान बहती रही है। नारी की सुकुमारता का आकर्षण हमारे समाज और साहित्य में सदा रहा है। सीता इतनी सुकुमार थी कि 'चित्र लिखित कपि देखि डराती'। बिहारी की नायिकाओं के अंग में गुलाब की पखुड़ियों से खरोंटें पड़ जाती थीं। 'कामायनी' की श्रद्धा ने भी अन्त में यही अनुभव किया कि "मैं दुर्बलता में नारी हूँ।" गीता में भगवान ने पौरुष को नरों में व्याप्त अपनी विभूति माना है।[33] किन्तु एक पराजित जाति अपनी इस विभूति को भूल गई। नारी की दुर्बलता में हम अपनी पराजय का समाधान खोजते रहे। उस दुर्बलता को कोमलता का नाम देकर हमारे कवि उसे नारी का अलंकार बना कर विलास और वासना की व्यंजनाओं को ही काव्य की कृतार्थता मानते रहे।

शृंगार और काम की प्रधानता के कारण अधिकांश काव्य में सुन्दरम् की ही अभिव्यक्ति हुई है। शैली की दृष्टि से भी अधिकांश काव्य में अभिव्यक्ति की ही प्रधानता है। तत्व की दृष्टि से अधिकांश काव्य प्रकृत काव्य की कोटि में है। यद्यपि इस काव्य में प्रकृति का स्वस्थ रूप कम ही मिलता है फिर भी प्राकृतिक वृत्तियों के अनुरंजन का साधक होने के नाते इसे प्रकृति काव्य कहना ही उचित है। कालिदास, भवभूति और बाण के अतिरिक्त विक्रम युग के संस्कृत काव्य में तथा रीति काल के हिन्दी काव्य में इस प्रकृति पर विकृति की छाया भी है। प्रकृति में सीमित और प्राय विकृति में भ्रष्ट हो जाने के कारण इस काव्य में शिवम् का समादर बहुत कम मिलता है। **जिस प्रकार सृजन ही मूल सत्य है, और जिस**

प्रकार सृजन में ही सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार सृजन में ही जीवन का शिवम् भी सार्थक होता है। 'कुमार-सम्भव' को छोड कर समस्त भारतीय साहित्य मे कदाचित् ही कोई ऐसा काव्य हो जिसमे सृजन का प्राकृतिक अथवा सास्कृतिक महत्व अकित हो। कुमार सम्भव मे भी दो कारणों से इस सृजन की समुचित प्रतिष्ठा नही हो सकी। एक तो पार्वती-परिणय के बाद 'कुमार-सम्भव' की रचना कालिदास का कृतित्व नहीं मालूम होती। मल्लिनाथ की अपूर्ण टीका और पिछले सर्गों की भाषा तथा शैली इस मत का समर्थन करती है। दूसरे कुमार कार्तिकेय के जन्म और पराक्रम की चमत्कार पूर्ण पौराणिक कथा ने सृजन के मानवीय महत्व को तिरोहित कर दिया है। शकुन्तला के जीवन मे सृजन का विशेष महत्व है। उसका औरस कुमार भरत इतना प्रतापी हुआ कि चन्द्रवश भरतवश के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा देश और देश की सबसे महत्वपूर्ण घटना को भारत का अभिधान प्राप्त हुआ। किन्तु कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल मे प्रेम के विरह और मिलन की परिणति ही मधुरतम रूप मे व्यक्त हुई है, सृजन का वह गौरव स्पष्ट नही हो सका। राम कथा मे लव-कुश के जन्म और पराक्रम मे भी सृजन के गौरव की सम्भावनाएँ थी, किन्तु वाल्मीकि और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियो ने राम कथा के इस उत्तर भाग की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। भवभूति के बाद के सस्कृत साहित्य मे और समस्त हिन्दी साहित्य मे सृजन की महिमा के सकेत भी मिलना कठिन है। सूर और तुलसी के काव्य मे प्राप्त कृष्ण और राम के जन्म मे भगवान के अवतार की अलौकिकता का समावेश हो जाने के कारण सृजन का लौकिक महत्व जाता रहा। रीतिकाल और छायावाद के हिन्दी युग के साहित्य में काम का मनोविलास ही अधिक है। एक अपने वार्धक्य को कोसने वाले पतितमनों का मानसिक विलास है, तो दूसरा कुमार, विधुर और वियोगी कवियो की अतृप्त वासनाओ की व्यजना है। दोनो मे ही सृजन के गौरव की सम्भावना नही है। वाल्मीकि के उत्तर काण्ड के बाद यदि सृजन के महत्व का आभास कही मिलता है तो वह कालिदास के 'रघुवश' मे, जिसमे रघु, अज आदि सूर्यवशी राजाओ के कौमार्य मे शक्ति, शील और सौन्दर्य के समन्वय का एक उत्कृष्ट आदर्श रखा गया है। किन्तु कालिदास भी 'कुमार-सम्भव' की कथा को सृजनात्मक सम्भावनाओ का पूरा-पूरा उपयोग नही कर सके। उनके लिए रघुवश के कथा स्रोत मे सृजन को जीवन की अभिव्यक्ति का आधार बनाना सम्भव

न था। यद्यपि रघुवंशियों के आदर्श का वर्णन करते समय कालिदास ने "प्रजायै गृहमेधिनाम्" की नीति का निर्देश किया है, किन्तु किसी भी काव्य में उन्होंने जीवन के सृजनात्मक धर्म का सम्पन्न रूप हमारे सामने नही रखा। कामसूत्र और काव्य शास्त्र की शृगारमयी परम्परा से प्रभावित होने के कारण यह स्वाभाविक ही था। राम और कृष्ण के चरित मे यद्यपि कैशोर और यौवन के पराक्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, किन्तु सूर और तुलसी के काव्य मे वात्सल्य का महत्व अधिक है। वात्सल्य म सृजन के शिव की अपेक्षा उसके सुन्दरम् की अभिव्यक्ति अधिक होती है। इसीलिए राम और कृष्ण के वात्य के वर्णनो मे रूप और सौन्दर्य की महिमा ही अधिक मिलती है। रीतिकाल मे तो यह वात्सल्य भी शृगार के प्रभाव से विकृत होगया है। बिहारीलाल का "लरिका लैबे के मिसन छिगुनी तनिक छुवाय" रीतिकाल के विकृत वात्सल्य की मनोवृत्ति का एक उदाहरण है। यह कहना अनुचित न होगा कि वाल्मीकि के उत्तरकाण्ड के अतिरिक्त सृजन का गौरवपूर्ण रूप सस्कृत और हिन्दी के काव्य में नही मिलता। रवीन्द्रनाथ के काव्य मे जीवन के रहस्यो की सुन्दर अभिव्यक्ति ही अधिक है। उनके काव्य मे सत्य सुन्दर बनकर व्यक्त हुआ है। किन्तु सृजन के गौरव तथा शिव के अन्य रूपो की व्यजना उनके काव्य मे भी कम ही मिलेगी। स्वतत्र-भारत के काव्य मे जीवन की सृजनात्मक प्रेरणा के अकुर प्रस्फुटित होते हुए दिखाई देते हैं। नागार्जुन की एक कविता मे (यह कैसे होगा) सृजन का सत्य बडे मार्मिक रूप मे व्यक्त हुआ है।[३८]

सृजन के शिव की अभिव्यक्ति की सबसे उत्तम सम्भावना शिव-कथा में ही है। विष्णु के अपने विक्रम प्रसिद्ध हैं। राम और कृष्ण के रूप मे उनके अवतारो मे भी पराक्रम की प्रधानता है। सृजन से पूर्णतया रहित न होते हुए भी राम और कृष्ण की कथाओ मे उनका अधिक महत्व नहीं है। भक्ति के प्रभाव ने राम और कृष्ण के रूपो को आराध्य बना दिया। इस भक्ति के चकाचौंध में उनके जीवन का सृजनात्मक गौरव तिरोहित हो गया। विक्रम युग मे राम और कृष्ण का ही धर्म के क्षेत्र मे प्रभुत्व रहा है। कालिदास महाकाल के अदूरवासी होने के कारण शिव के भक्त अवश्य थे। 'कुमार सम्भव' मे उन्ही के द्वारा शिव की एक अपूर्ण कथा विक्रम युग के समस्त काव्य में मिलती है। रघुवश मे वे भी राम से प्रभावित दिखाई देते हैं। 'कुमार-सम्भव' के अतिरिक्त (पार्वती मगल को छोड कर जो कुमार-सभव का ही सक्षिप्त भावानुवाद है) समस्त काव्य मे शिव-कथा का

कही चिन्ह भी नही मिलता। शिव-कथा की उपेक्षा तथा राम और कृष्ण के प्रभुत्व के कारण विक्रम युग के संस्कृत और हिन्दी काव्य में सृजन की महिमा का समुचित आदर नही हो सका और इसी कारण सत्य के निर्देश और सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होते हुए भी इस काव्य मे शिवम् के मुख्य रूपो की प्रतिष्ठा बहुत कम हो सकी।

अध्याय ३४

नारी के रूप और काव्य

नारी सृष्टि का अनुपम अलंकार है। वह विधाता की एक अत्यन्त मनोहर सृष्टि है। उसके रूप मे सृष्टि का सौन्दर्य स्वर्ग की सीमाओ का स्पर्श करता है। नारी के इस रूप लावण्य पर मुग्ध होकर पुरुष आदिकाल से उसकी आराधना और उसके सानिध्य का प्रयत्न करता आया है। इसमे सदेह नही कि नारी के रूप-लावण्य मे अन्तर्निहित काम भी नर नारी के सम्बन्ध का एक मौलिक और प्राकृतिक आधार है। किन्तु काम का प्राकृतिक आधार ही नर-नारी के सम्बन्ध का सर्वस्व नही है। वस्तुत काम का सम्बन्ध भी पूर्णत प्राकृतिक नही है। सस्कृत भाषा मे काम को मनसिज का नाम दिया गया है। इसका कारण यही है कि शारीरिक वृत्ति होने के साथ साथ काम एक मानसिक वृत्ति भी है। काम की शारीरिक आकाक्षाओ का मानसिक वासनाओ मे विस्तार होता है। काम की यह मानसिक वासना पूर्णत प्राकृतिक नही है। उसके भीतर एक आध्यात्मिक रहस्य भी निहित है जिसे समझने के लिये हमे प्रकृतिवाद और अध्यात्मवाद दोनो मे एकागी आग्रहो से ऊपर उठकर एक उदार भाव से काम का आदर करना होगा। प्राकृतिक आकाक्षा और आध्यात्मिक भाव के अन्तराल में काम के अनेक सामाजिक, कलात्मक और सास्कृतिक लोक है। इन लोको में नारी के भाव और सौन्दर्य की अनेक विभूतियाँ विभासित होती है। काम की प्राकृतिक आकाक्षा के अतिरिक्त नारी की इन व्यापक विभूतियो के कारण भी उसके प्रति पुरुष का आकर्षण रहा है। इनमे नारी का रूप सौन्दर्य पुरुष के विशेष आकर्षण का कारण रहा है। नारी के इस रूप सौदर्य का प्रकाश अध्यात्मलोक के क्षितिजो का भी स्पर्श करता है। किन्तु प्राय वह पुरुष के काम को ही रजित और अधिक रमणीय बनाता रहा है। काम और सौदर्य के इस सयोग का मूल यौवन मे मिलता है। यौवन काल मे ही नारी का रूप सौन्दर्य विशेष रूप मे स्फुटित होता है। दूसरी ओर पुरुष की चेतना का विकास भी यौवन काल मे ही पूर्ण होता है। यौवन काल मे जब पुरुष की चेतना प्रस्फुटित होती है उस समय यौवन के सौन्दर्य से सम्पन्न नारी एक दिव्य आकर्षण के रूप मे उसके सामने आती है। प्रवृत्ति और मन की

आकांक्षाएँ काम और सौन्दर्य पर केन्द्रित होकर इन्ही के आधार पर नर नारी के सम्बन्ध का निर्धारण करते हैं। चेतना के मध्याह्न सूर्य के प्रकाश मे नारी का रूप कमल भी अपनी पूर्ण प्रतिभा मे प्रस्फुटित होकर पुरुष की दृष्टि को विस्मित और विमुग्ध करता है।

इसी कारण पुरुष की कल्पना भावना और रचना म कामिनी और रमणी के रूप मे ही नारी अधिक व्याप्त रही है। पुरुष के साहित्य और कला मे नारी के इसी रूप का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। यौवन के पूर्व बाल्यकाल मे पुरुष के लिए नारी के मातृ रूप का भी महत्व रहता है। उसी काल मे नारी के भगिनी-रूप का माधुर्य भी पुरुष के बाल्य और कैशोर को सरस बनाता है। कैशोर काल मे नारी के मातृत्व का महत्व पुरुष की बढती हुई स्वतन्त्रता के साथ-साथ कम होता जाता है। नारी के कामिनी और रमणी रूप का सौन्दर्य उसे विमोहित करने लगता है। यही विमोह उसके यौवन का उन्माद बना रहता है। इस उन्माद मे वह नारी के अन्य रूपो की महिमा को भूल जाता है। इस उन्माद का भी अपना महत्व है। यह उन्माद जीवन का मर्म है। इस उन्माद के बिना मनुष्य के जीवन के सभी सूत्र शिथिल हो जाते हैं और जीवन के अन्य अनेक पक्ष निष्फल हो जाते हैं। किन्तु जीवन के अन्य पक्षो का ध्यान और नारी के अन्य रूपो का सम्मान मनुष्य के जीवन को अधिक सतुलित और अधिक सुन्दर बना सकता है। नारी के इन रूपो मे चार मुख्य हैं जिन्हे हम उसका मातृ रूप, भगिनी रूप, पत्नी रूप और कन्या रूप कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त सम्बन्धो के भेद से स्त्री के और भी अनेक रूप हो सकते हैं। अनेकरूपता जीवन और सस्कृति का वैभव है। इन अनेक रूपो मे जीवन, सस्कृति और साहित्य मे नारी की प्रतिष्ठा इन्हे गौरवमय एव सम्पन्न बना सकती है। जीवन के अनुरूप साहित्य मे भी इन सभी रूपो का उचित आदर अपेक्षित है, अन्यथा साहित्य के एकागी और असतुलित होने की आशका है। यह एकागिता साहित्य और काव्य मे प्राय दिखाई देती है। साहित्य के इस एकागी दृष्टिकोण मे नारी के प्रेयसी तथा पत्नी रूप की प्रधानता है। पत्नी रूप के सामाजिक और सास्कृतिक गौरव को भी कालिदास जैसे कुछ सास्कृतिक कवि ही उचित आदर दे सके हैं। अन्य अधिकाश कवि नारी के प्रेयसी रूप मे ही उलझे रहे हैं। प्रेयसी के सम्बन्ध मे भी हृदय के अन्य उदार भावो की अपेक्षा काम और अहकार की प्रधानता है। पुरुष के स्वभाव

मे अहकार के प्रभुत्व के कारण उसका अनुराग भी एक-पक्षीय बन जाता है। वह अपने को केन्द्र बनाकर ही प्रेम के सम्बन्ध मे भी सोचता है। अधिकाश काव्य की प्रेम कल्पनाएँ इस एक-पक्षीयता से दूषित हैं। नारी की ओर से भी जो कल्पनाएँ की गई हैं, उनमे भी नारी के भावो की अभिव्यक्ति की अपेक्षा पुरुष के आत्मानुकूल भावो की प्रतिच्छाया अधिक है। **नारी के केन्द्र से अथवा नर-नारी के युग्म केन्द्रो के सम्वाद की दृष्टि से प्रेम का निरूपण भी काव्य में बहुत कम मिलता है।** काम और पुरुष केन्द्रित प्रेम के अतिरिक्त अन्य उदार भावो, जटिल सम्बन्धो और व्यापक कर्त्तव्यो की दृष्टि से पति-पत्नी के सम्बन्ध का समावेश काव्य मे और भी कम मिलता है। यशोदा और कौशल्या को छोड़कर मातृत्व की प्रतिष्ठा भी काव्य मे बहुत कम की गई है। शाकुन्तल के कण्व की करुणा के अतिरिक्त नारी के कन्या-रूप का माधुर्य भी बहुत कम काव्यो का गौरव बना है। भारतीय सस्कृति में इतने अधिक सम्मानित भगिनी के सम्बन्ध की चर्चा तो काव्य मे अपवाद के रूप मे भी मिलना कठिन है।

अस्तु, चेतना के उत्कर्ष और यौवन के विकास मे काम और एकागी प्रेम से अभिभूत होने के कारण काव्य एव साहित्य मे नारी के विविध रूपो को उचित और आदरपूर्ण स्थान नही मिल सका है। **किन्तु यदि काव्य और साहित्य को जीवन की व्यापक विभूति से सम्पन्न बनाना है तो उसे नारी के विविध रूपो से सुसज्जित करना होगा।** जीवन और सस्कृति की दृष्टि से नारी के सभी रूप अपना महत्व और गौरव रखते हैं। पुरुष के जीवन को नारी के सभी रूप अपने विशेष भाव और सौन्दर्य से भरते हैं। प्राकृतिक दृष्टिकोण से यद्यपि नारी के प्रेयसी रूप का ही महत्व अधिक है। कैशोर के विकास के साथ-साथ बहिन के सम्बन्ध का महत्व कम होता जाता है। प्रेयसी के मोह मे कन्या के सम्बन्ध का माधुर्य भी मन्द हो जाता है। किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से ये सभी सम्बन्व महत्वपूर्ण एव आदर के योग्य हैं तथा काव्य एव साहित्य मे ये सभी उचित स्थान के अधिकारी हैं।

इनमे क्रम की दृष्टि से माता का सम्बन्ध प्रथम है। जन्म काल से ही सबसे पहिले पुरुष का परिचय स्त्री के मातृ रूप से होता है। माता के स्तन्य से शिशु का पोषण होता है। माता जिस दुलार से अपनी गोद मे पुत्र को पालती है, वह जीवन मे दुर्लभ है। **पालन और प्यार की दृष्टि से माता का वात्सल्य जीवन का सर्वोत्तम सत्य है।** इसीलिये भारतीय सस्कृति मे उसे सबसे अधिक मान दिया

गया है। इस प्रसग मे नीति के वचन विदित हैं। भारतीय नीति के इसी आधार पर कौशल्या ने राम से कहा था कि 'जो केवल पितु आयसु ताता। तो जनि जाउ जानि बडि माता'। भारतीय धर्म-परम्परा मे मातृ शक्ति की पूजा का भी यही रहस्य है। माता के स्तन्य का क्षीर-सागर सृष्टि का आधार है। शिष्टाचार के क्रम मे भी कालिदास के 'पार्वती-परमेश्वरौ' और तुलसीदास के 'भवानी शकरौ' तथा 'सीता राम' की भाति मातृ रूप की प्रथम वदना की जाती है। भारतीय धर्म परम्परा मे देवी का आदर माता की महिमा का ही फल है। शरीर और आत्मा के रस से मनुष्य जाति का लालन करने वाली माता धन्य है। मातृ-रूप का वह दिव्य सौन्दर्य जीवन और साहित्य दोनो मे वदनीय है। माता का यह दिव्य माधुर्य विस्मरणीय नहीं है। माता के रूप के अतिरिक्त माता का भाव भी व्यापक बन कर जीवन में मगल का अनुष्ठान करता है। सृजन, पोषण, पालन, लालन आदि के भावो तथा इनके लिये अपेक्षित त्याग, सेवा, ममता, माधुर्य आदि को अपना कर पुरुष भी समाज के कल्याण मे योग दे सकता है। माता के रूप और भाव दोनो के उदार अनुग्रह से मानवीय जीवन को मगलमय बनाने के लिये ही भारतीय परम्परा मे माता का इतना आदर दिया गया है। बाल्यकाल मे माता के आश्रित रहने के कारण पुरुष के मन मे माता का कुछ आदर रहता है। किन्तु वय के विकास के साथ-साथ ज्यो ज्यो पुरुष समर्थ और स्वतत्र होता जाता है, मातृत्व का मान उसकी दृष्टि मे घटता जाता है। यौवन के विकास के साथ साथ प्रेयसी का बढता हुआ सम्मोहन इसे और कम करता है। इस प्रकार मातृत्व का घटता हुआ मान प्रकृति का स्वाभाविक क्रम है। इसी प्राकृतिक गति का प्रतिरोध करने के लिये भारतीय परम्परा में मातृ-रूप और माता की महिमा की सुदृढ प्रतिष्ठा की गई है। भारतीय परम्परा का यह प्रयास प्राकृतिक गति के विपरीत एक सास्कृतिक अध्यवसाय है। इस सास्कृतिक अध्यवसाय को सुरक्षित रखना मनुष्य समाज के लिये कल्याणकारी होगा। इसमे काव्य और साहित्य का योग सदा सराहनीय है।

सूर और तुलसी की यशोदा और कौशल्या को छोडकर मातृत्व की महिमा का विशेष निरूपण ससार के साहित्य अथवा काव्य में मिलना कठिन है। पश्चिमी समाज मे माता का इतना अधिक मान नहीं है। उसमे प्रेयसी के सम्बन्ध की ही प्रधानता है। अत उसमे मातृत्व की महिमा का गौरवपूर्ण चित्रण मिलना कठिन

है। किन्तु भारतीय साहित्य में भी उसका मिलना उतना ही दुर्लभ है। सूर और तुलसी की यशोदा और कौशल्या के अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी के साहित्य में मातृ रूप अथवा वात्सल्य का कोई उल्लेखनीय निरूपण नही मिलता। सूर और तुलसी के द्वारा चित्रित यशोदा और कौशल्या के वात्सल्य को हिन्दी काव्य का गौरव माना जाता है। इनका वात्सल्य वस्तुत साहित्य का गौरव है। किन्तु माता के वात्सल्य में ही मातृत्व की महिमा सम्पूर्ण नहीं है। माता की ओर से उसका वात्सल्य निस्सदेह उसकी महिमा का द्योतक है। किन्तु माता के इस वात्सल्य में पुरुष का कोई श्रेय नही है। पुरुष की ओर से माता के गौरव की प्रतिष्ठा पुरुष की श्रद्धा के द्वारा हो सकती है। माता के प्रति पुरुष की श्रद्धा का निरूपण काव्य में बहुत कम मिल सकेगा। इसका कारण यही है कि प्रयसी के प्रेम की भाँति माता के वात्सल्य के प्रसग मे भी पुरुष की भावना आत्म-केन्द्रित रही है। शक्ति-तन्त्रो के अध्यात्मिक काव्य मे मातृ शक्ति के प्रति पुरुष की श्रद्धा का जैसा परिचय मिलता है, माता के प्रति पुरुष की श्रद्धा का वैसा परिचय काव्य मे मिलना कठिन है। किन्तु इसी श्रद्धा के द्वारा समाज और साहित्य म एक मधुर और मगलमय भाव का प्रसार हो सकता है।

माता के अतिरिक्त नारी का एक अन्य उपेक्षित रूप भगिनी के रूप मे मिलता है। 'भगिनी' का यह नाम ही इस बात का सकेत करता है कि इस सम्बन्ध के पवित्र रूप को स्वीकार करने में पुरुष को कितनी कठिनाई हुई है। इस कठिनाई का अतिक्रमण करके समाज की परम्परा में बहिन के पवित्र और मधुर सम्बन्ध को एक आदर पूर्ण स्थान देना भारतीय चेतना की एक अद्भुत सास्कृतिक विजय है। समाज और संस्कृति की परम्परा मे इस विजय का उल्लास आज भी सुरक्षित है। रक्षा-बधन का पर्व प्रति वर्ष इस उल्लास को एक नई प्रेरणा दे जाता है। बहिन के सम्बन्ध की महिमा भारतीय सस्कृति का एक अनुपम गौरव है। ससार का कोई भी समाज इसमें भारत की समता नहीं कर सकता। भारतीय समाज मे बहिन के इस सम्बन्ध को औरस सम्बन्ध के अतिरिक्त अपार विस्तार दिया गया है। पुरुष का समवयस्क अधिकाश नारी-समाज इस विस्तार की परिधि म आ जाता है। बहिन के सम्बन्ध और भाव का विस्तार प्रवृत्ति के अतिचार की एक सुदृढ अर्गला है। यही अर्गला सामाजिक शील और शान्ति की मगलमयी मर्यादा है। जिन समाजो मे यह मर्यादा प्रतिष्ठित नही है और जिनमे एक औरस सम्बन्ध को छोडकर अन्यत्र

विवाह का निषेध नही है, उन समाजो का जीवन इस क्षेत्र मे समन्वित रहता है। भारतीय समाज और सस्कृति में बहिन का विपुल आदर होते हुए भी भारतीय साहित्य और काव्य में उसका प्रसग अपवाद रूप में भी नहीं मिलता, यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

एक तीसरे रूप म नारी पुरुष के जीवन मे कन्या के रूप मे प्रवेश करती है। सम्बन्ध और वयोभेद के कारण कन्या के प्रति पुरुष का स्वाभाविक अनुराग होता है। किन्तु पुरुपतन्त्र समाज म कन्या का जीवन कन्या के रूप मे कम महत्वपूर्ण तथा अधिक आपत्तिपूर्ण रहा है। पुत्र से वश परम्परा चलती है और पितरो को नरक से मुक्ति मिलती है। अत पुत्र की प्रतिष्ठा जीवन और साहित्य दोनो मे मिलती है। पुरुपतन्त्र समाज म कन्या के मान की स्वाभाविक हीनता की आशका करके ही भारतीय सस्कृति के विधायको ने समाज की परम्पराओ मे कन्या को भी बहुत आदर दिया है। विवाह के पूर्व कन्याओ से भोजन आदि का कार्य न कराने की प्रथा इस आदर का एक उदाहरण है। कन्या दान तथा विवाह के बाद कन्या के अनेक अनेक नेग चार इस आदर को और बढाते हैं। किन्तु साहित्य और काव्य में नारी के कन्या-रूप को भी उचित आदर नहीं मिल सका है। अभिज्ञान शाकुन्तल के कण्व की करुणा के समान कन्या के प्रति वात्सल्य के भाव काव्य में कदाचित ही मिलते हैं। किन्तु अनुराग और वात्सल्य मे ही कन्या का मान पूर्ण नही है। इनके अतिरिक्त कन्या का अन्य प्रकारो से भी गौरव और मान देना उचित है। इन अनेक रूपो म कन्या के जीवन का गौरव तथा उसके शील और सौन्दर्य की पवित्रता बहिन के सम्मान की भाँति ही समाज के मगल की मर्यादा है। इस मर्यादा को साहित्य मे भी उचित मान देना अपेक्षित है।

इन सभी रूपो मे स्त्री के प्रेम और माधुर्य को उचित आदर देना समाज और साहित्य का कर्तव्य है। किन्तु माता के प्रति श्रद्धा, बहिन के आदर और कन्या के मान मे ही समाज और साहित्य मे नारी की प्रतिष्ठा पूर्ण नही हो जाती। नारी पुरुष के आदर और प्रेम की पात्र है। किन्तु पुरुष के आश्रय में ही उसके जीवन की कृतार्थता नहीं है। उसके जीवन और व्यक्तित्व का स्वतन्त्र महत्व भी है। पुरुपतन्त्र के अतिचारो के कारण वह पुरुप की रक्षणीया अवश्य है। इसी दृष्टिकोण से धर्म शास्त्रो ने उसे स्वतन्त्रता के योग्य नही माना है। किन्तु धर्म-शास्त्रो का अभिप्राय यह नही है कि नारी के जीवन और व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र महत्व नही

है। पुरुष के द्वारा रक्षित होने पर तथा पुरुष के साथ सम्बन्धों में ही नारी के जीवन का सौन्दर्य सफल एवं साकार होता है। फिर भी नारी के जीवन का महत्व अपने स्वतंत्र रूप में सार्थक हो सकता है। पुरुष के द्वारा रक्षा का आश्वासन उसकी स्वतंत्रता को और अधिक सुदृढ बनाता है। इस सुरक्षा के वातावरण में उसकी स्वतंत्रता अधिक सफल हो सकती है। किन्तु पुरुषतंत्र की विडम्बनाओं के कारण पुरुष की रक्षणीया बनकर नारी अबला बन गई है। पुरुष के अधिकार और अतिचार ने उसे आतंकित कर अपनी दुर्बलता में सीमित कर दिया है। युगों के उत्पीडन से उसकी शारीरिक सामर्थ्य और मानसिक क्षमता क्षीण हो गई है। कवि प्रसाद की श्रद्धा की भाँति वह दुर्बलता को ही अपना स्वरूप समझती है (मैं आज समझ यह पाई हूँ, मैं दुर्बलता में नारी हूँ)। कवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में अबला-जीवन की कहानी केवल इतनी ही है कि 'आंचल में है दूध और आँखों में पानी'। दुर्बलता में वात्सल्य और करुणा ही नारी जीवन की विभूतियाँ रह गई हैं। किन्तु यह न स्वाभाविक है और न आवश्यक है। नारी में शारीरिक बल और मानसिक शक्ति पुरुष से कम नहीं है। नारी का अबला रूप पुरुषतंत्र की विडम्बनाओं का परिणाम है। अपनी दुर्बलता में भी स्वामी बने रहने के लिए पुरुष ने नारी के अबला रूप का अभिनन्दन किया है। समर्थ, सशक्त और स्वतंत्र रूप में नारी का आदर करने के लिए पुरुष को अधिक सशक्त बनना होगा। काव्य में भी नारी के अबला-रूप का ही अभिनन्दन अधिक है। स्वतंत्र चेता कवि भी नारी के समर्थ, सशक्त और स्वतंत्र रूप को काव्य में आदर नहीं दे सके। शैव-तंत्रों में शक्ति की उपासना नारी के रूप में ही होती है। सृजन और पालन के लिए भी शक्ति अपेक्षित है। किन्तु इसके अतिरिक्त रक्षा तथा अन्य कार्यों में भी नारी की शक्ति का प्रमाण मिलता है। भारतवर्ष की वीर और विदुषी महिलाओं से लेकर रूस की आधुनिक अंतरिक्ष यात्री महिला तक नारी की शक्ति के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। ये उदाहरण अपवाद नहीं हैं वरन् ये उदाहरण नारी की शक्ति के सामान्य सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं। स्वतंत्र, समर्थ और सशक्त रूप में नारी का आदर करके ही मनुष्य समाज और मनुष्य का साहित्य अपने पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु खेद की बात है कि नारी के समर्थ, सशक्त, स्वतंत्र और आदरमय रूप की प्रतिष्ठा हमारे काव्य में न हो सकी। दुर्गासप्तशती में जिस नारी को शक्ति

का रूप माना है उसके शक्ति रूप की अवहेलना हमारे शृंगार काव्य की एक शोचनीय विडम्बना है। *शक्ति की कल्पना बड़ी व्यापक है। दुर्गासप्तशती में* शक्ति की अनेक विभूतियों का उल्लेख मिलता है। इन विभूतियों की व्यापकता नारी के स्वरूप और जीवन की विशालता की द्योतक है। इसमें नारी का मातृ-रूप सबसे अधिक मान्य है। 'सृजन' शक्ति का सबसे महान् धर्म है। नारी की शक्ति रचनात्मक अधिक है यद्यपि शक्तियों में प्रलयकारी काली आदि अनेक उग्र और ध्वंसात्मक रूप भी मिलते हैं। हमारे साहित्य में नारी के इस मातृरूप की प्रतिष्ठा अधिक नहीं है। शृंगार और विलास की प्रचुरता के सामने उसका परिमाण नगण्य है। 'वाल्मीकि रामायण' में सीता का जो मातृ रूप अंकित है वह 'रामचरित-मानस' में नहीं मिलता। 'रघुवंश' के आरम्भिक सर्गों में रघुवंशियों की अपुत्र-परम्परा के कारण मातृत्व का कुछ आभास अवश्य मिलता है। 'शाकुन्तल' में भी भरत जननी का उदात्त रूप अमर है। यों कालिदास के काव्य में शृंगार के साथ-साथ मातृत्व का भी कुछ स्थान है किन्तु शेष संस्कृत काव्य में वह दुर्लभ ही है। हिन्दी काव्य में कौशल्या और यशोदा का मातृ-रूप राम और कृष्ण के रूप की अलौकिकता व चमत्कार में तिरोहित हो गया। सूर और तुलसी के अतिरिक्त शेष हिन्दी काव्य में वह संस्कृत काव्य की भांति ही दुर्लभ है। जयशंकरप्रसाद ने 'कामायनी' की श्रद्धा के मातृरूप को पर्याप्त गौरव दिया है। किन्तु विक्षिप्त मनु की सुश्रूषा और साधना की ओर श्रद्धा का अधिक ध्यान है। 'कामायनी' की *आनन्दमय परिणति में मातृत्व की कृतार्थता का गौरव उतना महत्वपूर्ण नहीं है* जितना कि उछृंखल पुरुष की सुश्रूषा और साधना में श्रद्धामयी नारी का सहयोग है। गुप्तजी की यशोधरा में मातृत्व का एक ममतामय रूप मिलता है जो आधुनिक काव्यधारा में एक अपवाद सा है।

मातृत्व का सबसे उज्ज्वल और उदात्त रूप हमारी पौराणिक परम्परा में पार्वती के चरित्र में मिलता है। *दाम्पत्य का प्रेम और पुत्र के प्रति वात्सल्य नारी* के दो महत्वपूर्ण भाव हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त समाज की सांस्कृतिक परम्परा में श्रेष्ठ संतान के द्वारा सक्रिय सहयोग तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य से मण्डित सेनानियों के निर्माण द्वारा एक मंगलमयी संस्कृति की रचना द्वारा नारी का मातृत्व सम्पन्न समाज का विधायक है। ऐसे मातृ-रूप की पूर्ति के लिए दाम्पत्य के प्रेम के अतिरिक्त एक साधना अपेक्षित है जो केवल शिव और पार्वती के चरित्र में मिलती

है। वात्सल्य का दुलार सृजन के विस्मय और आनन्द से विभोर माता की ममता का प्रवाह है। मातृत्व के पूर्ण गौरव के लिए दाम्पत्य में साधना की भाँति वात्सल्य में भी शिशु के ओजस्वी भविष्य और संस्कृति के सेनानी बनने की भावना का दर्प अपेक्षित है। 'रघुवंश' के आरम्भिक सर्गों के अतिरिक्त अन्यत्र इस दर्प का आभास भी नहीं मिलता। 'कुमारसम्भव' के उत्तरार्ध में (चाहे वह किसी की रचना हो) मातृत्व के इस दर्प की प्रतिष्ठा कुमार कार्तिकेय के शैशव अलौकिक चमत्कार के कारण न हो सकी। सूर और तुलसी का वात्सल्य भी शिशुओं का दुलार है। उसमें शिशुओं के ओजस्वी भविष्य और संस्कृति के नेतृत्व की महिमामयी आशा का दर्प नहीं है।

'पार्वती' महाकाव्य में मातृत्व के इस पूर्ण रूप और महिमामय दर्प की प्रतिष्ठा अभूतपूर्व है। पार्वती के दोहद काल से लेकर तारक वध और त्रिपुर विजय तक ममतामय वात्सल्य के साथ साथ संस्कृति के सेनानी कुमार के उज्ज्वल भविष्य का सक्रिय दर्प सर्वत्र व्याप्त है। परिणय के पूर्व और दाम्पत्य काल में एक गौरवमयी भावना इस मातृदर्प की पीठिका है। शची के वात्सल्य और पुत्र-गौरव का प्रतिरोध पार्वती के इस पूर्ण मातृरूप की ही छाया है। जयन्त और सेनानी का सख्य मातृत्व की इसी समान पीठिका पर आश्रित है। संकेत यह है कि मातृत्व की सांस्कृतिक साधना युवकों के स्नेहपूर्ण सहयोग और ओज पूर्ण संगठन के द्वारा ही संस्कृति की रक्षा, उसके विकास और नूतन निर्माण की प्रेरणा बन सकती है।

नारी का शील, सौन्दर्य और उसकी श्लीलता संस्कृति का मर्म है। वस्तुतः यह संस्कृति के कुसुम का पराग है। यही संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा तथा उसके गौरव के प्रसाद का सूत्र है। इस प्रसंग में कुमारों के ओजस्वी संगठन का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। नारी का जो शील-सौन्दर्य संस्कृति का मर्म है उसी का अपमान आसुरी अनीति का लक्ष्य भी है। इस अनीति का उपचार संस्कृति की एक मूल समस्या है। यदि हिंसा और युद्ध इस अनीति का अपूर्ण अथवा असफल उपचार है तो एकांगी अहिंसा भी उसका पूर्ण और सफल उपचार नहीं है। इसका पूर्ण और यथार्थ उपचार तो युवक समाज की शक्ति, शील और प्रेम की भूमिका पर प्रतिष्ठित सार्वजनिक जागरण है। पार्वती महाकाव्य का विश्वयान इसी जागरण का प्रतीक है। इस लोक जागरण के सेनानी कुमारों का

सृजन और निर्माण ही मातृत्व की कृतार्थता है। वाल्मीकि रामायण मे मातृत्व के इस गौरव का जो आभास मिलता है वह भारतीय काव्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। 'शाकुन्तल' मे उसकी सम्भावनाओ का उपयोग कालिदास की इस ओर दृष्टि न होने के कारण न हो सका। इसी कारण 'कुमार-सम्भव' की सम्भावनाएँ भी सफल न हो सकी। राजस्थान मे राजपूत काल मे मातृत्व के इस गौरव का जागरण हुआ था। किन्तु विदुला और कुन्ती की मातृ-ज्योति का यह जागरण हमारे काव्य की विभूति न बन सका। कोई भी कवि उस तेजपूर्ण मातृ गौरव को वाणी न दे सका।

दाम्पत्य, वात्सल्य और मातृत्व के अतिरिक्त नारी जीवन के और भी पक्ष हैं। नारी के स्वरूप और जीवन की पूर्णता मे इन सभी का समावेश है। वह केवल पत्नी और माता ही नहीं है। इसके भी पूर्व वह पुत्री और बहिन है। भारतीय संस्कृति में नारी के इन दोनो ही रूपो का बड़ा महत्व है। कन्यादान गृहस्थ जीवन का एक पवित्र धर्म माना गया है। विवाह आदि सभी मागलिक कार्यो मे बहिन की आचार विधियो का गौरवमय स्थान है। वर्षारम्भ मे नवरात्र की शक्ति पूजा के प्रसग मे कन्याओ का अर्चन इस तत्व का प्रतीक है कि कन्या रूप मे नारी का मान ही संस्कृति का मूल है। 'पार्वती महाकाव्य' के मङ्गला-चरण के अनुसार कन्या के निर्मल तन-मन की पुनीत आभा ही मनुष्य की प्रकृति को पवित्र करके उसकी उज्ज्वल जीवन-गीता बन सकती है। यदि कन्या नारी का आदि रूप है तो कन्या का गौरव ही सास्कृतिक व्यवस्था मे नारी के स्वतंत्र गौरव की प्रतिष्ठा की भूमिका है। वात्सल्य के सहयोग से कन्या की प्रतिष्ठा सहज है। यद्यपि भारतीय काव्य मे हमारी संस्कृति के अनुरूप उसका अकन नही हो सका। संस्कृति मे नारी की प्रतिष्ठा की अधिक महत्वपूर्ण समस्या उसके यौवन के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण है। इसी दृष्टिकोण को सास्कृतिक पवित्रता देने के लिए सास्कृतिक अवसरो पर बहिन का स्मरण दिलाना हमारे पूर्वज नही भूले। मागलिक अवसरो के अतिरिक्त वर्ष के आदि, मध्य और अन्त मे श्रावणी, भ्रातृद्वितीया और होली की दौज के आनन्दमय पर्वो पर बहिन के पवित्र करो से अंकित मगल-तिलक शिव के तृतीय नेत्र के समान काम का संस्कार कर सामाजिक जीवन मे पवित्र प्रेम का संचार करता है। कन्या के गौरव के समान बहिन की महिमा की उपेक्षा भी हमारे शृंगार-प्रिय कवि करते आए है। राम की बहिन शान्ता का

बहुत कम प्रसंग हमारे काव्यों में मिलता है। उत्तर रामचरित में भवभूति ने उसका स्मरण भर किया है। गुप्तजी ने साकेत के नवम सर्ग में जो उसका स्मरण किया है वह साकेत के नवम सर्ग के शृंगारमय रूप और हमारे अधिकांश काव्य की शृंगार परम्परा के अनुरूप है। द्रौपदी के प्रसंग में कृष्ण के ओजस्वी भ्रातृत्व को भी भक्ति के अलौकिक चमत्कार में तिरोहित कर दिया। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में पूजित होते हुए भी बहिन के गौरव की प्रतिष्ठा हमारे काव्य में समुचित नहीं है। माता, पत्नी, कन्या और बहिन का मंगलमय रूप ही नारी का पूर्ण स्वरूप और भारतीय संस्कृति का चतुर्वेद है। इस चतुर्विध रूप की प्रतिष्ठा द्वारा ही काव्य संस्कृति का सजीव और सार्थक प्रतिनिधि बन सकता है।

इन चारों रूपों के मूल में नारी का नारी रूप है जिसे हम सामान्य अर्थ में उसका मानवी रूप कह सकते हैं। वैसे तो उक्त चारों सम्बन्धों की कोटियों में उसका यह मानवी रूप प्रतिफलित होता है, किन्तु इन चारों सम्बन्धों का एक पारिवारिक अनुषंग है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा के अनुसार तो नारी का सामाजिक सम्बन्ध इसी पारिवारिक अनुषंग का विस्तार है। किन्तु आधुनिक सभ्यता की विचारशैली में यह पूर्णतः मान्य नहीं है। समाज के विविध कार्य क्षेत्रों में अनेक रूपों में आज के जाग्रत युग की नारी का सक्रिय स्थान और स्वतन्त्र सम्बन्ध है। इन अनेक रूप-सम्बन्धों को उक्त चतुष्कोटि सम्बन्धों में घटाना आज कुछ परम्परा-वादी सा प्रतीत होता है। प्रगति के इस युग में जीवन के नये क्षितिजों के उद्घाटन का स्वागत होना चाहिए। इब्सन ने दाम्पत्य में भी एक स्वतन्त्र सख्य भाव की नयी कल्पना आधुनिक समाज को दी है। शरतचन्द्र के उपन्यासों में 'श्रीकान्त' की राज्यलक्ष्मी, 'शेष प्रश्न' की कमल आदि के रूपों में नारी का यह सख्य रूप प्रस्फुटित हुआ है, जिसे प्रगतिवादी अपनी पारिभाषिक भाषा में 'साथी' कहना पसन्द करते हैं। जिस प्रकार नारी के परम्परागत चतुष्कोटि सम्बन्ध में स्वतन्त्र समाज की नारी के अनेक-रूप सम्बन्धों को संकुचित करना उचित नहीं इसी प्रकार हरिऔधजी के 'रस कलश' के अनुसार कुछ नवीन नायिकाओं का आविष्कार करके शृंगार की रूढ़ परम्परा में उन्हें सीमित करना 'वृद्धभस' नहीं तो उप-हासास्पद अवश्य है। जिस प्रकार हमारा समाज नारी जीवन के इन नवीन क्षितिजों से अपरिचित है उसी प्रकार हमारा काव्य भी इन रूपों की प्रतिष्ठा से अनभिज्ञ है।

आधुनिक युग के कुछ कवियों में इन नये क्षितिजों के कुछ आभास अवश्य मिलते हैं। डा० गोपालशरणसिंह की 'मानवी', रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में इसका संकेत मिलता है। कुमारी मधु के एक गीत की इन पंक्तियों में इस नवीन विचारधारा का समर्थन नारी की ओर से मिलता है—

एक तुम्हारे ही परिचय की सीमा में बँधकर रहूँ
इतनी लघुता का वरदान न आज मुझे स्वीकार है।
मेरे पैरों में जंजीर न बाँधो तुम अधिकार की
विहगी को उन्मुक्त गगन में उड़ने की अभिलाषा है॥

इसमें संदेह नहीं कि नारी जीवन और सम्बन्धों के क्षितिज अनेक हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नये क्षितिजों का उद्घाटन होता रहता है। काव्य में नारी के इस व्यापक स्वरूप की प्रतिष्ठा ही काव्य को अभीप्सित विभूति दे सकती है। संस्कृति की केवल एक ही माँग है कि नारी की स्वतन्त्रता रूढ़िवादी नीतिकारों के 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरैं नारी' के भय को चरितार्थ न करे और उसके सम्बन्धों का विस्तारशील और श्लीलता की मर्यादाओं के अतिक्रमण के अवसर न बनाए। यह स्पष्ट है कि इन विस्तारों में नारी से अधिक उनका दायित्व नर का है। अतः नारी जीवन की स्वतन्त्रता और सम्बन्धों के विस्तार नर और नारी दोनों के शील और संयम से अनुप्राणित होकर ही नवीन काव्य की विभूति बन सकते हैं।

—∞—

अध्याय ३५

स्वस्थ शृंगार और प्रेम

भारतीय समाज और सस्कृति की परम्परा को छोडकर मनुष्य के समाज और साहित्य मे प्रेयसी और पत्नी के रूप मे ही नारी का मान अधिक है। हिन्दी और सस्कृत के साहित्य मे भी नारी का यही रूप अधिक स्थान पा सका है। नारी के जिन अन्य रूपो का निर्देश पिछले अध्याय मे किया गया है, उनका बहुत कम निरूपण साहित्य और काव्य मे मिलता है। अधिकाश साहित्य और काव्य मे नारी का प्रेयसी और पत्नी रूप ही कवियो की कल्पना को आकर्षित करता रहा है। इसका मुख्य कारण वय और चेतना के विकास की प्राकृतिक स्थिति है। यौवन-काल मे चेतना के समृद्ध और वय के समर्थ होने पर स्वाभाविक रूप से प्रेयसी और पत्नी के रूप मे ही नारी पुरुष के सामने आती है। जीवन और साहित्य में नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप की प्रधानता प्राकृतिक वृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। यह परिणाम साहित्य और काव्य पर प्राकृतिक वृत्ति के प्रभाव का द्योतक है। कवियो की प्रतिभा प्राकृतिक वृत्तियो से इतनी प्रभावित रहती है, यह एक खेद की बात है। कलाकार की चेतना, प्रतिभा का गौरव उसकी स्वतंत्रता में है। अपने स्वतन्त्र सकल्प और अध्यवसाय से वह कला और काव्य मे जीवन की स्थापनाएँ करने की अधिकारी है। इसी अधिकार की सफलता प्रतिभा की कृतार्थता है। साहित्य और काव्य मे नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप की प्रधानता इसी बात की द्योतक है कि कवियो की चेतना प्रकृति के प्रभाव से अधिक शासित रही और उनकी प्रतिभा अपनी स्वतत्रता का उपयोग कर नारी के अन्य रूपो को काव्य मे समुचित आदर न दे सकी।

प्रेयसी और पत्नी के रूप मे पुरुष के साथ नारी के सम्बन्ध मे भी प्रकृति और काम का अधिक प्रभाव रहा है। जिस प्राकृतिक प्रभाव के कारण काव्य और साहित्य मे नारी के प्रेयसी और पत्नी रूप की प्रधानता है उसको देखते हुए यह स्वाभाविक है। किन्तु स्वाभाविक होते हुए भी यह खेदजनक है। जिस प्रकार नारी के अन्य रूपो का समादर कवियो की स्वतन्त्र प्रतिभा के लिये उचित था,

उसी प्रकार प्रेयसी और पत्नी के रूप मे नारी के निरूपण मे भी प्रकृति और काम के अतिरिक्त अन्य सास्कृतिक भावों को आदर देना उचित था। किन्तु प्रकृति के मौलिक प्रभाव के कारण यह सम्भव न हो सका। प्रकृति से अभिभूत कवियो की प्रतिभा ने प्रकृति के अनुकूल भावों मे ही अपने को अधिक कृतार्थ किया है। प्रकृति और काम से प्रभावित नारी के निरूपण मे शृगार की प्रधानता होना स्वाभाविक है। आचार्यो ने शृगार को रस राज माना है। भक्ति काव्य के अतिरिक्त शेष हिन्दी काव्य मे शृगार की विपुलता है। छायावाद और उसके उत्तरकालीन हिन्दी काव्य मे भी सूक्ष्म और प्रच्छन्न रूपों मे शृगार की माया छाई हुई है। एक दृष्टि से शृगार जीवन और साहित्य का शृगार है। दोनो मे उसका मार्मिक और महत्वपूर्ण स्थान है। शृगार का भाव जीवन और साहित्य के रस का एक रहस्यमय उत्स है, यद्यपि नारी सम्बन्ध के अन्य भाव जीवन के क्षितिज को दिव्य रूपो से रजित करते हैं। किन्तु सभ्यता के विकास मे शृगार का भाव और सम्बन्ध दम्पति अथवा प्रेमियो का एक व्यक्तिगत और एकान्त अधिकार बन गया है। जीवन के व्यवहार मे शृगार का सामाजिक और सार्वजनिक प्रदर्शन वर्जित समझा जाता है। भारतीय समाज मे इस वर्जना की सीमा अधिक सकुचित हो गई है। कदाचित इसीलिए एक प्रतिक्रिया के रूप मे भारतीय काव्य मे इस सीमा का उल्लघन अधिक मिलता है।

काव्य मे शृगार के प्रसग मे सामाजिक मर्यादा का प्रश्न ही प्रधान है। साहित्य और काव्य भी पूर्ण रूप से व्यक्तिगत नही हैं। उसकी रचना व्यक्ति अवश्य करता है, किन्तु उसका प्रयोजन सामाजिक होता। स्वय कवि इस बात की अभिलाषा करता है कि दूसरे उसकी रचना को पढ़ें, सुनें और सराहें। 'स्वान्त सुखाय' होते हुए भी तुलसीदास का रामचरितमानस अपने प्रयोजन में सामाजिक है। रामचरितमानस के प्रबन्ध में ही उसके सामाजिक प्रयोजन के भाव और सूत्र अनेक स्थलो पर मिलते हैं। सामाजिक प्रयोजन के बिना रामचरितमानस के अनेक वचनो की सगति नही हो सकती। केवल स्वान्त सुखाय की दृष्टि से ऐसे वचन असगत और अनावश्यक जान पडते हैं। काव्य का प्रयोजन सामाजिक मान लेने पर काव्य मे शृगार की स्थिति कुछ विवादस्पद बन जाती है। यहीं अश्लीलता का प्रश्न भी उठता है। जिस स्थूल रूप मे आचार्यो ने अश्लीलता को दोष माना है, उस रूप मे चाहे शृगार का काव्य अश्लील न हो किन्तु एक सामाजिक मर्यादा को अश्ली-

लता की सीमा माना जाय तो अधिकांश शृंगार का काव्य अश्लील सिद्ध होगा। अश्लीलता के अतिरिक्त इस काव्य में शृंगार और काम अतिरंजना का भी दोष है। प्राकृतिक आकांक्षा के रूप में व्यावहारिक काम की एक अल्प मर्यादा हो सकती है। **किन्तु मन की वासना के रूप में काम अनन्त है।** जीवन और काव्य दोनों में ही कामना के इस मनोविलास का बहुत विस्तार हुआ है। मनुष्य की समृद्ध चेतना मानसिक जगत में भी प्राकृतिक प्रवृत्तियों का अधिकतम विस्तार चाहती है। किन्तु सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से साहित्य और काव्य में शृंगार के मनोविलास की अतिरंजना का औचित्य बहुत संदिग्ध है।

जीवन में विलास और काव्य में शृंगार की अतिरंजना शृंगार के प्रति एक दृष्टिकोण है, जो काम के प्राकृतिक आकर्षण से प्रभावित है। एक दूसरा दृष्टिकोण धर्म और अध्यात्म की प्रतिक्रिया है जो नारी और काम की भर्त्सना करती रही है। भारतीय काव्य में जहाँ एक ओर शृंगार का मनोविलास अधिक मिलता है वहाँ दूसरी ओर भारतीय धर्म और अध्यात्म में वैराग्य की प्रधानता है। वस्तुतः वैराग्य **का अर्थ प्रकृति का विरोध नहीं वरन् उसका अतिक्रमण है।** साम्य सतुलन और शांति वैराग्य के आवश्यक लक्षण हैं। किन्तु अध्यात्म और वैराग्य की परम्परा में नारी और काम के प्रति एक विरोधी प्रतिक्रिया का विक्षोभ अधिक दिखाई देता है। वस्तुतः यह वैराग्य की विडम्बना है। यह वैराग्य का निषेधात्मक रूप है जो प्रकृति के विरोध में ही उलझकर रह जाता है। वैराग्य के भावात्मक रूप में प्रकृति का अतिक्रमण साम्य और शांति के भाव में स्थित होगा। संतों के अध्यात्म में काम की भर्त्सना निषेधात्मक और क्षुब्ध वैराग्य के रूप में मिलती है। वस्तुतः यह वैराग्य राग का ही निषेधात्मक रूप है। विरोध में भी राग का बंधन शेष रह जाता है। बाह्य रूप में त्याग कर देने पर भी काम और राग विरोध के लिये वैरागी को आमंत्रित करते हैं। इस विरोध के रूप में उनका ध्यान इनकी ओर आकर्षित रहता है। यही काम और राग का अभीप्सित है, जिसे पूरा करने के लिये वे वैरागी को भी विवश कर लेते हैं। यह वैराग्य की एक अद्भुत विडम्बना है। संत काव्य में नारी और काम की भर्त्सना बहुत कुछ इसी विडम्बना के रूप में मिलती है।

मनोविलास और काम की भर्त्सना दोनों ही जीवन के दो एकांगी सत्यों की अतिरंजनाएँ हैं। अतिरंजना के कारण ही जीवन के दोनों आंशिक सत्य असत्य और असत्य होकर अशिव हो गये हैं। **मनुष्य प्रकृति का औरस और परमेश्वर का**

पुत्र हैं। इसीलिए एक ओर प्रकृति की आकांक्षाएँ उसके जीवन का आधार हैं तथा दूसरी ओर उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य उसके इष्ट हैं। व्यापक अर्थ में दोनों ही उसके स्वभाव की पूर्णता के अंग हैं तथा स्वस्थ जीवन के उच्चतम आदर्श में दोनों का समन्वय अपेक्षित है। नैसर्गिक अर्थ में मनुष्य की भौतिक अथवा शारीरिक प्रकृति को 'स्वभाव' कहते हैं क्योंकि अध्यात्म की अभीप्साएँ भी मनुष्य की अन्तर्तम आकांक्षाएँ हैं। इसी कारण अध्यात्म का मनुष्य की संस्कृति में सदा मान रहा तथा अध्यात्म की साधना से दूर रहने वाले भी उसे गौरव की दृष्टि से देखते रहे।

यदि प्रकृति जीवन का आवश्यक आधार है और उसका संतोष भी जीवन की पूर्णता का एक अंग है तो यह स्पष्ट है कि उसकी एकांगी भर्त्सनाएँ भ्रान्ति से पूर्ण हैं। विलास और शृंगार का जीवन में एक स्थान है। काव्य में भी उनका स्थान जीवन के अनुरूप ही होना चाहिए। इसी सत्य के आधार पर प्रेम और शृंगार का काव्य सदा मनुष्य को आकर्षित करता रहा है। नये युगों में नये रूपों में उसकी अभिव्यक्ति होती रही है किन्तु नर नारी के स्वाभाविक प्रेम का आधार उसमें समान रूप से बना रहा है। इस प्रेम के अनेक रूप और पक्ष हैं, किन्तु यौवन के उत्कर्ष काल में जीवन को विभोर करने वाला नर नारी का शृंगारमय प्रेम ही जीवन और काव्य में प्रमुख रहा है। यह पूर्णतः स्वाभाविक है। दाम्पत्य के प्रेम की तीव्रता और तन्मयता के कारण धर्म और अध्यात्म के काव्य में भी मुनि और सन्त उसकी उपमा का सहारा लेते आए हैं।

किन्तु प्रेम का यह रूप एक वय और एक दृष्टिकोण के अनुकूल है। इसके भी जितने रूप काव्य में मिलते हैं वे सब यौवन के भी स्वस्थ दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं हैं। सभी रूपों में प्रेम दो आत्मीयों का सम्बन्ध है। एक मानवीय मर्यादा के अन्तर्गत ही इसका स्वस्थ और सफल रूप प्रतिष्ठित हो सकता है। दूसरे का मान और दोनों की समान स्वतन्त्रता' इस मर्यादा के दो कूल हैं। मनुष्य के मान के अन्तर्गत व्यक्ति के देह, मन, बुद्धि, आदि सबका समादर तथा स्वतंत्रता के अन्तर्गत सभी प्रकार के आरोपणों का अभाव अभीप्सित है। विलास और शृंगार भी यौवन के प्रेम के दो ही अंग हैं। ये केवल शारीरिक रति में दो प्रेमियों के सहयोग के सूचक हैं। इनके अतिरिक्त सृजन, गृहकर्म, पालन, सामाजिक सम्बन्ध, सेवा, कला, साहित्य, यात्रा, आतिथ्य, आदि अनेक क्षेत्रों में यौवन के प्रेम का विस्तार उसे सम्पन्न, समृद्ध और स्वस्थ बनाता है।

मध्यकाल के रीति काव्य में रति का ही प्राधान्य है। एकांगिकता स्वयं ही अपूर्णता और अस्वस्थता का लक्षण है। वह पूर्ण की विडम्बना बनकर मानसिक अतिरंजना और व्यावहारिक अतिचार को जन्म देती है। शृंगार के काव्य की रति का यह रूप प्रमुखतः पुरुष के दृष्टिकोण पर आश्रित है। इसीलिए इसमें नारी की कल्पना विलास और शृंगार के एक सजीव यंत्र के रूप में की गई है। नख से शिख तक नारी की मूर्ति का निर्माण और उसका शृंगार एक मात्र पुरुष के विलास के दृष्टिकोण से किया गया है। उसके शरीर का कोई अपना भी सौन्दर्य है और उस शरीर तथा सौन्दर्य का स्वरूप में भी कोई महत्व है इसकी कल्पना रीतिकाल के शृंगारी कवि नहीं कर सके हैं। रति की कामना के अतिरिक्त उसके मन का और कोई धर्म है, पुरुष के काम मग्न मन के लिए इसकी कल्पना कठिन है। कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्य फलाहि चारुता" के सूत्र पर उत्तरकाल का संस्कृत और हिन्दी काव्य रति सम्प्रदाय का भाष्य है। 'सचारो रति मन्दिरावधि सखी-कर्णावधि व्याहृतम्' इस सम्प्रदाय का संकुचित निष्कर्ष है।

सभी साम्प्रदायिकों की भाँति रति सम्प्रदाय के कवियों ने भी जीवन के अन्य भावों को तोड़ मरोड़ कर उन सबका अन्वय रति के मूल मंत्र में किया। संयोग में रति के अतिरिक्त वे अन्य किसी भाव की कल्पना बहुत कम कर सके हैं। विप्रलम्भ का इतना विस्तार और उसमें विरह के भाव की अतिरंजनाएँ पुरुष के प्रति नारी की रति को उसके जीवन का सर्वस्व बनाने की दृष्टि से की गई हैं। इन अतिरंजनाओं में पुरुष के अहंकार और स्वार्थ शेष के सहस्र फणों से अपने प्रभुत्व की कामना का जयगीत गा उठे हैं। एक पराजित जाति के लिए प्रभुत्व की यह अतिरंजित कामना और उसकी यह सीमित अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। किन्तु इस कारण इसे भारतीय पुरुष का दुर्भाग्य-जनित रोग कहा जायगा। यह यौवन और दाम्पत्य के प्रेम का भी स्वस्थ और पूर्ण रूप नहीं है। रुग्ण मन की अतिरंजित वासनाएँ स्वस्थ और शिव काव्य का उपादान नहीं बन सकती।

हमारी सामाजिक सीमाएँ और राजनीतिक परतंत्रता आधुनिक युग में भी चलती रहीं। इसी कारण हरिश्चन्द्र, रत्नाकर आदि की रचनाओं में भी रीतिकाल की भावना की प्रतिध्वनि ही गूंजती रही है। स्वतंत्रता संग्राम के साथ जागरण के स्वर में राष्ट्रीय कविता का एक नया रूप मुखरित हुआ। किन्तु राष्ट्रीयता के इस राग में थोड़े ही कवि अपना स्वर मिला सके। सामाजिक सीमाओं की कुंठा

से व्याकुल अनेक तरुण कवि अपने मनोमन्दिर में रीतिकाल के कवियों की रतिवन्ती नायिका के ही नवीन रूप को काल्पनिक प्रेयसी के नाम से प्रतिष्ठित कर वासना के कुसुमों से उसकी अर्चना करते रहे हैं। हिन्दी के चिर-कुमार कवि पन्त रति-काव्य की इस नवीन साधना के नायक बने। जीवन की अन्य गतियों से वंचित अनेक नवयुवक कवि और पाठक शृंगार के इस नवीन रूप के आराधक बने। तत्व की समानता होते हुए भी प्रकृति की मनोरम भूमिका और उसमें सजीवता का आरोप तथा भावनाओं की अस्फुट रहस्यमयता और एक अस्पष्ट अध्यात्म की विडम्बना ने इस नवीन काव्य को एक नवीन शैली दी। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य ने पहली दिशा को प्रेरणा दी जिससे छायावाद का जन्म हुआ। रवीन्द्रनाथ के सौन्दर्य मूलक और सुकुमार अध्यात्म ने दूसरी दिशा को प्रेरणा दी जिससे रहस्यवाद का जन्म हुआ। शैली में भेद होते हुए आरम्भिक आधुनिक कविता के इन दोनों रूपों की भावना प्राय एक है। जीवन की सीमाएँ असह्य होने के कारण तथा स्वस्थ जीवन का कोई निश्चित मार्ग न होने के कारण इन नवीन कवियों की भावना तरी असीम के सागर में अनन्त की ओर बह चली। उषा और सन्ध्या के रंजित आलोक में रुग्ण वासना के रंगीन चित्र ही कवियों की इस अनिश्चित यात्रा के सम्बल रहे। मधुराका के नौका विहार में भी ये आधुनिक कुमार कवि तन्वंगी गंगा के उर्मिल-प्रवाह में तापस बाला के रूप में भावी पत्नी के ही मधुर स्वप्न देखते रहे। छायावादी कवियों की यह भावी पत्नी भी रीतिकाल के कवियों की रतिवन्ती नायिका के समान 'लाज की छुई मुई सी' ही रही। **यौवन की वासना और प्रकृति की भूमिका में छायावाद के कवि प्रेम के स्वस्थ रूप की प्रतिष्ठा नहीं कर सके।** मध्यकाल के भक्तिकाल की भाँति आधुनिक युग का अधिकांश रहस्य-वाद भी अध्यात्म की विडम्बना बना रहा। कवि प्रसाद के 'आँसू', निराला की 'जूही की कली' और महादेवी के गीतों में रहस्य की अस्फुट छाया में वासना भी समावृत है। अध्यात्म की उच्च और उदार भावभूमि में आत्मा का जो उज्ज्वल और अनाविल आलोक प्रकाशित होता है वह अधिकांश भक्ति काव्य की भाँति आधुनिक रहस्यवाद में भी प्राय कम मिलता है।

स्वतन्त्रता के बाद हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की कुंठाएँ कुछ कम होने लगी तथा प्रेम काव्य का कुछ स्वस्थ रूप विकसित होने लगा। कुछ शेष सीमाओं और पश्चिमी सभ्यता के बहिर्मुख विलास तथा सिनेमा में उसके अतिरंजित

प्रदर्शन के कारण नवयुवक कवियो के मन मे रीतिकाल के रतिकाव्य के सस्कार अब भी अकुरित होते रहे हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि आधुनिक कवियो की प्रेम की कल्पना अधिक व्यापक और उनके शृगार की भावना अधिक स्वस्थ है। कवि का मन स्वतत्रता का बल और मानवता की उदार भावना का सम्बल प्राप्त कर नारी के साथ अपने सम्बन्ध तथा नारी के जीवन के उन पक्षो का भी उद्घाटन कर रहा है जिन्हे रीतिकाल और छायावाद के कवियो की सकुचित दृष्टि न देख सकी थी। पुरुष की शृगार दृष्टि को स्वस्थ और सतुलित बनाने म नारी कवियो की आत्माभिव्यक्ति एक अपूर्व सहयोग दे रही है। युग युग से बन्दिनी, शासित और विमुग्ध नारी का मन स्वतत्रता के नवप्रभात मे मुक्त होकर मनोविलास मे भूले हुए पुरुष के यौवन को व्यक्तिगत सामाजिक और सास्कृतिक सार्थकताओ की नवीन दिशाओ का उद्घाटन कर रहा है। प्रगतिवाद का प्रतिगामी दृष्टिकोण तथा प्रयोगवाद का कला और शैली के साथ व्यभिचार नवीन कविता की इस स्वस्थ दशा को अनेक सक्रामक रोगो की आशका से आतकित कर रहा है। किन्तु विश्वास यही है कि जिस प्रकार राजनीति के क्षितिज पर स्वतन्त्रता का सूर्य दिन दिन ऊपर चढ रहा है उसी प्रकार समस्त दुर्बलताओ, विकृतियो और भ्रान्तियो को जीतकर यौवन और प्रेम के स्वस्थ काव्य की ही प्रतिष्ठा सरस्वती के मन्दिर मे अधिक होगी। प्रेम और जीवन के अन्य रूपो का उद्घाटन इस विश्वास को नई आशाओ और प्रेरणाओ से पुष्ट करता रहेगा।

प्रेम और दाम्पत्य के इस स्वस्थ रूप मे काम और विलास का एक उचित स्थान है, किन्तु रीतिकाल की भाँति उसका अतिरजित चित्रण इन्ही को सर्वस्व मानकर अन्य पक्षो की उपेक्षा करता रहा है। शृगार और विलास की अतिरजना मे युग्म जीवन के अन्य पक्ष तिरोहित होगये। शृगार के व्यक्तिगत रहस्यो को कविता का विषय बनाकर औचित्य की मर्यादा का अतिक्रमण किया। कला और कविता एक सामाजिक विभूति है अत सभ्यता का शिष्टाचार दोनो की मर्यादा है। शृगार और विलास का सभ्यता की मर्यादा मे लाते ही प्रेम के सामाजिक और उदार पक्ष खुलने लगते हैं। वियोग की व्यथाओ और मिलन के सुख के अतिरिक्त प्रेम के परस्पर सम्बन्ध के भी अन्य अनेक पक्ष हैं। वियोग शृगार की अतिरजना पुरुष के अहकार का ही विराट रूप है। रीति कवियो ने पुरुष के वियोग की अपेक्षा वियोगिनी नायिका का ही अधिक वर्णन किया है। नारी की भावना के

सम्बन्ध में पुरुष कवियों की महाभ्रान्ति का यह उत्तम उदाहरण है। इतिहास में पराजित पुरुष वियोगिनी नारी के अश्रुओं की काल्पनिक अर्चना में ही अपने गौरव की पूर्णता मानता रहा। भ्रान्तिपूर्ण होने के साथ-साथ यह प्रेम का असन्तुलित और एकांगी दृष्टिकोण है। प्रेम एक पारस्परिक भाव-सम्बन्ध है। मेघदूत के यक्ष और उसकी प्रिया के पारस्परिक भावों का चित्रण, अज का विलाप, वियोगी राम और दुष्यन्त की विकलता तथा शिव-पार्वती का पारस्परिक भाव कालिदास में प्रेम के सतुलित रूप के उदाहरण हैं। प्रियप्रवास' की वियोगिनी राधा तथा गुप्तजी की वियोगिनी यशोधरा और उर्मिला के उदात्त रूप में हमें रीतिकाल के असन्तुलित वियोग वर्णन का आधुनिक सशोधन मिलता है।

रीतिकाल के वियोग वर्णन के एकांगी रूप के समान ही आधुनिक छायावादी कवियों का प्रेम प्रलाप भी एकांगी है। रीतिकाल का बाल्यकाल में विवाहित कवि विलास की अतिरजनाओं और वियोगिनी के विलापों में अपने कुंठित अहंकार के अनुरजन का साधन ढूँढता रहा। इसके विपरीत यौवन में अविवाहित छायावाद का कवि अपनी अतृप्त वासनाओं की अस्फुट अभिव्यक्ति में अपने कुंठित काम का परितोष खोजता रहा। रीतिकाल का शृंगार काव्य अपरिपक्व कैशोर में परितृप्त काम की स्मृतियों को मनोविलास में स्थायी बनाने के अभिलाषी प्रौढ़-कवियों का मानसिक विलास है। छायावाद का प्रेम काव्य परिपक्व यौवन में भी अतृप्त काम की कुंठाओं का अभिव्यंजन है। दोनों में ही परिपक्व यौवन के अनुरूप मिलन का अभाव होने के कारण काम के स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। इसी कारण दोनों ही काव्यों में प्रेम और दाम्पत्य के स्वस्थ काव्य का रूप नहीं मिलता।

अब स्वतन्त्रता के बाद ज्यों ज्यों जीवन की कुंठाएँ कम हो रही हैं, जीवन का स्वस्थ रूप मनुष्य की कल्पना में प्रस्फुटित हो रहा है। प्रेम और दाम्पत्य के परस्पर भावों तथा दोनों के अन्य पक्षों का उद्घाटन इसी विकास का एक अग है। नवीनतम प्रेम काव्य में विरह और मिलन के भावों के साथ साथ जीवन के अन्य धर्म भी काव्य क्षितिज पर उदय हो रहे हैं। प्रेम सम्बन्ध में भी स्वतत्रता, समानता सहयोग आदि की भावनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। सृजन के मधुर मर्म की प्रतिष्ठा प्रेम काव्य में अब भी कम हो रही है। रीतिकाव्य के 'लरिका लैबे के मिलन छिगुनी तनिक छुवाय' की अन्तर्भावना में व्याप्त तथा वात्सल्य को भी वासना से कलुषित करने वाले शृंगार की भावना विलुप्त हो रही है। किन्तु कुमारसम्भव

की साधना मे अन्तर्निहित सृजन का मधुर मर्म आधुनिक काव्य को पर्याप्त प्रेरणा नही दे सका। यौवन मे भी अविवाहित कवियो से इसकी आशा करना भी एक मनोवैज्ञानिक अन्याय है। विधुर और चिर वियोगी कवि भी अविवाहितो के समान क्षम्य हैं। छायावादी युग के चार दिग्पालो मे जयशंकरप्रसाद ही एक ऐसे थे जिनका अपत्यधर्म कुछ सार्थक हुआ। इसीलिए उनकी 'कामायनी' मे मनु और श्रद्धा के साथ कुमार मानव को भी स्थान मिला है। श्रद्धा के रूप मे मातृत्व के गौरव की महिमामयी प्रतिष्ठा 'कामायनी मे मिल सकती है। किन्तु जिस मातृमूर्ति के गौरव का निर्देश प्रसगत प्रसादजी ने किया है उसका अधिक निर्वाह 'कामायनी' मे भी नही हो सका। भावी कुमार के प्रति मनु की ईर्ष्या पुरुष के परम्परागत अहंकार की सूचक है। पितृ पद के अनुरूप वात्सल्य की भावना मनु मे अन्तत जागरित न हो सकी। श्रद्धा भी कुमार-मानव के जीवन निर्माण की अपेक्षा मनु की असफल साधनाओ को सार्थक बनाने मे अधिक सलग्न रही है। कामायनी और यशोधरा मे सृजन का धर्म सूर और तुलसी के वात्सल्य से आगे न बढ सका। लालन के अतिरिक्त अपत्य के जीवन-निर्माण की भावना इस वात्सल्य की विभूति न बन सकी। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे भरत की सिंह-शावको के साथ क्रीडा मे वात्सल्य की इस निर्माणमुखी भूमिका का आरम्भिक आभास भर मिलता है। 'कुमारसभव' मे कालिदास की शृंगारमुखी दृष्टि तथा पौराणिक कथा की अलौकिकता के कारण सभावना होते हुए भी इसकी प्रतिष्ठा न हो सकी। वाल्मीकि रामायण के लव-कुश की शिक्षा में वात्सल्य के जिस विधायक रूप का चित्रण मिलता हैं वह समस्त संस्कृत और हिन्दी काव्य में दुर्लभ है। शिव-पार्वती की कथा की महत्वपूर्ण सभावनाओ को लेकर 'पार्वती' महाकाव्य मे प्रेम और वात्सल्य के इस विधायक रूप की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य की एक अपूर्व घटना है। सास्कृतिक-समस्याओ की व्यापक और गम्भीर भूमिका मे इसकी प्रतिष्ठा ने व्यक्तिगत प्रेम और सामाजिक श्रय म एक अद्भुत समन्वय स्थापित किया है।

सृजन के अतिरिक्त अन्य गृह-कर्म, सामाजिक सम्बन्ध- और सेवायें, कला, साहित्य, यात्रा, आतिथ्य आदि अनेक स्थितियो में यौवन के प्रेम का विस्तार उसे समृद्ध, सम्पन्न और स्वस्थ बनाता है। रति ही उसका सर्वस्व नही है। रति यौवन के कुसुम के पराग के समान है। वह उसका मर्म और केन्द्र है। किन्तु

यौवन के पुष्प की शोभा उसके चतुर्दिक खिले हुए दलों से होती है। इन दलों के बिना पुष्प का रूप और सौन्दर्य पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार रति के केन्द्र के चतुर्दिक खिलने वाले जीवन के सम्बन्ध और कर्म के अनेक रूपों में प्रेम की पूर्णता होती है। साथ ही यह भी सत्य है कि कुसुम की उत्पत्ति और स्थिति शून्य में नहीं होती। वह वृक्ष की एक डाली का अलंकार है। कदाचित् एक डाली पर भी वह वृन्त का एक कुसुम है। वृक्ष की अन्य डालियों पर खिले हुए कुसुमों के परिवार में उस कुसुम के एकान्त का शून्य सौन्दर्य और सार्थकता से पूर्ण होता है। उपवन अथवा उद्यान में न जाने कितने वृक्ष और पुष्पों के कितने परिवार हैं। इन सब वृक्षों का मूल वसुन्धरा के गर्भ म है जो अपने अन्तर के अमृत-रस से उनका पोषण कर अपनी आत्मा का सौन्दर्य उन्हें प्रदान करती है। रति के कुड्मल कोष में सीमित यौवन का दृष्टिकोण कितना संकुचित है। कर्म और सम्बन्धों के विस्तार तथा जीवन की यथार्थता के आधार में उसे एक उत्कृष्ट समृद्धि और स्वस्थता प्राप्त हो सकती है।

काम-सूत्र की परम्परा पर आश्रित वाल्मीकि के उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में यौवन और प्रेम का यह स्वस्थ और समृद्ध विस्तार बहुत कम मिलता है। रति और रतिमन्दिर की सीमाओं के बाहर कवियों की दृष्टि बहुत कम जा सकी है। नारी के सौन्दर्य-वर्णन में भी हमारे कवि चर्म की गहराइयों में जाकर अन्तर के भाव-सौन्दर्य का चित्रण बहुत कम कर सके हैं। कालिदास की शकुन्तला, उर्वशी, यक्षिणी और पार्वती के रूप-लावण्य की बाह्य और दैहिक रेखाओं के भीतर आत्मा का सौन्दर्य अधिक प्रस्फुटित न हो सका। कालिदास के उत्तरकालीन कवियों की कल्पना तो शताब्दियों तक नारी की अंग-यष्टि के स्थूल तीर्थों की यात्रा में ही अपने धर्म की कृतार्थता मानती रही है। छायावाद के सूक्ष्मदर्शी कवियों के रहस्य-मय आवरण के नीचे भी दैहिक लावण्य का यह मोह छिपा है। रीतिकाल के कवि रति के हाव भावों के अतिरिक्त यौवन के मनोभावों का चित्रण कम कर सके हैं। छायावाद के कवियों में यही वासना कुछ विचित्र भंगिमाओं में व्यक्त हुई है। स्वतन्त्र भारत के नवीनतम काव्य में प्रेम का स्वस्थ और व्यापक भाव-सौन्दर्य धीरे-धीरे व्यक्त हो रहा ह। पुरुष कवियों की दृष्टि नारी के रूप और मन के सूक्ष्म-मर्मों की ओर जा रही है। स्वयं नारी के अन्तर का कवि भी मुक्त होकर मुखरित हो उठा है और पुरुष को अपने अन्तर्भावों को समझने में सहयोग दे रहा है।

किन्तु अब भी कवि का मन सीमित प्रेम की परिधि में ही उलझा हुआ है। अतः प्रेम और यौवन के व्यापक धर्मों और सम्बन्धों की प्रतिष्ठा कम हो रही है। रीतिकाल की भाँति प्रेम अब भी बहुत कुछ मनोविलास ही बना हुआ है। उसके स्वस्थ और सक्रिय रूप का चित्रण साहित्य में कम ही दिखाई देता है। प्रेम एक मनोभाव अवश्य है। किन्तु वह केवल भावना नहीं है। प्रेम जीवन है। उसका एक व्यापक और सक्रिय रूप है। जीवन के धर्मों, सम्बन्धों और आधारों में उसकी प्रतिष्ठा है। यही उसका पूर्ण और स्वस्थ रूप है। रति और मनोविलास के अतिरिक्त सहकार और सहयोग के अन्य रूपों में भी उसका विस्तार काव्य में अपेक्षित है। इनके अतिरिक्त नारी का अपना एक स्वरूप, सौन्दर्य और अस्तित्व है। रति से निरपेक्ष मानकर ही इनका तत्व कवि के मन में उद्घाटित हो सकता है। इस प्रकार सहयोग के साथ-साथ प्रेम में नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा भी अभीप्सित है। इस स्वतन्त्रता का सामाजिक रूप व्यक्तित्व का सम्मान और गौरव है। इस सम्मान के लिए नारी के रमणीभाव के अतिरिक्त मनुष्य की दृष्टि में उसके व्यक्तित्व का मान अपेक्षित है। यह मान परम्परागत शृंगार के मान और मनुहार से नितान्त भिन्न है। शृंगार का मान और मनुहार वासना का स्वार्थमय छद्म है। उसका जितना अंश विनोद और लीलामय है वही रति के प्रेम का सहकारी है, शेष छलना है। व्यक्तित्व का मान मूलतः परार्थ है। उसमें न वासना के लिए स्थान है और न छल के लिए। शृंगार के मान-मनुहार की भाँति नम्रता की विडम्बना भी इसमें आवश्यक नहीं है। आत्म गौरव के साथ-साथ समान भाव से दूसरे के व्यक्तित्व का आदर ही मान का मानदण्ड है। व्यक्तित्व का गौरव केवल मान में नहीं वरन् उसके समुचित विकास में है। मान व्यक्तित्व का आदर है, गौरव उसका उचित उत्कर्ष है। कविता में नारी के व्यक्तित्व के इस विकास और उत्कर्ष की प्रतिष्ठा बहुत कम हुई है। रीतिकाल के रमणी रूप की तुलना में छायावाद का प्रेयसी रूप सूक्ष्म और व्यापक होते हुए भी मूलतः भिन्न नहीं है। 'कामायनी' की श्रद्धा में भी रमणी का आस्थामय रूप ही व्यक्त हुआ है। ऐसा प्रतीत है मानो नारी का यही रूप पूर्ण और परम कल्याणकारी है। यह सम्भव है कि नारी की प्रगति में पुरुष की अपेक्षा अध्यात्म का अन्वय अधिक सहज हो। इसीलिए कदाचित् 'दुर्गा-सप्तशती' में समस्त नारियों को कला सहित देवी का स्वरूप माना है। फिर भी सम्भवतः नारी के लिए भी व्यक्तित्व का

उत्कर्ष और विकास पुरुष क समान ही अपेक्षित है और उसे भी इसके लिए साधना की अपेक्षा है। शिव-पार्वती की कथा म काम-दहन के पूर्व पार्वती की परिचर्या तथा काम दहन के साथ उनके रूप-लावण्य की विफलता तथा उसके बाद शिव को प्राप्त करने के लिए पार्वती की तपस्या यही प्रमाणित करती है कि मगलमय जीवन के वरण के लिए नारी का भी साधना की अपेक्षा है। यह साधना योग के अतिरिक्त सृजन, पालन तथा अन्य सास्कृतिक धर्मो और सबन्धो मे होती है। इस साधना के सहित नारी के व्यक्तित्व के विकास और उत्कर्ष की कल्पना काव्य मे बहुत कम हो सकी है। 'पार्वती' मे शिव और पार्वती की युगल साधना के द्वारा सस्कृति के इस महान् सत्य का सकेत किया गया है। दाम्पत्य जीवन मे सहयोग और समभाव इसी साधना के फल हैं। इन्ही फलो मे सस्कृति की सृजनात्मक और ओजस्वी परम्परा के बीज निहित हैं। प्रेम और शृगार के इन स्वस्थ और सन्तुलित रूपो का आधान करके ही काव्य जीवन और सस्कृति का दीपक बन सकता है। इस सास्कृतिक काव्य मे नवीन युगो के अनन्त जीवन-क्षितिजो के उद्‌घाटन की सम्भावना भी अन्तर्निहित है।

अध्याय ३६

सामाजिक श्रेय और काव्य

व्यक्तिगत सुख के अतिरिक्त सामाजिक सुख और श्रेय को भी प्राय दर्शन और साहित्य मे महत्व मिलता रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इस दृष्टि से सुख और श्रेय की सामाजिक कल्पना आवश्यक रही है। समाज चाहे व्यक्तियो का समूह मात्र न हो किन्तु कुछ आन्तरिक सबन्धो के सूत्र से व्यक्तियो द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। अन्तत व्यक्ति ही सुख और श्रेय का आश्रय है। उसी के चेतन अनुभव मे सुख और श्रेय का अन्वय इन्हे सार्थकता देता है। फिर भी इन दोनो का एक सर्वहितकारी रूप सामाजिक कहलाता है। पश्चिमी आचारशास्त्र के इतिहास मे यह उपयोगितावाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे कर्म के औचित्य की कसौटी सार्वजनिक हित है। उपयोगितावाद मे सुख ही श्रेय का रूप है। सुख के ऐन्द्रिक रूप का भारतीय विचार-परम्परा मे प्रेय कहते हैं। प्रेय श्रेय का समानार्थक नही। कठोपनिषद् मे दोनो को पृथक माना है और उनके विवेक को धीर पुरुष का लक्षण कहा है।[३५] जो सुख मे ही जीवन का कल्याण मानते हैं, वे प्रेय को ही श्रेय मान सकते हैं। यह मान्यता की बात है किन्तु सत्य यह है कि प्रेय प्रकृति है और श्रेय संस्कृति है। प्रकृति जीवन का आधार है, अत स्वस्थ जीवन मे प्रेय का समवाय आवश्यक है। ऐन्द्रिक अतिचार विकृति है, किन्तु एक मर्यादा के अन्तर्गत प्रेय का श्रेय और संस्कृति के साथ समन्वय सम्भव ही नही, आवश्यक है। जो सुख और प्रेय की भर्त्सना करते रहे हैं उनका उद्देश्य यदि अतिचार से लोगो को सचेत करना रहा है तो ठीक है, अन्यथा प्रेय की भर्त्सना केवल भ्रान्ति है। ऐसे सन्त और सन्यासी अत्यन्त दुर्लभ हैं जो अपने जीवन मे किसी न किसी अंश मे प्रेय को महत्व न देते रहे हो। प्रकृति और प्रेय जीवन के अनिवार्य आधार हैं।

प्रकृति और प्रेय मुख्यत स्वार्थमय धर्म है। इनका हित अपने ही लिये होना है। काम के अतिरिक्त इन्द्रियो का कोई ऐसा धर्म नही है, जिसका सुख पारस्परिक सहयोग के रूप मे सम्भव हो। इसीलिए काम प्रेय का परम रूप है और साथ ही श्रेय की भूमिका है। काम का सृजन-सूत्र प्रकृति के साथ-साथ संस्कृति

की परम्परा का भी रक्षक है। प्रकृति और प्रेय की स्वस्थ भूमिका पर ही संस्कृति के प्रासाद का निर्माण होता है। संस्कृति से अन्वित होकर प्रेय स्वयं तो श्रेय बन ही जाता है किन्तु साथ ही प्रकृति के अतिरिक्त जीवन के अन्य सांस्कृतिक रूपों का भी उद्घाटन करता है। संस्कृति के ये रूप अनेक और अत्यन्त व्यापक हैं। प्रकृति की स्वस्थ भूमिका पर मन, बुद्धि और आत्मा के धर्मों का विकास संस्कृति का सामान्य रूप है। सत्य, शिव, सुन्दरम् का अनेकार्थमय मंत्र भी संस्कृति का ही सूत्र है।

सामाजिक श्रेय की कल्पना के अन्तर्गत दूसरों के प्राकृतिक स्वास्थ्य के उपकरणों में सहयोग तथा सांस्कृतिक साधना में सहयोग दोनों ही सम्मिलित हैं। सेवा, दान आदि पहले के अंग हैं। स्नेह सौहार्द, सहानुभूति और प्रोत्साहन दूसरे के अंग हैं। पहले में मन की भावना से प्रेरित इन्द्रियों का कर्म प्रधान है। दूसरे में आत्मा के सद्भाव और बुद्धि के न्याय की प्रधानता है। व्यक्ति के आदर और गौरव तथा उसके व्यक्तित्व का विकास एवं उत्कर्ष इस श्रेयोमुख सहयोग के लक्ष्य हैं। समाज के सामूहिक जीवन की भूमिका में इस लक्ष्य की साधना जीवन का सांस्कृतिक धर्म है।

काव्य में जीवन के इन सामाजिक लक्ष्य की स्थापना प्रायः रहती है क्यों कि अनुभूति और भावना के जिस स्रोत से कविता का उद्गम होता है उसका केन्द्र व्यक्तिगत होते हुए भी उसका क्षेत्र सामाजिक है। अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध में ही भावना का उदय होता है और अनुभूति स्फुटित होती है। सृष्टि के आदि में प्रजापति भी अकेले होने के कारण जीवन के रस का अनुभव न कर सके। अतः उन्होंने यह अनेक रूप सृष्टि की।[३६] इस रूप में सामाजिकता जीवन और काव्य का स्वभाव है। किन्तु इस सामाजिकता के अनेक रूप, पक्ष और स्तर हैं तथा काव्य में भी इनकी प्रतिष्ठा अनेक विधियों से हुई है। सामाजिक क्षेत्र की व्यापकता और संबन्ध की सम्पन्नता इसका एक रूप है। जीवन के मूल्यों और लक्ष्यों के अनुसार इसके अनेक पक्ष हैं। इन मूल्यों और लक्ष्यों की साधना के अनेक धरातल हैं। इन रूपों, पक्षों और धरातलों की विपुलता को लेकर जीवन की सामाजिकता एक बड़ी सम्पन्न कल्पना है। इस अभीप्सित सम्पन्नता के रूप में सामाजिक श्रेय की प्रतिष्ठा काव्य में सहज नहीं। इसके लिए बड़ी व्यापक दृष्टि, गम्भीर अनुभूति, महती प्रेरणा आदि से सम्पन्न कवि-प्रतिभा अपेक्षित है और इस

कवि-प्रतिभा के प्रकाश के लिए एक विशाल और सम्पन्न कथानक का अवलब चाहिए। भारतीय काव्य में महाभारत और वाल्मीकि-रामायण दो ही ऐसी कृतियाँ हैं जिन्हे एक सम्पन्न प्रतिभा के साथ-साथ एक विशाल कथानक मिल सका है, जो अपनी परिधि के सामाजिक श्रेय के अनेक रूपो, विविध पक्षों और विभिन्न धरातलो की सम्पन्नता को समाहृत कर सके हैं। व्यास और वाल्मीकि के बाद भी भारतीय साहित्य में अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं किन्तु उनमे विरले ही अपनी प्रतिभा के स्वरूप को पूर्णत समझ सके और उसके अनुरूप कथानक की भूमिका में सामाजिक श्रेय के सम्पन्न रूप की प्रतिष्ठा कर सके। अधिकाश कवियो की दृष्टि सीमित रही। काम सूत्र और काव्य शास्त्र की सीमाओ के कारण उनकी प्रतिभा व्यापक सामाजिक श्रेय की चेतना का सम्बल प्राप्त नही कर सकी। परिणाम यह हुआ कि हमे उत्तरकाल के काव्यो मे सामाजिक श्रेय के आशिक रूपो का चित्रण ही प्राप्त हो सका।

यह भी कम नही है। सामाजिक श्रेय के व्यापक रूप की प्रतिष्ठा काव्य मे सहज नही है। व्यास और वाल्मीकि एक देश मे अनेक नही हो सकते। अत यदि अन्य कवि सामाजिक श्रेय के किसी भी रूप और पक्ष को किसी भी धरातल पर सफलता पूर्वक अकित कर सके तो इतने मे ही उनके कवि-कर्म की कृतार्थता है। सस्कृत के महाकवियो और हिन्दी के भक्ति काल के कवियो ने अपनी दृष्टि के अनुसार इसका प्रयत्न किया है। कालिदास के काव्यो मे हमे भारतीय जीवन के सामाजिक और सास्कृतिक रूप की प्रतिष्ठा एक अत्यन्त सुन्दर रूप मे मिलती है। कालिदास की प्रतिभा मे कवि चेतना के इतने गुणो का इतना उत्कर्ष और समन्वय है कि वह अन्य कवियो मे दुर्लभ है। इसी कारण कालिदास इतने मान्य और प्रिय कवि हैं। कालिदास के बाद वैसी प्रतिभा का रूप भवभूति और भारवि तथा आधुनिक युग मे रवीन्द्र और प्रसाद मे ही दिखाई देता है। कालिदास के बाद भवभूति और भारवि के काव्य मे उस प्रतिभा ने एक अपूर्व प्रौढता प्राप्त की। भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'महावीर चरित' में प्राप्त राम-कथा मे सामाजिक श्रेय के अनेक पक्षो और उच्च धरातलो का एक ओजस्वी रूप मिलता है। भवभूति का आत्म विश्वास उनकी प्रतिभा की प्रौढता का प्रमाण है। सीता-निर्वासन, बालि-वध आदि रामचरित के ऐतिहासिक दोषो मे भवभूति ने जो सशोधन किए हैं, उनमें सामाजिक श्रेय की समग्रता के प्रति उनकी कवि चेतना की जागरुकता प्रकट

होती है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' के आरम्भिक सर्गों में श्रेयम् काव्य का जो ओजस्वी रूप मिलता है वह दुर्लभ ही है। किन्तु 'किरातार्जुनीय' में विचारों की प्रौढ़ता तथा भाव-सौन्दर्य और ओज का समन्वय इतने सहज रूप में नहीं हो सका कि वह पूर्णतः सफल काव्य का उदाहरण बन पाता। मल्लिनाथ का 'नारिकेल फल सम्मत वचो भारवे' किरातार्जुनीय की क्लिष्टता का एक शास्त्रीय प्रमाण है। जिस अर्थ और गौरव के कारण भारवि की भारतीय काव्य में कीर्ति है, वह काव्य में सहज और पूर्ण रूप में अन्वित न हो सका। ओज और गाम्भीर्य की प्रधानता में प्रसाद और माधुर्य का पर्याप्त पुट भारवि के काव्य में सर्वत्र नहीं मिलता। युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की व्यंगोक्तियों में इस पूर्णता और समन्वय का कुछ आभास मिलता है। श्लोक के अन्तिम पद में प्राप्त होने वाली विदग्ध उक्तियाँ भारवि के अर्थ-गौरव के सूत्र हैं। किन्तु समग्र काव्य के साथ उनका यथोचित अन्वय न होने के कारण वे अपनी प्रमुखता से और विदग्धता से प्रभावित कर शेष काव्य के महत्व को गौण बना देती हैं। 'किरातार्जुनीय' के पिछले सर्गों में प्राप्त काव्य के चमत्कारों का वैभव यह प्रमाणित करता है कि भारवि जैसा अपूर्व प्रतिभाशाली कवि भी काव्य-शास्त्र के उन आकर्षणों से न बच सका, जो योग की विभूतियों की भाँति कवि चेतना की समाधि के उपसर्ग हैं।

इस दृष्टि से काव्य का जो उदात्त और समन्वित रूप हमें भवभूति में मिलता है, वह कदाचित् भारतीय काव्य में अनुपम है। दण्डी का पद-लालित्य शब्द-विन्यास का बाह्य सौन्दर्य है। उसमें कविता की आत्मा प्रतिष्ठित न हो सकी। माघ में अलंकार पद-लालित्य और अर्थ गौरव तीनों का समन्वय बताया जाता है। तीनों की अद्भुत प्रतिभा माघ में है किन्तु सम्भवतः तीनों का समन्वय माघ में इतने आयास से हुआ है कि उसमें काव्य के सहज सौन्दर्य और कान्ति की रक्षा न हो सकी। श्री हर्ष में भी इस प्रतिभा का माघ के समान ही अद्भुत रूप मिलता है। किन्तु दोनों ही परम्परागत काव्य-शास्त्र के चमत्कारों और अर्थ-विन्यास की कुशलताओं में उलझे रहने के कारण श्रेयम् काव्य का वह सहज और सफल रूप हमें नहीं दे सके जो हमारी संस्कृति की सामाजिक निधि बन सके। काव्य-न्याय अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि बाण और भवभूति का काव्य ही इस आदर्श के सबसे निकट है। बाण के काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज के समन्वय के साथ जिस हृद्य रूप में जीवन के गम्भीर तत्वों का सन्निवेश मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भवभूति

मे भी इसके योग्य पर्याप्त प्रतिभा थी किन्तु उस प्रतिभा की सफलता नाटक की शैली और कथानक की सीमाओ के कारण सफलतापूर्वक अपना उपयोग न कर सकी। बाण के काव्य की सफलता कथानक को निमित्त मात्र मानकर पद पद के अवसर पर जीवन के गम्भीर तत्वो की विपुल और विपद व्यजना मे है। प्रबन्ध की अपेक्षा निबन्ध रूप मे बाण की प्रतिभा अधिक व्यक्त हुई है। व्यापक परिव्रजन के विपुल अनुभवो के समावेश मे कथा के सीमित अवसरो मे भी बाण की महती प्रतिभा का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है।

सामाजिक श्रेय और काव्य सौन्दर्य का सर्वोत्तम समन्वय होने के कारण कालिदास सस्कृत के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। कालिदास के काव्य सौन्दर्य मे उपमा की प्रधानता के कारण उपमा कालिदासस्य काव्य परम्परा मे उनकी कीर्ति मान बना। शृगार और सौन्दर्य की प्रधानता के कारण कालिदास के काव्य को वाणी के विलास का पद मिला। काव्य सौन्दर्य की अस्फुट और सहज व्यजना के कारण भास का काव्य वाणी का हास ही है। काव्यालोचन के इन दृष्टिकोणो मे भी काम-सूत्र से प्राप्त शृगार दृष्टि का ही प्रदर्शन मिलता है। फिर भी इसमे सन्देह नही कि भास के हास की अपेक्षा कालिदास के काव्य मे वाणी के विलास का माधुर्य और उसकी सनियता, उप्मता और रसमयता मिलती है। भारतीय सस्कृति के वातावरण और तत्वो का सनिवेश कालिदास और बाण मे ही सबसे अधिक मिलता है। इस सनिवेश के साथ साथ कालिदास के काव्य का रूप भी उत्तम है। रघुवश के मगलाचरण के अनुरूप वागर्थ की जो अनायास सम्पृक्ति कालिदास के काव्य मे मिलती है वह अनुपम है। इसी कारण कवि परम्परा की उक्ति म कवियो के गणना प्रसग मे कालिदास के कनिष्ठकाधिष्ठित होने पर अनामिका आज तक असार्थवती है। कुम्हार के चाक पर उगली के इशारे से बनते हुए दीपको की तरह जीवन और काव्य की सामग्री स कालिदास के श्लोक अनायास बनते हुए चले आते हैं। वसन्त के प्रभात म मलयानिल के इगित से सहज भाव से खिलते हुए कुसुमो की भाँति कालिदास के अक्लिष्ट श्लोको का भाव माधुर्य और रूप सौन्दर्य अपनी सहज विभूति से हमारे हृदय को अर्चित कर देता है। कवि के सायास कौशल और सचेष्ट चमत्कार से अछूते होने क कारण कालिदास के छन्द कुसुमो का लावण्य और उनकी कान्ति शकुन्तला के रूप के अनाघ्रात कुसुम और उसकी कान्ति के अलून किसलय के समान ही है। शाकुन्तल और रघुवश के कुछ सर्गो

मे कालिदास की प्रतिभा का जो पूर्ण और सफल रूप मिलता है वह अनुपम है। किन्तु काम-सूत्र के प्रभाव और काव्य-शास्त्र की परम्पराओं के आकर्षण ने कालिदास की प्रतिभा को भी अपने पूर्ण रूप मे सफल न होने दिया। मेघदूत के मार्मिक शृंगार मे जिसकी व्याख्या मे कोलाचल मल्लिनाथ का अर्धवय व्यतीत हुआ तथा जिसके निगूढ स्थलो पर आकर उन्हे पाठको को 'शेष प्रियायै पृष्टव्यम्' का आदेश देना पडा तथा रघुवंश के अन्तिम सर्ग मे जिसकी टीका मे मल्लिनाथ को काम-शास्त्र के अनेक ग्रन्थो का सन्दर्भ देना पडा है, काम-सूत्र का प्रभाव पूर्णत प्रकट है। उपमाओ के आधिक्य और रघुवंश के नवम सर्ग के यमक मे काव्यशास्त्र की अलकार-प्रधान परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। शृंगार और सौन्दर्य से प्रभावित दृष्टि के कारण कालिदास की अनुपम प्रतिभा सुन्दर काव्य के उत्तम रूप मे ही कृतार्थ हुई। नि सन्देह कालिदास का काव्य वाणी का विलास ही है। कालिदास इस विलास मे विभोर हो गये, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि 'कुमार सम्भव' के जैसे महान् सास्कृतिक और श्रेयम् सभावनाओ से पूर्ण कथानक को उठाकर भी उनकी प्रतिभा व्यापक सामाजिक श्रय की प्रतिष्ठा से पूर्ण काव्य प्रदान न कर सकी। काम-सूत्र से प्राप्त शृंगार-परम्परा से कालिदास की प्रतिभा कितनी विवश थी इसका प्रमाण 'कुमार सभव' मे पार्वती के रूप वर्णन मे मिलता है। शास्त्र-परम्परा का पालन करते हुए उन्होने पार्वती का रूप वर्णन दिव्यता के अनुरूप पादाङ्गुष्ठ और नखो से आरम्भ किया है। किन्तु पार्वती के रूप वर्णन मे अनुरूप दिव्यता की प्रतिष्ठा नही हो सकी। शकुन्तला और उर्वशी के लौकिक रूप वर्णन से उसमे कोई विशेषता नही है। नख-शिख वर्णन की प्रशस्त परम्परा के अनुकूल पार्वती की अग यष्टिका वही स्थूल वर्णन है जो शृंगार काव्य मे सर्वत्र पाया जाता है। शृंगार सामाजिक श्रेय का सर्वस्व नही है और न विलास जीवन की सम्पूर्ण विभूति है। सामाजिक श्रेय के विकास और उत्कर्ष के लिए जिस ओज के अन्वय की अपेक्षा है, वह कालिदास मे दुर्लभ है। निर्वासिता सीता के उपालम्भ मे जैसा ओज है वह भी निर्वासिता शकुन्तला मे नही है और कालिदास के युद्ध तथा अमर्ष के प्रसगो मे भी नही मिलता। कालिदास तथा प्रसाद माधुर्य, सौन्दर्य और शृंगार के कवि हैं। ये सास्कृतिक श्रेय के अपूर्ण तत्व हैं। इसीलिए कालिदास मे श्रेयस् और सास्कृतिक काव्य का पूर्णत प्रस्फुटित रूप न मिल सका। विक्रमादित्य जैसे वीर, उदार और ओजस्वी सम्राट के जीवन-वृत्त को लेकर भी वे एक प्रेम-कथा ही हमे प्रदान कर

सके। सम्राट् विक्रमादित्य के उदात्त जीवन का सूर्य के समान ओजस्वी रूप अंकित कर वे हमारी सांस्कृतिक परम्परा को शक्ति और श्रेय का एक शाश्वत सवल नहीं प्रदान कर सके।

हिन्दी काव्य मे युग की प्रवृत्तियो के साथ साथ काव्य शास्त्र की सीमाओ का भी प्रभाव है। वीर काव्यों मे राजाओ की वीरता की प्रशसा और शृगार के पुट के अतिरिक्त सामाजिक श्रेय के अन्य रूपो के लिए अवकाश न था। सामन्त-वादी युग के काव्य मे इससे अधिक आशा नही की जा सकती। भक्ति काव्य मे ईश्वर का इतना प्रभुत्व है कि मनुष्य जीवन के गौरव का उसमें कोई स्थान न रहा। हिन्दी का भक्ति काव्य राम और कृष्ण की अलौकिक लीलाओ और उनके प्रेम तथा उपासना मे ही जीवन का सर्वस्व मानता रहा। प्रेम और भक्ति की तन्मयता में जीवन के अन्य श्रेयो की ओर भक्त कवियो की दृष्टि या तो गई नही और यदि गई भी तो उस सबका उत्तरदायित्व उन्होने भगवान को सौंप दिया। पराजित जाति के लिए एक ईश्वर का अवलब ही शेष रह गया। भक्ति के भावो की गम्भीरता और ईश्वरीय चमत्कारो की समर्थता मे ही उस समय का पराजित समाज अपने जीवन की ग्लानि को भुलाने का प्रयत्न करता रहा। भक्ति काव्य इस युग की सृष्टि नही है। उसकी एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। देवताओ का आश्रय और उनके अलौकिक चमत्कारो मे विश्वास हमारे धर्म का मौलिक रूप है। धर्म का यही रूप हमारे राजनीतिक पतन का कारण हुआ। पराजय और पराभव के युग मे यही हमारा आश्वासन और अवलम्ब बना। राज-नीतिक परिस्थिति की विवशताओ के कारण स्वस्थ, स्वतत्र और श्रेयम् समाज के प्रतिकूल जो भी तत्व हमारी सामाजिक परम्परा मे वर्तमान थे वे इस युग के अनुकूल वातावरण मे पलते रहे। वैशेषिक दर्शन मे अभ्युदय-पूर्वक नि श्रेयस को धर्म माना है।[१७] लौकिक अभ्युदय की उपेक्षा करके धर्म और अध्यात्म एकागी बन जाता है। एकागी अस्वस्थ और असमर्थ होने के कारण वह बहुत दिन तक अपने मूल तत्व को अक्षुण्ण नही रख सकता। अभ्युदय की उपेक्षा करके अन्तत वह पतन का अनुगामी बनता है।

रीतिकाल का शृगार और विलास का काव्य एकागी भक्ति काव्य की पतनोन्मुख गति का प्रमाण है। भक्ति का आध्यात्मिक प्रेम लौकिक विलास के रूप मे पतित हुआ। रीतिकाव्य मे नायिका भेद की छाया मे राधा-कृष्ण और गोपियो के प्रेम

का ही चित्रण अधिक हुआ। इसका कारण यह था कि अभ्युदय के उत्साह से विहीन एक पराजित जाति को आत्म-ग्लानि भुलाने के लिए कृष्ण की प्रेम-लीला का विलास ही मद्य प्रदान कर सकता था। इसीलिए रीतिकाल मे रामचरित की उपेक्षा हुई। कृष्णचरित मे भी उनके वीर कृत्यो की ओर शृगारी कवियो का ध्यान नही गया। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की प्रेम और रास की लीलाएँ ही सूर-सागर का आधार हैं तथा रीति काव्य की प्रेरणा हैं। शिव के तपोमय और ओजस्वी चरित्र का तो इस विलास के युग मे कोई अवकाश ही न था। हिन्दी का भक्ति-काव्य भी एक पराजित जाति का ईश्वरावलम्बन है। अत उसमे भी शिव और पार्वती के तपोमय जीवन के विधायक और विजयी रूप की प्रतिष्ठा सम्भव न थी। तुलसीदास भी, जिन्होने शैवो और वैष्णवो के विरोधो का समन्वय करने का प्रयत्न किया, शिव के विवाह और बरात के उपहास से अधिक शिव-कथा का प्रयोजन न देख सके। शिव को राम का उपासक बनाकर तथा शिव का उपहास करके उन्होने इस समन्वय के मूल पर ही आघात किया है। समन्वय का आधार समानता है। एक उत्कृष्ट लक्ष्य मे दो विरोधी तत्वो को समान मान देकर ही उनका उचित समन्वय हो सकता है।

अस्तु, रीतिकाल मे शिव और राम के उदात्त चरित्रो की उपेक्षा करके कृष्ण के रमणीय चरित का अनेक-विध चित्रण होता रहा। काव्य-शास्त्र और काम-सूत्र की परम्पराओ के आधार पर नायिका निरूपण और अलकार विधान मे ही कवि कर्म की कृतार्थता रही। आधुनिक छायावाद के युग मे रीति काव्य के परम्परागत रूप और शैली का तो विरोध हुआ किन्तु एक दृष्टि से छायावाद के युग का प्रेम काव्य रीति काव्य की आत्मा का ही पुनर्जन्म है। इस युग मे केवल प्रसाद और निराला के काव्य मे जीवन की कुछ मगलमयी उदात्त वृत्तियाँ व्यक्त हुई हैं। पन्त के नवीनतम काव्य मे सामाजिक श्रेय की मगलमयी प्रतिष्ठा के कुछ सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक सकेत मिलते हैं। इन सकेतो के पीछे अरविन्द के अध्यात्म की प्रेरणा है। पन्त सौन्दर्य के कवि हैं। अत उनके काव्य मे सामाजिक श्रेय के ओजस्वी रूप की आशा व्यर्थ है। निराला के महाप्राण व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियो मे ओजस्वी श्रेय की वृत्तियो का बिखरा हुआ रूप मिलता है। गीतिका के मन्द्र-गम्भीर स्वरो मे लोक मगल सहस्र रागो मे मुखरित हो उठा है। किन्तु निराला की रहस्यमय अभिव्यक्ति के कारण उनका काव्य लोक की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित

होने की सभावना नही रखता। गीतो के रूप मे विखरा हुआ होने के कारण सामाजिक श्रेय के विधान और व्यवस्था की दशा भी खोजना उसमे कठिन है।

छायावाद के युग मे प्रसाद की कामायनी ऐसा एक मात्र काव्य है जिसमे जीवन के मगलमय रूप की प्रतिष्ठा एक मौलिक और व्यवस्थित रूप मे मिलती है। **मनु और श्रद्धा की सनातन कथा के आधार पर मनोवृत्तियो के मार्ग से जीवन के मंगलमार्ग का जो विधान कामायनी में प्रसाद ने प्रस्तुत किया है वह हिन्दी काव्य की ही नहीं, विश्व काव्य की अनमोल निधि है।** शैव मत के आनन्द और श्रद्धा-रूप मे नारी की प्रतिष्ठा कामायनी के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। कामायनी के आरम्भ मे प्रसाद ने मनु के चरित्र मे पुरुष के सनातन स्वार्थमय भोग-प्रधान और वात्सल्य रहित तथा शासन का भी प्राकृत रूप का चित्रण किया है। श्रद्धा के सहयोग और मनु की अल्प-साधना से इसका थोडा सा सकेत कामायनी मे है। मनु को कैलाश स्थित आनन्दमय शिव के दर्शन होते हैं। **'कामायनी' मनुष्य की प्रवृति और साधना के आधार पर व्यक्तिगत कल्याण का मार्ग दीप है।** इस व्यक्तिगत साधना मे भी साध्य और साधन की पर्याप्त सगति कामायनी मे नहीं मिलती। **साधना प्रकृति के संस्कार का मार्ग है।** इस सस्कार के द्वारा ही समाज और सस्कृति मे मगल की प्रतिष्ठा होती है। इस सस्कार का पूर्ण रूप बहुत व्यापक है। व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक व्यवहार मे इसकी अनेक दिशाये हैं। सास्कृतिक क्षेत्र मे इसके अनेक धरातल हैं। कामायनी की सीमित परिधि मे विशेषत उसकी व्यक्तिगत भूमिका के कारण लोक-मगल के इन विविध रूपो और धरातलो को कामायनी मे समुचित स्थान न मिल सका।

रामचरितमानस की सीता के श्रद्धामय तथा कृष्णचरित की राधा के मुग्धा रूप से ऊपर नारी के स्वरूप और जीवन की कल्पना भारतीय कवि बहुत कम कर सके हैं। **इसी प्रकार लालन से अधिक वात्सल्य की कल्पना में वे असमर्थ रहे हैं।** सामन्तवाद ईश्वर के प्रभुत्व और आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के कारण मनुष्य के स्वतन्त्र गौरव, लोक के समृद्ध रूप और जागरित जन समाज की कल्पना प्रमुख भारतीय कवियो मे नही है। (प्राचीन पश्चिमी कवियो मे भी इसका अभाव है। वस्तुत यह आधुनिक युग की चीज है)? गुप्त जी की यशोधरा और उर्मिला तथा कामायनी की श्रद्धा मे नारी का वही परम्परागत रूप अंकित है। वह केवल श्रद्धा

है। भारतीय कवि विश्वास-रजत नग के पदतल मे जीवन के समतल मे केवल पीयूष स्रोत के समान निस्पद भाव से बहते रहने की कामना नारी से करता है। नारी के शक्ति रूप की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य में दुर्लभ है। उसके स्वतत्र गौरव का अनुमान और मान करने मे पुरुष का परम्परागत दभ बाधक है। जन-समाज के जागरण और स्वातन्त्र्य की भावना कुछ तरुण कवियो के स्फुट गीतो के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलता। यौवन के गौरवमय रूप की कल्पना को एक सम्पन्न रूप दे सकने में भी कोई कवि समर्थ नहीं हुआ है। जन-जागरण और स्वतत्रता के युग के अनुरूप काव्य अभी भविष्य की आशा ही बना हुआ है।

प्रसाद और रवीन्द्र आधुनिक युग के दो महान् कवि थे। किन्तु दोनो उच्च वर्ग मे उत्पन्न हुए थे। अत दोनो ही सामाजिक श्रेय की ऐसी कल्पना मे असमर्थ रहे। दोनो नवयुग के सास्कृतिक जागरण के सन्देश वाहक थे। दोनो मे ही हमे भारतीय सस्कृति के अनेक महत्वपूर्ण पक्षो का ऐसा चित्रण मिलता है, जो युगो तक भारतीय चेतना को मुग्ध करता रहेगा। प्रसाद के नाटको मे चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि के ओजस्वी चरित्रो मे मध्ययुग के इतिहास का उज्ज्वल और उदात्त रूप प्रस्तुत किया है। रवीन्द्रनाथ ने अपने निसर्ग मधुर गीतो मे भारतीय अध्यात्म के हृदय की मर्ममयी व्यजना प्रदान की है। रवीन्द्रनाथ के राजसी जीवन की सीमाओ मे सस्कृति और अध्यात्म का सौन्दर्य ही प्रतिष्ठित हो सका। कालिदास के समान वे प्रमुखत सौन्दर्य के ही कवि हैं। अत उनमे प्रसाद और माधुर्य की प्रचुरता तथा ओज की न्यूनता है। प्रसाद के काव्य मे भी उनके नाटको का ओज उपलब्ध नही होता। ओज के विना जन-जागरण, नारी-गौरव, यौवन की विभूति आदि सास्कृतिक श्रेय के महत्वपूर्ण तथा विधायक तत्वो का समावेश काव्य मे नही हो सकता। प्रसाद गुण व्यजना की प्राजलता का साधन है। काव्य के बौद्धिक तत्वो का हृद्य बनाने मे वह सहायक होता है। अत सभी पारदर्शी काव्य के लिए, वह आवश्यक है। माधुर्य का पुट काव्य को सुन्दर और रमणीय बनाता है किन्तु उसका अतिरेक अथवा प्राधान्य केवल सुन्दर और रमणीय काव्य मे ही उचित है। स्वस्थ और शिव-काव्य मे मिष्टान्नो का सा नही फलो का सा माधुर्य चाहिए। किन्तु शिव के सजग, समर्थ, सक्रिय और उत्कर्षशील रूप की प्रतिष्ठा ओज के आधार पर हो सकती है। अधिकाश भारतीय कवियो मे ओज का अभाव होने के कारण शिव का यह रूप समादृत न हो सका।

आधुनिक कवियों में दिनकर ही एक ऐसे कवि हैं जिनमें कविता का ओजस्वी स्वर एक सिद्ध कंठ से मुखरित हुआ है। बच्चन के स्वर में भी ओज की कुछ ध्वनि गुंजित हुई थी। किन्तु वह ओज जवानी का जोश था, जिसमें प्रेम की तीव्रता थी, किन्तु कल्याणमुखी सांस्कृतिक चेतना का पर्याप्त जागरण न था। इसीलिए यौवन के आवेग के साथ बच्चन की कविता का उतार हुआ। हाला के सागर का ज्वार मन्द हो गया और उनकी पिछली कविताओं में बौद्धिक छन्द-विधान का सायास क्रम दिखाई देने लगा। आयर्लैण्ड के प्रवास से भेजी हुई प्रणय-पत्रिकाएँ भी यौवन और प्रेम के इस उतरते हुए ज्वार की मन्द ध्वनियाँ हैं। इसके विपरीत दिनकर का ओजस्वी स्वर आरम्भ से ही एक सांस्कृतिक प्रेरणा को लेकर उठा था। कवि के विकास और देश की प्रगति के अनुकूल वह ज्वार उठता ही गया। दिनकर के अनेक काव्यों में इस स्वर के बहुविध राग विधान प्रकट हुए। 'कुरुक्षेत्र' में उस ओजस्वी स्वर का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। युद्ध की भूमिका में जीवन के श्रेय की अनेक गम्भीर समस्याओं को 'कुरुक्षेत्र' में एक सबल अभिव्यक्ति मिली है। अर्थ-व्यवस्था की विषमताओं और उससे उत्पन्न अनर्थों के विश्लेषण की ओर 'कुरुक्षेत्र' के कवि की दृष्टि अधिक रही है। इसमें सन्देह नहीं कि अर्थ अधिकांश अनर्थों का मूल है। किन्तु मानवता के मान की समस्या भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसके बिना अर्थ-मीमांसा अपूर्ण है। मानवता के प्रसंग में नारी का स्थान और मान संस्कृति का मर्म स्थल है। अर्थ मीमांसा में अधिक संलग्न रहते हुए भी 'कुरुक्षेत्र' का कवि संस्कृति के इस मर्म की ओर पूर्णतः सजग है। द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग को लेकर दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में इस मर्म की ओर संकेत किया है। नारी के गौरव को कवि ने नर की कीर्ति की प्रतिष्ठा माना है। अपनी रक्षा के लिए ईश्वर के प्रति द्रौपदी की पुकार को दिनकर ने नर की कीर्ति का अवसान माना है।[३०] 'रश्मिरथी' के कर्ण के उदार और ओजस्वी चरित्र में भी द्रौपदी के अपमान की वेदना का अन्तर्दाह बहुत तीव्र है। अपने अन्तिम क्षणों में कर्ण को सब प्रकार से सन्तोष है। केवल एक यही शूल उनके मरणासन्न प्राणों को वेध रहा है कि वे उस संकट काल में एक निर्यातित नारी के शील और मान की रक्षा क्यों नहीं कर सके।

अर्थ की सुव्यवस्था, नारी का मान और मानवता की प्रतिष्ठा संस्कृति की त्रिपथगा है। संस्कृति की त्रिवेणी के इस संगम में आततायियों की संगठित अनीति

और प्रवल अतिचार मुख्य बाधा है। जैन और बौद्ध धर्मों के उदयकाल से एकागी अहिंसा और अध्यात्म की साधना हमारी संस्कृति का अभिशाप बनी रही है। चन्द्रगुप्त की विजय के बाद इतिहास के एक शान्ति युग मे अशोक की धर्मपताका की एकागी कीर्ति को छोडकर यही अभिशाप निरन्तर हमारे पतन और पराजय का कारण बना रहा। महाभारत के मत्र-वाक्य के अनुसार अमर्पशून्य पुरुष क्लीव है।[३६] पराजित की सहिष्णुता, करुणा, क्षमा और अहिंसा वस्तुत उसकी असमर्थताएँ हैं। पौरुष के तेजस्वी पीठ पर ही सांस्कृतिक गुणो की श्रेयोमयी प्रतिष्ठा होती है। एकागी अध्यात्म और अहिंसा की असमर्थताओ का दिग्दर्शन 'कुरुक्षेत्र' मे स्पष्ट मिलता है। इस प्रकार सांस्कृतिक श्रेय के व्यापक रूप और उसकी गम्भीर समस्याओ का जो सन्निवेश दिनकर के काव्य मे मिलता है वह हिन्दी के समस्त काव्य मे दुर्लभ है। 'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर की इसी गभीर सांस्कृतिक चेतना की एक प्रौढ परिणति है।

स्वतत्र भारत के नवोत्थान के नवयुवक कवियो मे जहाँ एक ओर प्रेम का कुछ स्वस्थ रूप नारी की समानता और उसके गौरव के साथ निखर रहा है वहाँ अर्थ और अनीति की सांस्कृतिक समस्याओ के प्रति भी उनकी जागरूकता प्रकट होती है। किन्तु कुरुक्षेत्र' के कवि की भाँति ये नवयुवक कवि भी अर्थ व्यवस्था की विषमताओ मे ही अधिक उलझे हुए हैं। युद्ध और राजनीति के इस युग मे अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रभाव के कारण आसुरी वृत्तियो की सगठित अनीति के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष को विश्वयुद्ध की भूमिका के अतिरिक्त आज के कवि और विचारक देखने मे असमर्थ हैं। साम्यवाद के प्रभाव के कारण आर्थिक अनीति पर ही कवियो की दृष्टि अधिक है। फ्राइड के मनोविश्लेषणवाद ने विकृतियो के मूलो का उद्घाटन और उपचार अधिक किया है अथवा साहित्य और सामाजिक जीवन मे विकृतियो का वर्धन किया है, यह निर्णय करना कठिन है। अर्थ की विषमताओ मे उलझे रहने के कारण तथा मनोविश्लेषणवाद के निभृत प्रभाव के कारण आज का मानव और आज का कवि काम और नारी के प्रति अपने सबन्ध का स्वस्थ दृष्टिकोण नही अपना पा रहा है। साम्यवाद, मनोविश्लेषणवाद और विज्ञान ने मिलकर आधुनिक सांस्कृतिक भावना को भोगमुखी बना दिया है। इसीलिए सांस्कृतिक व्यवस्था मे स्वस्थ रूप का समायोजन कठिन हो रहा है। रीतिकाल और छायावाद के कवियो की भाँति ही काम से अभिभूत रहने के कारण तथा नारी के

प्रयसी रूप के ही अभ्यस्त होने के कारण नये कवि भी नारी के शारीरिक मानसिक और सास्कृतिक गौरव के विरुद्ध अनीति के सगठित अतिचारो के प्रति अधिक सजग नही हैं। हिन्दी के चिर कुमार कवि पन्त के मुक्त करो नारी को वन्दिनी सखी प्यारी को ऐसे नारी मुक्ति के नारो के अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्रता के स्वरूप और साधनो का कोई समृद्ध रूप नवीनतम हिन्दी काव्य मे भी नही दिखाई दे रहा है। स्वतन्त्रता सग्राम की राजनीतिक सीमाओ मे महात्मा गाधी द्वारा उत्थापित युद्ध का एकागी अहिंसावाद युवको के इस विमोह मे अफीम का काम कर रहा है। इसीलिए अधिकाश कवियो मे नारी के गौरव के प्रति वह ओजस्वी जागरूकता नही है जिससे कुरुक्षेत्र का कवि विकल है तथा रश्मिरथी का कर्ण अपने आतकान्त म पीडित है। नारी वन्दिनी ही नही वह अनेक अतिचारो से पीडित और अनेक आशकाओ से आतकित है। पन्त के उदबोधन म सामन्तवादी युग की वीर भावना की प्रतिध्वनि हैं जो नारी को प्रयसी और रक्षणीया के रूप मे देखती रही। इस युग और इस युग क काव्य मे अहिंसा के प्रचार के कारण पराभव म विगलित वीर भावना तो पुन जागरित न हो सकी किन्तु नारी का प्रयसी रूप अक्षुण्ण बना रहा। अत अहिंसा युग के सुकुमार कवियों के म उदबोधन मत्र एक स्वस्थ सास्कृतिक आकाक्षा की असमर्थ विडम्बनाएँ मात्र ह।

युद्ध के अतिरिक्त नारी के शारीरिक गौरव मानसिक मान और सास्कृतिक समादर म सामाजिक अनीतियो की व्यवस्थाए बाधक हैं। प्रेम और अहिंसा से विमोहित आधुनिक किन्नर कुमारो और कवि किशोरो की इस दिशा मे पर्याप्त जागरूकता नही है। इसका मुख्य कारण शक्ति-साधना के प्रति सजकता का अभाव है। दुबल और असमर्थ युवको का प्रेम भी रोग है। रीतिकाल का शृगार-काव्य अस्वस्थ विलास का उदाहरण है। छायावाद का प्रेम काव्य अस्वस्थ प्रेम का उदाहरण है। आधुनिक प्रेम काव्य पर दोनो का ही प्रभाव बना हुआ है। समाज और सस्कृति मे यौवन के स्वस्थ रूप की प्रतिष्ठा द्वारा ही भोग विलास और प्रेम क भी स्वस्थ रूप का आदर हो सकता है। यौवन के इस स्वस्थ रूप में शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ ज्ञान, शील शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय अपेक्षित है। किन्नर-सस्कृति को छोडकर जब युवको और युवक कवियो म यौवन के इस स्वस्थ आदर्श के प्रति जागरूकता उत्पन्न होगी तभी उनकी चेतना म नारी क गौरव का पूर्ण रूप भी प्रस्फुटित होगा। किन्नर सस्कृति क वैभव और आकर्षण स भ्रान्त

आधुनिक नारी भी पुरुष के व्यामोह से मुक्त होने पर ही अपने तन, मन और सौन्दर्य के गौरव को पहचानेगी। तभी वह भी पार्वती और महाश्वेता के समान यौवन के प्राकृत भोग की तपोमयी सांस्कृतिक भूमिका के महत्त्व को भी अपनी साधना में प्रतिष्ठित कर सकेगी। तभी वह असुर-विजयी और नवीन स्वर्ग के निर्माता कुमारों का निर्माण कर सकेगी। तभी वह भरत और लव-कुश से वीर नायकों की जननी बन सकेगी। इस सबके लिए नारी के मन में सांस्कृतिक चेतना का जागरण और शील के प्रति सम्मान तो अपेक्षित है ही, किन्तु इसके समान ही आवश्यक पुरुष का नेतृत्व है। शिव पार्वती की मंगलमयी कथा में पार्वती की तपस्या के पूर्व शिव का कामदहन और उसके भी पूर्व उनका सनातन तपोमय रूप पुरुष के इसी सांस्कृतिक नेतृत्व का प्रतीक है। तप और शील से संस्कृत प्रकृति ही नर नारी के स्वास्थ्य और शक्ति में अन्वित होकर यौवन के सौन्दर्य, भोग और प्रेम को सफल बनाती है। शक्ति से अन्वित होकर ही शील सेनानी कुमारों की परम्परा द्वारा श्रेय की सांस्कृतिक विजय और सामाजिक प्रतिष्ठा का पथ प्रशस्त करता है। इसी समर्थ भूमिका में नारी के गौरव का पूर्ण रूप प्रस्फुटित होता है तथा मानवता के अज्ञात मर्म का आविर्भाव होता है।

अध्याय ३७

शिवम् की साधना का रूप और उसके तत्व

सत्य शिव सुन्दरम् मानवीय संस्कृति की त्रिवेणी है। संस्कृति की पूर्ण कल्पना मे तीनो का ही समन्वय अपेक्षित है। सांस्कृतिक काव्य का रूप इन तीनों के ही सहयोग मे निर्मित होना है। इनकी पृथक पृथक साधना से शास्त्र और कला का विकास होता है। शास्त्र संस्कृति के आधार और कला उसका अंग तथा अलंकार है। शास्त्रो म सत्य शिव और सुन्दरम् के रूपो का अलग अलग और बौद्धिक विवेचन शास्त्रा को जन्म देता है। विज्ञानों और दर्शनो मे सत्य की जिज्ञासा और उसका निरूपण किया जाता है। सत्य के यथार्थ रूप का निर्धारण ही शास्त्रो का मुख्य प्रयोजन है। चेतना मे उसकी अवगति से जिज्ञासा शान्त होती है। अपने स्वरूप के अभिज्ञान की आकुलता ही मानो प्रकृति के विकासक्रम मे चेतना के रूप मे आविर्भूत हुई। विकास की इस अपूर्व घटना से सत्य का एक दूसरा रूप उद्घाटित हुआ। यह सत्य अवगति का निरपेक्ष अभिज्ञान मात्र नहीं वरन् चेतना की अपरिमित सम्भावनाओ का स्रोत है। प्राकृतिक सत्ता और रूपो का भी चेतना के उद्भव म एक नवीन सार्थकता प्राप्त हुई है। स्वरूप के अभिज्ञान के लिए आकुल प्रकृति को मानो अपने स्वरूप की नवीन सम्भावनाएँ उद्घाटित हुईं। इसके पूर्व मानो प्रकृति अज्ञात-यौवना कुमारी की भाँति अज्ञात रूप से पार्वती का सा तप कर रही थी। उसके अपार सौन्दर्य और असीम भावना की सफलता का मार्ग अभी नहीं खुला था। चेतना के उद्भव मे मानो प्रकृति की मूल शक्ति परम शिव से संयुत हुई और उनके इस परस्पर संयोग मे दोनो के जीवन का एक नया मार्ग खुला।

अभिज्ञान और अवगति के अतिरिक्त इस विकास में प्रकृति को संस्कृति के नये रूपो के निर्माण का उपादान बनने का अवसर मिला। इन नये रूपो म मानवीय जीवन और संस्कृति के साथ प्रकृति के सुन्दर समन्वय की मंगलमयी सम्भावनाएँ प्रकट हुईं। चेतना के उदय मे सृजन के नवीन और सांस्कृतिक रूपों की असीम सम्भावनाएँ उद्घाटित हुईं। सृजन का प्राकृतिक धर्म सुन्दर और मंगलमय

बनकर सांस्कृतिक जीवन का मधुर मर्म बना। इस सांस्कृतिक सृजन मे प्राकृतिक सृजन की समस्त विभूतियो का अन्तर्भाव होने के अतिरिक्त अभिव्यक्ति के आनन्द और सौन्दर्य का आविर्भाव तथा आत्मदान के शिव का समवाय हुआ। इस प्रकार प्राकृतिक सत्ता का सत्य चेतना के आविर्भाव से शिवं और सुन्दरम् से समन्वित होकर सांस्कृतिक कल्पना की पूर्णता में प्रतिफलित हुआ।

कला और काव्य इसी पूर्णता को प्रतिष्ठित करके संस्कृति की विभूति बन सकते हैं। सत्य की जिज्ञासा से प्रसूत विज्ञान और शास्त्र संस्कृति के मार्ग-प्रदीप हैं। वे उन अर्थों, तथ्यों और सिद्धान्तो को उद्घाटित करते हैं, जो संस्कृति के उपादान और उपकरण बनते हैं। जिज्ञासा का विषय बनकर शिव और सुन्दरम् भी सत्य की कोटि मे ही आ जाते हैं। पश्चिमी विचार-क्षेत्र मे धर्म, आचार और नीति के शास्त्रो का विकास शिव के स्वरूप की जिज्ञासा से ही हुआ है। भारतीय धर्म और अध्यात्म मे इसके विवेचन की अपेक्षा उसकी साधना का निरूपण अधिक किया गया है। यह ठीक है कि साधना के पूर्व शिव के स्वरूप का निर्धारण भी अपेक्षित है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि केवल बुद्धि के द्वारा जीवन के सम्पूर्ण सत्य का निर्धारण नही हो सकता। शिव के सम्बन्ध में तो यही सत्य है कि सत्य उसके मार्ग का दीपक है और साधना उसकी सजीव गति है। दीपक का प्रकाश कुछ दूर तक हमारे मार्ग को आलोकित कर सकता है। उस आलोक मे हम आगे बढ सकते हैं। किन्तु न वह सत्य का आलोक सम्पूर्ण मार्ग को प्रकाशित कर सकता है और न अन्तिम लक्ष्य का निदर्शन कर सकता है। एक बात और है, इस मार्ग मे आँधी और तूफानो से साधना का स्निग्ध अचल ही सत्य के दीपक की ज्योति को बचाये रख सकता है। साधना से सम्वलित सत्य ही शिव मार्ग का विश्वसनीय सम्बल है। मनुष्य-संस्कृति के इतिहास मे साधना के अंचल की छाया न पाकर न जाने कितने सत्य के दीपक बुझकर अन्धकार में विलीन हो गये। और न जाने कितने दीपको की शिखा झंझा से उद्वेजित होकर इतिहास मे अनेक अकरण अग्निकाण्डो का कारण बनी।

भारतीय धर्मों मे सत्य की दृष्टि मे साधना का समन्वय होने के कारण ही उनमें से कोई भी इतिहास मे अमानवीय अत्याचारो का श्रेय न ले सका। इस समन्वय में शक्ति का अभाव होने के कारण भारत पराजित हुआ, किन्तु सत्य में साधना के समन्वय के कारण ही भारत को अपराजिता संस्कृति अक्षुण्ण रही और

आज विश्व की आशा बन रही है। सत्य में साधना के समन्वय के दो रूप हैं। एक को हम निषेधात्मक और दूसरे को भावात्मक कह सकते हैं। भावात्मक रूप इस साधना का मूल स्वरूप है। निषेधात्मक रूप केवल साधना के मार्ग में भ्रष्ट होने से साधकों को बचाने के लिए है। भावात्मक रूप शिव के बौद्धिक सत्य को जीवन में चरितार्थ करने का साधन है। साधना का यह भावात्मक रूप जितना सक्रिय, सहज और निष्ठामय होगा उतना ही वह साधना सफल होगी। भारतीय संस्कृति में योग, उपासना, भक्ति, पर्व आदि साधना के भावात्मक रूप हैं। पराजय और पतन के पूर्व साधना के ये रूप भारतीय जीवन में किस प्रकार अनुस्यूत हो गये थे, इसका जीवन्त प्रमाण हमारे प्राचीन इतिहास में सुरक्षित है। प्रेम के लिए तो आधुनिक युग में इंगलैंड के सम्राट ने सिंहासन का त्याग किया। किन्तु किसी सांस्कृतिक अथवा धार्मिक भाव में अपना जीवन अर्पित कर देने वाले राजाओं के उदाहरण भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलेंगे। रघु के समान विश्वजित यज्ञ करके सर्वस्वदान कर देने वाले राम के समान राज्याधिकार का परित्याग कर वनवास ग्रहण करने वाले कृष्ण के समान अद्वितीय वीर होते हुए भी राज्य की आकांक्षा न रखने वाले, बुद्ध के समान राज्य के सुख और ऐश्वर्य को त्याग कर वैराग्य लेने वाले, भर्तृहरि के समान प्रेम की छलना से विरक्त होकर सन्यास ग्रहण करने वाले, अशोक के समान विजय में भी पराजितों की पीडा से व्यथित होकर संसार में अहिंसा का प्रचार करने वाले राजा भारतवर्ष में ही हुए हैं। उपनिषद् काल में जनक, जानश्रुति, अश्वपति, कैकेय आदि राजाओं में जीवन के सत्य के प्रति जैसी जिज्ञासा और उसकी साधना में जैसी आन्तरिक श्रद्धा दिखाई देती है, वह किसी भी अन्य देश में दुर्लभ है। राजाओं की यह साधनामयी भावना उनकी विचित्रता नहीं है वरन् इस बात की सूचक है कि भारतीय समाज और प्रजा कैसे आदर्श को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। पराजय और पतन की अनेक विकृतियों के बाद भी साधना का यह श्रद्धामय तत्त्व आज भी भारतीयों के मन की अन्तर्तम विभूति बना हुआ है। इसी विभूति के अक्षुण्ण आश्रय पर महात्मा गांधी का अहिंसात्मक आन्दोलन प्रतिष्ठित हुआ। इसी विभूति के कारण भारतीय जनता के मन में कभी भी अपने आक्रमणकारियों और अत्याचारियों के विरुद्ध द्वेष की भावना नहीं पनप सकी। सद्भावना और क्षमा इस साधना के सत्य के व्यावहारिक प्रमाण हैं। आचार साधना का व्यावहारिक रूप है। उसका आन्तरिक स्वरूप

चेतना मे सत्य के मगलमय तत्व का प्रतिष्ठित करने का आत्मिक अध्यवसाय है। योग का यही मूल रूप है। इसीलिए भारतीय धर्म और दर्शन के सभी सम्प्रदायों में योग के तत्वो का अन्तर्भाव है। योग आन्तरिक साधना का मूल मार्ग है। भारतवर्ष के समान अन्य कोई भी देश, धर्म अथवा सस्कृति इस योग की कल्पना नहीं कर सकी। यह योग भारत की अन्यतम विभूति है। यही सत्य और शिव को मिलाने वाला सेतु है। आत्म-विस्तार का सत्य इसका स्वरूप और आत्मदान का शिवम् इसका फल है।

साधना का निषेधात्मक रूप प्रकृति के प्रलोभनों और उसकी उत्तेजनाओं से सत्य और शिव के इस सेतु की रक्षा है। इसका आत्मगत पक्ष जीवन म अर्थ, काम, मद, मत्सर आदि के प्रभाव से जीवन को बचाना है। पराजय के पूर्व भारतवर्ष म इस साधना का अभ्यास कितनी सहज निष्ठा के साथ हुआ है, इसका उदाहरण उपनिषद् काल के सरल और सात्विक जीवन म मिल सकता है। शताब्दियों के कुचले हुए भारतीयो के हृदय मे धर्म भीरुता, शान्तिप्रियता आदि दुर्बलताओ के रूप मे उस सात्विक निष्ठा के ध्वसावशेष शेष हैं। इसका बहिर्गत अथवा परगत पक्ष ज्ञान और शक्ति के समन्वय द्वारा सुरक्षा के लिए सात्विक बल का सगठन है। निषेधात्मक साधना के इस पक्ष की ओर भारतीय नेता और समाज अधिक सजग न रहे। गत एक हजार वर्ष का इतिहास हमारी इसी भूल का प्रायश्चित है। हमारी इस भूल के मूल मे साधना के भावात्मक रूप की प्रबलता तथा निषेधात्मक रूप मे आत्मगत पक्ष के प्रति हमारी अत्याधिक जागरूकता है। लौकिक विषयो— काम, क्रोध आदि के दमन का जितना प्रसग हमारे शास्त्रो मे मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसी साधनामयी निष्ठा मे हृदय से सलग्न रहने के कारण *भारतवर्ष ने कभी किसी दूसरे देश पर आक्रमण करने की कल्पना नहीं की और न आक्रमण कारियो के विरुद्ध किसी द्वेष का प्रचार अथवा प्रतिकारिणी शक्ति का* सगठन किया। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो साधना के निषेधात्मक रूप के परगत पक्ष की भूल भारतवर्ष की भूल नहीं वरन् आक्रमणकारी देशों के धर्म और सस्कृति की अमानवीयता का प्रमाण है।

धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में भारतवर्ष की दृष्टि ही सत्य दृष्टि है। सस्कृति के सत्य और उसकी मगलमयी साधना की महिमा वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अपने स्वरूप मे ही है। भावात्मक साधना उस स्वरूप की प्रतिष्ठा का ही

अध्यवसाय है। सत्य के स्वरूप की महिमा का हृदय से मानने के कारण ही भारतीय इतिहास मे मतो के प्रचार का आग्रह तथा बुद्धि अथवा वल के द्वारा दूसरो के धर्म परिवर्तन का न हमारे शास्त्रो मे विधान है और न हमारे इतिहास मे प्रमाण है। भारतीय भावना की इसी मौलिक उदारता के कारण हमारी भावभूमि मे आरम्भ से ही अनेक मत, सिद्धान्त, धर्म, देवता, सम्प्रदाय आदि पल्लवित होते रहे। सम्प्रदायो के अधिकारियो मे कुछ कट्टरता की भावना भले ही रही हो किन्तु सामान्य जनता की भावना सदा उदार और सहिष्णु रही है। **मत का आग्रह सत्य दर्शन का सबसे बडा शत्रु है। धर्म-परिवर्तन का उद्योग धर्म के क्षेत्र में सबसे बडा पाप है।** स्वतन्त्रता धर्म और संस्कृति का सबसे बडा सत्य है। मत का आग्रह और धर्म परिवर्तन दोनो इस स्वतन्त्रता के घातक हैं। स्वतन्त्रता मनुष्य का सबसे बडा गौरव है। मनुष्य के गौरव के विपरीत होने के कारण ये दोनो अमानवीय हैं। भारतवर्ष के लिए यह सबसे अधिक गर्व की वात है कि उसने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र मे किसी भी आग्रह अथवा अतिचार के द्वारा मनुष्य के इस गौरव का अपहरण नही किया। इसके विपरीत मनुष्य की आन्तरिक स्वतन्त्रता को ही मुक्ति के नाम से जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य बनाया है। भारतीय धर्म, अध्यात्म और संस्कृति अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित रहने के कारण ही अपराजेय बने रहे और आज भी अक्षुण्ण हैं। सूर्य के समान अपने प्रकाश के अतिरिक्त अपने विस्तार के लिए उन्होने अन्य किसी अवान्तर साधन का अवलम्ब नही लिया। वल, आक्रमण और अतिचार का सहारा तो उसने अपनी रक्षा के लिए भी नही लिया, दूसरो मे प्रचार, आरोपण आदि के लिए इनके सहयोग की वात ही दूर है। समस्त आक्रमणो और अत्याचारो की आँधियो मे सत्य का यह मूल तत्व मणि प्रदीप की भाँति सदा ज्योतिष्मान् रहा। अन्य कितने धर्म प्रदीप इन आँधियो मे वुझ गये और कितनो ने इन आँधियो के सहयोग से दावानल बनकर संसार के सांस्कृतिक कानन मे अग्निदाह के पर्व रचे। अब जागरित पूर्व से अध्यात्म की चिर नव्यसी उषा का उदय हो रहा है। दूसरी ओर पश्चिम से विज्ञान के साथ साथ राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। विश्व की नवीन संस्कृति का महातीर्थ इसी त्रिवेणी के संगम पर होगा। नवीन प्रभात के पर्व मे इस महातीर्थ के संगम मे अवगाहन करके ही आक्रमणकारी धर्म और संस्कृतियाँ अपने पुरातन पापो से मुक्त होगी। नवयुग की इस भूमिका मे उनका इतिहास अवलोकनीय होगा। स्वतन्त्रता

के जाग्रत युग में मत के आग्रह और धर्म परिवर्तन का क्या स्थान होगा, यह उन धर्मों के लिए विचारणीय है जो अपने धर्मों की श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटते आये हैं और सभी साधनो से धर्म परिवर्तन का समर्थन करते हैं। इन धर्मों के सामने उस समय अपने लज्जामय आवरण का इतिहास हटाकर एक आन्तरिक शोध के द्वारा कुछ स्वरूपनिष्ठ सत्यों के दीपदान से संस्कृति के इस नव प्रभात की अर्चना के अतिरिक्त सांस्कृतिक साधना का और कोई दूसरा रूप शेष नहीं रहेगा। किन्तु गत युग की यामिनी के कलंकपूर्ण इतिहासो के बाद यह सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही उपहासास्पद होगा। आंधियो के शान्त होजाने के कारण ये दीपक फिर अग्निदाहो के इतिहास न रच सकेंगे। स्वरूपगत स्नेह के सत्य से अर्चित होने के कारण नव प्रभात का सूर्य इन्हे अपने ज्योतिर्मय करो से अपने इतिहास की यामिनी को आलोकित करने का वरदान देगा।

साधना की निष्ठा द्वारा शिवम् का सत्य जीवन में अन्वित होता है। शास्त्र अध्यात्म बन जाता है और जीवन साधना। इस साधना का आत्मविस्तार आत्मदान में फलित होता है। आत्मिक अनुभव मे सत्य की अखण्डता और असीमता का साक्षात्कार होने पर इस आत्मदान मे ही पूर्ण आत्मलाभ होता है। इस पूर्ण सत्य के प्रकाश मे यह आत्मलाभ ही आत्माभिव्यक्ति भी है। इस अभिव्यक्ति के अभिज्ञान मे ही शिवम मे सुन्दरम का स्फोट होता है और जीवन मे सत्य और शिव के अन्वय की पूर्ण परिणति होती है। सत्य शिव-सुन्दरम् के सांस्कृतिक सूत्र मे तीनो तत्वो का क्रम परिणति के इसी विधान का द्योतक है। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति में चेतना की केन्द्रीयता मे अहंकार का बीज है। इसीलिए यह सुन्दरम् इतिहास मे अनेक बार अशिव भी सिद्ध हुआ है। प्रकृति और जीवन के रमणीय रूपो मे सुन्दरम् की अभिव्यक्ति सदा मंगल की साधक नही रही है। शिवम् की भांति सुन्दरम् भी जीवन का एक सत्य है। सत्य मे अभिव्यक्ति की आकाक्षा सुन्दरम् का ही रूप है। किन्तु सत्य के रूप मे सुन्दरम् शास्त्र का विषय है। पश्चिम का सौन्दर्य-शास्त्र और भारतीय काव्य शास्त्र सुन्दरम् के स्वरूप और फल की ही मीमासा करते हैं। किन्तु शिवम् के सत्य की भांति सुन्दरम् के सत्य का भी जीवन और संस्कृति मे अन्वय अपेक्षित है। इस अन्वय के द्वारा ही संस्कृति की कल्पना पूर्ण हो सकती है और जीवन भी अपने स्वरूप का मार्ग पाकर कृतार्थ हो सकता है। साधना इस अन्वय का मार्ग है। दूसरी ओर साधना शिवम् का मर्म है। इसीलिए सांस्कृतिक

व्यवस्था मे शिवम् के माध्यम से सुन्दरम् की परिणति अधिक स्पृहणीय है। अभिव्यक्ति के दर्प के लिए आत्मदान का विनय दुष्कर है। किन्तु आत्मदान की उदारता अभिव्यक्ति मे अपनी विभूति पाकर धन्य हो सकती है।

शिवम् का मूल स्वरूप तो आत्मदान है। सृजन के प्राकृतिक धर्म में इस आत्मदान का प्राकृतिक रूप ही साकार होता है। इस प्राकृतिक धर्म मे भी शिवम् के सास्कृतिक रूपो के आधार अन्तर्निहित होते हैं किन्तु उन आधारो पर शिव के अन्य समृद्ध रूपो का भव्य प्रासाद का निर्माण सन्तति के जन्म के उपरान्त उसके जीवन के निर्माण की साधना मे होता है। **अत साधना सास्कृतिक सृजन की विधि है।** भगवान शिव के जीवन में साधना के महत्व का यही मर्म है। सास्कृतिक सृजन की यह साधना यदि शृगार और काम के विपरीत नही है, तो कम से कम दोनो की अतिरजना के अनुकूल अवश्य नहीं है। साधना के साथ तप, त्याग और वैराग्य के निकट अनुषग का यही कारण है। तप, त्याग और वैराग्य का अर्थ केवल स्वार्थमय भोग की मर्यादा है। दूसरो के प्रति प्रेम और सद्भाव से इनका कोई विरोध नही है। यह कहना अनुचित न होगा कि आत्मगत भोग को मर्यादित करके ये परार्थ, प्रेम और सद्भाव के पथ प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार तप, त्याग और वैराग्य प्राकृतिक उपादानो तथा आत्मिक भावो दोनो ही के अर्थो मे आत्मदान के साधन बन कर शिवम् की साधना के मार्ग बनते हैं। आत्मदान का यह व्यापक रूप ही सास्कृतिक सृजन की व्यापक साधना में शिवम् की चर्या बनता है।

विक्रम युग के काव्य में शृगार और काम की प्रधानता के कारण सास्कृतिक सृजन की इस तपोमयी साधना का प्रसग बहुत कम मिलता है। शृगार और काम मे दूसरे के प्रति अनुरक्ति की भावना अवश्य होती है और इस प्रकार जैसा कि मनोविश्लेषणवादी बताते हैं, काम की अनुरक्ति आत्मानुरक्ति की तुलना मे परानुरक्ति है। अहकार और आत्मानुरक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं। किन्तु काम की भावना उससे नितान्त स्वतन्त्र नही है। आत्मानुरक्ति के अन्य रूपो की भाँति आत्मसुख की प्रेरणा ही काम का भी मूल है। कालिदास ने 'कामी स्वता पश्यति' कह कर काम की अहकार-मूलकता का निर्देश किया है। काम के अतिचार मे यह स्पष्ट है कि अन्य वृत्तियो की भांति काम मे भी आत्मरति का उद्रेक होने पर वह दूसरे के स्वातन्त्र्य, सुख और गौरव सबकी उपेक्षा करती है। पशुओ मे शक्ति

और उद्दीपन के सन्तुलन के कारण अतिचार कम है। मनुष्यों में यह सन्तुलन भग हो जाने के कारण तथा शासन के सभी तन्त्र पुरुष के हाथ आ जाने के कारण इस अतिचार की सम्भावना अधिक बढ़ गई है। यह अतिचार स्पष्टतः अशिव है क्योंकि इसमें शिवत्व के सभी तत्वों का अनादर है। शिव-कथा के आरम्भ में ही काम के देह-दहन के द्वारा उसके संस्कार की भूमिका का आशय उसके अनाचार की अशिव सम्भावनाओं को निराकृत करके शिव जीवन में उसका समन्वय है। इतना अवश्य है कि जहाँ एक ओर काम में अनाचार की सम्भावनायें हैं, वहाँ दूसरी ओर उसमें पारस्परिकता का एक मंगलमूलक लक्षण भी है। अन्य वृत्तियां पूर्णतः प्राकृतिक और स्वार्थमय हैं। उनका फल उसी व्यक्ति के लिए होता है, जो उनका आश्रय है। काम की वृत्ति इस दृष्टि से विलक्षण है कि इसमें प्रकृति स्वार्थ से परार्थ की ओर अभिमुख हुई है। काम की पारस्परिकता में स्वार्थ और परार्थ का समन्वय है। वह दोनों की सन्धि का सेतु है। पारस्परिकता और परार्थ की सम्भावना के कारण ही काम सृजन का बीज और सामाजिक सम्बन्धों का सूत्र बना है। इसीलिए जहाँ काम अतिचार में अशिव है, वहाँ दूसरी ओर वैदिक और शैव आगमों में उसे सृष्टि का मूल सिद्धान्त माना है। स्वार्थ और अतिचार की मर्यादा के द्वारा काम मानवीय संस्कृति का मनोहर पीठ भी बन सकता है।

किन्तु मंगलमयी संस्कृति में काम के समन्वय के लिए उसका संस्कार भी अपेक्षित है। उसका प्रकृत और स्वस्थ रूप ही इस दृष्टि से संस्कृति की मर्यादा से युक्त है। इतना अवश्य होगा कि वह दूसरे के स्वातन्त्र्य और गौरव पर अतिचार नहीं करेगा। ऐसी स्वस्थ प्रकृति संस्कृति की सन्धि है। पारस्परिकता के अन्योन्य भाव में काम को यह संस्कार सहज ही प्राप्त हो जाता है। पारस्परिकता में स्वार्थ के साथ एक संतुलित विधि में परार्थ भी समन्वित है। स्वार्थ का अनुराग तो सबको सहज और स्वाभाविक होता है। भूल या उपेक्षा परार्थ के विषय में ही हो सकती है। इसीलिए अन्योन्य भाव का सूचक 'परस्पर' पद भी पर की मूल अभिधा से निर्मित हुआ है। शब्द के इस विधान में मंगलमयी संस्कृति की दिशा का संकेत निहित है। काम की प्राकृतिक वृत्ति में 'पर' के अनुपद का अभिप्राय यही परस्पर भाव है। किन्तु सभ्यता और काव्य में इस मिथुन वृत्ति के परस्पर भाव की रक्षा सर्वत्र नहीं हो सकी। काव्य में तो ऐसा प्रतीत होता है मानो पुरुष का एकांगी अतिचार ही शृंगार बनकर मुखरित हो उठा हो। पुरुष की अतिचार-

मुखी अतृप्त वासना अधिकांश काव्य की प्रेरणा बनकर मनोविश्लेषणवाद के सत्य को प्रमाणित करती है। अतः काम की मिथुन वृत्ति में संतुलित पारस्परिकता की रक्षा के लिए आत्मदान के शिव की साधना का संस्कार अपेक्षित है।

यही साधना काम को मंगलमय तथा परस्पर आनन्दमय बनाती है। इसी साधना से काम सृजन में सुन्दरम् की अभिव्यक्ति से कृतार्थ होता है। यही साधना प्राकृतिक सृजन की भूमिका में जाति के सांस्कृतिक निर्माण की परम्परा का विधान करती है। यह साधना एक ओर तो कर्त्ता का आत्मसंस्कार है तथा दूसरी ओर दूसरे के स्वातन्त्र्य और गौरव का आदर है। मंगलमयी साधना इस गौरव और स्वातन्त्र्य की अवगति मात्र नहीं, वह इस स्वातन्त्र्य और गौरव को समृद्ध और सार्थक बनाने वाला आत्मदान है। इसीलिए साधना शिव का स्वरूप है। नारी के प्रति काम की मर्यादा और पारस्परिकता में व्यक्त होकर यह साधना संतति के महिमामय विकास की विधि बनती है। प्राकृतिक सृजन की भूमिका में सन्तति के निमित्त से जाति का सांस्कृतिक निर्माण ही साधना का लक्ष्य है। साधना के इस सांस्कृतिक तथा सृजनात्मक रूप में काम की पारस्परिकता स्फुट परार्थ भाव में विकसित होती है। आत्मभाव में यह परार्थमय आत्मदान भी आत्मा (स्वरूप) की गहराइयों की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में सुन्दरम् को सुन्दर आकार प्राप्त होता है। किन्तु यह अद्वैत भाव से ही गम्य है। सम्बन्धभाव से शिव का आत्मदान परार्थ भाव ही है। अतः आत्मदान के इस शिव की साधना में दूसरे के स्वातन्त्र्य गौरव और उत्थान की भावना ही प्रमुख है।

शृंगार की प्रधानता के कारण हमारे अधिकांश काव्य में सृजन और साधना का इतना महत्व नहीं है, जितना कि शिव काव्य में होना चाहिए। शृंगार की वृत्ति काम की अतिरंजना की ओर ही रही है। उसे मानसिक अतिचार कहना अनुचित न होगा। अबोध शैशव के लालन को छोड़कर बाल्य और कैशोर के सांस्कृतिक निर्माण और विकास की साधना काव्य में बहुत कम मिलेगी। प्राचीन और मध्यकाल का समाज चाहे बाल-मनोविज्ञान के आधुनिक रहस्यों से परिचित न रहा हो, किन्तु यह असंदिग्ध है कि सभी माता पिता सभी काल में अपने ज्ञान और क्षमता के अनुसार अपनी संतति के सांस्कृतिक निर्माण में कुछ न कुछ योग देते रहे हैं। अतः इस विषय में जन समाज की अपेक्षा कवि-समाज अधिक दोषी है। शृंगार

और भक्ति की रस धाराओं में तिरते हुए भावुक कवियों ने जाति के सांस्कृतिक विकास की इस साधना को अपने काव्य में कभी पर्याप्त स्थान नहीं दिया। सृजन की भाँति साधना का प्रसंग भी हमारे काव्यों में बहुत कम है। आत्म संस्कार के रूप में इस साधना का कुछ आभास भक्तिकाव्य और नीतिकाव्य में अवश्य मिलता है। किन्तु संतति के निमित्त से जाति के निर्माण के रूप में इसका प्रसंग मिलना कठिन है। 'कुमार-सम्भव' में किन्हीं कारणों से भी सही यह सम्भावना सफल न हो सकी। शिवकथा के अतिरिक्त राम और कृष्ण के चरित्रों में तो इसका अवकाश ही कम है।

आत्मदान की यह मंगलमयी साधना जीवन की एक सम्पूर्ण विधि है। उसमें विवेक का आलोक, भावना की प्रेरणा और क्रिया की शक्ति तीनों ही सन्निहित हैं। अत लोक-मन की इस त्रिवेणी के अनुकूल ही साधना का स्रोत प्रवाहित होता है। सन्तति के जीवन में स्वातन्त्र्य और गौरव के द्वारा विवेक की स्फूर्ति का जागरण, उत्तम आदर्शों के प्रति अध्यवसाय की भावमयी प्रेरणा और जीवन की विषमताओं में संघर्ष के द्वारा उन आदर्शों को सफल बनाने की ओजमयी शक्ति में यह मंगलमयी साधना चरितार्थ होती है। सृजन और साधना के प्रसंग जहाँ इतने विरल हैं, वहाँ काव्य में साधना की प्रगति की इस त्रिवेणी का पथ अनुसंधान करना मरीचिका का अनुसरण है। वाल्मीकि के बाद कदाचित ही कोई कवि इस सांस्कृतिक साधना की व्यापक प्रेरणा लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुआ हो। यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि आदि कवि की कविता का उद्गम काम के उस परार्थ भाव में है, जो मिथुन वृत्ति से भी परे है। अन्य अधिकांश कवि यदि सभी वियोगी नहीं हैं, तो इतना अवश्य है कि जो वियोगी नहीं हैं उनमें अधिकांश मानसिक भोग के ही कामी हैं। भोग के स्वप्न देखने वाले वियोगी और भोगी में अधिक अन्तर नहीं। आदि कवि की वह व्यापक सहानुभूति जो संस्कृति की सृजनात्मक साधना की प्रेरणा बनती है, अन्य कवियों में दुर्लभ ही है।

आत्मदान का भाव-योग शिवम् का स्वरूप है। इसके उपकरण तत्व तथा उनके विधान की प्रणालियाँ अनेक हो सकती हैं। किन्तु इन सभी उपकरणों और प्रणालियों का शिवम् के सामान्य भाव में अन्वय आवश्यक है। इस अन्वय के द्वारा ही ये शिवम् के स्वरूप से एकात्म होते हैं। शिवम् एक सामाजिक धर्म है। अत

व्यवहार की दृष्टि से स्व और पर का उपचार उसमे रहता है। इस स्थिति मे दूसरे के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता का सम्मान शिवम् के स्वरूप का प्रथम और प्रमुख तत्व है। इस सम्मान की भूमिका मे जीवन के समस्त प्राकृतिक और भौतिक उपादान तथा विचार के सभी सिद्धान्त और कला की सभी अभिव्यक्तियाँ शिवम् का उपकरण बन जाती हैं। आत्मीयता की भावना से भोजन, भेंट आदि किसी भी भौतिक वस्तु का प्रदान तथा प्राचीन आचार्यों की भाँति विचार का वितरण और लोक-साहित्य की भांति भाव का विभाजन सभी मगल-कारक बन सकते हैं। शिवम् के आत्मभाव के मौलिक आधार के कारण ही भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के इतने विविध और विरोधी रूप भी सामाजिक सघर्ष तथा अमगल का कारण नही बने। इनमे जहाँ कही भी अमगल का बीज अकुरित हुआ वह इस आत्मीयता और दूसरे की स्वतन्त्रता तथा उसके सम्मान की मौलिक मगल भावना का व्यवहार मे उल्लघन करके ही हुआ। नारी का निर्यातन, शूद्रो का बहिष्कार, सती की प्रथा, धर्म की भ्रान्ति आदि अनेक अमगल इसी मौलिक भावना से स्खलन के फल हैं। वस्तुत यही स्खलन हमारे समस्त सामाजिक अमगलो का मूल है।

आत्मीयता की भावना और दूसरे की स्वतन्त्रता के सम्मान में सत्य का आलोक भी अन्तर्निहित है। उज्ज्वल विवेक सबका अधिकार है। इस विवेक के जागरण मे सहयोग देकर ही हम अपने आत्मदान के भावयोग को मगल बना सकते हैं। इसके बिना वह आरोपण बन जायेगा और स्वतन्त्रता के साथ साथ मगल की भी हानि करेगा। उपनिषदो मे ब्रह्म दीक्षा के जो अनेक उदाहरण मिलते है, उनमे आग्रह और आरोप का पूर्ण अभाव है। प्राचीन आचार्य शिष्यो को सब प्रकार की प्राकृतिक सुविधाये देकर स्नेह पूर्वक उन्हे साधना मे प्रेरित करते हैं। वारुणि भृगु के समान वे अपनी साधना मे ही सत्य का साक्षात्कार करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शिशुपालन और बालशिक्षा की यही नवीनतम प्रणाली है। उपनिषदो के तत्वदर्शी मुनि जीवन के इस मगलमय सत्य का साक्षात्कार हजारो वर्ष पूर्व कर चुके थे। यह इसी तत्व दर्शन का फल है कि उन्होने चेतना के असीम भाव विस्तार के तत्व को ब्रह्म की सज्ञा देकर उसे 'शान्त, शिव' आदि पदो मे अभिहित किया था। ब्रह्मवाद मे आत्मदर्शन मे सत्य मे शिव का सुन्दर समन्वय है। शकराचार्य के काव्य तथा उनके द्वारा श्री चक्र की प्रतिष्ठा मे इस सत्य और शिव के समन्वय मे सुन्दरम् का भी अन्वय हुआ। इस प्रकार

अद्वैत वेदान्त सत्य शिव-सुन्दरम् का सगम बनकर संस्कृति का तीर्थराज बना। अन्य प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्म और सभ्यतायें संस्कृति के इस आदर्श से कितनी दूर हैं, इसका अनुमान उनके इतिहास के निष्पक्ष और निर्भय अनुसंधान द्वारा किया जा सकता है।

अस्तु आत्मदान शिव का मूल और सामान्य स्वरूप है। सृजन उसका धर्म है और साधना उसकी विधि है। सृजन के अनेक रूप हैं। अधिकाश रूपो मे यह सृजन प्राकृतिक उपादानो के माध्यम से मन के भावो को साकार बनाना है। कुछ रूपो मे भाव ही इसका उपादान भी हो सकता है। किन्तु सभी रूपो मे भाव का ही प्राधान्य है। मनुष्य उपादान की सृष्टि नहीं कर सकता, अतः उसका सृजन भाव-रूप ही है। यह भाव आत्मा का अनुभाव है। चेतना मे स्फुरित होने वाले भावो को साकार बनाने की आकाक्षा ही सृजन की प्ररणा है। समस्त सृजन मे आत्मा के भाव का अनुयोग रहता है। यह अनुयोग आत्मदान ही है, अत समस्त सृजन मे शिव का आधार रहता है। अभिव्यक्ति आत्मा के भाव को आकार देने का प्रयत्न है। सृजन मे अभिव्यक्ति का वृक्ष सुन्दरम् ही है। भाव-योग पूर्वक अभिव्यक्ति शिवम् के पीठ पर सुन्दरम् की सृष्टि है। वस्तु-रूपो और भाव-रूपो के सृजन मे यह अभिव्यक्ति ही प्रधान होती है। अत उनमे सुन्दरम् की ही प्रधानता रहती है। उनके मूल मे निहित भावयोग का शिवम् कर्ता की आत्मगत वृत्ति की अवस्था मे ही रहता है। जहां सृजन का अन्वय दूसरे की आत्मा से होता है, वहाँ इस सृजन का शिव अपने पूर्ण भाव को प्राप्त करता है। अभिव्यक्ति के आमन्त्रण के रूप मे तो यह अन्वय सुन्दरम् का ही साधक होता है, किन्तु आमन्त्रण के स्थान पर जब इसमे आत्मदान का भावयोग दूसरे की भाव सम्पत्ति मे अनुयोग बनता है, तो शिव का स्फुरण होता है। सुन्दरम् की अभिव्यक्तियाँ भी इस शिव मे अन्वित हो सकती हैं, किन्तु इनके बिना भी शिव अपने स्वरूप मे पूर्ण है। शिशु के जन्म में सुन्दरम् में शिवं का एकत्र अन्वय है। किन्तु शिवं की पूर्ण स्फूर्ति सचेतन प्राणियों के साथ सृजनात्मक आत्मीयता के भाव-सम्बन्ध में ही होती है। इन प्राणियो की चिन्मय साधनाओं में आत्मदान के भावयोग में शिवं का अवतार होता है। भाव-सृष्टि के रूप में यह सृजन का और भी समृद्ध रूप है। सृष्टाओं का सृजन बनकर शिवं की यह भाव-सृष्टि जीवन की मंगलमयी और अमृत परम्परा बन जाती है।

यह आत्मदान का शिवं एक साधना है। एक अर्थ में तप, त्याग, भोग, वैराग्य आदि भी इसके लिए अपेक्षित हैं। शिव के साधनामय रूप का यही रहस्य है। किन्तु यह साधना प्रकृति का बहिष्कार नहीं वरन् उसका संस्कार है। स्वय शिव की भाँति एक मर्यादित रूप मे प्रकृति का आदर शिव की साधना के लिए सम्भव ही नही आवश्यक है। प्रकृति की वृत्तियाँ तथा उसके उपादान कर्त्ता और ग्राहक दोनो की दृष्टि से आत्मदान के माध्यम हैं। आत्मदान का एक मूल आध्यात्मिक स्वरूप अवश्य है, किन्तु लोक व्यवहार मे वह प्रकृति के उपकरणो में ही साकार होता है। प्रकृति के ये उपकरण केवल उसके माध्यम हैं। शिव का स्वरूप आत्मा का भावयोग ही है। कर्त्ता और ग्राहक दोनो की दृष्टि से यह आत्मा का धर्म होने के कारण आलोकमय है। अत कर्त्ता की दृष्टि से आत्मीयता के साथ-साथ विवेक का आधार और ग्राहक की दृष्टि से विवेक की प्रेरणा बनता है। विवेक उज्ज्वल और अनाविल ज्ञान है। अवगति उसका फल है। अत शिव में सत्य का मूल अन्तर्निहित है। मोहमय अनुराग और भ्रान्त भावनाओ से आत्मदान का आलोकमय भावयोग नितान्त भिन्न है। आत्मा का भावयोग होने के कारण यह स्वरूप से ही आलोकमय है। जिस वाणी के जीवन मे हमारे भावयोग का रस निर्झर फूटता है, उसके जीवन मे यदि आलोक का विस्तार नही होता, तो यह निश्चित है कि हमारी भावना मे कही भ्रान्ति है। प्रसाद आत्मा का स्वाभाविक गुण है, अत जीवन, कला और काव्य मे आत्मदान के शिव मे उसकी विवृत्ति स्वाभाविक है। यदि आत्मदान को आलोक-दान कहे तो अनुचित न होगा। यदि शिव मे सत्य का स्वरूप पूर्ण होता है तो सत्य शिव का अभिन्न आधार है।

आत्मा आलोकमय होने के साथ-साथ स्वतन्त्र भी है। चैतन्य के साथ स्वतन्त्रता उसका स्वरूप ही है। प्रकृति उसका माध्यम हो सकती है, किन्तु उसका बन्धन नहीं बन सकती। इसके विपरीत आत्मा प्रकृति की मर्यादा है। अतः कर्त्ता और ग्राहक दोनो की स्वतन्त्रता के बिना शिव का धर्म पूर्ण नहीं हो सकता। आत्मदान का भावयोग कर्त्ता का स्वतन्त्र धर्म है। दूसरी ओर वह ग्राहक की स्वतन्त्रता का भी आदर करता है। इसी स्वतन्त्रता के कारण वह उभय और आनन्दमय है। स्वतन्त्रता का सम्मान व्यक्ति के आदर का मूल है। मनुष्यता के गौरव और सम्मान का अनेक शाखामय वृक्ष इसी मूल पर प्रतिष्ठित होता है। व्यवहार के वातावरण मे इस वृक्ष की अनेक शाखाओ की भाँति भावना के भूगर्भ मे

भी इसके मूलो की अगणित दिशायें हैं। व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता का आदर करके ही कर्त्ता का आलोकमय आत्मदान कृतार्थ होता है।

इस मानवीय भूमिका मे आत्मदान के आलोकमय शिवम् मे रस की स्फूर्ति होती है। यह रस ग्राहक के जीवन की स्फूर्ति बनता है। वस्तुत यह रस जीव और समाज की विभूति है किन्तु व्यवहार की दृष्टि से ग्राहक को उसका केन्द्र मानते हैं। यह रस की स्फूर्ति एक ओर आत्मा मे आनन्द का स्रोत बनती है और दूसरी ओर जीवन की मगलमयी प्रेरणा। यही सृजन के भावयोग का अनुग्राहक सचेतन प्राणी स्वय स्रष्टा बनता है। यही स्रष्टा के सृजन में पूर्व-स्रष्टा का सृजन सफल होता है। रस स्फूर्ति की प्रेरणा से यह सृजन सस्कृति की मगलमयी परम्परा बन जाता है। यही शिव के स्वरूप की पूर्णता है। शिव और पार्वती के साधना-मय जीवन मे कुमार कार्तिकेय का जन्म इसी रहस्य का सूचक है। आत्मा के भावयोग के द्वारा औरस तथा अन्य समस्त आत्मीय जनो को उत्तरोत्तर भाव सृष्टि में समर्थ बनाने में ही जीवन के शिव धर्म की कृतार्थता है।

जिस प्रकार कर्त्ता की दृष्टि से साधना शिव धर्म की विधि है, उसी प्रकार ग्राहक की दृष्टि से भी साधना के द्वारा ही शिव की परम्परा सफल होती है। एक ओर जहाँ तप, त्याग आदि इस साधना के आत्मगत अग हैं वहाँ दूसरी ओर जीवन के अनीतिमय अशिव तत्वों से सघर्ष उसकी नियति है। अनीति प्रकृति के अनियन्त्रित पोषण और अतिरजित अनुराग का सामाजिक उत्पात है। अत साधना जहाँ एक ओर आत्मगत प्रकृति का सयम और सस्कार है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक अनीति के साथ निर्भय सघर्ष भी है। अनीति के नेता और अनुयायी असुर प्रकृति के सामाजिक प्रकोप हैं। स्वय शिव और उनके औरस कुमार कार्तिकेय के असुरो के साथ सघर्ष की पौराणिक कथाओ मे शिवत्व की साधना के इसी सामाजिक पक्ष का सकेत है।

इस सघर्ष की सफलता के लिए शक्ति का सहयोग अपेक्षित है। शैवागम और शक्ति-तन्त्रों में शिव के साथ शक्ति की अभिन्नता का यही रहस्य है। शक्ति मूलत आध्यात्मिक है। वह भी आलोक की भांति आत्मा का एक भाव है। किन्तु जिस प्रकार प्रकृति की वृत्तियाँ और उसके उपादान आत्मा के भावयोग के उपकरण बनते हैं, उसी प्रकार प्रकृति के उपकरणो मे शक्ति का आत्मगत भाव साकार होता

है। इसीलिए शक्ति-परम्परा में शक्ति का स्वरूप सिंहवाहिनी, अनेक भुजावाली और विविध अस्त्र धारिणी दुर्गा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह शक्ति ही शिव की अनन्त विभूति है। यही श्री है। इससे विरहित शिव को तन्त्रों में शवतुल्य मानते हैं। लोक मंगल की समर्थ, सजीव और सफल साधना शक्ति के सहयोग से ही हो सकती है। इसलिए आत्मदान की आलोकमय रस-स्फूर्ति की सृजनात्मक प्रेरणा शक्ति की स्फूर्ति बनकर ही शिव के स्वरूप को पूर्ण करती है। काव्य की भाषा में प्रसाद में माधुर्य के साथ साज ओज का उद्रेक ही कलाकृति के शिव रूप को पूर्ण बनाता है। मंगलमयी कला सुकुमार कलाकारों की कोमल साधना और मृदुल अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। जिन्होंने कला और कविता का कामिनी के रूप में ध्यान किया है, वे सिंहवाहिनी दुर्गा के शक्ति स्वरूप का स्मरण रखने का साहस नहीं कर सके।

जीवन और साधना में शिवम् का यही पूर्ण रूप है। उपादान और लक्षण के रूप में इसी का ग्रहण काव्य को शिव बनाता है। मनुष्य की प्रकृति की जिन प्राकृतिक आकांक्षाओं को पश्चिमी आचार शास्त्री म शिव मानते हैं व सांस्कृतिक शिव के आधार अवश्य हैं और इसमें उनका अन्वय अपेक्षित है। वस्तुत सांस्कृतिक शिव के संस्कार को प्राप्त करके ही ये भी शिवत्व को प्राप्त करती हैं। सृजन के रूप में प्रकृति के क्षेत्र में भी आत्मदान ही शिव की साधना का सिद्धान्त है। मनुष्य के प्राकृतिक जीवन की सृजनात्मक परम्परा म भी यही सत्य है। प्रकृति के स्वार्थ की सीमा आत्म-रक्षण मात्र में है। मनुष्य के सजनात्मक और सामाजिक जीवन में प्राकृतिक हित सांस्कृतिक शिव म अन्वित होकर ही शिवत्व को प्राप्त करते हैं। प्राकृतिक स्वार्थ का हित पशुओं और मनुष्यों में समान है। अत आत्मदान ही सांस्कृतिक शिव का स्वरूप है। यही मनुष्य की विशेषता है। इसम अन्वित होकर ही प्राकृतिक प्रेय संस्कृति तथा शिवत्व के अधिकारी और मानव जीवन के योग्य बनते हैं। प्रेय प्रकृति है। आत्मदान का शिव ही संस्कृति का श्रेय है। प्रेय स्वार्थ है। श्रेय परार्थ है। पारस्परिकता म प्रेय और श्रेय स्वार्थ और परार्थ का समन्वय है। परार्थ में ही शुद्धि हो सकती है, क्योंकि स्वार्थ में जीव प्राय सजग और सचेष्ट रहता है। अत. परार्थ ही इस समन्वय की सफलता और इसके शिवत्व की कसौटी है। इसीलिए आत्मदान को शिव का मूल स्वरूप मानना उचित है। साधना, विवेक, स्वातन्त्र्य, सम्मान, प्रेरणा, परम्परा, ओज आदि आत्मदान को साकार बनाने वाले रूप और साधन हैं। केवल उपादान रूप में इन तत्वों के

ग्रहण से शिव काव्य का स्वरूप और लक्षण नही बनता। इसे हम 'काव्य मे शिवम्' कह सकते हैं। किन्तु 'शिव काव्य' वही है जिसमे यह आत्मदान का साग शिवम् काव्य के स्वरूप का लक्षण बन जाता है। काव्य का स्वरूप सुन्दरम् है। अत शिव काव्य वही है जिसमे शिव के तत्वो का सुन्दरम् के स्वरूप मे पूर्ण समन्वय हो। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य मे अन्वित होकर ही आत्मदान के तत्व काव्य को शिव बनाते हैं। आलोक, आत्मदान, साधना, प्रेरणा, ओज, शक्ति आदि काव्य के स्वरूपगत गुण बनकर शिव-काव्य की सृष्टि करते हैं।

——∞——

अध्याय ३८

शिवम् की साधना का पहला तत्व—आलोकदान

सास्कृतिक सृजन की मगलमयी साधना मे ही जीवन की त्रिवेणी की धारा प्रवाहित होती है। यही धारा सन्तति के निमित्त से लोक जीवन की परम्परा के अकुरो का पोषण करती है। इसी धारा के रस सिंचन से सास्कृतिक परम्परा के अकुर पल्लवित फलित और पुष्पित होकर जीवन के आश्रय बनते हैं। इस सास्कृतिक साधना का मूलमत्र मानव की स्वतत्रता, समानता और उनका गौरव है। मानव का यह सम्मान ही प्रेम और आत्मदान का बीज है। अपने सुख की खोज मोह है, प्रेम नहीं। दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान प्रेम का सूत्र और मगल का मन्त्र है। यह सम्मान केवल एक बौद्धिक स्वीकृति नही वह एक हार्दिक भावना और सजीव प्ररणा भी है। सम्पूर्ण चेतना का भाव होने के कारण इसे आत्मभाव कह सकते हैं। यह हमारे सम्पूर्ण जीवन की अन्तर्वृ त्ति है। अत यह आत्मा का भाव है। दूसरे के जीवन और भाव मे ओतप्रोत होकर ही यह सफल होता है। इसीलिए इसे आत्मीयता का भाव भी कह सकते हैं। सत्य के आलोक मे यह आत्मा का भाव उदित होता है। यह आलोक अनन्त है, क्योंकि सत्य स्वरूप से सार्वभौम है। अत स्वभाव से ही इस आलोक का विस्तार और प्रसार होता है। दूसरो के व्यक्तित्व और जीवन इस प्रसार की भूमि है। हमारी आत्मा मे उदित होने वाले आलोक का प्रसार दूसरा की आत्मा मे होता है। भाषा और व्यवहार की यह सापेक्षता एक उपचार मात्र है। वस्तुत सत्य के आलोक के इस प्रसार म एकात्म भाव का उद्घाटन होता है। आत्मदान के शिव का सौन्दर्य भी इस स्थिति मे अनायास निखर उठता है।

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसे हम दूसरे के आलोक स्रोतो का उद्घाटन कहेंगे। अपनी आत्मा के आलोक दान से दूसरे की आत्मा में उदित होते हुए इस आलोक स्रोत को हम और भी उज्ज्वल तथा प्रखर बना सकते हैं। आलोक का यह आत्मदान शिव की साधना का प्रथम चरण है। विचार का आरोपण और दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन का अवरोध इसमें सबसे बडी बाधायें हैं। इन बाधाओं के

मेघों मे आलोक का सूर्य तिरोहित हो जाता है। मगल के मार्ग मे अमगल की सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाती हैं। शैव तन्त्रो (आगमो) मे परम शिव को वेदान्त के ब्रह्म के समान पूर्ण चिन्मय माना है। वेदान्त के प्रज्ञानघन ब्रह्म की भाँति वे अखिल विज्ञानमय हैं। जीवन की समस्त विद्याओ और कलाओ मे इस विज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए शिव के स्वरूप और जीवन मे समस्त विद्याओ का निधान है। वे परम योगीश्वर हैं। भाषा और व्याकरण के आधार भूत माहेश्वर सूत्रो का उद्‌घाटन भी उनके ही डमरूनाद से हुआ। वे नटराज भी हैं। नृत्यकला के आदि गुरु हैं। जीवन, स्वास्थ्य और आयु के रहस्यो के परम विज्ञाता वे वैद्यनाथ भी हैं। कितने देवता और महावीर उनसे अस्त्र मागने के लिए जाते हैं। वे युद्ध और अस्त्र विद्या के भी आचार्य हैं। इस प्रकार पौराणिक शिव की कल्पना में जीवन और सस्कृति की समस्त विद्याओ का समाहार है। शिव के इस विद्यामय स्वरूप मे सत्य के आलोक लोक और आलोक दान की भूमिका है। एक ओर जहाँ शिव अखिल विद्यामय हैं वहा दूसरी ओर उपनिषदो मे अद्वैत ब्रह्म अथवा आत्मा को शिव माना है। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा का चिन्मय आलोक सत्य भी है तथा शिव भी। इसीलिए दूसरे की आत्मा में आलोक का प्रसार शिव की साधना का व्यवहार मार्ग है।

आत्मा का यह आलोकदान आरोपण नही है। दूसरे की स्वतन्त्रता, समानता और उसके गौरव का मान करते हुए दूसरे की आत्मा के आलोक स्रोतों को जागरण की प्रेरणा देना ही आलोकदान का मगलानुकूल रूप है। प्राचीन उपनिषदो की शिक्षा-प्रणाली मे आत्मीय भावना और स्वतन्त्रता के गौरव से युक्त शिक्षा का एक सरल और पूर्ण रूप मिलता है। उपनिषदो के ऋषि ब्रह्म का उपदेश नही देते थे। शिष्यो के साथ उनका पूर्ण सहयोग और आत्मभाव था। धर्म, ज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र मे अपनी मान्यताओ का आरोपण उनका उद्देश्य न था। उपनिषदो मे ऐसे अनेक शिष्यो के उदाहरण हैं, जहाँ ऋषियो ने सकेत और सहयोग से शिष्यो को स्वय ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार आत्मालोक के जागरण और विवेक के सवर्द्धन की प्रेरणा शिव की साधना की सत्यमयी भूमिका है। दर्शनो का तो उद्देश्य ही इस आलोक का विस्तार है। भारतीय दर्शनो के प्राचीन रूपो मे आग्रह और आरोपण बहुत कम हैं। आरम्भ से ही मतो की अनेकरूपता का आदर भारतीय आत्मा की मौलिक उदारता का प्रमाण है। ब्रह्म-साधना की

विधि मे मनन और निदिध्यासन का स्थान स्वतन्त्रता और सम्मान की व्यावहारिक प्रतिष्ठा का प्रमाण है। बुद्ध का दृष्टिकोण आरम्भ से ही स्वतन्त्र विचार के पक्ष मे था। जैन अनेकान्तवाद भी मूलत इसी विचार स्वातन्त्र्य और उदारता का समर्थक है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की तीनो ही परम्पराओ मे विचार की स्वतन्त्रता का पर्याप्त समादर है। विचार का आग्रह आगे चलकर दार्शनिक मतभेदो और विरोधो के पैदा होने पर ही बढा। विद्वान ही इस वाद विवाद मे उलझे रहे साधारण जनता धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे सदा इस उदार दृष्टिकोण को अपनाती रही है। इतना अवश्य है कि बुद्ध के अतिरिक्त और किसी महात्मा ने विचार स्वातन्त्र्य की आदरणीयता की मुक्त और स्पष्ट भाव से घोषणा नही की। अन्य भारतीय महात्मा और आचार्यों ने अपने विचारो को यथासम्भव स्वच्छ रूप मे दूसरो के सामने रखा तथा उन विचारो के आग्रह और आरोपण की चेष्टा नही की।

यह धर्म और स्वतन्त्रता की एक अदभुत विडम्बना है कि जिन महात्मा बुद्ध ने सिद्धान्त की दृष्टि से वैदिक रूढिवाद का खडन किया तथा स्वतन्त्र विचार की घोषणा की, वे बुद्ध ही धर्म के क्षेत्र में स्वतन्त्रता के घातक मठवाद के आदि प्रवतक बने तथा जिस वैदिक धर्म म उन्ह रूढिवाद का सदेह हुआ, उसकी परम्परा म धर्म और सस्कृति के क्षेत्र मे सबसे अधिक स्वतन्त्रता का सम्वधन हुआ। धर्म के प्रसार में व्यक्तिगत नेतृत्व तथा प्रचार एव उपदेश को अपनाने वाले महात्माओ में बुद्ध कदाचित् प्रथम थे। उनसे पहले धर्म क प्रवर्तकां और सस्थापको म केवल एक पारसी धर्म के नेता जरथुस्त्र का नाम लिया जा सकता है। अन्य पश्चिमी धर्मो की भाँति जरथुस्त्र मत म भी एक धार्मिक नेता और एक धम ग्रथ मान्य है। यह व्यक्तिवाद एकरूपता आदि क द्वारा रूढि का पोषक है। रूढि का अनुरोध आलोच दान म बाधक है। किन्तु जरथुस्त्र मत रूढिवादी धर्मों म प्राचीनतम होने के कारण कदाचित मृदुलतम है। उसमे एक धार्मिक नेता और एक धम ग्र थ की मान्यता अवश्य है किन्तु विधर्मियो म अपने धर्म के प्रचार तथा आरोपण का आग्रह जरथुस्त्र मत म नहीं है। धार्मिक प्रचार और आरोपण के गढ के रूप म मठ की स्थापना भी जरथुस्त्र मत म नही है। व्यक्ति के नेतृत्व के अतिरिक्त धार्मिक प्रचार, सगठन, उपदेश आदि के गढ के रूप में मठ की स्थापना सबसे पहले बुद्ध धम म पाई जाती है। धर्म प्रवर्तक के अनुयायियो, समर्थको और सदेशवाहको तथा धार्मिक प्रचार

एवं संगठन के यंत्रो के रूप में धर्माधिकारियो की एक प्रथक तथा केवल धर्म संरक्षण करने वाली जाति की स्थापना सबसे पहले बौद्ध परम्परा मे पाई जाती है। अन्य पश्चिमी धर्मो ने धर्म प्रसार के इन यंत्रो को बौद्ध परम्परा से ग्रहण करके ही अपनाया और बढाया है।

धर्म प्रसार के सभी यंत्र जहाँ एक ओर धर्म के प्रसार मे सहायक होते हैं, वहा दूसरी ओर वे मनुष्य की चेतना की स्वतंत्रता मे बाधक होते हैं तथा इस प्रकार आलोकदान का अपघात करते हैं। ये यंत्र जितने अधिक विपुल, दृढ, कठोर, समर्थ और उग्र होते हैं, उतना ही अधिक वे आलोकदान का अपघात भी करते हैं। अन्ध-विश्वास का प्रसार ईश्वरीय कोप का आह्वान ईश्वर की अथवा पैगम्बरों की महिमा का अतिरंजन, छल, प्रलोभन, आतंक, आक्रमण आदि अनेक उग्र और अंधकारमय रूपो को धर्मो के इतिहास में धर्म प्रचार के लिये अपनाया गया है। धर्म की यह सबसे बडी विडम्बना है कि वह अपने प्रचार के लिये उन साधनों को अपनाता रहा है जो धर्म के वास्तविक आध्यात्मिक सत्य के विपरीत होने के कारण उस सत्य का आच्छादन और हनन करते हैं। धर्म की इस विडम्बना का आरम्भ तो जरथुस्त्र से ही माना जा सकता है, किन्तु प्रचार की जो अन्धकारमयी विभूषिका पिछले दो हजार वर्षो मे विश्व मे फैलती रही है उसका स्फुट आरम्भ नेताओं के व्यक्तिवाद, मठवाद और प्रचारकों की सेना के रूप मे बौद्ध परम्परा मे ही हुआ है। ईसाई धर्म परम्परा मे धार्मिक प्रसार के ये यंत्र अधिक दृढ, अधिक व्यवस्थित, अधिक समर्थ और अधिक उग्र बन गये। इस्लाम धर्म के अनुयायियो की भांति ईसाईयों ने धर्म-प्रसार के लिये कदाचित् युद्ध और आक्रमण का अवलम्ब नही लिया फिर भी अन्य रूपो मे वे छल और बल दोनो से विधर्मियो को ईसाई बनने के लिये विवश करते रहे हैं। राजनीतिक और आर्थिक छल का उपयोग उन्होंने अधिक किया है। इस्लाम धर्म के नेताओ ने अपने आदि स्रोत के पूर्व और पश्चिम की दोनो दिशाओं मे आक्रमण और युद्ध का मार्ग अपनाया। इस दृष्टि से प्रचार की जिस अनीति का आरम्भ बुद्ध धर्म से हुआ उसकी उग्रतम परिणति इस्लाम धर्म में मिलती है।

धर्म की यह सबसे बडी विडम्बना है कि प्रचार की आकांक्षा उसे अधर्म बना देती है। इस अधर्म का आरम्भ उपदेश से और इसका अन्त आक्रमण से होता है। यह आक्रमण बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और यौद्धिक अनेक प्रकार

का होता है। सभी रूपो मे इसकी उग्रता और इसका अतिचार मनुष्य की स्वतन्त्रता और उसकी चेतना के स्वतन्त्र विकास का बाधक है। **उपदेश के तुच्छ बीज से ही अधर्म की यह विषबेल धर्म के उद्यान में फैलती है।** उपदेश का अहकार बड़े-बड़े महात्माओ को छलता रहा है। आक्रमण इसी उपदेश के अहकार का उग्रतम रूप है। धर्मात्माओ और जिज्ञासुओ को उपदेश की यह आलोचना सुनकर खेद होगा। किन्तु यदि वे विचार कर देखें तो उन्हे विदित होगा कि उपदेश आक्रमण का बौद्धिक और मृदुलतम रूप है। किन्तु उपदेश मे छिपा हुआ अहकार दूसरे के व्यक्तित्व को हीन तथा उसकी चेतना को मन्द बनाकर आलोकदान के शिवम् को तिरोहित करता है। उपदेश के प्रकट रूप मे आलोकदान का छल छिपा रहता है, वही ज्ञानियो और जिज्ञासुओ को भ्रान्त करता है। प्रकट रूप मे उपदेश ज्ञान का दान है। ज्ञान आलोक है। अत उपदेश आलोकदान है। **किन्तु उपदेश का अहंकार इस आलोकदान को आरोपण बना देता है। आलोकदान का वास्तविक रूप अपने अहकार के दर्प को वर्जित कर दूसरे की स्वतंत्रता और उसके सम्मान की रक्षा करते हुए उदारता पूर्वक उसकी चेतना को विकास के लिये प्रेरित करना है। यही प्रेरणा श्रेय अथवा शिवम् का बीज है। इसी बीज से जीवन के नन्दन में श्रेय के अनेक कल्पवृक्ष फलते हैं।** उपदेश से लेकर आक्रमण तक आरोपण के विविध रूपों का अवलम्ब करने वाले व्यक्ति और समुदाय धर्म के क्षेत्र में श्रेय के इस मौलिक रूप की अवहेलना करते आये हैं। **आलोकदान के श्रेय का सबसे अधिक उदार और उज्ज्वल रूप धर्म और संस्कृति की वैदिक परम्परा में मिलता है जो आरोपण, आग्रह, आक्रमण आदि से सबसे अधिक मुक्त रही है।**

काव्य के साथ आलोकदान के इस श्रेय का दोहरा सम्बन्ध है। काव्य के स्वरूप और उसके विषय तथा भाव दोनो मे ही आलोक के तिरोधान और आविष्कार दोनो की सम्भावना हो सकती है। कलाओ मे रूप की अभिव्यक्ति के द्वारा सौन्दर्य का स्फोट होता है। काव्य में रूप के साथ भाव की अभिव्यक्ति भी होती है। यह अभिव्यक्ति आलोक का ही विस्तार है। सम्प्रेषण का उद्देश्य कला की अभिव्यक्ति को आलोकमय बनाना है। **इस प्रकार कला और काव्य का स्वरूप ही आलोकमय है और आलोकदान उनका धर्म है।** दूसरी ओर काव्य के स्वरूप और विषय में आलोक के सकोच की भी सम्भावनाएँ रहती हैं। भाषागत अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभिधा का आलोक सबसे अधिक ऋजु होता है। किन्तु काव्य मे अभिधा का

सबसे कम महत्व है। इसका अभिप्राय यही है कि आलोक की ऋजुता काव्य के अनुकूल नहीं है। लक्षणा और व्यजना मे जहाँ एक ओर अन्य प्रकार से भाव की अभिव्यक्ति भी होती है वहाँ दूसरे प्रकार से अर्थ का अपह्नव भी होता है। विचार की वात यह है कि यह अपह्नव कहाँ तक अभिव्यक्ति के आलोक का बाधक होता है। वस्तुत लक्षणा और व्यजना के इस अपह्नव का उद्देश्य आलोक को बाधित करना नही है वरन् उसे अधिक तीव्र और अधिक सुन्दर बनाना है। व्यजना के अपह्नव के द्वारा ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य निखरता है। इसकी तुलना में अभिधा का आलोक बहुत मद होता है। प्रकाश की किरणों की भाँति व्यजना की वक्रता आलोक को गति देती है किन्तु उसके लिये दिशा की ऋजुता आवश्यक है। व्यजना के साथ भी काव्य में प्रमाद सम्भव है। अन्य अवान्तर कूटताएँ इस आलोक की बाधक हो सकती हैं। अभिव्यक्ति के रूप का सौन्दर्य और भाषा का माधुर्य अपने सम्मोहन के द्वारा आलोक की प्रेरणा को मद बनाता है। व्यजना मे चमत्कार को दूर रखकर काव्य इस दोष मे बच सकता है। इसके अतिरिक्त विषय के रूप मे माधुर्य शृगार भक्ति आदि इस आलोक के बाधक बन जाते हैं। ये भी सम्मोहन के द्वारा ही बाधक बनते हैं। इनके माधुर्य मे यदि चेतना की सजगता और उसके स्वतन्त्र ओज के सरक्षण का सूत्र बना रहे तो इनके सम्मोहन की बाधा कम हो सकती है। सम्मोहन एक प्रकार से प्रकृति का आकर्षण है। आरोपण मे उसका यही अन्तर है कि आरोपण व्यक्ति के अहकार के प्रतिकूल होता है तथा सम्मोहन व्यक्ति के अहकार के अनुकूल होता है। किन्तु अहकार के केन्द्र मे प्रकृति की मेघ-मालाओं का आवाहन जीवन को सरस बनाने के साथ-साथ आत्मा के आलोक का आच्छादन भी करता है। भाषा, अभिव्यक्ति और विषय तीनों ही रूपों में आलोक-दान की उज्ज्वल प्रेरणा को समाहित करने वाला काव्य अधिकतम परिमाण में शिव-काव्य बन सकता है। यह आलोकदान का भावात्मक रूप है जो धर्म और काव्य दोनों मे बहुत कम अपनाया गया है। फिर भी भारतीय धर्म और काव्य के उदार दृष्टिकोण मे मनुष्य की स्वतन्त्रता का ऐसा आदर मिलता है जिसमें आलोक-दान की बाधाएँ अल्पतम हैं तथा जिसमे आलोक के ग्रहण और विस्तार की सम्भावनाएँ पर्याप्त मात्रा मे निहित हैं।

भारतीय धर्म और दर्शन के स्वतन्त्र और उदार दृष्टिकोण का प्रभाव भारतीय काव्य पर भी है। अधिकाश भारतीय काव्य विचार के आग्रह आरोपण से मुक्त

हैं। वाल्मीकि रामायण और कालिदास का काव्य, प्रभात और राका के समान उज्ज्वल हैं। कालिदास के बाद काव्य में भाषा और व्यंजना की कुछ दुरूहता अवश्य आगई किन्तु आरोपण और आग्रह उसमें भी नहीं हैं। हिन्दी के भक्ति काव्य में विचार का प्रबल आरोपण काव्य में प्रथम बार दिखाई देता है। खेद की बात है कि हिन्दी काव्य की श्रेष्ठतम निधि रामचरितमानस इसकी सबसे अधिक दोषी है। अन्य सब देवताओं और राक्षसों का उपहास और अपमान करके राम को परब्रह्म सिद्ध करने का जैसा आग्रह रामचरितमानस में दिखाई देता है, वैसा धार्मिक विवादों में जूझने वाले सन्तों और दार्शनिक विवादों में उलझने वाले आचार्यों में भी मिलना कठिन है। सूरदास के काव्य में इतना आग्रह नहीं है। उनके पदों में भक्ति की प्रेममयी मन्दाकिनी कहीं अधिक प्रसन्न भाव से प्रवाहित हुई है। तुलसीदास का रामचरितमानस जहां अन्य अनेक दृष्टियों से हिन्दी काव्य की सर्वोत्तम विभूति है, वहाँ आलोकदान की दृष्टि से कदाचित् सबसे अधिक दोषपूर्ण है। अपने मत का इतना प्रबल आग्रह और दूसरे देवता, राक्षस तथा राम कथा में श्रद्धा न रखने वाले मानवों का जितना अपमान रामचरितमानस में किया गया है, उतना कदाचित ही किसी धार्मिक काव्य में मिलेगा। बालकाण्ड के आरम्भ में ही शिव का उपहास शैव और वैष्णव धर्मों के समन्वय में उनकी पक्षपातपूर्ण और संकुचित नीति का द्योतक है। बाली और परशुराम जैसे महारथियों का भी तुलसीदास ने बड़ी अशिष्टता से अपमान किया है। बाली के साथ छल और अन्याय करके तुलसी के राम जो अशोभन उत्तर देते हैं, वह उनके शील-चन्द्रमा का कलंक है। राम के उत्तर की तुलना में बाली का प्रश्न कहीं अधिक शोभन और शालीन है। 'नाथ' कहकर नम्रतापूर्वक अपने प्रति अन्याय का समाधान मांगने वाले को 'शठ' कहकर उसकी भर्त्सना करना किस शील का लक्षण है ? यह राम और तुलसी के भक्तों से पूछना चाहिए। जिन्हें रामकथा में श्रद्धा नहीं है, उनकी इस अरुचि को पूर्व पापों का फल बताना कैसा धार्मिक शील है ? यह भी विचारणीय है (तुलसी पिछले पाप से नहीं हरि कथा सुहाय)।[४०] धर्म का तत्व बहुत गहन और विस्तृत है, भगवान और भक्ति के रूप अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में भगवान के एक रूप की उपासना और उनकी एक कथा में श्रद्धा न होने को पाप का फल कहना नैतिक अशालीनता ही नहीं धार्मिक अनुदारता भी है। इन अभद्रताओं की ओर हमारे साहित्य के इतिहास में कभी इंगित नहीं किया गया। इससे स्पष्ट

है कि स्वतन्त्र और उदार विचार तथा मन के मुक्त आलोक का अपने मत के अतिरंजित आग्रह और अभद्र आरोपण के दृष्टिकोण को लेकर चलने वाली कृतियों मे हमारे विवेक का तिरोधान करने की कितनी अद्भुत शक्ति है।

भक्ति काव्य मे आलोकदान का बाधक आरोपण प्राय मिलता है। इसका एक कारण तो भक्त कवियो की अपने इष्ट देवता के प्रति अतिशय श्रद्धा है। यह श्रद्धा अपने आप मे इस आरोपण का हेतु नही है। वास्तविक रूप मे यह श्रद्धा एक अत्यन्त उदार और विनम्र भाव है। अत यह आरोपण का कारण नहीं बन सकती किन्तु जब भक्ति मे भी अहकार का लेश रह जाता है तो उसके सयोग से यह श्रद्धा आरोपण की ओर अभिमुख होती है। धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन मे विश्वास रखने वाले सम्प्रदायो मे यही हुआ है। धर्म की इसी विडम्बना का कुछ प्रभाव भक्ति काव्यो मे भी मिलता है। यह प्रभाव उन्ही स्थलो पर आया है जहाँ भक्त और कवि अपने इष्ट देवता को अन्य देवताओ से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए उत्सुक हुए हैं अथवा जहा वे अपने देवता के प्रति दूसरो की श्रद्धा आकर्षित करने के लिये प्रयत्नशील हुए हैं अन्यथा जहाँ अपने देवता के प्रति केवल उनकी भक्ति का प्रसग है वहाँ भक्ति काव्य आरोपण के दोष से मुक्त है। भक्ति के माधुर्य मे सम्मोहन का प्रभाव हो सकता है। उत्तम भक्ति काव्य मे वह स्वाभाविक है। शृगार आदि काव्यो के सम्मोहन की भाति यह सम्मोहन भी किसी सीमा तक आलोक का बाधक हो सकता है। किन्तु शृगार के सम्मोहन की भाँति यह सम्मोहन केवल सम्मोहन नही है। इस सम्मोहन मे कुछ उदात्त और उदार भाव भी उदित होते हैं जो आत्मा को विशद बनाकर उसके आलोक को अनावृत करते हैं। श्रेष्ठ भक्त कवियो म भाव के द्वारा आत्मा को आलोकित करने वाले स्थल बहुत मिलेंगे। इन भावो का आलोक बहुत मधुर और उज्ज्वल होता है। विकास शील और सृजनात्मक आलोक की प्ररणा चाहे भक्ति काव्य मे न हो किन्तु आलोक के इस रूप की सम्भावना के लिये उसमे अवकाश रहता है। श्रद्धा और भक्ति के उदार भाव लोक व्यवहार में इस सम्भावना के स्रोत बन सकते हैं। गीता के 'सर्वभूतहिते रत' मे भक्ति की इस मगलमयी सम्भावना का सूत्र मिलता है।

भक्ति काव्य मे प्रसगत नैतिक आचार के तत्व मिलते हैं। इन प्रसगो के नैतिक सकेत चेतना मे नैतिक रहस्यो को उद्घाटित करते हैं। इस दृष्टि से भक्ति-काव्यो के ये नैतिक सकेत पाठको को आलोक का दान करते हैं। उपदेश के रूप

के अतिरिक्त इस आलोक मे और कोई आरोपण नही रहता। नीति की उक्तियो मात्र मे उपदेशक का अनुपग न होने के कारण तथा इन उक्तियो के निर्वैयक्तिक होने के कारण नीति के उपदेश का आरोपण अत्यन्त मद और प्रभावहीन हो जाता है। धर्म और भक्ति के आरोपण की तुलना मे वह नगण्य है। नैतिक शिक्षा के रूप मे रचित नीति काव्य भी व्यावहारिक जीवन के रहस्यो का उद्घाटन कर आलोक का प्रसार करता है। अभिधा की प्रधानता और व्यजना की अल्पता इस आलोक को ऋजु बनाती है। सौन्दर्य की दृष्टि से चाहे नीति के ये निर्वचन अधिक श्रेष्ठ न हो किन्तु आलोकदान के श्रेय की दृष्टि से ये सम्पन्न होते हैं। महाकाव्यो मे ये आलोक के कण बिखरे हुए मिलते हैं। इनमे व्यजना के सौन्दर्य की अल्पता श्रेय और सौन्दर्य के समन्वय के चिरतन प्रश्न की ओर सकेत करती है। नीति के वचनो मे प्रसाद गुण की प्रधानता होती है किन्तु माधुर्य की मन्दता के कारण ये आकर्षक नही होते तथा ओज की अल्पता के कारण इनमे प्ररणा नही होती। इसीलिये महत्वपूर्ण तत्वो को प्रकाशित करते हुए भी ये नीति के निर्वचन पाठको को बहुत कम लाभान्वित कर सके हैं।

शृगार के काव्य मे भक्ति काव्य की भाँति कोई सिद्धान्तो का आरोपण नही होता किन्तु सौन्दर्य एव माधुर्य का सम्मोहन उसमे बहुत होता है। वह इतना आकर्षक और उन्मादक होता है कि आलोक को आच्छादित कर देता है। शृगार का भाव अत्यन्त तीव्र और निभृत रूप मे व्यक्तिगत होता है। शृगार का सम्मोहन, व्यक्तिवाद और रहस्यवाद ये सभी आलोक के विस्तार के विपरीत हैं। शृगार मे भक्ति के समान उदार भावो का भी अवकाश नही होता। भक्ति काव्य म भी ये उदार भाव बहुत कम फलित हुए हैं। अधिकाश भक्ति और भक्ति काव्य सम्मोहन और सकोच का ही कारण बने हैं। यही कारण है कि मध्यकाल की भारतीय जनता भक्ति और शृगार के सम्मोहन मे डूबी रही तथा जीवन के जागरण और उत्थान का कोई आलोकमय मार्ग नही खोज सकी। भक्ति और शृगार के सम्मोहन मे आत्मा के आलोक का सकोच होने के कारण वह पराजित जीवन की कटु यथार्थताओ की गम्भीरता को भी आँख खोल कर न देख सकी और न उनके उपचार का कोई उज्ज्वल एव ओजस्वी मार्ग बना सकी। वैसे अपने स्वरूप म भक्ति और शृगार का काव्य बहुत उज्ज्वल है तथा उसकी मधुर व्यजना म उसका विषय भव्य रूप मे प्रकाशित हुआ है। आलोकदान की दृष्टि से भक्ति और

शृगार के काव्य की सीमाओ का सकेत ऊपर इस काव्य के स्वरूप और विषय की दृष्टि से नही वरन् जीवन के गौरव के व्यापक दृष्टिकोणो से किया गया है। इस दृष्टिकोण मे जीवन के स्वातन्त्र्य और उत्कर्ष के साथ साथ उसकी विकासशील सृजनात्मक परम्परा का अनुरोध अधिक है।

भक्ति और शृगार के काव्य के समान ही काव्य म सम्मोहन का एक दूसरा रूप आधुनिक हिन्दी के छायावादी और रहस्यवादी काव्यो मे मिलता है। इस आधुनिक काव्य का सम्मोहन भक्ति और शृगार के काव्य से अधिक अनिर्वचनीय है। इस अनिर्वचनीयता के कई कारण हैं। कुछ आलोचको ने इस काव्य पर अस्पष्टता का भी दोषारोपण किया है। यह अस्पष्टता एक प्रकार से काव्य के स्वरूप मे भी आलोक की बाधक है। उज्ज्वल व्यजना की भाँति यह अभिव्यक्ति के आलोक को तीव्र नही बनाती वरन् वह इसे धुँधला बनाती है। छायावाद और रहस्यवाद के काव्य में प्रभात का उज्ज्वल आलोक कम है और उषा एव सन्ध्या का धूमिल आलोक अधिक है। किन्तु छायावाद और रहस्यवाद के सम्मोहन की अनिर्वचनीयता का अधिक गम्भीर कारण सूक्ष्म एव अतीन्द्रिय भावो और रूपो के प्रति कवियों का विशेष आकर्षण है। इसी सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तत्व ने असीम और 'अनन्त' बन कर छायावाद को रहस्यवाद का रूप दिया। हिन्दी के इस आधुनिक काव्य मे भी भक्ति और शृगार के काव्य के समान सम्मोहन ही अधिक है। किसी भी रूप मे जीवन के गम्भीर रहस्यो का उन्मीलन भी 'कामायनी' के अतिरिक्त अन्य गीत काव्य मे कम मिलता है। इसका एक कारण छायावाद और रहस्यवाद के भावो मे कल्पना की प्रधानता है। आधुनिक कवियो की यह कल्पना शीलता भक्ति और शृगार के काव्य की उसी परम्परा मे है जिसमे अधिकाश कवि जीवन की व्यापक यथार्थताओ मे अप्रभावित रहे हैं। हिन्दी काव्य की ये तीनों धाराएँ सम्मोहन और कल्पना के विलास में ही अधिक लीन रही हैं। जीवन की व्यापक और विकासशील यथार्थताओ की ओर ये विमुग्ध कवि ध्यान नही दे सके। छायावादी और रहस्यवादी काव्य की व्यजना की विचित्र भगिमाएँ इस काव्य के सम्मोहन को और बढाती रही हैं। आधुनिक काव्य मे जीवन के ऋजु और उज्ज्वल आलोक के विस्तार का आरम्भ बच्चन और दिनकर के काव्य से हुआ। इसके पूर्व वह मैथिलीशरण गुप्त के काव्य मे मिलता है। दिनकर के काव्य में इस आलोक का अधिक उत्कर्ष हुआ है। रेणुका, कुरुक्षेत्र और उर्वशी में दिनकर के काव्य में

क्रमशः प्रभात के मधुर, मध्याह्न के प्रखर और सध्या के स्वप्निल आलोक के रूप मिलते हैं। प्रगतिशील काव्य मे जीवन का यह आलोक यथार्थ की अनेक उपेक्षित वीथियो मे विखर पडा है। कल्पना और व्यजना दोनो के सौन्दर्य के सम्मोहन के विपरीत यथार्थ का उग्र निरूपण होने के नाते यह प्रगतिवादी काव्य एक प्रकार से छायावाद और रहस्यवाद की उग्र प्रतिक्रिया है। प्रयोगवादी कहे जाने वाले काव्य मे प्राय व्यजना की दुरूहता मे आलोक की ऐसी वक्रता दिखाई देती है जैसी पानी के भीतर प्रकाश की किरणो की होती है। प्रयोगवादी काव्य में सबसे पहिले काव्य का वह रूप आया है जिसमें व्यजना के प्रकाश की किरणें खडित होकर बिन्दुल रेखाओ के समान बन गई है। आधुनिक चित्रकला की भाँति इस नई कविता की अभिव्यक्ति कूट और दुरूह है। अत व्यजना की दृष्टि से इसका आलोक उन दूरवर्ती तारो के आलोक के समान है जो अभी तक भूमि पर नही पहुंच सका है अथवा विद्युत के आलोक की उन वक्रिम रेखाओ के समान है जो चेतना के मार्ग को प्रकाशित करने के स्थान पर उसे अपनी प्रखरता से चकाचौध कर देता है। विषय की दृष्टि से नई कविता जीवन के गम्भीर रहस्यो की खोज का प्रयास करती है किन्तु उसकी खोज के मार्ग जीवन के कान्तार म अलक्षित ही रहते हैं। उसकी खोज की गुफाओ की गहराइयो म मार्ग और विषय (व्यजना और वस्तु) दानो का दर्शन दुष्कर हो जाता है। अधिकाश नई कविता की यही गति है, यद्यपि भक्ति, शृगार और नीति के काव्यो की भाति नई कविता मे भी स्निग्ध और मधुर आलोक के दीपक मिल जाते हैं।

अस्तु आलोक का मुक्त और उदार प्रसार शिव-काव्य का प्रथम लक्षण है। वस्तुत यह सत्य काव्य का लक्षण है, क्योकि आलोक सत्य का स्वरूप है। सत्य शिव का आवश्यक आधार है और शिव सत्य की पूर्णता है। इसीलिए शैवागमो मे शिव को चिन्मय और ज्ञान-स्वरूप माना गया है तथा वेदान्त म प्रज्ञानघन ब्रह्म को 'शिव' कहा है। यह आलोक का उदार प्रसार दूसरे को चिन्मय और स्वतन्त्र मानकर ही हो सकता है। बालक तक में स्वतन्त्र चेतना का यह स्फुरण आरम्भ से ही दिखाई देता है, उसके इस स्फुरण में स्नेह और उदारता-पूर्वक योग देना आत्मदान का प्रथम पक्ष और शिव की साधना का प्रथम चरण है। ज्ञान इस आलोक का सामान्य स्वरूप है। अवगति उस ज्ञान की आत्मगत अनुभूति है। इस ज्ञान के प्रकाश मे पदार्थों, तथ्यो, सिद्धान्तो और जीवन के मूल्यो में यथार्थ रूप का

उद्घाटन होता है। सामान्य लौकिकज्ञान मे इन सबमें एकरूपता होती है। अत इनके स्वरूप की अवगति के लिए इनका परस्पर विवेक आवश्यक है। विवेक अखण्ड चेतना की व्यावहारिक और तार्किक शक्ति है। यह स्पष्ट है कि विवेक द्वारा अनेक रूपो का भेद होता है। विवेक के भेद-मूलक होने के कारण एक बार तो वह शिव के अभेदमूलक अद्वैत भाव से विपरीत प्रतीत होता है। दो विपरीत तत्वों का समन्वय कठिन है, इसीलिए कला और काव्य के साथ तर्क और विचार के विरोध की चर्चा रहती है। प्राय लोग भावना को काव्य का स्रोत मानते हैं। भावना का आधार आत्मभाव है। उसका धर्म एकात्मता है। यह एकात्मता भेद के विपरीत है। विचार और विवेक का धर्म भेद है। भावना पर आश्रित होने पर ही कविता मे आत्मभाव की एकता सुरक्षित रह सकती है। कदाचित् इसी धारणा को लेकर आधुनिक हिन्दी मे गीत काव्य की रचना अधिक हो रही है और गीतकार अल्हड और मुक्त भावना में बहते रहने का अभिनय करते हैं। इसी धारणा के कारण इन कवियो मे अध्ययन और चिन्तन की अपेक्षा सी दिखाई देती है।

किन्तु वस्तुत यह भ्रम है। भावना म एकात्मता के अनुभावन की अद्भुत शक्ति अवश्य है। किन्तु इस एकात्मभाव का विचार विवेक और भेद से कोई मौलिक विरोध नहीं है। एकात्मता भिन्न तत्वो अथवा व्यक्तियो मे आन्तरिक एकता का भाव है। भेद और विभिन्नता इस एकात्मता की विभूति है। भेद और विविधता की अवगति को यथार्थ मानते हुए भी एकात्मता आनन्द की सृष्टि करती है। अत विवेक और भावना मे विरोध के स्थान पर सामजस्य अपेक्षित है। यूरोपीय अध्यात्मवादी ब्रैडले ने विचार और भावना के इस सामजस्य को पूर्ण सत्य का लक्षण माना है। वेदान्त मे यद्यपि अनुभूति की एकात्मता पर अधिक बल है, किन्तु जीवन्मुक्ति से यह स्पष्ट है कि इस एकात्मभाव से विचार और व्यवहार के भेद का पूर्ण सामजस्य है। आत्मा की अखण्ड एकता का तर्क विधि से निदर्शन करने के लिए ही वेदान्त में अनेक विध प्रपच का 'नेति नेति' करके निराकरण किया गया है। किन्तु यह निराकरण वेदान्त-शिक्षा का उपचार मात्र है। वस्तुत इस एकात्मता का स्वरूप अनेक विध प्रपच मे भी तथावत् रहता है। भेद के निराकरण की प्रक्रिया केवल एकात्मता के अभेद को ग्राह्य बनाने के लिए है। भेद रहित एकात्मता तो शून्य कल्प प्रतीत होती है। इसी आशका से

शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म को भी वेदान्त में स्थान दिया। इसी सम्भावना का फल बौद्ध मत का शून्यवाद हुआ। सत्य यह है कि अनुभूति और भावना की एकात्मता का भेद और विविधता से कोई विरोध नहीं है। भेद की सम्पन्नता में ही एकात्मता का सजीव रूप निखरता है। इसीलिए रामानुजाचार्य ने अद्वैत को सविशेष माना है। समाधि की आन्तरिक अनुभूति में अखण्ड एकात्मता अपने कैवल्य में विभासित होती है। कवियों की वे तन्मय अनुभूतियाँ जिनमें कविता का अनुभावन होता है, योगियों की समाधि के तुल्य ही हैं। इतना अन्तर है कि जहाँ योग और वेदान्त की समाधि में भेदमूलक प्रपंच का पूर्णत निरास हो जाता है वहाँ कविता की तन्मय अनुभूति में इस प्रपंच का अनुपग बना रहता है। सविकल्प समाधि की तन्मयता की भाँति इसमें भेद का अनुभव नहीं होता। कला और काव्य के क्षेत्र म अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा करने वाले क्रोचे भी अनुभूति में विषय का अनुपग मानते हैं यद्यपि उनका मत है कि अखण्ड चेतना सृजनात्मक है और वह अपने विषय की स्वयं सृष्टि करती है। यह सृजन ही चेतना की अभिव्यजना है। सृजन की आत्माभिव्यक्ति चेतना की एकात्मता को अखण्डित रखती है। इतना स्पष्ट है कि कवि की अनुभूति योग अथवा वेदान्त की आत्मगत अनुभूति की भाँति पूर्णत प्रपंच-शून्य नहीं होती। समाधि अथवा कैवल्य की अपेक्षा काव्य की अनुभूति जीवन्मुक्ति के अधिक निकट है। काव्य की एकात्मता प्रपंच से सम्पन्न रहती है, इसीलिए योग और वेदान्त की अपेक्षा काव्य में लोक की आत्मा को प्रभावित करने की अधिक शक्ति है। इसीलिए सत्य का वास्तविक और पूर्ण स्वरूप निष्प्रपंच ब्रह्म नहीं है वरन् प्रपंच की अनेक रूपता में ओतप्रोत ब्रह्म का वह स्वरूप है, जिसे तर्क-युग में सप्रपंच कहा जाने लगा। किन्तु जिसे उपनिषद् युग में 'कवि' कहा जाता था। जिस प्रकार कवि की तन्मय भावना में अनेक रूप प्रपंच की एकात्म भावना पश्यन्ति वाक् के रूप में आलोकित होकर मध्यमा के मार्ग से वैखरी में मुखरित हो उठती है, उसी प्रकार विश्व कवि (ब्रह्म) की अखण्ड चेतना में प्रपंच की आत्मा अनेक समृद्ध रूपों में साकार हो उठती है।

जहाँ तक काव्य के व्यक्त रूप का प्रश्न है वहाँ तक यह स्पष्ट है कि काव्य की व्याख्या उसे विविध रूपात्मक भाषा को अनुप्राणित करने वाला एकात्मभाव मानकर ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार ब्रह्म का अनेक-रूप प्रपंच से सहज सामजस्य है, उसी प्रकार कविता की भावानुभूति की

एकात्मता का भी शब्दो की अनेकरूपता से सहज सामजस्य है। भाषा का विधान विचार और विवेक की भेद मूलकता के अधिक अनुकूल है। किन्तु इस भेद मूलक भाषा में अनुभूति की एकात्मता को व्यक्त करने की भी अद्भुत शक्ति है। वस्तुत भाषा की अनेकरूपता मे ही अर्थ और अनुभूति की आत्मा समृद्ध रूपो मे साकार होती है। अत जिस प्रकार भाषा की अनेकरूपता से अनुभूति की एकात्मता का कोई विरोध नही है, उसी प्रकार विचार और विवेक की भेद-मूलकता से भी काव्य की आत्मा का विरोध नही है। सृष्टिवाद की दृष्टि से जहाँ वेदान्त और व्याकरण दर्शनो मे जगत और भाषा के प्रपच को 'विवर्त' कहा जाता है, वहाँ तत्व-दृष्टि के पक्ष से हम विश्व प्रपच और भाषा को अखण्ड आत्म-तत्व की 'व्यजना' का पद दे सकते हैं। एक दृष्टि से जो विवर्त है, वह दूसरी दृष्टि से व्यजना है। वेदान्त और व्याकरण दर्शन मे विवर्तवाद के आग्रह का कारण केवल इतना ही है कि सृष्टिवाद के सम्बन्ध मे कारणवाद को स्वीकार करने पर ब्रह्म (शब्द) के अखण्ड एकात्मभाव म परिणाम अथवा विकार को अगीकार नहीं किया जा सकता। वेदान्त की परिभाषाओ मे *अविकारी कारण से उत्पन्न होने वाली सृष्टि को 'विवर्त' कहा* जाता है। ब्रह्म-मुख से सृष्टि का विवाद उठाने पर ही ये कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। प्रपचमुख से आत्मतत्व का अनुसधान करने पर लोक और भाषा का प्रपच अखण्ड एकात्म तत्व की व्यजना बन जाता है। शैव और शक्ति तन्त्रो मे विमर्श को शिव की शक्ति अथवा उनका स्वरूप मान लेने के कारण यह कठिनाइयाँ पैदा नही होती। व्याकरण दर्शन में भी ब्रह्म-कल्प परावाक् का पश्यन्ती और मध्यमा के मार्ग से वैखरी वाणी से सामजस्य इसी प्रकार हो सकता है।

ज्ञान के आलोक प्रसार मे जहा एक ओर पदार्थों और सिद्धान्तो के तथावत् *रूपो की अनेकता का उद्घाटन होता है, वहाँ दूसरी ओर जीवन को आन्तरिक* एकात्मता का भी प्रकाशन होता है। अत जिस प्रकार विमर्श शक्ति मे परम शिव का पूर्ण सामजस्य अथवा तादात्म्य है, उसी प्रकार शिव के एकात्मभाव अथवा आत्मदान से विवेक और विचार की भी पूर्ण सगति है। अत शिव काव्य मे उपादान और स्वरूप दोनो ही रूपों मे आलोक का आधान अपेक्षित है। उपादान और स्वरूप का भेद काव्य की एकता मे समाहित हो जाता है। आलोक का उपादान काव्य के स्वरूप मे एकाकार होकर ही पूर्ण और सफल काव्य की सृष्टि करता है। अत उपादान के रूप मे ग्रहीत विचार और विवेक का आलोक काव्य

के रूप में एकाकार होकर विवेचन की शक्ति का उद्भावन करते हुए भी एकात्मता का अनुभावन करता है। जहाँ आलोक के उपादान में रूप की प्रधानता रहती है वहाँ विज्ञान, शास्त्र अथवा दर्शन की सृष्टि होती है। आलोक के उपादान से रहित काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ रूप और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं की प्रधानता होती है, वहाँ आलोक का मुक्त प्रसार नहीं होता। अतिरंजित अभिव्यक्ति के अपारदर्शी झाड़फानूसों में आलोक की मन्द आभा मनोहर बनकर मुग्ध करती है। आलोक की शक्ति की अपेक्षा वह रूप का सम्मोहन अधिक उत्पन्न करती है।

अध्याय ३९

आलोकदान के बाधक

आलोक चेतना का स्वरूप है। दर्शनों में चेतन आत्मा को प्रकाश स्वरूप मानते हैं। प्रकाश का लक्षण विस्तार है। वह अपने और अन्य पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। इन प्रकाशित पदार्थों को भी प्रकाशित होने के कारण 'लोक' कहते हैं। आलोक का 'लोक' प्रकाश की प्रकाशमानता और पदार्थ की प्रकाशनीयता दोनों को लक्षित करता है। प्रकाश अथवा आलोक अपने स्वरूप में उज्ज्वल, ऋजु, गतिशील और विस्तारशील है। मध्याह्न की धूप के समान तीव्र होने पर प्रकाश उज्ज्वल दिखाई देता है। प्रभात और सन्ध्या में कुछ मन्द होने पर ही उसमें अरुणिमा झलकती है। इसीलिए भारतीय परम्परा में प्रकाश का वर्ण उज्ज्वल माना है। प्रकाश से सम्बन्धित होने के कारण कवि समय में दृष्टि का वर्ण भी उज्ज्वल माना गया है। प्रकाश गतिशील और विस्तारशील होता है। उसका चतुर्दिक विस्तार होता है। प्रकाश की किरणों की गति ऋजु होती है। वे सरल रेखाओं में चारों ओर विकीर्ण होती हैं। तेज के रूप में यह आलोक सृष्टि का सृजनात्मक तत्व भी है। तेज के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों से ही विश्व में वनस्पतियों और वसुओं का विकास एवं उनकी सफलता होती है। मनुष्य की चेतना अथवा आत्मा में इसी आलोक का उद्रेक, ज्ञान, कला, संस्कृति आदि के विकास का मूल स्रोत है। इसीलिए शैव दर्शनों में शिव अथवा आत्मा को पारिभाषिक संज्ञा 'प्रकाश' है।

आत्मिक और प्राकृतिक दोनों ही रूपों में आत्मदान अर्थात् अपनी विभूति का दान करना प्रकाश का सहज लक्षण है। चेतना के आलोक के इसी लक्षण से प्रेरित होकर मनुष्य ज्ञान और भाव के वितरण में प्रवृत्त होता है। इसी प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। किन्तु दूसरी ओर प्रकाश का यह वितरण आत्म प्रकाशन अर्थात् अपने स्वरूप का प्रकाशन भी है। साहित्य की भाषा में इसे आत्माभिव्यक्ति कह सकते हैं। शैव तन्त्रों की भाषा में चेतना के आत्मदान को प्रकाश का विमर्श और इस आत्माभिव्यक्ति को विमर्श का प्रकाश

कहना होगा। प्रकाश चेतना की अन्तर्मुखी वृत्ति है और विमर्श उसकी बहिर्मुखी वृत्ति है। प्रकाश अहकार के बिन्दु मे केन्द्रित होता है और विमर्श अनेक बिन्दुओ मे विकीर्ण होता है। इसीलिए उसको विसर्ग भी कहते हैं। कला, साहित्य और सस्कृति मे चेतना की इन दोनो वृत्तियो की प्रेरणा रहती है। अहकार का केन्द्र आत्मा की इस उभयमुखी प्रक्रिया का सन्धि स्थल अथवा द्वार है। वह विश्व के डमरू का मध्य है जहाँ से दोनो ओर प्रकाश और विमर्श की प्रक्रियाएँ प्रसारित होती हैं। इस प्रक्रिया की सफलता अहकार का द्वार दोनो ओर खुला रहने पर ही होती है। दोनो ओर खुला रहने पर द्वार दिखाई भी नही देता है और द्वार की अपेक्षा दोनो ओर की प्रक्रियाओ का ही महत्व अधिक रहता है। बन्द होने पर ही द्वार के स्वरूप मे दृढता आती है तथा उसका स्वरूप कठोर हो जाता है और वह दोनो ओर की गति का अवरोधक बन जाता है। यही बात अहकार के द्वार पर भी घटित होती है। अहकार के कठोर होते ही प्रकाश और विमर्श दोनो ही प्रक्रियाय शिथिल हो जाती हैं और चेतना का धर्म क्षीण हो जाता है। मनुष्य के जीवन मे कला और साहित्य मे भी यह अहकार का केन्द्र प्राय उसे आकर्षित करता है। कला और साहित्य में आलोकदान के शिवम् के प्रसग मे अहकार की यह बाधा गम्भीरता पूर्वक विचारणीय है। इसके प्रभाव से आलोकदान का विमर्श शिथिल हो जाता है तथा दूसरी ओर आत्मा का अन्तर्मुख प्रकाश भी बन्द हो जाता है। इतना अवश्य है कि चेतना के आलोक का स्रोत अन्त करण मे प्रवाहित होने के कारण बन्द कमरे की रोशनी की तरह आत्मिक प्रकाश पूर्णत तिरोहित नही होता, फिर भी वह मद अवश्य हो जाता है। विचार करने पर कला और साहित्य मे प्रकाश और विमर्श दोनो के प्रकर्ष और अपकर्ष का समान क्रम मिलेगा।

काव्य के स्वरूप म प्रकाश और विमर्श दोनो का ही समवाय रहता है। वस्तुत यह समवाय शब्द अथवा वाणी के रूप म ही निहित है। शब्द के स्फोट से एक ओर आत्मा मे प्रकाश का विस्तार होता है तथा दूसरी ओर प्रकाश का बहिर्मुख वितरण होता है। शब्द भी प्रकाश क समान विस्तारशील है। श्रोताओ के ग्रहण मे शब्द के प्रकाश का वितरण सफल होता है। सरस्वती के शुभ्र अथवा शुक्ल रूप मे शब्द अथवा वाणी की प्रकाश रूपता को ही आकार दिया गया है। सामान्य रूप मे शब्द के प्रयोग और काव्य की रचना दोनो म आत्माभिव्यक्ति

तथा प्रकाश का विस्तार ये दोनो ही प्रयोजन रहते हैं। इतना अवश्य है कि प्राय इन दोनो रूपो मे ऐसा साम्य नही रहता जैसा कि शैव दर्शन मे अभीष्ट माना गया है। प्रकृति के प्रभाव के कारण प्राय मनुष्य का अहकार कठोर हो जाता है और वह प्रकट रूप मे विमर्श अर्थात् प्रकाश के वितरण का विरोध करता है। ऐसी स्थिति मे आत्माभिव्यक्ति भी आत्मा की अभिव्यक्ति नही वरन् अपने अहकारमय रूप की अभिव्यक्ति बन जाती है। 'काव्य-प्रकाश' का 'काव्य यशसे', इसी रहस्य का सकेत करता है। मम्मटाचार्य ने यश को काव्य का प्रथम प्रयोजन मानकर एक ओर काव्य की साधना के मूल्य को कम किया है, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने काव्य रचना मे प्रभाव रखने वाली एक प्रबल प्राकृतिक प्रेरणा को भी उद्घाटित किया है। यश को हम अहकार का फल अथवा लक्ष्य कह सकते हैं। वह अहकार की सामाजिक सफलता है। हमारे लौकिक जीवन के प्राकृतिक पक्षो मे प्राय अहकार की प्रेरणा रहती है। किसी सीमा तक यह आवश्यक है। *किन्तु अहकार और प्रकृति मे ही मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं है।* जीवन के सास्कृतिक और आध्यात्मिक पक्ष केवल इनके द्वारा सम्पन्न नही हो सकते। ये सस्कृति और अध्यात्म के आधार बन सकते हैं किन्तु सस्कृति और अध्यात्म की सफलता के लिये प्रकृति और अहकार को सस्कृति और अध्यात्म के अनुकूल बनना होगा, प्रकृति को अपना सस्कार और उन्नयन करना होगा तथा अहकार को अपना द्वार खोलना होगा। इसके बिना सास्कृतिक साधना सम्भव नही हो सकती। कवि और कलाकारो मे चाहे प्रकृति और अहकार का प्रभाव शेष रह जाता हो (उसे नि शेष करना अत्यन्त कठिन है), किन्तु जब तक यह प्रभाव कुछ कम न होगा और आत्मा के प्रकाश के लिए अवकाश न देगा तब तक साहित्य, कला और सस्कृति की साधना सम्भव नहीं हो सकती। जो प्रकृति और अहकार से अभिभूत रहते हैं, *वे इस साधना की ओर अभिमुख नहीं होते। जो इस साधना की ओर अभिमुख होते हैं* उनमे अन्य जनो की अपेक्षा प्रकृति और अहकार का प्रभाव इतना कम होता है कि वह आत्मा के प्रकाशन को अवकाश देता है। उनके अहकार का द्वार यदि पूरा खुला नही रहता तो पूरा बद भी नहीं रहता। अहकार का द्वार जितना खुला रहता है उतना ही कलाकार की आत्मा का प्रकाश अधिक विकीर्ण होता है। द्वार की उपमा की सीमा को छोडकर यह कहना होगा कि दूसरी ओर अहकार का द्वार जितना अधिक खुला रहता है उतना ही अधिक उज्ज्वल आत्मा का आन्तरिक प्रकाश होता है।

मनुष्य का जीवन प्रकृति और आत्मा के संघर्ष का जीवन है। आत्मा इस संघर्ष में अधिक सक्रिय नहीं है। प्रकृति की सक्रियता के कारण प्रकृति का ही प्रभाव अधिक रहता है। किन्तु दूसरी ओर आत्मा का प्रकाश कभी तिरोहित नहीं होता। जिसके लिये जितना सम्भव होता है उतना ही उसका अहंकार का द्वार खुलता है, वैसा ही प्रकाश और विमर्श का साम्य उसके लिये सम्भव होता है। इसी सम्भावना के अनुरूप कला और काव्य का आलोक भी सम्भव होता है। **स्वरूप की दृष्टि से आलोकदान प्रत्येक रचना का लक्ष्य है।** विषय और उद्देश्य के रूप में वह प्रायः कम अपनाया गया है क्योंकि **अहंकार से प्रभावित आत्माभिव्यक्ति प्रायः काव्य की प्रेरणा रहती है।** मनुष्य के नाते कवि पर प्रकृति का प्रभाव भी रहता है। अहंकार का संकोच कला और काव्य के आत्मदान में सबसे अधिक बाधक रहा है। यह अहंकार की बाधा काव्य के स्वरूप-गत सौन्दर्य को भी क्षति पहुँचाती है। **आत्मा का उदार भाव काव्य के सौन्दर्य को श्रेष्ठ बनाता है।** अहंकार का भाव कवि की साधना में कई रूपों में रह सकता है। इनमें एक मुख्य रूप काव्य की रचना को प्रेरित करने वाला यशःकामी अहंकार है जो स्वयं काव्य का विषय नहीं बनता। एक दूसरे रूप में अहंकार काव्य का उपादान अथवा विषय भी बन जाता है। **आधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में अहंकार का यह रूप अधिक मिलता है।** अनेक गीत कवियों ने अपने व्यक्तित्व और अपने सामाजिक कृतित्व तथा अन्य रूपों में अपने गौरव की कल्पनाओं को गीतों में व्यक्त किया है। प्रेम के पात्र, शान्ति के संदेशवाहक आदि अनेक रूपों में आधुनिक हिन्दी के गीतकारों ने अपनी महिमा की कल्पना की है। रचना के दृष्टिकोण में निहित पहले प्रकार का अहंकार आलोकदान में बाधक नहीं होता किन्तु वह आलोकदान के अनुकूल भी नहीं होता तथा वह काव्य के सौन्दर्य को मंद बनाता है। दूसरे प्रकार का अहंकार जो आधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में मिलता है, वह स्पष्ट रूप से पाठकों की चेतना के विस्तार में बाधक होता है। साहित्यकारों को समाज में प्रायः उचित सम्मान नहीं मिलता। अनादर से उनका अहंकार उत्तेजित होता है। इस अहंकार को प्रायः साहित्यकार स्वाभिमान अथवा आत्मगौरव समझते हैं। किन्तु साहित्यकार यह भूल जाते हैं कि सामाजिक यश की अभिलाषा भी अहंकार की अभिव्यक्ति है। आत्मगौरव और स्वाभिमान अपनी योग्यता और प्रतिष्ठा का मान है जो किसी सीमा तक उचित हो सकता है। भवभूति का आत्म विश्वास इसका एक उदाहरण

है। किन्तु प्रायः यह स्वाभिमान मिथ्या दर्प का रूप ले लेता है। आधुनिक हिन्दी के गीत काव्य में यह दर्प बहुत मिलता है।

कवि के व्यक्तिगत अहंकार के अतिरिक्त काव्य के उपादान में अन्य व्यक्तियों के गौरव की ऐसी अभिव्यंजना जो पाठकों के व्यक्तित्व के उत्कर्ष के लिये प्रेरित करने के स्थान पर केवल उन व्यक्तियों की प्रशंसा के लिये प्रेरित करे वह भी पाठकों की चेतना के विस्तार में बाधक होती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार की अतिरंजनाएँ पाठकों को विस्मित और विमोहित बनाकर उनकी चेतना के विस्तार में बाधक होती हैं। इन अतिरंजनाओं में भक्ति और शृंगार का माधुर्य, व्यंजना के चमत्कार आदि उल्लेखनीय हैं। अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के नाते सभी काव्य पाठक की चेतना में आलोक का कुछ न कुछ विस्तार अवश्य करता है। किन्तु माधुर्य और चमत्कार का सम्मोहन इस आलोक को स्थिर बना देता है। आलोक की यह स्थिरता उसके विस्तार के प्रतिकूल है। कला और काव्य के सम्बन्ध में गति और स्थिरता का प्रश्न गम्भीरता के साथ विचारणीय है। सौन्दर्य की सृष्टि में कलाकार कुछ रूपों को स्थिर बनाने का ही प्रयास करता है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य और माधुर्य का सम्मोहन इसे पाठक के मन में स्थिर बनाता है। कला के सौन्दर्य की यह स्थिरता भी अपने स्वरूप में गत्यात्मक बनी रहे और आलोक के विस्तार की निरन्तर प्रेरणा बनी रहे यह कलाकार का एक बहुत कठिन कर्म बन जाता है। किन्तु इसी दुष्कर कार्य को सम्भव बनाकर कला आलोक के विस्तार में सफल होती है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद आदि महान कवियों के काव्य के स्वरूप में स्थिरता और गति का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। उत्तरकालीन काव्य में सम्मोहन, चमत्कार, क्लिष्टता, दुरूहता आदि के रूप में आलोकदान के बाधक तत्व मिलते हैं। आलोकदान को काव्य के स्वरूप अथवा उपादान का आवश्यक अंग मानकर कदाचित् ही किसी कवि ने अपनाया हो। उनकी कृतियों में आलोकदान की सम्भावनाएँ अथवा बाधाएँ रचना और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण एवं उनकी *भावना का स्वाभाविक फल है।*

विचार और विवेक के आलोक की उपेक्षा काव्य में अनेक प्रकार से हुई है। विवेक उज्ज्वल, उदार और मुक्त ज्ञान है। काव्य की जो भी वृत्तियाँ इस विवेक के आलोक के मुक्त प्रसार में प्रेरक होने के स्थान पर बाधक होती हैं, वे सत्य और

शिव काव्य के स्वरूप की घातक हैं। ये वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। इनमें से कुछ मुख्य वृत्तियों का परिगणन और विवरण ही सम्भव हो सकता है। मूल रूप में तो विवेक की बाधक वृत्ति का एक ही सामान्य लक्षण है, वह चेतन मानव की ज्ञानगत स्वतन्त्रता को प्रेरित करने के स्थान पर किसी मत के आग्रह और आरोपण के द्वारा उसे बाधित करना है। यह अनेक प्रकार से किया जाता है। इन्हीं प्रकारों से विवेक की बाधक विविध वृत्तिया बनती हैं। इन वृत्तियों में सबसे पहले हम प्रकृति की अतिरंजना को ले सकते हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियों में मनुष्य का सहज अनुराग है। इन प्रवृत्तियों का सरस और मधुर वर्णन करने वाला काव्य सहज ही रुचिकर बन जाता है। शृंगार का काव्य इसीलिए सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। कालिदास के श्रेष्ठ काव्य म शृंगार के अतिरिक्त और भी सांस्कृतिक महत्व के अनेक तत्व हैं। किन्तु कालिदास के अधिकांश अनुरागी उनके शृंगार पर ही मुग्ध हैं। श्री कृष्ण के चरित्र मे वृन्दावन की रासलीला केवल एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त कंस चाणूर मर्दन, शिशुपालवध आदि अनेक पराक्रम पूर्ण पक्ष हैं। संस्कृत म तो शिशुपाल वध पर माघ का प्रसिद्ध और श्रेष्ठ महाकाव्य है भी, किन्तु हिन्दी के भक्ति और रीति काव्य म कृष्ण की प्रेम लीलाओं का ही प्राधान्य है। सूरसागर और अन्य कृष्ण काव्य श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है, जिसमें कृष्ण की प्रेमलीलाओं का ही प्रसंग मुख्य है। अधिकांश कवि इस बात को बिल्कुल भूल गए कि जहाँ कृष्ण को 'स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान्' कहा है, वहाँ इसके पूर्व उन्हें 'मल्लानामशनि' बताया है।

कृष्ण चरित्र के काव्य प्रकृति और विशेषत शृंगार की अतिरंजना के केवल एक उदाहरण हैं। रीतिकाल और छायावाद के काव्य म कृष्ण के प्रसंग के अतिरिक्त भी यह अतिरंजना बहुत मिलती है। शृंगार की यह अतिरंजना जीवन के एक प्राकृतिक पक्ष को उचित से अधिक महत्व देना है। प्रकृति का तिरस्कार न अभीष्ट है और न कल्याण कर ही। किन्तु उसके एक ऐसे पक्ष की अतिरंजना करना, जिसमें मनुष्य स्वभाव से ही बहुत अनुरक्त है, अनुचित है। यह एकांगी अतिरंजना प्राकृतिक जीवन को असंतुलित बनाने के साथ-साथ सांस्कृतिक जीवन की दिशाओं का भी अवरोध करती है। दर्शनों म प्रकृति के मोह को अविद्या अथवा अज्ञान का कारण बतलाया है। प्रकृति का मोह ज्ञान का आवरण करता है। इसीलिए अविद्यामयी माया की एक शक्ति को 'आवरण' का नाम दिया है। प्रकृति

में मनुष्य की स्वाभाविक गति है, अत उसकी अतिरंजना एक दिशा के अनुराग का वर्द्धन करके प्रकृति को अन्य दिशाओं से विमुख बनाती है। प्रकृति का अतिरंजित सम्मोहन विवेक को मन्द करता है और मनुष्य को ज्ञान में अक्षम बनाता है। विलासी राजाओं और धन कुबेरों के जीवन में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। प्रकृति की अतिरंजना के काव्य अधिकांशत जीवन के इसी दृष्टिकोण और ऐसे ही लोगों की रंजना के लिए रचे गये थे। इनके प्रणेता कवि और इन काव्यों के अनुरागी पाठक भी जीवन के इसी दृष्टिकोण के अनुरागी हैं। सभी प्रसंगों में प्रकृति की यह अतिरंजना बुद्धि का सम्मोहन करके विवेक और ज्ञान की शक्ति को तिरोहित करती है।

शृंगार की अतिरंजना उसकी सहज रमणीयता के कारण अधिक हुई किन्तु प्रकृति के अन्य पक्षों की अतिरंजना के उदाहरण भी काव्य में मिल सकते हैं। भूषण के काव्य में वीररस और क्रोध की अतिरंजना मिलती है। भवभूति ने उत्तररामचरित में करुण रस की अतिरंजना की है। युग और समाज के एक सामयिक उद्देश्य को तीव्र प्रकाश में लाने की दृष्टि से इन अतिरंजनाओं की उपयोगता मानी जा सकती है। किन्तु यह तर्क वीररस के सम्बन्ध में ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। शृंगार के विषय में इसकी उपयुक्तता बहुत कम जान पड़ती है। यदि किसी काल में वैराग्य और सन्यास की बाढ़ आ रही हो तो कदाचित शृंगार के सन्देश के लिए भी कुछ आधार मिल सकता है। मनुष्य के स्वभाव को देखते हुए ऐसी सम्भावना की कल्पना करना कठिन है। अत शृंगार की अतिरंजना सबसे अधिक अनुपयुक्त है। वीर रस में उत्तेजित होने के लिए कुछ साहस चाहिए। अत वीर काव्य की प्रेरणा का संक्रमण सभी पाठकों में नहीं हो सकता। यह प्रत्यक्ष है कि वीर काव्य इतने लोकप्रिय नहीं हैं, जितने कि शृंगार काव्य हैं। वीर काव्यों में केवल एक 'आल्ह-खण्ड' लोक प्रिय रहा है। उसकी लोक-प्रियता भी नागरिकों की अपेक्षा ग्रामीणों में अधिक रही है, जिनमें नागरिकों की अपेक्षा अधिक साहस शेष रह गया था। अत प्रकृति के उत्तेजन और विवेक के सम्मोहन की दृष्टि से शृंगार का काव्य ही सबसे अधिक अनर्थकारी और अशिव है।

लौकिक शृंगार के अतिरिक्त शृंगार का एक अलौकिक और आध्यात्मिक रूप भी है, जिसे भक्ति का नाम दिया जाता है। भक्ति भगवान के प्रति मनुष्य की

श्रद्धामय भावना है। अपने स्वरूप में भक्ति अत्यन्त कल्याण-कारिणी है, किन्तु यह कल्याण तभी सम्भव है, जबकि भक्ति की भावना अन्य प्राकृतिक वासनाओं से कलुषित न हो और भक्ति का तात्पर्य अन्य प्राकृतिक उद्देश्यों में तिरोहित न हो। ऐसा सात्विक भक्ति में ही सम्भव हो सकता है। राजसी भक्ति में भ्रान्त और भ्रष्ट होने के अनेक साधन रहते हैं। यह एक कठोर कल्पना मात्र नहीं है। भक्ति, साहित्य और भक्ति के सामाजिक जीवन में इस कल्पना का सत्य एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में प्रकट हुआ है। भक्ति के अनेक रूप हैं—दास्य, सख्य, दाम्पत्य आदि। समाज और साहित्य में इन सभी रूपों में भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की है। सूर की भक्ति में सख्य, दाम्पत्य और वात्सल्य तीन भाव मिलते हैं। किन्तु भक्ति का दाम्पत्य रूप ही सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ है। इसका कारण यही है कि मनुष्य की प्रकृति में शृंगार और दाम्पत्य का प्रभाव प्रबल है। भक्ति-काव्य में ही नहीं उपनिषदादि ज्ञान-ग्रन्थों में भी आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की उपमा दम्पति के आलिंगन से दी गई है। तुलसीदास जैसे शिष्ट और सात्विक भक्त ने भी 'कामिहि नारि पियारि जस' कह कर भक्ति के प्रेम की तुलना काम के अनुराग से दी है। यह सत्य है कि इन सबका उद्देश्य भक्ति के प्रेम की तन्मयता, अनन्यता, तत्परता आदि को लौकिक उपमाओं के द्वारा ग्राह्य बनाना है। इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति की तन्मयता आदि की उपमा यदि कहीं मिल सकती है तो वह स्त्री-पुरुष के लौकिक अनुराग में ही मिल सकती है। इस विवेचन का मन्तव्य भक्ति कवियों पर दोषारोपण करना नहीं है। किन्तु यह विचारणीय है कि कहाँ तक इन उपमाओं से तथा भक्ति के शृंगारिक प्रतीकों से भक्ति का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण होता है। प्रकृति में एक सहज आकर्षण है। मुनियों, भक्तों, और योगियों तक के लिए इस आकर्षण को जीतना कठिन है। अत प्रकृति के आकर्षण को उपमा और प्रतीकों के रूप में स्थान देने से भी भक्ति के उद्देश्य में बाधा ही हो सकती है। भक्ति के स्वरूप और तत्व को सुगम बनाने के स्थान पर शृंगार के ये अनुपग उसके अवगम और उसकी साधना में बाधक ही हो सकते हैं। यह न प्रकृति अथवा शृंगार की भर्त्सना है और न वैराग्य का समर्थन। यह केवल भक्ति के साथ शृंगार के संबंध में प्रचलित एक सामान्य भ्रान्ति का निवारण मात्र है। भक्ति-काव्य और भक्त के सामाजिक जीवन का विकास (अथवा ह्रास) स्पष्टत यह प्रमाणित करता है कि

अध्यात्म और भक्ति मे लौकिक शृगार के उपमान और प्रतीक लौकिक भावना का भक्ति की ओर उन्नयन नही करते, वरन् इसके विपरीत भक्ति और अध्यात्म की भावना का लौकिक प्रवृत्ति की ओर अधोनयन करते हैं। कृष्ण-काव्य की परम्परा और कृष्ण सम्प्रदायो तथा पीठो का इतिहास इस तथ्य का जीवन्त प्रमाण है। भागवत, गीतगोविन्द और विद्यापति से लेकर हिन्दी के रीतिकाव्य तक का इतिहास भक्ति की भावना के क्रमश स्खलन का ही इतिहास है। राधाकृष्ण और गोपी-कृष्ण के दाम्पत्य सम्बन्ध का अवलम्ब लेकर कितने कवियो और भण्ड महन्तो ने अस्वस्थ लौकिक शृगार का अपने काव्य और सम्प्रदाय मे पोषण किया। कृष्ण सम्प्रदाय मे जिस अस्वस्थ और असामाजिक रूप मे भक्ति का शृगार मे पतन हुआ है, उसकी अपेक्षा लौकिक जीवन का शृगार और दाम्पत्य कहीं अधिक स्वस्थ है। दाम्पत्य मे काम और शृगार के अतिरिक्त सात्विक प्रेम की एक आध्यात्मिक, सामाजिक और मानवीय भावना भी अन्तर्निहित है। भक्ति के शृंगार मे दाम्पत्य के इन सात्विक भावो का उतना अधिक महत्व नही हो सका, जितना कि रति और रमण के राजस भावो का है। इसका एक कारण यह भी है कि उपमा और प्रतीको मे रति और रमण का ही सकेत अधिक है। भक्ति मे दाम्पत्य भाव के पतन की पराकाष्ठा का उदाहरण सखी सम्प्रदाय मे मिलता है। इस सम्प्रदाय मे दाम्पत्य भाव मे प्रकृति के अनुरोध को इस सीमा तक ले जाया गया है कि सखी भाव के उपासक स्त्रियो की वेष, भूषा और व्यवहार, आचार आदि को भी अपना लेते हैं। दाम्पत्य की आध्यात्मिक भावना स्त्री के प्राकृतिक धर्मो के अनुकरण की अपेक्षा भक्ति मे कही अधिक हितकारी है। किन्तु भक्ति मे प्रकृति के अनुरोध ने इन सब सात्विक सम्भावनाओ को तिरोहित कर दिया।

भक्ति की भाँति वैराग्य मे भी शृगार की भूमिका वैराग्य के प्रयोजन को निष्फल बनाती है। रम्भाशुकसवाद, रघुवश के अन्तिम सर्ग आदि ऐसी कृतियो से, जिनमे भोग और शृगार की स्पष्ट अथवा लाक्षणिक भर्त्सना द्वारा मनुष्य को उनसे विरत बनाने की आशा की है, कदाचित ही किसी को वैराग्य हुआ होगा। वैराग्य के ये सन्देश श्मशान के वैराग्य के समान ही औपचारिक और क्षणिक होते हैं। जीवन और भोग की रति इतनी दृढ और स्वाभाविक है कि भोग की भर्त्सना के मार्ग से उससे विरत होना सम्भव नही है। इन भर्त्सनाओ से विरति के स्थान पर रति के ही बढने की आशका है। सत्य यह है कि शृगार के माध्यम से भक्ति और

वैराग्य में श्रद्धा उत्पन्न करने की आशा कुपथ्य से स्वास्थ्य लाभ करने की आशा के समान भ्रान्तिपूर्ण है। अस्तु स्वतन्त्र रूप से अथवा भक्ति और वैराग्य की भूमिका के रूप में शृगार की अतिरंजना विवेक का तिरोधान करती है। भक्ति और वैराग्य के प्रसंग में तो प्राय विपरीत फल होता है। ससार से भोगों से विरति के स्थान पर उलटी उनमें रति बढ़ती है। इस प्रकार भक्ति और वैराग्य का लक्ष्य ही दृष्टि के सामने स्पष्ट रूप से बनाये रखना कठिन हो जाता है। शृगार की स्वतन्त्र अतिरंजना में भक्ति, वैराग्य अथवा अन्य किसी सांस्कृतिक लक्ष्य का आभास भी रहने का कोई प्रश्न नहीं। उसका तो स्पष्ट उद्देश्य ही वासनाओं का उद्दीपन है। मनुष्य स्वभाव की सहज रुचि के अयाचित सहयोग के कारण काव्य का यह उद्देश्य सहज ही सफल होता है। इसीलिए शृगार का काव्य सदा लोकप्रिय रहता है। किन्तु शृगार की यह अतिरंजना जीवन के अन्य मूल्यों को अज्ञान के अंधकार में आवृत कर देती है। उमर खैय्याम के स्वप्न की भाँति शृगार ही जीवन का सर्वस्व जान पड़ता है, जो असत्य है। **इस प्रकार शृगार अथवा प्रकृति के अन्य किसी भी पक्ष की अतिरंजना मनुष्य के विवेक को मन्द और ज्ञान को भ्रान्त बनाती है।**

प्रकृति की अतिरंजना के अतिरिक्त अन्य किसी भी सांस्कृतिक सत्य की अतिरंजना भी शृगार की भाँति ही मनुष्य के विवेक को तिरोहित करती है। काव्य में अतिशयोक्ति को अलंकार माना गया है। यह अतिशयोक्ति जहाँ विश्वास की सीमा को पार कर जाती है, वहाँ तो भ्रान्ति का कारण नहीं होती। किन्तु अतिरंजना का रूप जहाँ ग्राह्य होता है, वहाँ वह निःसंदेह विवेक की क्षति करता है। मनुष्य बड़ा विश्वासशील प्राणी है। रामचरितमानस तथा योगवासिष्ठ की भाँति जहाँ भक्ति और वैराग्य का अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया गया है, वहाँ भी जीवन के सन्तुलित दृष्टिकोण का ज्ञान उत्पन्न होने में यह अतिरंजना बाधक होती है। **विचारणीय बात यह है कि सत्य की अतिरंजना भी उसे असत्य बना देती है। 'सत्य' वस्तु की यथार्थता है अथवा जीवन का एक सन्तुलित दृष्टिकोण है।** अतिरंजना यथार्थता और सन्तुलन दोनों का खण्डन करती है। जहाँ सत्य अथवा जीवन के एक पक्ष अथवा रूप को प्रभावशाली बनाने के लिए अतिरंजना का उपयोग है, वहाँ दूसरी ओर वह दूसरे पक्षों के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण की हानि करती है। यह सत्य है कि किसी भी कृति में जीवन के समस्त पक्षों का निरूपण नहीं किया जा सकता। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि जिन पक्ष या पक्षों का कलाकृति में ग्रहण

किया गया है, वे इतने अतिरंजित रूप में अंकित न किए जायँ कि वे मनुष्य की बुद्धि को जीवन के अन्य पक्षों के प्रति सही और संतुलित दृष्टिकोण जाग्रत करने में असमर्थ बना दें। रामचरित मानस में भक्ति की अतिरंजना का फल वही हुआ है, जो रीतिकाल के काव्य में शृंगार की अतिरंजना का हुआ है। शृंगार, भक्ति, वैराग्य आदि सभी सत्य हैं। सभी का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु किसी भी पक्ष की ऐसी अतिरंजना जो अन्य पक्षों के महत्व को तिरोहित करे, भ्रान्तिपूर्ण है। एक पक्ष के प्रभाव और महत्व को स्पष्ट करने के लिए उसमें अन्तर्निहित समस्त तत्व और सौन्दर्य की विभूति का उद्भावन तो कला की प्रणाली है, किन्तु उसी को जीवन का सर्वस्व बनाने के लिए उसकी अतिरंजना भ्रामक है।

जीवन के किसी भी पक्ष की अतिरंजना के द्वारा मनुष्य के विवेक को तिरोहित करने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। प्रकृति के क्षेत्र में सम्मोहन उसका एक सामान्य और अत्यन्त प्रभावशाली रूप है। शृंगार के मार्मिक रूपों का तदनुरूप भाषा और शैली में चित्रण उसके सहज सम्मोहन का वर्द्धन करता है। भक्ति वैराग्य आदि सांस्कृतिक विषयों में शृंगार का सा सहज सम्मोहन नहीं है। अतः इनमें आस्था उत्पन्न करने के लिए प्रायः चमत्कार का आश्रय लिया जाता है। चमत्कार एक अलौकिक शक्ति है, जो लोक-नियमों की सीमा का अतिक्रमण कर साधारणतः असम्भव कार्यों के सम्पादन की क्षमता रखती है। मनुष्य की कामनायें उसकी सामर्थ्य से अधिक हैं। वे प्राकृतिक नियमों की मन्दगति से चलना स्वीकार नहीं करतीं। सहज गति के इसी अतिक्रमण की कामना विज्ञान के आविष्कारों की जननी है। इस अतिक्रमण के कारण ही प्राकृतिक नियमों से पूर्णतः नियन्त्रित आविष्कारों को भी चमत्कार माना जाता है। वह इसलिए कि इन आविष्कारों में लोक की सामान्य और परिचित विधि से असम्भव कार्यों के सम्पादन की क्षमता है। इसी चमत्कार की कामना से प्राचीन काल में लोग देवताओं की पूजा करते थे और पारस पत्थर की खोज में फिरते थे। मनुष्य की इसी दुर्बलता का उपयोग करने के लिए सभी धर्मों की परम्पराओं में और सन्तों के चरित में चमत्कारों का समावेश है। कहते हैं बुद्ध और ईसा ने मृतकों को जिला दिया था। उनके मतावलम्बी यह भी मानते हैं कि बुद्ध और ईसा का किसी समय पुनरागमन होगा और वे विश्व का उद्धार करेंगे। यह भी मान्यता है कि कयामत के दिन सब मुर्दे कब्रों से जाग उठेंगे।

हमारे धर्म की पौराणिक परम्पराओं में अनेक चमत्कारों का समावेश है। ब्रह्मा विष्णु और शिव के रूप तो प्रतीक हैं, किन्तु राम और कृष्ण के जन्म में इतिहास में भी चमत्कार का समावेश हो गया है। राम ने कौशल्या को अपना अद्भुत रूप दिखाया। कृष्ण का जन्म होते ही बन्दीगृह के ताले अपने आप टूट गये। भक्ति के प्रचारक और प्रेमियों को यह चमत्कार कितना प्रिय है यह इसी से विदित होता है कि राम और कृष्ण के पराक्रम तथा उदारता के मानवीय कृत्यों में भी अलौकिकता की छाया पड़ गई है। राम के धनुष भंग, अहिल्या उद्धार आदि तथा कृष्ण के कालीय दमन और द्रौपदी उद्धार आदि पराक्रम एवं उदारता के कृत्यों में भी अलौकिकता का प्रवेश हो गया है। इसी प्रकार सन्तों के चरित्र में भी चमत्कार की कथायें हैं। ज्ञानेश्वर के प्रताप से दीवार हवा में वायुयान की तरह उड़ने लगी थी, भैंसा वेदमंत्र बोलने लगा था। आज भी अनेक सन्त महन्त चमत्कारों की शक्ति का दम्भ रखते हैं और अनेक श्रद्धालु भक्त उनके दम्भ में विश्वास करके अपने को भ्रान्त बनाते हैं। मनुष्य की शक्ति सीमित होने के कारण तथा प्रकृति के नियमों से जीवन की सामान्य गति नियन्त्रित होने के कारण चमत्कार की अलौकिक शक्ति में मनुष्य का विश्वास अभी तक खण्डित नहीं हुआ है। इसीलिए भक्ति और अध्यात्म चमत्कार का उपयोग करते रहे हैं। विज्ञान के युग में भी योग की विभूतियों, मन्त्र-तन्त्रों की शक्ति आदि में मनुष्य का विश्वास बना हुआ है। शिक्षा और विज्ञान का पूर्ण प्रचार होने पर यह विश्वास विशीर्ण हो जायेगा, तब इस चमत्कार पर आश्रित सम्प्रदाय और साहित्य पुरातत्व संग्रहालय की शोभा के योग्य रह जायेंगे। किसी भी रूप में सम्मोहन और चमत्कार का प्रयोग मनुष्य के विवेक को कुण्ठित करता है। शृंगार और भक्ति के जिन काव्यों में इनका प्रयोग किया गया है, वे मनुष्य के विवेक को कुण्ठित करने के कारण उसके अमंगल के अपराधी हैं। अतिरंजना और चमत्कार का आश्रय लेने के कारण हितकारी पक्षों को चित्रण करने वाले भक्ति और अध्यात्म के काव्य भी अपने उद्देश्य में असफल रहे हैं।

चमत्कार की अलौकिकता अविश्वास के स्थान पर विश्वास का साधन बनती है यह आश्चर्य की बात है। किन्तु इस आश्चर्य का मूल मनुष्य की दुराशा है। इस दुराशा के साथ साथ मनुष्य में एक दुर्बलता भी है। उस दुर्बलता का रूप यह है कि वह किसी भी व्यक्ति या सम्प्रदाय से प्रभावित होकर विश्वासी बन जाता है।

विश्वास जीवन की आस्था है, किन्तु विवेक उसका आधार है। अन्ध-विश्वास विश्वास की एक विडम्बना है, वह विश्वास का एक विकृत रूप है। जहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के मगलाचरण मे भवानी और शकर को श्रद्धा और विश्वास का रूप बताया है, वहाँ शैव सम्प्रदाय म शिव को चित् स्वरूप मानते हैं। इसका आशय यही है कि निर्मल और असदिग्ध ज्ञान पर आश्रित विश्वास जीवन का मगलमय आधार है। विश्वास का विवेक से विरोध नही है। विवेक रहित विश्वास अन्ध विश्वास बन जाता है। अन्ध-विश्वास अनर्थकारी है। अत जिन कृतियो मे मनुष्य के विवेक को भ्रान्त कर तथा उसे जागरण के अवसरो से वचित कर एक मत म अतर्कित विश्वास पैदा करने का प्रयत्न किया गया है, वे सब असत्य और अशिव हैं। असत्य इसलिए हैं कि वे मनुष्य को सत्य के पूर्ण रूप के दर्शन से विमुख बनाते हैं। सत्य का पूर्ण रूप अन्ध-विश्वास से नही स्वच्छ विवेक और उदार ज्ञान से दिखाई देता है। अशिव इसलिए हैं कि वे मनुष्य मे कुछ अमगलकारी आस्थाओ को आरूढ कर उसे व्यक्ति और समाज दोनो के कल्याण की साधना मे असमर्थ बनाते हैं। जिस दिन हमे इस कटु सत्य का बोध होगा कि रामचरितमानस जैसा श्रेष्ठ भक्ति काव्य इस अनर्थ का अपराधी है, उस दिन हमारी साहित्यिक श्रद्धा को एक असह्य आघात पहुँचेगा। किन्तु यह निश्चित है कि एक दिन विज्ञान और शिक्षा के पूर्ण आलोक म हमारे देश के ही नही ससार के सभी देशो के रूढिवादी धर्म और काव्य के इस दोष को निसकोच स्वीकार करना होगा।

भक्ति की अलौकिक सम्भावनाओ के चमत्कार घटनात्मक हैं। भगवान की माया को अघटन-घटना-पटीयसी कहते हैं। धर्म के पौराणिक चमत्कार की भाँति शैली का चमत्कार भी विवेक का बाधक है। न्याय मे इस चमत्कार को वाक्छल कहते हैं। शब्द और शैली का यह चमत्कार अर्थ मे भ्रान्ति उत्पन्न करता है। भ्रम ज्ञान का बाधक है। यद्यपि शब्द और शैली के चमत्कार को काव्य मे अलकार माना जाता है। वचन-भगिमा से शैली मे सौन्दर्य उत्पन्न होता है। वक्रोक्तिकार का यह कथन मान्य भी हो कि वक्रोक्ति काव्य का जीवित है तो भी शब्द चमत्कार के ऐसे अनेक अतिरजित रूप हैं, जो चमत्कार की अतिशयता के कारण पाठक की दृष्टि से मुख्य अर्थ को ही तिरोहित कर देते हैं। अत अतिशयोक्ति की भाँति वक्रोक्ति का आधिक्य भी अर्थ की अवगति और विवेक के सवर्धन मे बाधक है। जिस प्रकार वेदान्त

दर्शन में समाधि के आनन्द की आसक्ति को भी मुक्ति में बाधक माना है उसी प्रकार काव्य के सम्बन्ध में भी यह मानना होगा कि वक्रोक्ति अथवा शब्द चमत्कार के अतिरंजित रूप भी अर्थ की अवगति में बाधक हैं। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अधिक आकर्षण होने पर अर्थ का महत्व तिरोहित हो जाता है। सत्य और शिव अर्थ तत्व में ही निहित रहते हैं। जिन काव्यों में चमत्कार की प्रधानता होती है उनमें सौन्दर्य ही प्रमुख होता है। छायावाद और आधुनिक प्रयोगवाद में वचन भंगिमा का सौन्दर्य ही प्रमुख रहा है। दोनों में सत्य और शिव का अधिक महत्व नहीं है। कालिदास के बाद संस्कृत के काव्यों में भी वक्रोक्ति की महिमा बढ़ती गई। कालिदास में प्रकृति की रमणीयता तो है किन्तु अलंकार और चमत्कार के साथ सत्य तथा सुन्दरम का सन्तुलन बाद के काव्यों की अपेक्षा अधिक है। कालिदास के अधिकांश काव्य में चमत्कार के साथ साथ उक्ति की ऋजुता तथा वाणी का प्रसाद गुण भी बहुत है। वस्तुतः शैली की ऋजुता और वाणी का प्रसाद विवेक के जागरण और आलोक के प्रसार के अनुकूल है। आलोक किरण की भाँति अभिव्यक्ति की ऋजुता में उक्ति की वक्रता का अन्वय और अन्तर्भाव ही काव्य को आलोकमय रूप देता है। प्रसाद शिवकाव्य का सर्वथा स्पृहणीय गुण है। वाल्मीकि के काव्य में इस प्रसाद का प्रभात सूर्य के प्रकाश की भाँति मुक्त और उज्ज्वल प्रवाह है। रामचरितमानस में जहाँ भक्ति की अतिरंजना का दोष है वहाँ प्रसाद की प्रचुरता उसकी एक महान् विशेषता है। चमत्कार की भंगिमा की भाँति ऋजुता का आलोक भी शैली का गुण है। काव्य के उस आलोकमय रूप में सत्य और शिव के वही तत्व प्रकाशित होंगे जिनका आधान काव्य के कलेवर में होगा।

चमत्कार के अतिरिक्त क्लिष्टता दुरूहता आदि काव्य के ऐसे अनेक दोष हैं, जो विवेक और ज्ञान के बाधक हैं। वे उसे जागरित करने के स्थान पर विमुग्ध बनाते हैं। क्लिष्टता काव्य के तत्व और तात्पर्य को अनावश्यक जटिलताओं में आच्छादित कर पाठक की रुचि को कुण्ठित बनाती है और उसके उत्साह को मन्द करती है। संस्कृत में माघ और श्री हर्ष के काव्य के बहुत कुछ अंश ऐसे ही हैं। भारवि के अर्थ गौरव को भी प्रसाद की विभूति नहीं मिली। उनके टीकाकार मल्लिनाथ ने उनके वचन की उपमा नारिकेल के फल से दी है। यद्यपि उसका मर्म कोमल और मधुर है, उसका आवरण कठोर है। इसी क्लिष्टता और

काठिन्य के कारण केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' कहलाये। चमत्कार और क्लिष्टता की पराकाष्ठा काव्य मे चित्रकाव्य और पहेलियों में हुई। जिस प्रकार दर्शन और साहित्य की टीकाओ की कठिन से कठिनतर होती हुई भाषा दोनो की उन्नति मे बाधक हुई, उसी प्रकार क्लिष्टता काव्य की लोकप्रियता मे भी बाधक होती है। प्राचीन काव्य, दर्शन, साहित्य सभी मे ऋजुता और प्रसाद की प्रधानता मिलती है। इसीलिए प्राचीन कृतियाँ अर्वाचीन कृतियो की अपेक्षा विवेक को अधिक प्रेरणा और ज्ञान के आलोक को अधिक विस्तार प्रदान करती हैं।

अध्याय ४०

विश्वास और तिरस्कार

चमत्कार और क्लिष्टता की भाँति विश्वास का प्रचार विवेक के जागरण और ज्ञान के विस्तार में बाधक है। यह सत्य है कि विश्वास मन की आवश्यक आस्था है। अनवस्था तर्क का ही दोष नहीं है, चेतन मानव के जीवन की वह एक असहनीय विडम्बना है। किसी न किसी आस्था का अवलंब जीवन के प्रत्येक धरातल पर आवश्यक है। किन्तु यह आस्था अन्ध-विश्वास के रूप में होने पर जहाँ एक ओर जीवन को आधार प्रदान करती है वहाँ दूसरी ओर विवेक और ज्ञान की प्रगति का अवरोध करती है। धर्म के क्षेत्र में यह विश्वास का प्रचार सबसे अधिक देखने में आता है। धार्मिक काव्य इसके सबसे अधिक दोषी हैं। भगवान की अलौकिक शक्तियों तथा उनके अद्भुत चमत्कारों के वर्णन द्वारा यह विश्वास का प्रचार प्राय किया जाता है। अपने मत का आग्रह और आरोपण भी इस प्रचार की विधियाँ हैं। किसी भी मत या धारणा की सरल, निश्छल और संतुलित अभिव्यक्ति में कोई दोष नहीं है। यह विचार स्वातंत्र्य की सीमा के अन्तर्गत है। किन्तु उस मत का अतिशय आग्रह अथवा प्रबल आरोपण ग्राहक के विवेक को कुण्ठित कर देता है और अवगति के स्थान पर अन्ध आस्था उत्पन्न करता है।

विश्वास एक प्रकार से आलोक का अवरोध है। जिस प्रकार भौतिक आलोक और दृष्टि किसी पदार्थ पर आकर रुक जाते हैं उसी प्रकार विश्वास में आत्मा का आलोक किसी विषय अथवा तत्व में आकर स्थिर हो जाता है। आलोकमय विश्वास एक प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञान के समान है। प्रत्यक्ष में ज्ञाता की दृष्टि का प्रकाश अपनी सहज गति के द्वारा एक पदार्थ पर स्थिर होता है। ऐसे प्रत्यक्ष में दृष्टि की गति स्वाधीन होने के कारण हम दृष्टि को उस पदार्थ से हटा सकते हैं तथा उसे दूसरे पदार्थों पर लगा सकते हैं। इसी प्रकार जब हमारी स्वतन्त्र चेतना की आस्था किसी विषय अथवा तत्व पर स्थिर होती है तो आवश्यकता होने पर वह अपनी स्वतंत्र गति से ही उस तत्व को त्याग कर दूसरे तत्व पर स्थिर हो सकती है। यह आलोकमय विश्वास का रूप है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के समान है और प्रत्यक्ष

के समान ही जीवन मे आवश्यक है। सामान्यत हमारी दृष्टि समय की आवश्यकता के अनुसार किसी न किसी पदार्थ पर स्थिर रहती है। इसी प्रकार हमारी चेतना की आस्था भी कुछ विषयो और तत्वों पर रहती है। इसी आस्था के द्वारा मनुष्य उत्साह के साथ जीता है। यह आस्था जीवन का आवश्यक अवलम्ब है। यह आस्था कल्याणमय जीवन का आवश्यक तत्व है। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के मगलाचरण मे 'भवानीशकरौ' की वदना क निमित्त से इस विश्वास को शिव का स्वरुप बताया है। शिव आनन्द और मगल के स्वरूप हैं। वैज्ञानिक युग के वर्तमान समाज मे विज्ञान, व्यापार और युद्ध के प्रभाव मे मनुष्य की समस्त आस्थाएँ उच्छिन्न हो रही हैं। इसी कारण आधुनिक जीवन नीरस और अर्थ हीन होता जा रहा है। आदिम और ग्रामीण समाजो मे आस्था अथवा विश्वास का अवलम्ब होने के कारण ही जीवन आनन्द एव उल्लास मे पूर्ण था। इतना अवश्य है कि इन समाजो की आस्था सदा आलोकमय नहीं थी। अधकारमयी आस्था भी सर्वदा हानिकारक नही होती। वह तभी हानिकारक होती है जबकि वह हमारे ज्ञान के विस्तार तथा जीवन के अन्य मूल्यो की साधना मे बाधक हो। आरोपण और प्रचार का रूप ग्रहण कर अन्धविश्वास दूसरो के जीवन को भी सकटापन्न बनाता है। मनुष्य जाति के इतिहास मे कुछ समाजो के अन्धविश्वास ने आरोपण और प्रचार का रूप लेकर घोर अनर्थ किये हैं।

अन्धविश्वास अन्धकार में दृष्टि को स्थिर करने के समान है। उसका आधार निश्चित और प्रकाशित नहीं होता। वह आलोकमय विश्वास के विपरीत है। ईश्वर आदि के सम्बन्ध मे मनुष्यो का विश्वास बहुत कुछ इसी प्रकार का है। ऐसे मनुष्य दुर्लभ हैं जिन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है और उस साक्षात् अनुभव के आधार पर जो ईश्वर में विश्वास करते हैं। ईश्वर कोई मनुष्य अथवा मूर्ति नहीं है किन्तु यदि वह कोई दिव्य सत्ता अथवा शक्ति है तो आत्मिक अनुभव के रूप मे उसका साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। यह अनुभव ईश्वर के स्वरूप के अनुरूप ही होगा। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न धर्मो मे जो कुछ भी बताया गया है उसके आधार पर ईश्वर का स्वरूप अत्यन्त उदात्त और उदार प्रतीत होता है। ऐसे ईश्वर का अनुभव भी उसके स्वरूप के अनुरूप होगा और वह अनुभव-कर्ता के मन मे अनुरूप भावो को ही प्रेरित करेगा। कितने धर्माधिकारियो, भक्तो और ईश्वर में विश्वास करने वाले साधारण जनो का व्यवहार यह

प्रमाणित करता है कि उनके आन्तरिक अनुभव में ईश्वर का प्रभाव है। छल और बल से धर्म का आरोपण और प्रचार करने वाले ईश्वर के स्वरूप के किन दिव्य लक्षणों को चरितार्थ करते हैं? धर्म की श्रेष्ठता के अभिमानियों ने कभी साहस और सच्चाई के साथ इस पर विचार करने का प्रयत्न नहीं किया।

अन्धविश्वास दो प्रकार का होता है। उसका सामान्य लक्षण तो अतर्कित और आलोकरहित विश्वास है। किन्तु यह विश्वास दो रूपों में प्रकट होता है। उसका एक रूप वह है जिसमें विश्वास करने वाला विश्वास को अपने जीवन का अवलम्ब मानता है और उसके आधार पर चलता है। यह अन्धविश्वास का व्यक्तिगत और मृदुल रूप है। एक व्यक्ति का ऐसा विश्वास किसी दूसरे के जीवन में कोई आपत्ति उपस्थित नहीं करता। अधिकांश आदिम समाजों का विश्वास इसी प्रकार का है। पश्चिमी विद्वानों के मत में भारतीय धर्म और संस्कृति में भी बहुत अंधविश्वास छाया हुआ है। यदि यह सत्य भी है तो भारतीय समाज का यह विश्वास पहले प्रकार का अन्धविश्वास है जो व्यक्तिगत और मृदुल है। इस विश्वास के पोषकों ने अपने विश्वास को दूसरों पर आरोपित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। दूसरे प्रकार का अंधविश्वास उग्र होता है। उस विश्वास में आस्था से अधिक आग्रह होता है। आग्रह और आरोपण ही उस विश्वास को बल देते हैं। कदाचित् इस उग्र अन्धविश्वास में आत्म विश्वास की कमी होती है। सम्भवतः इसी की प्रतिक्रिया में वह उग्र बनता है। व्यक्तिगत और मृदुल अंधविश्वास भावात्मक होता है। इसीलिए उसमें आरोपण और आग्रह के उग्र एवं निषेधात्मक तत्व नहीं होते। निषेधात्मक होने के कारण ही विश्वास में आरोपण और आग्रह की प्रतिक्रियाएं होती हैं।

सभी रूपों में अन्धविश्वास आलोक के विस्तार का अवरोध करता है। किन्तु व्यक्तिगत और मृदुल अंधविश्वास का इस दिशा में परिणाम भी व्यक्तिगत और मृदुल होता है। वह व्यक्ति के अपने आलोक का ही अवरोध करता है और वह अवरोध भी इतना कठोर नहीं होता। आवश्यक होने पर इस विश्वास के बदलने की बहुत सम्भावना रहती है। समय की अपेक्षा के अनुसार आदिम समाजों के विश्वास धीरे-धीरे बदलते गये हैं। भारतीय समाज के विश्वासों में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। मृदुल होने के कारण विश्वास के इस रूप ने दूसरों के आलोक के मार्ग में किसी प्रकार अवरोध नहीं किया। आरोपण, आग्रह

और आक्रमण की बात तो बहुत दूर है इस मृदुल विश्वास ने मृदुल अनुरोध के द्वारा भी दूसरो को प्रभावित करने का प्रयत्न नही किया। किन्तु दूसरे प्रकार का उग्र अन्धविश्वास दूसरो के भी आलोक के मार्ग का अवरोध करने का प्रयत्न करता है। इस उग्र अंधविश्वास का पोषण करने वाले स्वय सभी ओर के आलोक से अपनी आँखें बन्द करते हैं, किन्तु इसके साथ-साथ वे दूसरो के आलोक के विस्तार को भी अवरुद्ध करते हैं। छल, बल, आरोपण, प्रचार आदि के द्वारा जिन सम्प्रदायो ने दूसरो पर अपने मत अथवा विश्वास का आरोपण करने का प्रयत्न किया है वे सम्प्रदाय और समाज ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उन्नति नहीं कर सके, इसका इतिहास साक्षी है। प्राचीन भारत और प्राचीन ग्रीक मे आरोपण का आग्रह न होने के कारण ही ज्ञान विज्ञान का इतना विकास हो सका था। भारतवर्ष का वह विकास आरोपण वादियो के आक्रमणो के कारण रुक गया। आज योरोप को अपनी वैज्ञानिक प्रगति का गर्व है। किन्तु १६ वीं शताब्दी तक वह धार्मिक साम्राज्य के अन्धकार म पडा हुआ था। योरोप के इतिहास से एक प्रश्न करने योग्य है कि १६ वीं शताब्दी तक वह ज्ञान-विज्ञान के विकास में भारतवर्ष से इतना पिछ्डा हुआ क्यो रहा? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि ईसाई धर्म का आरोपणवाद उस मानसिक स्वतन्त्रता की अर्गला बना रहा जो ज्ञान-विज्ञान के विकास के लिये अपेक्षित है। १६वीं शताब्दी के बाद इस अर्गला को तोडकर ही योरोप के आधुनिक विकास का आरम्भ हो सका। इस आरम्भ के क्रम मे कितने विरोध और बलिदान हुए यह भी योरोपीय इतिहास के विद्यार्थियो के लिये विदित है। ब्रूनो, गेलीलियो आदि की कथाएँ ईसाई आरोपणवाद पर अमिट कलक हैं। मनुष्य के इतिहास और उसकी सभ्यता का अध्ययन करने वाले विद्वानो ने यह बताने की कृपा नही की कि भारतवर्ष के इतिहास मे ज्ञान विज्ञान के विकास मे ऐसी कलकपूर्ण बाधाएँ क्यो नही आई। हमारे मत मे भारतीय धार्मिक विचारो की उदारता और उनमे आरोपण का अभाव ही इसका कारण था। भारतीय धार्मिक परम्परा मे अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं। आरम्भ से ही यह अनेकता और उदारता भरतीय चिंतन का प्रमुख लक्षण रही है। धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायो मे निरीश्वरवादी जैन, बौद्ध, साख्य, मीमासा आदि सम्प्रदायो का भी आदर है। भारतीय सम्प्रदायो मे विश्वास एक व्यक्तिगत आस्था है। उसमे आरोपण की उग्रता नही है। इसीलिये वह अपने स्वरूप म भी कठोर नही है तथा कालक्रम

से उसमें परिवर्तन होता रहा है। इसके विपरीत आरोपणवादी सम्प्रदायों में ज्ञान विज्ञान के विकास के बाद भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता।

विश्वास जहाँ एक ओर आलोक के विस्तार का बाधक है वहाँ दूसरी ओर वह मनुष्य के जीवन का अवलम्ब भी है। आस्था के रूप में वह सचमुच मनुष्य के जीवन की स्थिति का आश्रय है। अन्धविश्वास होने पर भी वह जीवन को आस्था का सम्बल देकर शान्ति और आनन्दमय बनाता है। विश्वास जीवन का बल और सम्बल भी है। वह जीवन के अनेक उद्यमों में उत्साह भरकर उन्हें सम्भव और सफल बनाता है। विश्वास की आस्था मानो जीवन की भूमि है किन्तु इस भूमि पर मार्ग देखकर चलना उचित है। इसी प्रकार विश्वास में भी अनुभव का आलोक रहने पर वह अधिक स्वस्थ और उदार रहता है। उदार और आलोकमय विश्वास भी आलोकदान के अनुकूल नहीं होता, किन्तु वह उसमें कम बाधा डालता है। वह आलोकदान के अनुकूल नहीं, किन्तु आलोकदान के प्रतिकूल भी नहीं है। आलोकमयी आस्था के साथ साथ आलोक का प्रदान भी किया जा सकता है। इसमें विश्वास के प्रदान से अधिक आलोक के प्रदान के विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है, क्योंकि इसी में प्रमाद की आशंका अधिक रहती है। इस प्रमाद के होने पर विश्वास का प्रदान आरोपण बन जाता है और इसमें उग्रता आते ही यह आग्रह और आक्रमण की ओर बढ़ने लगता है। आग्रह और आरोपण आलोकदान के बिलकुल विपरीत है। ये आलोकदान का ही सकोच नहीं करते वरन् आलोक के ग्रहण की शक्ति को भी कुंठित करते हैं। धार्मिक परम्परा में यह आग्रह अधिक दिखाई देता है। धर्म के मार्ग से धार्मिक काव्य में भी इसका प्रवेश हुआ है। भारतीय धार्मिक परम्परा में उदारता बहुत रही है। इसीलिये प्राचीन धर्म सम्प्रदायों और धार्मिक काव्य में आरोपण बहुत कम मिलता है। उत्तरकालीन धर्म सम्प्रदायों और धार्मिक काव्य में भी आरोपण का अनुरोध अधिक नहीं है। किन्तु जितना कुछ भी उसमें मिलता है वह भी पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण हैं। भारतीय धार्मिक काव्य की यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें धार्मिक तत्व के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य का भी कितना अधिक समन्वय है कि इसके कारण उसे साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है। धार्मिक विश्वास की उदारता ही धार्मिक काव्य की सफलता का मूल कारण रही है। पश्चिमी भाषाओं और धर्म-सम्प्रदायों के इतिहास में ऐसा सम्भव

नहीं हो सका है। इसका मूल कारण भी भारतीय परम्परा के विपरीत उनके विश्वास में आरोपण के आग्रह की प्रबलता है। इसी कारण पश्चिमी भाषाओं में कोई धार्मिक काव्य इतने सुन्दर नहीं बन सके हैं जो भारतीय धार्मिक काव्यों की भाँति साहित्य में स्थान प्राप्त कर सकें।

विश्वास और आलोकदान का विरोध केवल इतना ही नहीं है कि वह आलोक के विस्तार में बाधक होता है वरन आग्रह और आरोपण का उग्र रूप धारण करने पर विश्वास की परम्परा में उसके आरोपण के अनेक यन्त्र विकसित होते हैं। इनमें संगठन प्रचारकों का समाज परस्पर प्रवचन, प्रलोभन आदि की गणना की जा सकती है। धार्मिक सम्प्रदायों ने आरोपण व आग्रह को अपनाया है व इन यन्त्रों का उपयोग भी करते रहे हैं। विश्वास के आरोपण का अधिक महत्त्व होने के कारण इन सम्प्रदायों में इन यन्त्रों का भी अधिक महत्त्व रहा है। ये यन्त्र धर्म के आध्यात्मिक तत्व के मूलतः अनुकूल नहीं हैं। अतः इन यन्त्रों की प्रबलता का परिणाम यह हुआ है कि इन सम्प्रदायों का धार्मिक तत्व क्षीण होता गया है और ये यन्त्र ही इनके मुख्य अवशेष के रूप में शेष रहते जा रहे हैं। भारतीय धार्मिक परम्परा के उदार और आलोकमय होने के कारण उसमें आरोपण के यन्त्रों के लिए अधिक स्थान नहीं था। फिर भी पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों के सम्पर्क और प्रभाव के कारण विश्वास के कुछ यन्त्रों ने इसमें भी कुछ स्थान पा लिया। ये यन्त्र आरोपण के अस्त्र नहीं बन सके, क्योंकि यह आरोपण भारतीय परम्परा के विपरीत था, फिर भी ये विश्वास को रूढ़ बनाने में सहायक हुए और आलोक के प्रसार को मन्द बनाने के साधन बने। भारतीय परम्परा में भी इन यन्त्रों का परिणाम धर्म के तत्व के अनुकूल नहीं हुआ। जिस रूप में और जिस मात्रा में इन यन्त्रों ने भारतीय परम्परा में स्थान पाया उस रूप और मात्रा में वे धर्म को रूढ़ बनाने में सहायक हुए। किन्तु भारतीय परम्परा में भी इनका परिणाम वही हुआ जो पश्चिमी परम्परा में हुआ। धर्म के आध्यात्मिक तत्व को गौण बनाकर ये यन्त्र ही धर्म के अवशेष बनने लगे। धर्म की आत्मा को भी क्षीण कर इन यन्त्रों के कंकाल धर्म के अवसान का संकेत करते हैं। इन कंकालों में सजीव धर्म की प्रतिष्ठा तभी तक सम्भव हो सकती है, जब तक धार्मिक आचारों की देह में धर्म की आत्मा का तेज प्रकाशित होता रहे तथा उसमें आलोक के अरुण और उज्ज्वल (मन्द और तीव्र) प्रवाह-तन्तु प्राण गति से स्पंदित होते रहें।

विश्वास का आरोपण सभी रूपों में दूसरे के व्यक्तित्व और उसकी चेतना की स्वतन्त्रता का तिरस्कार है। मृदुल रूपों में भी यह आरोपण एक मृदुल तिरस्कार रहता है। आग्रह और आक्रमण के अधिक उग्र रूपों में यह अधिक उग्र बन जाता है। किन्तु सभी रूपों में इसमें तिरस्कार का भाव बना रहता है। चेतना मनुष्य के व्यक्तित्व की सबसे अधिक गौरवमयी विभूति है। गीता में भगवान ने उसे अपना स्वरूप बताया है (भूतानामस्मि चेतना)। स्वतन्त्रता चेतना की मुख्य विभूति है। चेतना का आनन्द इसी स्वतन्त्रता का भाव है। विश्वास का आरोपण दूसरों की चेतना की स्वतन्त्रता का तिरस्कार करता है। मनुष्य की चेतना का गौरव इसी में है कि उसकी चेतना के आलोक का विस्तार स्वतन्त्र रूप में हो। आरोपण इस स्वतन्त्रता के विपरीत है। उपदेश और प्रचार को आलोकदान समझने का भ्रम हो सकता है। विश्वास का प्रचार और आरोपण करने वालों को भी यह भ्रम रहता है। उपदेश प्रकट रूप में ज्ञान का दान है। किन्तु यदि उपदेश में ज्ञान के ग्राहक के प्रति हीनता अथवा तिरस्कार का भाव रहता है तो ज्ञान का यह दान अपने उद्देश्य में अधिक सफल नहीं होता। दान का मूल भाव तो प्रदान अथवा वितरण ही है। उसमें हीनता और श्रेष्ठता का भाव आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत कन्यादान आदि की भाँति अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक दानों में दाता की ओर से एक उदारता और विनम्रता का भाव अपेक्षित होता है। भारतीय परम्परा में दान का यही भाव उचित माना गया है। फिर भी मनुष्य के स्वाभाविक अहंकार के प्रभाव से विद्यादान तथा आर्थिकदान में कुछ श्रेष्ठता और हीनता का भाव आ गया है। श्रेष्ठता का भाव अहंकार का द्योतक है और हीनता इसी अहंकार से फलित होने वाला दूसरे का तिरस्कार है। यह तिरस्कार दान के प्रयोजन को विफल बना देता है। दान का व्यावहारिक प्रयोजन सहायता हो सकता है किन्तु दान का सांस्कृतिक प्रयोजन दाता की उदारता और विनम्रता तथा ग्राहक को गौरव एवं मान देकर उसे समृद्ध बनाना है। दान में उपकार का भाव हीनता का संकेत करके गौरव और समृद्ध दोनों के भावों को खंडित करता है। उपदेश के इसी भ्रम के कारण धर्म और विद्या के विकास के स्थान पर उनका ह्रास होता है। ग्राहक की हीनता और उसके तिरस्कार का भाव न होने पर ही उपदेश तथा अन्य रूपों में आलोकदान आलोक के विस्तार का साधन बन सकता है। विश्वास का आरोपण और

आग्रह उपदेश की अपेक्षा अधिक उग्रता के साथ आलोक की समृद्धि का खंडन करता है ।

विश्वास का आरोपण और प्रचार तथा इस निमित्त से दूसरो के व्यक्तित्व का तिरस्कार मुख्य रूप से धर्म आदि के क्षेत्रो मे अपनाया गया है । पश्चिमी धर्म सम्प्रदायों मे यह अधिक प्रबलता के साथ मिलता है । किन्तु कला, साहित्य और काव्य मे इसका विशेष अवसर नही है । कला और काव्य मे यह बहुत कम पाया जाता है । अपवाद के रूप मे भी यह केवल उन्ही कलाकारो अथवा कवियो मे मिल सकेगा जो किसी धार्मिक आग्रह से ग्रस्त हैं अथवा व्यक्तिगत अहकार से पीडित हैं । तुलसीदास जैसे श्रेष्ठ कवि मे यह कुछ परिमाण मे मिलता है । इसका कारण अपनी धार्मिक आस्था के सम्बन्ध मे तुलसीदास की अतिरजित भावना है । कुछ आधुनिक कवियो मे वह अहकार की अभिव्यक्ति के रूप मे मिलता है । पश्चिमी काव्य की यह विशेषता अत्यन्त सराहनीय है कि जहाँ पश्चिमी धर्म मे विश्वास के आरोपण का आग्रह बहुत उग्र है, वहाँ पश्चिमी भाषाओ का काव्य इस आग्रह से पूर्णत मुक्त है । दान्ते अथवा मिल्टन के काव्यो मे जहाँ काव्य के कथा और तत्व पर कुछ धार्मिक आस्थाओ का प्रभाव है वहाँ उनके आरोपण का आग्रह इन काव्यो मे तनिक भी नही है । उन प्रसगो को किसी धार्मिक उद्देश्य अथवा प्रचार की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली बनने का प्रयत्न भी नहीं किया गया है । धार्मिक कथानक पर आश्रित होते हुए भी ये मुख्य रूप से कला एव काव्य की कृतियाँ हैं । धार्मिक कथानक को इन कवियो ने केवल अपने सस्कारो के सयोग से अपनाया है । कथानक के धार्मिक होने पर भी कोई भी काव्य विश्वास के आग्रह से पूर्णत मुक्त और अधिकतम कलात्मक सौन्दर्य से युक्त हो सकता है । दान्ते और मिल्टन की काव्य-कृतिया स्वय ऐसे काव्य का श्रेष्ठतम उदाहरण है । इनके अतिरिक्त पश्चिमी भाषाओ के काव्य मे धार्मिक प्रभाव और विश्वास का आरोपण अपवाद रूप मे ही मिल सकेगा । पश्चिमी भाषाओ के कवियो के लिये यह एक अत्यन्त गौरव की बात है । पश्चिमी दार्शनिको मे धार्मिक आस्था का अनुरोध इतना प्रबल है कि उसने अनेक दार्शनिको को अपने तार्किक सिद्धान्तो के साथ समझौता करने के लिये तथा उन्हें खडित करने के लिये भी विवश किया है । लाईब्नीज, बार्क्ले, ह्यूम आदि की ईश्वर सम्बन्धी मान्यताएँ इसी स्थिति मे हैं । किन्तु दार्शनिको के विपरीत पश्चिमी कवियो मे धार्मिक आस्था का

अनुरोध नही है। गेटे के फाउस्ट मे कुछ ईसाई सिद्धान्तो का प्रभाव है किन्तु शेक्सपीयर तथा अंग्रेजी के रोमान्टिक कवि जो विश्व म सबसे अधिक लोकप्रिय हैं धार्मिक विश्वास के प्रभाव से सबसे अधिक मुक्त हैं। यही इनकी लोकप्रियता का कारण भी है। साहित्यिक श्रेष्ठता के साथ साथ विश्वास के आरोपण और व्यक्तित्व के अहकार तथा दूसरो के व्यक्तित्व के तिरस्कार के भाव से पूर्णत मुक्त होने क कारण शेक्सपीयर की साहित्यिक महानता विश्व के लिये मान्य हो सकी।

सस्कृत काव्य भी पश्चिमी काव्य की भाँति ही विश्वास के आग्रह और आरोपण से मुक्त है। पश्चिमी काव्य की भाँति सस्कृत काव्य मे भी कलात्मक स्वरूप का ही प्राधान्य है। वाल्मीकि की राम कथा धार्मिक वृत्त नही वरन् एक सामाजिक काव्य है। कालिदास के काव्यो मे उनकी धार्मिक आस्था के सकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु उनमे आरोपण अथवा आग्रह का भाव नही है। कालिदास ने अपने-इष्टदेव शिव की महिमा की ऐसी अतिरजना नही की है जो आरोपण के समान प्रतीत हो। कुमारसम्भव का केवल कथानक धार्मिक है किन्तु वह काव्य पूर्णत कलात्मक है। अन्य सस्कृत काव्य भी पश्चिमी भाषाओ के काव्यो की भाँति कला प्रधान ही हैं तथा विश्वास के आरोपण स मुक्त हैं। गीत गोविन्द आदि की धार्मिक आस्था भी आरोपण नही हैं वरन् काव्य के कलात्मक सौन्दर्य मे समरस हो गई है। इन काव्यो मे आलोकदान का कोई सचेष्ट प्रयास नही है। ऐसा प्रयास कलात्मक सौन्दर्य के अनुरूप भी नही है किन्तु सस्कृत के काव्यो तथा पश्चिमी भाषाओ के काव्यो मे जीवन के गम्भीर रहस्यो का ऐसा उद्घाटन मिलता है जो पाठक की चेतना मे आलोक के स्रोत खोल देता है। इस दृष्टि से इन काव्यो मे अलक्षित और उदार आलोकदान का आदर्श रूप मिलता है।

हिन्दी काव्य मे भी सस्कृत और पश्चिमी भाषाओ के काव्य की भाँति विश्वास के आरोपण अथवा अहकार की अभिव्यक्ति का काव्य बहुत कम मिलता है। फिर भी हिन्दी के भक्ति काव्य और आधुनिक हिन्दी काव्य मे वह सस्कृत और पश्चिमी भाषाओ के काव्य की अपेक्षा अधिक मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य में अहकार की जैसी अभिव्यक्ति मिलती है, वैसी ससार के किसी भी देश के काव्य में कदाचित ही मिल सकेगी। इसका कारण देश की दीर्घकालीन पराधीनता के प्रभाव से उत्पन्न युवक कवियो की कुण्ठा हो सकती है। एक ओर काव्य में अहकार की अभिव्यक्ति इतनी कहीं न मिल सकेगी। दूसरी ओर इतने आक्रमणो

और विदेशी शासनो से पीडित भी ससार का कोई नहीं रहा। हिन्दी का भक्ति-काव्य भी बहुत कुछ सीमा तक इसी पराधीनता की प्रतिक्रिया है। पराजित और पराधीन जाति की विवशता म भगवान की शरण ही एक मात्र मार्ग है। दूसरा मार्ग राष्ट्रीय क्रान्ति का है जो अँग्रेजी शासन के पूर्व कई कारणो से भारत मे सम्भव नही हो सका। धर्म और कला के समन्वय से युक्त भक्ति काव्य हिन्दी साहित्य की एक अद्भुत विशेषता है। भारतीय भाषाओ को छोडकर अन्य किसी देश की भाषा म ऐसा भक्तिकाव्य मिलना दुर्लभ है। धर्म और कला का अद्भुत समन्वय इस काव्य की अनुपम विशेषता है। धर्म मे भक्ति की भावना की प्रबलता होने पर धर्म के साथ कलात्मक सौदर्य का समन्वय दर्शन म सौन्दर्य के समन्वय की अपेक्षा अधिक सुकर होता है। फिर भी हिन्दी भक्तिकाव्य की उक्त विशेषता अनुपम है। भक्ति के गहन भाव कलात्मक सौन्दर्य की श्रेष्ठताओं के साथ जिस उत्तमता के साथ हिन्दी के भक्तिकाव्य मे समन्वित हुए हैं उसी ने सूर और तुलसी को हिन्दी साहित्याकाश का सूर्य और शशि बनाया है। शायद ही ससार की किसी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि ऐसे भक्त कवि हो। भारतीय भाषाओ के चडीदास, कम्बन और सुब्रह्मण्यम भारती म ही सूर और तुलसी का साम्य मिल सकता है। जहाँ पश्चिम के सबसे महान् कवि शेक्सपीयर का काव्य पूर्ण रूप से लौकिक है वहाँ उसके विपरीत हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ का सर्वश्रेष्ठ काव्य धार्मिक और भक्तिपूर्ण है। धर्म और भक्ति के प्रभाव के कारण इस काव्य मे आत्मा के गहन भावो की अभिव्यक्ति के साथ साथ धार्मिक अनुरोधो की भी छाया है। रामचरितमानस मे यह छाया स्पष्ट दिखाई देती है। उसमे धर्म और कला का सर्वोत्तम समन्वय है। इसीलिए वह इतना अधिक लोकप्रिय है जितना कि ससार का कोई काव्य नहीं हो सकता किन्तु दूसरी ओर विश्वास का आरोपण भी कदाचित उसम सबसे अधिक है। राम की प्रभुता का आग्रह और अन्य पात्रो की हीनता का आग्रह रामचरितमानस के प्रबन्ध को असतुलित बना देता है। अपने इष्टदेव की महिमा का गान तो प्रत्येक भक्त के लिए स्वाभाविक है। किन्तु अन्य पात्रो का तिरस्कार उचित नहीं। यह सत्य है कि समस्त ज्ञान का उद्घाटन कोई भी काव्य अथवा ग्रन्थ नहीं कर सकता। किन्तु अन्य दृष्टिकोणो की सम्भावनाओ को आग्रह और आरोपण से कुण्ठित करना मनुष्य के विवेक के साथ अन्याय है। मतिरजित आस्था के आग्रह से उस सम्भावना को अवरुद्ध करना एक साहित्यिक अपराध है।

तुलसीदास के रामचरितमानस म विश्वास का प्रचार करने वाले आग्रह और आरोपण का एक अद्भुत रूप मिलता है, जो धर्म के क्षेत्र मे चाह कितना ही सुलभ हो, काव्य के क्षेत्र मे मिलना कठिन है। कठिन इसलिए नही कि कवियो म उसकी क्षमता नहीं है, वरन् कठिन इसलिए है कि काव्य परम्परा मे उसे दोष मानते हैं। काव्य शास्त्र मे इस दोष का नाम पुनरुक्ति है। पुनरुक्ति एक भाव की आवृत्ति के कारण काव्य के सौन्दर्य को भग ही नही करती, वरन् वह अधिक प्रयुक्त होने पर मनुष्य के विवेक को भी अवरुद्ध करती है। काव्य मे यह दोष अपवाद के रूप म उदाहरण के लिए ही मिलेगा, किन्तु रामचरितमानस मे इसकी प्रचुरता है। राम के प्रभुत्व और परमब्रह्मत्व का पाठक को आस्था मे आरूढ करने के लिए तुलसीदास ने इसका आवश्यकता से अधिक उपयोग किया है। एक कुशल कलाकार होने के नाते यह आवृत्ति उनम अनेक रूपो म मिलेगी। राम के परमब्रह्मत्व की पग पग पर दुहाई तो उसका एक अत्यन्त सरल रूप है जो रामचरितमानस की अनेक पक्तियो मे पुन आवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त इसी भाव की आवृत्ति अन्य अनेक रूपो म हुई है। रामचरितमानस के सभी पात्र (एक दो को छोडकर) किसी न किसी समय राम के परमब्रह्मत्व का स्वीकार करते हैं। कथा काव्य म एक मान्यता के आरोपण की यह अत्यन्त कुशल और प्रभावशाली विधि है। धार्मिक काव्य मे यह विश्वास के प्रचार का एक प्रबल यत्र है। राम और तुलसी क भक्तो की भावना का इस तुलना मे आघात पहुँचेगा किन्तु विचार और मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तुलना इतनी अनुचित नहीं है, कि रामचरितमानस म विश्वास के प्रचार की जो विधियाँ अपनाई गई हैं वे बहुत कुछ उन विधियो के समान हैं जो आधुनिक व्यापार म विज्ञापन की कला म विश्वास के प्रचार क लिए अपनाई जाती हैं। पुनरुक्ति विज्ञापन का एक साधारण सिद्धान्त है। इसीलिए एक ही विज्ञापन का मुद्रण अथवा प्रकाशन बार-बार किया जाता है। पैरी ने धार्मिक चेतना की व्याख्या म यह मत प्रकट किया है कि एक ही धारणा की बार बार आवृत्ति से आस्था उत्पन्न होती है। 'आवृत्ति' विवेक तर्क और सन्देह का मन्द करके आस्था को आरोपित करती है। व्यापारी इसी विश्वास का लेकर बार बार अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करते हैं कि उन वस्तुओ के गुणो की निरन्तर आवृत्ति म लोगो के मन म उन वस्तुओ की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे विश्वास पैदा हो जाये। रामचरितमानस के राम क परमब्रह्मत्व का प्रमाणित करने के लिए तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त आवृत्ति

की दूसरी प्रणाली का अनुसरण भी व्यापारिक विज्ञापनों में बहुत होता है। लक्स टायलेट साबुन का विज्ञापन प्रतिमास एक नई चित्र-तारिका के नाम और चित्र के साथ होता है। आज वैजयन्तीमाला कहती है कि लक्स साबुन त्वचा को सुन्दर और कोमल बनाता है, तो कल मीनाकुमारी यह प्रमाणित करती है कि लक्स उतना ही शुद्ध है जितना कि वह सफेद है। इस प्रकार एक के बाद एक चित्र तारिका यह प्रमाणित करके कि लक्स त्वचा के सौन्दर्य की रक्षा करता है, जनता में यह विश्वास पैदा करती हैं कि लक्स एक उत्तम साबुन है। लक्स के व्यापारियों की इस प्रमाण-प्रणाली का अनुकरण अन्य वस्तुओं के व्यापारी और भी विचित्रता के साथ करते हैं। चाय, डालडा आदि पदार्थ बच्चों, खिलाडियों, मजदूरों, नर्तकियों आदि सबको शक्ति और स्फूर्ति देते हैं। सबके प्रमाण इनकी उपादेयता का विश्वास जनता के मन में उत्पन्न करते हैं। यह उसी मनोविज्ञान का उपयोग है, जिसका उपयोग कि संस्कृत की प्रसिद्ध कथा के तीन धूर्तों ने उस भोले ब्राह्मण के साथ किया था जो गाय के बछड़े को कन्धे पर बिठाकर ले जा रहा था। मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक के बाद एक क्रम से जब तीनों व्यक्तियों ने ब्राह्मण पर आश्चर्य प्रकट किया कि वह कुत्ते को सर पर बिठाकर क्यों ले जा रहा है तो अन्त में उस भोले ब्राह्मण ने गाय के बच्चे को कुत्ता मानकर मार्ग में ही छोड़ दिया और वे धूर्त उसको लेकर चलते बने। चाहे मानस के प्रेमियों और व्यापारियों को यह कितना ही आघातप्रद और अनुचित प्रतीत हो किन्तु यह एक स्पष्ट सत्य है कि राम के परमब्रह्मत्व, वस्तुओं की श्रेष्ठता और गोवत्स के श्वानत्व को प्रमाणित करने का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त एक ही है। वह सिद्धान्त अनेक रूप में एक ही मान्यता की आवृत्ति के द्वारा मनुष्य के विवेक को कुण्ठित करके अतर्कित आस्था का आरोपण करना है। जीवन के सभी क्षेत्रों की भाँति यह काव्य में भी विवेक के जागरण और आलोक के प्रसार में बाधक है।

आग्रह, आरोपण और आवृत्ति के अतिरिक्त अपने मत की अतिरंजना तथा पाठकों के विवेक को कुण्ठित करने के और भी कई रूप हो सकते हैं। ये सभी रूप न्याय के दोषों के अन्तर्गत हैं। स्वच्छ विचार के शील से बहिर्गत होने के कारण ये कवि के शील में भी स्थान पाने योग्य नहीं है। दूसरे के मत का तिरस्कार तथा कुछ कुतर्कों के द्वारा उसका उपहास विचार के शील के उन दोषों में से हैं जो न तो कवि के शील की स्वच्छता का परिचय देता है और न पाठकों के मन में

उस शील के वाञ्छनीय संस्कारों का बीजारोपण कर सकता है। दर्शन सम्प्रदायों में खण्डन के प्रसंग में ऐसे व्यवहार का परिचय प्रायः विद्वानों और आचार्यों ने दिया है। शंकराचार्य जैसे महान् आचार्य ने भी कई स्थलों पर दार्शनिक विचारक के महनीय शील की अवहेलना की है। भगवान बुद्ध पर उन्होंने लोगों को भ्रांत करने का दोषारोपण किया है।[४१] कुतार्किकों को एक स्थान पर बलीवर्द कहा है।[४२] एक स्थान पर कदाचित् उन्होंने विरोधी के तुंड त्रोटन का संकेत भी किया है। खंडन के प्रसंग में ऐसे अशालीन व्यवहार बड़े विचारकों तक में मिलते हैं। दर्शन के लिए यह बड़े खेद और लज्जा की बात है। कठोर से कठोर तर्क शालीनता के साथ संभव हो सकता है। दार्शनिकों को उदार, उदात्त और नम्र शील की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। कवियों का संबन्ध तो विचार के साथ-साथ भावना से भी है। अतः उनके शील की मर्यादा दार्शनिकों से भी अधिक कोमल और कठोर है। मतभेद, विचार-विरोध और खण्डन के लिए तीव्र तर्क का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु इसके लिए दूसरे के मत का तिरस्कार अथवा किसी भी प्रकार से उसका उपहास अनावश्यक है। अनावश्यक होने के साथ साथ वह अशालीन भी है। कविता के विचार तत्व के लिए तो काव्य प्रकाशकार ने 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे' का आदर्श प्रस्तुत किया है। कान्ता का सम्मित शालीनता का आदर्श है। किरातार्जुनीय की द्रौपदी का युधिष्ठिर के प्रति वचन 'कान्ता सम्मित' का एक उत्तम उदाहरण है। द्रौपदी के व्यंग में भी एक नम्र और भावमय शालीनता है। कविता में यह शालीनता उतनी ही वाञ्छनीय है जितनी कि कान्ता में। कविता को कामिनी मानने वाले कवियों को तो इस शालीनता को बहुत महत्त्व देना चाहिए। कवि स्वभाव से भावनाशील होते हैं, इसीलिए दूसरे के विचार के प्रति तिरस्कार और उपहास की भावना उनमें स्वभाव से ही न होनी चाहिए। कविता का मूल स्वरूप तो व्यापक समात्मभाव और भावना की अभिव्यक्ति है। किन्तु अधिकांश कवियों की चेतना अपने ही भावों में तल्लीन रही है। अतः दूसरे के विचारों के खण्डन, तिरस्कार अथवा उपहास के प्रसंग कविता में बहुत कम आते हैं। जहाँ ये प्रसंग आते हैं वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अनुदार और असहिष्णु मतवादी शालीनता की मर्यादा को लाँघकर बोल रहा है। श्रीहर्ष ने जहाँ न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम के नाम पर व्यंग किया है, वहाँ नैषधीय चरित का निर्माता कवि नहीं खंडन-

न्ड खाद्य का प्रणेता कुशल तार्किक तिरस्कार के स्वरों में बोल रहा है। कविता में ऐसे स्थल वहीं दिखाई देते हैं, जहाँ कवि अपनी सहज और उदात्त भाव-भूमि को छोड़कर सकीर्ण तर्क और मतवाद की वीथियों में भटक जाता है। कृष्ण परम्परा के काव्य में निर्गुण ब्रह्म के ऊपर कुछ ऐसे ही तर्क मिलते हैं। सूर का 'निर्गुण कौन देश को वासी' से आरम्भ होने वाला पद इसी वृत्ति का उदाहरण है। कबीर ने भी जहाँ हिन्दू और मुसलमानों की कुछ धार्मिक रीतियों का उपहास किया है, वहाँ इसी वृत्ति का परिचय दिया है। तुलसीदास ने सिद्धान्तों का तर्क अधिक नहीं अपनाया है। रामचरितमानस का सामान्य रूप लोक मानस की भूमि पर विरचित एक स्थूल काव्य है। अत उसमें सिद्धान्त के तर्क के स्थान पर व्यक्तित्व का तर्क है। व्यक्तियों के प्रमाण से ही उन्होंने राम का परमब्रह्मत्व सिद्ध किया है और दूसरी ओर व्यक्तियों के ही तिरस्कार तथा उपहास से राम के इस परम-ब्रह्मत्व को एक गौरवमयी भूमिका दी है। कालिदास के काव्य में कुछ विचारों की आस्था स्पष्ट झलकती है किन्तु किसी मत का तिरस्कार-पूर्ण खण्डन उन्होंने कहीं नहीं किया है। प्रगतिवादी काव्य में प्राचीन आस्थाओं के प्रति तिरस्कार का भाव प्राय देखने में आता है। यह माना जा सकता है कि मनुष्य की सांस्कृतिक परम्परा में कुछ ऐसे मत और विचार पैदा हो जाते हैं, जो अन्तत मनुष्य के लिए अकल्याणकारक, अत असत्य बन जाते हैं। उनकी असत्यता और अशिवता का उद्घाटन काव्य में भी वाछनीय हो सकता है। यह उद्घाटन उन मतों की तर्कगत भूलों और उनके अमगल-पूर्ण परिणामों को प्रत्यक्ष करके किया जा सकता है। यह पूर्ण शालीनता के साथ सभव है। इसके लिए दूसरे के मत के तिरस्कार उपहास आदि की अशालीनता की आवश्यकता नहीं है।

अध्याय ४१

अपमान और उपहास

विश्वास के आरोपण और तिरस्कार के समान ही दूसरों का अपमान और उपहास भी आलोकदान तथा आलोक के विस्तार में बाधक होता है। आलोकदान एक प्रकार का उदार अनुग्रह है, जिसमें उपकार अथवा आरोपण का भाव उचित नहीं है। यह भाव आलोक के विस्तार को सकुचित करता है और आलोकदान के उद्देश्य को विफल बनाता है। उपनिषदों के शान्ति पाठ में गुरु और शिष्य के 'सहवीर्यंकरवावहै' में गुरु शिष्य के साम्यपूर्ण सहयोग में इसी उपकार और आरोपण का निषेध करके तेजस्वी विद्या की अभ्यर्थना की गई है। धर्म की परम्पराओं में विश्वास का आरोपण मृदुल एवं प्रच्छन्न तथा प्रकट एवं उग्र दोनों ही रूपों में देखा जाता है। सभी रूपों में इसने आलोक के विस्तार का अवरोध किया है और आलोकदान के प्रयोजन को विफल बनाया है। पूर्व और पश्चिम दोनों में सभ्यता की प्रगति इसके कारण रुकी रही है। दोनों दिशाओं में दो धर्मों का प्रचार और आक्रमण इस प्रगति का अवरोधक बना रहा। विश्वास का आरोपण और आग्रह इन धर्मों का मूलमन्त्र है। मृदुल और उग्र दोनों प्रकार के आरोपण दूसरों के व्यक्तित्व और उनकी चेतना की स्वतन्त्रता का तिरस्कार करता है। यह आरोपण और तिरस्कार भी एक प्रकार से मनुष्य और आत्मा का अपमान है। किन्तु विश्वास के आरोपण के अतिरिक्त अपमान के अन्य रूप भी सम्भव हैं। अपमान का अभिप्राय दूसरे के व्यक्तित्व को हीन बनाना है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और उसके गौरव की उपेक्षा ही अपमान में चरितार्थ होती है। उपहास उसका एक व्यंग्यात्मक रूप है। उपहास भी एक प्रकार का अपमान ही है। उपहास और अपमान में इतना अन्तर है कि अपमान में हम अपने आग्रह और अतिचार से स्वयं दूसरे को हीन बनाते हैं। उपहास में हम दूसरे की हीनता को एक व्यंग्यात्मक रूप में अनावृत करते हैं, जिससे कि वह दूसरों के उपहास का पात्र बनकर अपमानित हो जाता है। उपहास के द्वारा हम किसी व्यक्ति को दूसरों की दृष्टि में अपमान का भाजन बनाते हैं। व्यंग्य और विनोद का पुट होने के कारण 'उपहास'

आरोपण, आग्रह, आक्रमण, तिरस्कार, अपमान आदि की अपेक्षा अधिक मृदुल दिखाई देता है। किन्तु उपहास के पात्र के मर्मानुभव की दृष्टि से यह इनसे कम तीव्र और उग्र नहीं है। प्राय उपहास का व्यंग बाण अन्य आघातों से अधिक तीव्र होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी अधिक भीषण होती है। द्रौपदी के द्वारा दुर्योधन का अल्प उपहास ही महाभारत का कारण बन गया। बाण के हर्ष चरित के अनुसार वेद पाठ म दुर्वासा के स्वरभग का तनिक उपहास करने के कारण देवी सरस्वती को पृथ्वी तल पर जन्म लेना पडा। मृदुल प्रतीत होते हुए भी उपहास की भीषण प्रतिक्रिया का कारण कदाचित उसकी तीव्रता और सामाजिकता है। उपहास का पात्र अनेक व्यक्तियो की दृष्टि में अपमान का भाजन बन जाता है। इनसे उसके अपमान की मात्रा बढ जाती है। तिरस्कार मे उपेक्षा का भाव अधिक है। उपेक्षा अपमान का निषेधात्मक रूप है। तिरस्कार की तुलना में विश्वास का आरोपण, अपमान और उपहास अधिक भावात्मक हैं।

कला और संस्कृति की दृष्टि मे विश्वास का आरोपण, तिरस्कार, अपमान और उपहास उस साम्य के घातक हैं जो हमारे मत मे कला और संस्कृति का मूल आधार है। अपमान और उपहास दोनो शब्दो का व्याकरण उपसर्गों के द्वारा गौणता का सकेत करता है। 'अप्' का आशय हीनता है। दूसरे के 'मान' को हीन बनाना ही अपमान है। उपहास का 'उप' हास की जिस गौणता का सकेत करता है, वह गौणता हास के साम्य पूर्ण और सास्कृतिक भाव की दृष्टि से विचारणीय है। भावात्मक और सास्कृतिक हास व्यक्तित्वो के साम्य से अलकृत होता है, जिनमे किसी को हीन नहीं बनाया जाता वरन् एक प्रकार से जिसमे सबका उत्कर्ष अभीष्ट है। इस हास की दृष्टि से उपहास 'हास' का गौण रूप है। किन्तु दूसरे के मान की दृष्टि से इसे अपहास कहना अधिक उचित है। सभी रूपो में मनुष्य का अपमान समात्मभाव के उस साम्य को भग करता है जो कलात्मक सौन्दर्य का मूल सिद्धान्त है। समात्मभाव का यह साम्य सस्कृति का भी आधार है। अत अपमान का यह वैषम्य सस्कृति का भी घातक है। जिन समाजों के विश्वास और व्यवहार दूसरों की स्वतत्रता का निषेध तथा दूसरों के व्यक्तित्व का अपमान करते रहे है, वे मानवीय सस्कृति के मूल पर ही आघात करते रहे है। उनके सास्कृतिक गर्व मे एक आत्मगत विरोध निहित है। कला और काव्य के सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी अपमान और उपहास का यह वैषम्य विचारणीय है। यदि कला केवल रूप

का सौन्दर्य है तो किसी प्रकार का भी भाव उस रूप में साकार हो सकता है। किन्तु यदि रचना की सामान्य स्थिति की दृष्टि से भी यदि समात्मभाव का साम्य कलात्मक सौन्दर्य का आवश्यक आधार है, तो कला और काव्य के विषय के रूप में भी अपमान और उपहास के भाव सौन्दर्य के बाधक हैं। इस सिद्धान्त के सत्य की परीक्षा काव्यों में मिलने वाले ऐसे स्थलों के सौन्दर्य के द्वारा की जा सकती है। कला के पारखियों और अनुयायियों को ऐसे स्थलों में अधिक सौन्दर्य दिखाई न देगा। ऐसे स्थल काव्य और साहित्य के श्रेष्ठ और स्थायी महत्व के स्थल भी नही माने जाते। साहित्य और काव्य में ऐसे स्थल बहुत कम मिलते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि सौन्दर्य की व्यवस्था में इनके लिए अधिक स्थान नही है। कालिदास के अनुसार यदि इन मलिन स्थलों को चन्द्रमा के कलंक की भाँति सौन्दर्य का वर्धक माना जाय तो दूसरी बात है।

काव्य के क्षेत्र में कुछ प्रबन्ध काव्यों के पात्रों के सम्बन्ध में ही अपमान और उपहास के प्रसग मिलते हैं। ऐसे प्रसग परिमाण और महत्व दोनों में ही बहुत कम हैं। प्रबन्ध काव्यों में समाज की मान्यता के अनुसार जिन पात्रों को दुष्ट पात्र माना गया है, उन्ही के अपमान और उपहास के कुछ प्रसग काव्य में मिलते हैं। राम कथा की परम्परा में कुछ ऐसे प्रसग अधिक विदित हैं। राम-कथा की परम्परा में वालि, रावण आदि महावली प्रतिनायक भी खल नायक के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं। इसीलिए उनका चित्रण कुछ अपमान-पूर्ण किया गया है। रामचरितमानस में अगद-रावण-सम्वाद में तथा रावण-मन्दोदरी के सम्वाद में रावण का चित्रण अपेक्षित गौरव के साथ नही किया गया है। राम के भक्तों के लिये राम की महिमा की दृष्टि से यह अपमान शोचनीय प्रतीत न हो किन्तु साहित्यिक और सामाजिक न्याय की दृष्टि से यह अवश्य शोचनीय है। इसी प्रकार रामकथा के प्रसग में राम की महिमा को बढाने के लिए शिव और परशुराम का उपहास किया गया है। शिव और परशुराम के महिमामय चरित्रों को देखते हुए यह और भी अधिक शोचनीय है। साहित्यिक और सामाजिक न्याय के सतुलन का ध्यान न रखने पर ही ऐसे अपमान और उपहास सम्भव होते हैं। कथा प्रबन्ध में कुछ वस्तुत निन्दनीय पात्र हो सकते हैं। उनके चरित्र का चित्रण भी यथार्थ रूप में ही होगा। दुष्ट चरित्रों को उदात्त बनाने से कथा और काव्य दोनों का ही प्रयोजन नष्ट हो जाता है। किन्तु उदात्त पात्रों के गौरवपूर्ण व्यवहार के द्वारा

इन दुष्ट पात्रों को भी उचित आदर दिया जा सकता है। यह उदात्त पात्रों के गौरव के अनुरूप है। मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद-वध' काव्य में राम और लक्ष्मण ने रावण और मेघनाद को जो गौरव दिया है उसमें इस सामाजिक और साहित्यिक न्याय का उदाहरण मिलता है। 'पार्वती' महाकाव्य में तारकासुर के प्रति कुमार कार्तिकेय का व्यवहार और भाव भी इसी न्याय के अनुरूप है। अपमान और उपहास कलात्मक सौन्दर्य का ही बाधक नहीं वरन् आलोकदान के साथ-साथ सामाजिक श्रेय का भी बाधक है। हिन्दी के कवि और आलोचक उपहास को ही हास्य रस समझने की भूल करते रहे हैं। समात्मभाव का साम्य रस का मूल मर्म है। उपहास के वैषम्य में हास्य रस सम्भव नहीं हो सकता।

अपने मन की प्रतिष्ठा अथवा दूसरे के मन के खण्डन के लिए दूसरे के व्यक्तित्व का अपमान तथा उपहास तो और भी अधिक अनुचित तथा अशालील है। जिस प्रकार धर्म अथवा मत से प्रभावित कुछ कवियों ने तथा विचारकों ने दूसरों के मत के खण्डन के लिए उसका तिरस्कार अथवा उपहास किया है उसी प्रकार कुछ कवियों ने अपने इष्ट पात्र के महत्व को बढ़ाने के लिए दूसरों के व्यक्तित्व का अपमान तथा उपहास किया है। रीतिकाल और छायावाद के कवि तो कुछ स्फुट (मुक्तक) भावनाओं के कलात्मक चित्रण में ही अपने कवित्व की कृतार्थता मानते रहे हैं। उनकी रचनाओं में पात्रों के प्रसग बहुत कम हैं। अत. किसी के अपमान और उपहास का अवसर भी कम आया है। प्रबन्ध काव्य मे इसकी सभावना अधिक रहती है। हिन्दी के कुछ प्रबन्धकार इस सबन्ध मे अधिक दोषी हैं। एक बार फिर यह खेद जनक प्रश्न हमारे सामने आता है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने वाले गोस्वामी तुलसीदासजी ही इस अशालीनता के सबसे अधिक अपराधी हैं। उनके रामचरितमानस का मुख्य उद्देश्य राम का परमब्रह्मत्व सिद्ध करना है। यदि उनकी यह आस्था है तो वे काव्य मे इसके प्रतिष्ठापन के लिए पूर्ण स्वतत्र हैं। कवि की दृष्टि से उनके इस मौलिक अधिकार मे किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु अपने इष्ट का महत्व बढ़ाने के लिए दूसरों के व्यक्तित्व के अपमान का अधिकार किसी कवि को नहीं है। वस्तुत. मनुष्य और कवि दोनों की ही दृष्टियों से यह अशालीनता का द्योतक है। अशिष्ट होने के साथ-साथ यह अशिव भी है। शिव का स्वरूप आत्मदान है। आत्मदान का आधार दूसरे के व्यक्तित्व का

आदर है। अत दूसरे के व्यक्तित्व का अनादर, अपमान और उपहास स्पष्टत अशिव है।

प्रबन्ध काव्यो मे प्रसगत कुछ दुष्ट पात्र भी आ सकते हैं। उनमे कुछ अत्यन्त नीच और धूर्त भी हो सकते हैं। कवि को उनका चित्रण उसी रूप मे करना होगा। किन्तु दूसरो के चरित्र की दुष्टता धूर्तता और नीचता एक बात है तथा उसके चित्रण मे कवि की अशालीनता और अशिष्टता बिल्कुल दूसरी बात है। जहाँ पहली आवश्यक मानी जा सकती है तथा उचित भी है वहाँ दूसरी अनावश्यक और साथ ही अनुचित भी है। तुलसीदास और उनके प्रशसक इन दोनो स्थितियो म भेद नही कर सके। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस की भूमिका मे ही रामकथा मे श्रद्धा न रखने वालो के पूर्व पापो का उल्लेख करके अपने सामाजिक शील की सकीर्णता का परिचय दिया है।[४५] सबसे प्रथम महीसुरो की चरण-वन्दना करके बाद म उन्होने दुष्टो को भी प्रणाम किया है। जिनका शील उन्होने यह बताया है कि *जे बिनु काज दाहिनेहु बाँएँ*। इसमे उदारता का आभास अवश्य है, किन्तु इसके मर्म म जो व्यग है उसमे अपमान की भावना ही अधिक है। 'दुर्जन प्रथम वन्देत्' की नीति की भाँति इसमें भी उदारता की अपेक्षा भय और अपमान अधिक है। राम तथा राम के सेवको के अतिरिक्त मानस के अन्य पात्रो की ओर भी तुलसीदासजी का यही भाव रहा है। मानस के रूपक मे ही उन्होने '*काई कुमति कैकयी केरी*' कहकर कैकयी के प्रति जो भाव दिखाया है तथा रावणादि राक्षसो को जो स्थान दिया गया है उसी मे उनके कवि शील की इस भावना का सकेत मिलता है। मानस के प्रबन्ध म उन्होने अपनी इस भावना का पूर्ण निर्वाह किया है।

इस प्रसग मे सबसे पहिले राम कथा की भूमिका म जो शिव और नारद के प्रसग हैं, इनमे ही दोनो का जो उपहास किया गया है वह तुलसीदास के कवि-शील का परिचायक है। तुलसीदास ने यदि राम को परमब्रह्म माना है तो इसमे किसी को आपत्ति नही हो सकती। परमब्रह्म का स्वरूप तो एक ही है। उसका रूप और नाम आपको जो इष्ट हो वह मान सकते हैं। तुलसीदास का परमब्रह्म को राम मानना उतना ही उचित है, जितना शिव के भक्तो का परमब्रह्म को शिव मानना। किन्तु अपने इष्ट का महत्व बढ़ाने के लिए परमब्रह्म के किसी अन्य रूप का अनादर अथवा उपहास करना अत्यन्त अनुचित है। शिव सनातन हैं,

उनका कोई अवतार नही होता। विष्णु चाहे शिव के समान हो किन्तु राम तो विष्णु के अवतार हैं। विष्णु भी परब्रह्म नही, वरन् परमब्रह्म की शक्ति के एक रूप हैं। वे शिव के रुद्र रूप के समान हो सकते हैं जो विष्णु के समान ही परमब्रह्म की एक शक्ति के प्रतीक हैं। किन्तु वे परमशिव के समान नही हो सकते जो साक्षात् परमब्रह्म हैं। यह सत्य है कि तुलसीदास के भी पूर्व पुराणों मे विष्णु के प्रभुत्व की परम्परा बढ चली थी। इसका कारण देश की कुछ पतनमुखी वृत्तियाँ थी। उसी परम्परा के प्रभाव मे तुलसीदास ने भी शिव को राम का भक्त बनाकर अपने इष्ट की महिमा का अनुचित विधि से सवर्धन किया। मानस की भूमिका मे जो नारद के उपहास की कथा है उसको चाहे पौराणिक आधार प्राप्त हो फिर भी प्राप्त परम्पराओं का ग्रहण भी हमारी मनोवृत्ति का सूचक है। नारद को ज्ञान देने के लिए विष्णु भगवान ने उनके साथ जो कठोर व्यग किया है उसकी तुलना नारद के शाप से ही हो सकती है। शिव के रूप के कुछ विचित्रताओं को लेकर उनके उपहास की परम्परा भी कुछ वैष्णव पुराणो मे मिलती है। तुलसीदास ने उस परम्परा का उपयोग राम की महिमा के सवर्धन के लिए किया है। इसमे शिव के महिमामय रूप के गौरवपूर्ण पक्षो की उपेक्षा तो है ही साथ ही अपने इष्ट की महिमा के लिए दूसरे पात्रों के अपमान का अक्षम्य अपराध भी है। अयोध्या मे राम की बरात का सुन्दर वर्णन तुलसीदासजी ने किया है। राम के रूप पर अयोध्या के नर नारी मुग्ध हैं। वनवासियो को भी वे 'कोटि मनोज लजावन हारे' दिखाई पडते हैं। महादेव के 'जस दूलह तस बनी बराता' की उपहासमयी भूमिका से राम की महिमा और उनके रूप का वैभव कितना घट जाता है। यह उन्ही महादेव के रूप का उपहास है, जिनकी बरात चढने पर 'कुमार सभव' मे ओषधिप्रस्थ की नारियाँ यह कहती हैं कि 'ऐसा प्रेम और ऐसा पद पाने के लिए उमा का तप उचित ही था। इनकी दासी बनकर भी कोई स्त्री कृतार्थ हो सकती है। इनकी अकशायिनी बनने के सौभाग्य का तो कथन ही क्या।'[४४] शिव के जितने चित्र और उनकी जितनी मूर्तियाँ मिलती हैं, उन सब मे उनका रूप सुन्दर अकित किया जाता है। कालिदास ने राम और शिव दोनों का चित्रण समान आदर के साथ किया है। इस सम्बन्ध में उनकी भावना वैष्णव भक्तों और तुलसीदासजी जैसे वैष्णव कवियों की अपेक्षा अधिक सतुलित और शालीन है। हमे साहस पूर्वक इस कटु सत्य को स्वीकार करना होगा कि तुलसीदासजी ने इस

सम्बन्ध मे कालिदास के समान शोभन रूप मे कवि के शील का निर्वाह नहीं किया है।

तुलसीदासजी ने एक शिव और नारद का ही अपमान तथा उपहास नहीं किया है। उन्होंने मानस के अन्य पात्रो के साथ भी इसी प्रकार की अशालीनता का व्यवहार किया है। उनके इस व्यवहार से दो क्षतियाँ हुई हैं। एक ओर तो कवि का शील अपनी नैतिक मर्यादा से च्युत हुआ है। दूसरी ओर राम का शील भी उस पराकाष्ठा पर अखण्डित नहीं रह सका है, जिसको रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के अनुरागी राम के चरित्र का सबसे बड़ा गौरव मानते हैं। अन्य पात्रो के साथ तुलसीदासजी के अन्यायपूर्ण और अशालीन व्यवहार के विवेचन के पूर्व शिव और नारद के उपहास के सबध म हिन्दी कवियो के विनोद सबन्धी दृष्टिकोण पर विचार कर लेना अप्रासगिक नहीं होगा। 'विनोद' जीवन और काव्य का पराग है, उससे मन प्रफुल्लित होता है। 'आमोद' शब्द के अर्थ मे जो श्लेष है वह भाषा का एक आकस्मिक सयोग नहीं, वरन् एक रहस्यपूर्ण विधान है। 'व्यग' विनोद की शैली है। साहित्य और काव्य मे विनोद के कई रूप प्रचलित हैं। यहाँ उनमे से एक अत्यन्त प्रचलित रूप का विवेचन ही अभीष्ट है। मनुष्य की विनोद वृत्ति का एक साधारण, किन्तु दुष्ट, रूप यह है कि वह दूसरे की आपत्ति और अपमान पूर्ण स्थिति पर हँसता है। केले के छिलके पर रास्ता चलते हुए किसी राहगीर का पैर फिसल जाता है तो हम उसकी विडम्बना पर हँसते हैं। पाण्डव सभा मे स्फटिक के सरोवर मे उतरते हुए दुर्योधन को देखकर द्रौपदी ने हँसकर व्यग किया था कि 'अधो के अधे ही होते हैं'। दुर्योधन के द्वारा दु शासन के हाथो द्रौपदी के अपमान से यह स्पष्ट है कि जिसे लक्ष्य बनाकर यह विनोद किया जाता है वह कितना कटु और विपाक्त है। खेद की बात है कि समाज और साहित्य मे विनोद का यही रूप अधिक प्रचलित है। हम दूसरे के अपमान और उसकी पीडा पर हँसते हैं। विनोद का यह रूप अभद्र और अशिव है, क्योंकि यह दूसरे के गौरव के अनुकूल नहीं है। विनोद का उत्तम रूप वही है जिसमें किसी का अपमान और गौरव न हो। जहाँ तक हो सके उसमे दूसरो के गौरव और मान की वृद्धि हो। इस दृष्टि से शिव और नारद, विशेषकर शिव का जो उपहास मानस और हिन्दी काव्य मे मिलता है, वह व्यक्तित्व के मान की दृष्टि से अशिव काव्य का ही

उदाहरण है। साथ ही वह साहित्य मे विनोद का एक निकृष्ट रूप भी प्रस्तुत करता है।

रामचरितमानस म विनाद के रूप म ही दूसरो के व्यक्तित्व का अनादर और उपहास नही है। अन्यथा भी अनेक रूपो और परिस्थितिया म तुलसीदासजी ने राम से भिन्न और राम के विराधी पात्रो का अपमान तथा उपहास किया है। रामचरितमानस क आरम्भ म शिव पार्वती का जा प्रसग दिया है उसस राम की महिमा भले ही बढती हो किन्तु कालिदास ने जगत पितरौ कहकर जिनकी वन्दना की है उन पार्वती और महेश्वर की महिमा राम की तुलना म हीन हा जाती है। 'श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' कहकर स्वय तुलसीदासजी न मानस क मगलाचरण म जिनकी वन्दना की है उन उमा महेश्वर क गौरव की समुचित रक्षा तुलसीदासजी नही कर सके। "तुलसीदासजी के प्रशसक उनको शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के तत्कालीन विरोध म सामजस्य प्रस्तुत करने का श्रेय देत हैं। शिव द्रोही ममदास कहावा' आदि कुछ पक्तिया इस धारणा का प्रमाण और आधार मानी जाती हैं। इन पक्तियो मे समन्वय की कुछ भावना नि सन्देह है। किन्तु ये पक्तिया आजकल के समानतावादी नेताओ के आप्त वाक्यो की भाँति ही हैं जो तत्वत सत्य हाते हुए भी व्यवहार मे अप्रमाणित हैं। इसी प्रकार राम की तुलना म जिस रूप म *तुलसीदासजी ने शिव का चित्रण किया है उसम उस समन्वय की भावना का* यथोचित निर्वाह नही हा सका है, इसका सकेत मानस की कुछ प्रसिद्ध पक्तियो मे मिलता है। शिव को राम का भक्त बनाकर आरम्भ में ही तुलसीदासजी ने उस समन्वय के मूल को ही दुर्बल बना दिया है। यद्यपि मानस की यह भी धारणा है कि 'राम ते अधिक राम का दासा' किन्तु सत्य यह है कि मानस म सर्वत्र राम का ही प्रभुत्व व्याप्त है। दासो की महिमा दास्य भक्ति को आकर्षक बनाने का एक छल है। वह भक्ति परम्परा का एक उपचार मात्र है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था अथवा कागजी शासन विधि मे कर्मचारियों को स्वामी अथवा शासक कहना एक शाब्दिक उपचार मात्र है। यदि राम के दास राम से अधिक हैं, तो किसी भक्त महाकवि ने उनकी महिमा का ऐसा वर्णन प्रस्तुत क्यो नही किया जिसमे भगवान-भक्त की सेवा मे खडे हुए दिखाई देते ? कृष्ण का राधा के पाँव पलोटना तो भक्ति मे शृगार की छाया के कारण शृगार के महामान और मनुहार का भ्रम उत्पन्न कर सकता है। यदि भक्त भगवान से बडा है, तो राम

को शिव का भक्त बनाकर राम की महिमा का दिग्दर्शन किया जा सकता था। रामेश्वरम् का मंदिर तो इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि राम ने शिव की अर्चना की थी किन्तु सनातन परमब्रह्म शिव विष्णु के एक ऐतिहासिक अवतार को अपना आराध्य मानते थे यह वैष्णव पुराणों और काव्यों की एक लोक-प्रवचना है। पौराणिक शैली और प्रभाव में रचित होने के कारण रामचरितमानस भी कुछ वैष्णव पुराणों की भाँति इस प्रवचना का अपराधी है। आरम्भ के प्रसंग की भाँति रामचरितमानस में अन्यत्र भी शिव के जो और प्रसंग आए हैं वे भी शिव के गौरव के अनुकूल नहीं हैं। उन सब की व्यवस्था राम की महिमा के ही अनुकूल है। राम के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र का महत्व रामचरितमानस में साध्य कोटि का नहीं है। सभी पात्र राम की महिमा के साधन हैं। किसी न किसी रूप में साध्य कोटि को पाकर ही प्रत्येक व्यक्तित्व कृतार्थ हो सकता है। योग और वेदान्त में भी व्यक्ति की आत्मा परम साध्य है। ऐकेश्वरवाद का यही दोष है कि ईश्वर की सार्वभौम प्रभुता में जीव एक साधन मात्र रह जाता है।

शिव के अतिरिक्त रामचरितमानस के अन्य पात्रों की ओर तुलसीदासजी का अधिक आदरभाव नहीं है। जिनके प्रति उनका थोड़ा बहुत आदर है वे सब राम के भक्त हैं। इसलिए तुलसीदासजी की उन पर कृपा है। भरत, कौशल्या, दशरथ, हनुमान सुग्रीव, विभीषण आदि उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। निषादराज, शबरी, जटायु आदि भी स्मरणीय हैं। इनके अतिरिक्त जो पात्र राम के विरोध में हैं, उन्हें विरोधी भाव से भक्त बताते हुए भी तुलसीदास ने उनके प्रति तनिक भी आदर भाव नहीं दिखाया। इतना ही नहीं उन्होंने स्पष्ट रूप से इन सबका अपमान और उपहास किया है। इनमें परशुराम जैसे महाप्रतापी और ब्रह्मचारी महात्मा तथा बालि और रावण जैसे महारथी सम्मिलित हैं। परशुराम भी विष्णु के अवतार थे। वर्ण से ब्राह्मण और पूज्य थे। अतः धनुष यज्ञ के प्रसंग में उनका अपमान और उपहास रामचरितमानस का एक अत्यन्त अशोभन प्रसंग है। परशुराम शिव के भक्त थे, और सीतास्वयंवर के प्रसंग में भंग होने वाला धनुष भी शिव का ही धनुष था। उसे उठाने में असमर्थ रहने वाले प्रतापी महारथियों में लंकापति रावण भी थे, जो शिव के परमभक्त थे। हिमाचल पर उन्होंने शिव की उपासना के लिए जो कठिन तपस्या की थी उसका उज्ज्वल प्रमाण रावणह्रद आज भी कैलाश पर्वत के चरणों में लहराता है। रामचन्द्र महाबली थे और उन्होंने उस

शिव धनुष को चढाकर तोड दिया था, यह एक ऐतिहासिक तथ्य हो सकता है, किन्तु इस प्रसग मे तुलसीदासजी ने अन्य महारथियो का, विशेषत शिव के भक्तो का, जो अपमान और उपहास किया है वह काव्य के शील और साहित्य के शिष्टाचार के लिए गौरव की बात नही। परशुरामजी स्वभाव से उग्र और क्रोधी थे, किन्तु साथ ही समाज मे उनका आदर भी बहुत था। केशवदासजी ने रामचन्द्रिका मे जहाँ 'तारेउ रा यह कहन ही समुझेउ रावण राज' कहकर परशुराम के क्रोध की पराकाष्ठा का सकेत किया है वहाँ परशुराम की ओर उचित आदरपूर्णभाव भी रखा है। राम के विनम्र व्यवहार द्वारा अन्त मे वामदेव के समादर पूर्ण वचन के द्वारा केशवदास ने परशुराम के क्रोध का समाधान किया है—'एकै तुम दोऊ और न कोऊ रघुनन्दन निरदोषो'। केशवदास के राम, तुलसी के राम की भाँति लक्ष्मण के द्वारा परशुराम के अपमान पर हँसते नही हैं। जब लक्ष्मण परशुराम की खिल्ली उडाते हैं, तब तुलसीदास के राम मन्द मन्द मुस्कराते हैं। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम का यह व्यवहार शील की मर्यादा के कहाँ तक अनुकूल है यह राम के चरित्र मे शील की पराकष्ठा मानने वाले आलोचको के लिए विचारणीय है। तुलसी के इन राम का शील वाल्मीकि के राम से तुलना करने योग्य है। धनुष यज्ञ के प्रसग मे राम की महिमा बढाने के लिए तुलसीदास जी ने रावणादि महारथियो का उपहास किया है, वह भी उन महारथियो की प्रतिष्ठा देखते हुए अशालीन है। इस प्रसग मे तुलसीदास जी ने जो अतिरजना की है वह अशोभन होने के साथ-साथ असत्य भी है। तुलसीदासजी ने लिखा है कि 'भूप सहस दस एक हि बारा, लगे उठावन टरहि न टारा'। यह विदित है कि धनुष यज्ञ सीता के स्वयवर के लिए हो रहा था। जो शिव के धनुष को उठाकर चढा देता उसके साथ सीता का विवाह हो जाता। तब स्वयवर के विधान के अनुसार दस हजार राजा एक साथ उस धनुष को उठाने की अनुमति कैसे पा सकते थे? यदि वे धनुष चढाने मे सफल हो जाते, तो क्या उन दस हजार राजाओ के साथ एक साथ सीता का विवाह होता? तुलसीदासजी की इस असत्य और अतिरजित कल्पना के अनौचित्य की ओर किसी भी आलोचक का ध्यान नही गया। सत्य यह है कि राम की महिमा के एक लक्ष्य की ओर तुलसीदासजी की दृष्टि इतनी एकाग्र रही है कि उसके कारण पैदा होने वाले अनौचित्यो की ओर उनका ध्यान बिल्कुल नहीं रहा और रामचरितमानस के प्रशसक तथा आलोचक तुलसी-

महाभारत के प्रसंग में ही भारवि के किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के चर ने दुर्योधन की शासन क्रिया का जो गौरवपूर्ण वर्णन किया है वह भारवि की 'कृतविद्विपादर' वृत्ति का उत्तम उदाहरण है। विरोधी पात्रों के प्रति अपमान और उपहास की जितनी शोचनीय भावना तुलसीदासजी के रामचरितमानस में मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

अध्याय ४२

शिव और शक्ति

पिछले एक अध्याय म हमने शिव और शिवम् के साम्य का विवेचन करते हुए शिव के पौराणिक रूप और तान्त्रिक स्वरूप के अनुरूप शिवम् अर्थात जीवन के मगल के निरूपण करने का प्रयत्न किया है। शिव के पौराणिक रूप के विविध उपकरणो के तात्पर्य का अनुसधान करने पर यह विदित होता है कि शिव का पौराणिक रूप जीवन के मगल का साकार रूप है। उनके इस रूप के सभी उपकरण लोक मगल के विविध पक्षो के प्रतीक हैं। शिव और शिवम् के विवेचन के प्रसग मे इन प्रतीको की व्याख्या की जा चुकी है। शिव के योगीरूप तप और समाधि को मगल के मूल साधन के रूप मे प्रस्तुत करता है। इनके लिए जो त्याग आदि अपेक्षित हैं वे भी शिव के योगि रूप म प्रत्यक्ष हैं। सर्प और कठ का विष अनीति के समाधान के लिए अपेक्षित दो दृष्टिकाणो के सूचक हैं। त्रिशूल भी अनीति के उपचार का एक तृतीय और उग्र मार्ग है। शिव का तृतीय नेत्र तप और ज्ञान के उस तेज का सूचक है जो काम आदि प्राकृतिक, विकारो का मर्यादित कर उनका सस्कार करता है। शिव के मस्तक की चन्द्रकला और उनके जटाजूट की गगा की धारा जीवन के सृजनात्मक सत्य का सकेत करती हैं, जो मगल का मूल मर्म है। शिव के रूप के अन्य उपकरण जीवन के उन तत्वों के प्रतीक हैं जो इस सृजनात्मक मगल के उपकारक हैं। शैव परम्परा के अनुसार सृजनात्मक जीवन ही मगल का मूल रूप है। इसी सृजन की महिमा के कारण शैव परम्परा मे शक्ति की महिमा शिव से भी अधिक है। शक्ति शिव के स्वरूप की सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही है। तत्रो के अनुसार शिव आत्मा है। वे वेदान्त के ब्रह्म के समान परम चैतन्य और परम आनन्द स्वरूप हैं। शैव तत्र और वेदान्त मे एक प्रमुख भेद यह है कि तत्रों की शक्ति वेदान्त की माया के समान मिथ्या नहीं है। आगे चलकर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव शैव दर्शन पर भी हुआ, किन्तु जीवन के इस सृजनात्मक सत्य को मिथ्या मानना शैव परम्परा का मूल मन्तव्य नही है। शिव के पौराणिक रूप में भी जीवन का सृजनात्मक सत्य चरितार्थ हुआ है। शैव तत्रों मे भी सृजनात्मक शक्ति

के बिना शिव को शव तुल्य और स्थाणु माना जाता है। अपनी अभिन्न शक्ति की सृजनात्मक परम्परा के वैभव म ही शिव का आध्यात्मिक सत्य चरितार्थ होता है। *शिव के आध्यात्मिक स्वरूप का उज्ज्वल प्रकाश शक्ति की सप्तरग सृष्टि म खिलता है।*

यही सृजन मगल का मूर्त और साक्षात् रूप है। यही सृजन, सस्कृति, कला और काव्य का मूल सत्य है। *आत्मा की प्रतिभा के आलोक मे सृजनात्मक परम्परा मे* साकार होकर ही जीवन का सास्कृतिक और कलात्मक सत्य सफल होता है। पुराण और तन्त्रो के आत्मस्वरूप शिव शक्ति के साथ साम्य मे ही पूर्ण होते हैं। शिव और *शक्ति का यह साम्य तत्रो का निगूढ रहस्य है। यही रहस्य सस्कृति और कला की* सृजनात्मक विभूति म भी ओत प्रोत होता है। सस्कृति और कला के सौन्दर्य और श्रेय दोनो मे इस साम्य की स्फूर्ति रहती है। अध्यात्म और दर्शन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति मे आत्मा का ही प्रकाश मुख्य होता है। व्यावहारिक जीवन म बहिर्मुख विमर्श अथवा सृजन की प्रमुखता रहती है। किन्तु इन स्थितियो म दोनो ही एकागी रहते हैं। सृजन के साम्य से युक्त होने पर अन्तर्मुखी अध्यात्म पूर्ण एव सफल होता है। इसी प्रकार अध्यात्म के प्रकाश से युक्त होने पर बहिर्मुख सृजन आनन्द का स्रोत बनता है। सस्कृति और कला स्वरूप से ही सृजनात्मक हैं अत उनको तत्रो की शक्ति से ही प्रेरित मानना होगा। तत्रो की यह शक्ति सृजनात्मक है। सृजन ही सौन्दर्य है अत तत्रो की शक्ति का नाम कला और सुन्दरी है। शैव तत्र के अनुसार यह सृजनात्मक शक्ति आत्म स्वरूप शिव से अभिन्न है। आत्मा के प्रकाश से ही सृजन के रूपो मे सौन्दर्य खिलता है। सस्कृति और कला का सृजन भी आत्मा की प्रेरणा से ही पूर्ण होता है। सस्कृति और कला के रूप ही आत्मा के प्रकाश से ही आलोकित होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से पृथिवी पर नाना **वर्ण के पुष्प खिलते है तथा सध्या के आकाश में नाना वर्ण के मेघ खिलते है, उसी प्रकार सस्कृति और कला के रूप आत्मिक प्रकाश से ही खिलते हैं।** समात्मभाव के रूप मे आत्मा का यह प्रकाश सस्कृति और कला को एक मौलिक प्रेरणा प्रदान करता है। सस्कृति के सजीव और साक्षात रूपो मे जो भाव इनके उपादान बनते हैं व भी आत्मा के सूर्य की किरणो के समान है। शुद्ध रूपात्मक कलाओ म ये भाव कला के उपादान नही बनते किन्तु इन रूपो की रचना, इनके आस्वादन, प्रदर्शन आदि म आत्मा के भाव की अपेक्षा होती है। प्राकृतिक व्यक्तिवाद के

आधार पर न कला की रचना सभव है और न उसका आस्वादन अथवा प्रदर्शन सभव हो सकता है। शुद्ध रूपात्मक कलाओ के अतिरिक्त काव्य, सगीत आदि भावमय कलाओ मे आत्मा के अनुभाव ही सौन्दर्य के रूपो मे साकार होते हैं। काव्य तथा अन्य कलाओ मे जो भाव कला की महनीय और स्थायी विभूति बने हैं वे आत्मा के ही भाव हैं। प्रकृति के स्वार्थ, अहकार, अतिचार आदि से परे होने के कारण ही ये भाव अदीन और उदात्त हैं। भावो के वैभव के साथ-साथ भावमयी कलाओ मे सौन्दर्य भी उत्कृष्ट रूपो मे निखरता है। जीवन के भावो मे सजल मेघो से ही आत्मा के सूर्य का आलोक सौन्दर्य के रजित रूप खिलाता है। रूप के सौन्दर्य को अधिक महत्व देने वाले कलाकार भाव को गौण मानते रहे हैं। कुछ रचनाओ को अपनी भाव-सम्पत्ति के अनुरूप सौन्दर्य का रूप नही मिल पाता किन्तु कला और काव्य की उत्तम और अमर रचनायें वे ही ठहरती हैं जिनमे शिव और शक्ति के साम्य की भाँति भाव और रूप का उच्चतम साम्य होता है। शिव के मस्तक पर स्थित चन्द्रकला के अनुरूप साधना के सर्वोच्च शिखर पर इस साम्य की प्रतिष्ठा अभीष्ट है।

कला और काव्य की रचना कलाकार अथवा कवि की सृजनात्मक शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। इस शक्ति को कुछ लोग प्रतिभा भी कहते हैं। 'प्रतिभा' शक्ति का आन्तरिक और आत्मिक रूप है। प्रतिभा की भूमि मे ही सृजन के बीज अकुरित होते हैं। प्रतिभा के तेज और शक्ति के ओज से ही ये अकुर सुन्दर कलाकृतियो मे फलते-फूलते हैं। प्रतिभा चाहे जन्म-जात होती हो किन्तु साधना के द्वारा उसका सस्कार होता है। प्रतिभा का यह सस्कार एक ओर जीवन के अनेक विषयो की सम्पत्ति मे फलित होता है तथा दूसरी ओर आत्मा के स्वरूप के विस्तार से ही सम्पन्न होता है। प्रतिभा का यह दोनो ओर विकास शिव और शक्ति के समान है। शिव और शक्ति के समान प्रतिभा के ये दोनो पक्ष अभिन्न हैं। जिस प्रकार सृजनात्मक रूप मे शिव ही शक्ति बन जाते हैं, उसी प्रकार सृजन की ओर अभिमुख होकर प्रतिभा ही कलात्मक शक्ति बन जाती है। शिव और शक्ति के स्वरूप की भाँति प्रतिभा के आन्तरिक आलोक और उसकी सृजनात्मक स्फूर्ति का विवेक करना कठिन है। साधना के अन्य उपकरण रचना के साधन हैं। जीवन के अनुभवो मे उपार्जित होकर वे रचना को सम्पन्न बनाते हैं किन्तु प्रतिभा का मूल स्रोत आत्मा के उदात्त भाव मे ही है। वही कलाकृति को अनुपम श्रेष्ठता और अद्भुत सौन्दर्य

प्रदान करता है, जिनका विश्लेषण करना कठिन है। विश्व की श्रेष्ठ कला-कृतियों की श्रेष्ठता का रहस्यमय स्रोत आत्मा के इसी अनिर्वचनीय भाव में निहित है। व्यक्तित्व, शैली कुशलता आदि इस अनिर्वचनीय भाव के निर्वचन के प्रयास हैं। साम्य का स्रोत होने के कारण आत्मा का भाव शिवम् अथवा मंगल का मूल आधार है। इसीलिए तंत्रों में शिव को आत्मा कहा गया है। वेदान्त दर्शन में भी आत्म-स्वरूप ब्रह्म को शिव माना गया है (शान्त शिव अद्वैत ब्रह्म)। आत्मा आलोकमय है, अतः प्रतिभा का आत्म भाव अपने सहज रूप में आलोक का विस्तार करता है। सूर्य के समान आलोक दान प्रतिभा का सहज धर्म है। प्रतिभा से प्रेरित कला कृतियाँ अनुरागियों के मन के अन्तरिक्ष के अनेक धूमिल कुहरों को आलोकित कर देती हैं। विषय और उद्देश्य के रूप में आलोक-दान को बहुत कम रचनाओं में अपनाया गया है। किन्तु भाव के अनुपम और उज्ज्वल स्वरूप से सभी श्रेष्ठ रचनायें आलोक का विस्तार करती हैं। इन कृतियों में प्रतिभा का आत्मभाव प्रकाशित होने के कारण आलोक दान के बाधक तत्वों का स्थान नहीं रहता। आग्रह के रूप में विश्वास भी प्रतिभा के इस आत्मभाव के अनुकूल नहीं है। एक आलोक-मयी और उदार आस्था से आलोक का कोई विरोध नहीं है। प्रतिभा के आत्मभाव में दूसरों के तिरस्कार, अपमान, उपहास आदि आलोक के बाधक तत्वों के लिए अवकाश नहीं रहता। श्रेष्ठ रचनाओं में ये अपवाद के रूप में ही मिल सकेंगे। उज्ज्वल सौन्दर्य का प्रसार ही कलाधर के समान उत्तम कलाकृतियों का लक्षण है। शिव-रूप आत्मा का आलोक ही इन कला-कृतियों को उज्ज्वल, उदात्त और उदार बनाता है। शक्ति का सौन्दर्य कला की सृजनात्मकता में सफल और साकार होता है। सृजनात्मक परम्परा की प्रेरणा बनकर कला की यह शक्ति एक अमृत परम्परा बन जाती है। सांस्कृतिक जीवन में यह परम्परा अधिक सफल होती है कला की रचनाओं में सृजनात्मक शक्ति तो सहज रूप में साकार होती है। किन्तु सृजनात्मक परम्परा की सफलता का निर्वाह इनमें प्रायः कठिन होता है।

प्रकृति की अतिरंजना से लेकर दूसरों के व्यक्तित्व के अनादर, अपमान और उपहास तक की जिन छः भावनाओं का पीछे वर्णन किया गया है, उन्हें हम सत्य और शिव काव्य का षड्रिपु कह सकते हैं। जिस प्रकार धर्म और नीति में विकारों के षड्रिपु मनुष्य के अन्यथा श्रेष्ठ व्यक्तित्व को भी हीन बना देते हैं उसी प्रकार यह काव्य के षड्रिपु भी अन्यथा श्रेष्ठ काव्य को भी हीन बना देते हैं। ये सभी

भावनायें मोह, अन्धविश्वास आदि उत्पन्न करने के कारण स्वच्छ विवेक की बाधक हैं। स्वच्छ विवेक सत्य का मार्ग दर्शक है। सत्य के आलोक मे ही जीवन का मगलमय लक्ष्य भी स्पष्ट दिखाई देता है तथा उसकी साधना की प्रेरणा मिलती है। स्वच्छ विवेक का बाधक होने के कारण उक्त भावनाओ से प्रभावित काव्य सत्य काव्य नही कहा जा सकता। सत्य के बिना शिव निराधार हैं। अथवा यो कहा जा सकता है कि शिव सत्य का सर्वोत्तम रूप है। सृजन, आत्मदान तथा दूसरे के व्यक्तित्व के गौरव, उसकी स्वतन्त्रता और उसके विवेक का समादर ही शिवम् है। उक्त भावनायें शिवम् की इस मर्यादा के विपरीत हैं। अत इनसे युक्त काव्य सत्य के साथ साथ शिव के भी विपरीत है। यदि ऐसे काव्य को असत्य और अशिव कहा जाये तो यह निर्णय कठोर भले ही हो किन्तु अनुचित नही है। रामचरितमानस जहाँ एक ओर हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है वहाँ दूसरी ओर इन *भावनाओ से सबसे अधिक आक्रान्त है। राम के प्रति एक अन्ध-श्रद्धा तथा कुछ* धार्मिक धारणाओ मे अन्धविश्वास का सन्तोष उत्पन्न करने के अतिरिक्त चेतना के जागरण, विवेक के उत्कर्ष और सामाजिक कल्याण मे रामचरितमानस का कितना योग रहा है यह एक निष्पक्ष अनुसधान का विषय है। भरत की भ्रातृ सेवा और सीता की पति-निष्ठा दो ही रामचरितमानस के मुख्य सन्देश हैं। इन दोनो मे ही अनुजो और स्त्रियो के लिए बडो के प्रति अतर्कित श्रद्धा और सेवा के अतिरिक्त जागरण और विकास का कोई सन्देश नही है। सतति के निर्माण और विकास में सृजनात्मक आत्मदान का भावयोग शिव का मूल तत्व है। आत्मदान का यह सृजनात्मक भावयोग ही जीवन और समाज के सम्पन्न और समृद्ध मगल के विविध अगो और रूपो की अमृत परम्परा मे साकार होता है। रामचरितमानस में ही नहीं भारतीय साहित्य के अधिकाश काव्यो में शिवम् के इस रूप का अभाव है।

सवच्छ, विवेक तथा गौरव और स्वातन्त्र्य के सम्मान के साथ साथ जीवन की एक जागरण और उत्कर्ष शील प्रेरणा तथा उसकी सृजनात्मक परम्परा जीवन के शिव की सजीव और सक्रिय विधि है। इसी के सुन्दर समाधान के द्वारा शिव-काव्य का निर्माण होता है। अधिकाश सस्कृत और हिन्दी के काव्यो मे प्रकृति के दृश्यो और जीवन की रसमय स्थितियो का सुन्दर वर्णन तो बहुत मिलता है किन्तु शिवम् के इस रूप का समावेश उनमे बहुत कम है। जहाँ विवेक का काव्य मे आधान करने के लिए प्रसाद गुण की आवश्यकता है वहाँ शिवम् के इस रूप के

आधान के लिए ओज गुण अपेक्षित है। इस प्रकार प्रसाद और ओज के समन्वय से शिव-काव्य का निर्माण हो सकता है। माधुर्य इसमे वर्जित नही है, किन्तु केवल माधुर्य इसके लिए पर्याप्त नही है। माधुर्य की अधिकता भी इसके लिए उपयुक्त नही है। 'माधुर्य' शृगार रस के अधिक अनुकूल है। जीवन मे दोनो का उचित स्थान है। किन्तु शिव-जीवन के ये ही सर्वस्व नही हैं। जिस प्रकार समाज मे शृगार के प्रति पुरुष की अधिक अनुरक्ति रही है उसी प्रकार कवियो और पाठको को काव्य मे माधुर्य से अधिक मोह रहा है। कालिदास, जयदेव, विद्यापति पन्त और प्रसाद की भाषा के लालित्य और माधुर्य पर रसिक लोग न्योछावर हो जाते हैं। माधुर्य का महत्व न मानने वालो को अरसिक कहा जा सकता है, किन्तु जीवन अथवा काव्य मे माधुर्य मे ही रत रहने वालो को नवाबो और नरेशो की भाँति विलासी कहा जा सकता है। कालिदास और रवीन्द्र के काव्यो में प्रसाद और माधुर्य का अच्छा समन्वय है, किन्तु दोनों के ही काव्य में ओज की न्यूनता है। दोनो के ही काव्यो मे जीवन के मधुर और मार्मिक रहस्यो के अनुपम चित्रण मिलते हैं किन्तु दोनो के ही काव्य मे जीवन की ओजमयी सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान नही है। सृजन की परम्परा ही रघुवश का मूल सूत्र होने के कारण रघुवशी युवराजो के वर्णन मे कुछ ओज का आभास अवश्य मिलता है किन्तु समूचे रघुवश मे कालिदास की शृगार और माधुर्य वृत्ति का ही अधिक प्रभाव है। मगलमयी और ओजस्वी सृजन परम्परा के महत्व की ओर कालिदास का ध्यान नही था। इसीलिए 'कुमार सभव' और 'शाकुन्तल' मे इसका अवकाश होने पर भी वे इसका उचित उपयोग नही कर सके। उपनिषदो के अध्यात्म और राजकुल की सुविधाओ के वातावरण मे पले होने के कारण रवीन्द्रनाथ का ध्यान भी इस ओर नही रहा। उनके गीतो मे सरस्वती के नूपुरो की झनकार की प्रतिध्वनि तो बहुत है, किन्तु उनकी वीणा का मन्द्र गभीर राग अधिक सुनाई नही पडता और महाकाली की प्रबल पदचाप तथा रुद्र के ताण्डव की तीव्र भगिमाय तो अत्यन्त दुर्लभ हैं। छायावाद का अधिकाश काव्य रीतिकाल की शृगारमयी भावना और रवीन्द्र की रहस्यात्मक शैली के प्रभाव मे लिखा गया है। अत उसमे माधुर्य और शृगार के अतिरिक्त और कुछ ढूढना कुसुमो मे मणियाँ ढूढने के समान है। युग की भावना के प्रभाव के कारण जयशकर प्रसाद भी अपने काव्य मे ओजस्वी परम्परा का कोई समृद्ध रूप नही दे सके। कामायनी के प्रारम्भ का तीन चौथाई भाग छायावाद

की परिचित माधुर्यमयी परम्परा मे है। पिछले कुछ सर्गो मे शैवागम की छाया मे अध्यात्म का उद्घाटन है। इन दोनो मे एक स्वाभाविक असगति है। यह असगति कामायनी का भी दोष है। शृगार और अध्यात्म की सगति के लिए साधना का जो सस्कार अपेक्षित है, वह कामायनी के मनु मे प्रकृति का आवेग प्रबल होने के कारण प्रतिष्ठित नही हो पाया है। सृजनात्मक परम्परा के रूप में न सही, किन्तु एक सामाजिक प्रेरणा के रूप में ओज और उत्कर्ष का आधान प्रसादजी के नाटकों में अधिक पुष्ट और सफल रूप में हुआ है। इसका कारण प्रसादजी के नाटकों की वह भाव-भूमि है जिसकी सस्कृति के अन्तर मे आन्दोलित होने वाले भूचालों ने हिन्दी के इस महाकवि की चेतना को सघर्ष, ओज और उत्कर्ष के सस्कार प्रदान किये। हिन्दी के अर्वाचीन कवि भी अधिकतर प्रेम और माधुर्य के गीत गा रहे हैं। छायावादी और अर्वाचीन युग की सध्या के क्षितिज पर दिनकर ही एक ऐसा नक्षत्र है जिसकी रसवन्ती' मे रीतिकाल और छायावाद का माधुर्य है, जिनके 'कुरुक्षेत्र' मे प्रमाद और ओज का समन्वय है, तथा जिसके 'रश्मिरथी' मे तीनो की एकत्र अन्विति है। यह ठीक है कि दिनकर किसी सृजनात्मक परम्परा की प्रसन्न और ओजस्वी प्रतिष्ठा नही कर सके किन्तु यह केवल कथानक की बात है। समाज मे इस सृजनात्मक परम्परा का विकास इतना कम हुआ कि शिव-कथा के अतिरिक्त ऐसे कथानक ही दुर्लभ हैं। किन्तु विवेक के जागरण तथा ओजस्वी निर्माण की प्रेरणाओ के तत्व दिनकर के काव्य मे प्रचुर मात्रा मे वर्तमान हैं। हर्ष की बात है कि स्वतनता के बाद अर्वाचीन कवियो मे भी इस चेतना के स्फुलिंग दिखाई देते हैं। आशा है किसी समय इनमे से ही कुछ स्फुलिंग अपनी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा पूर्णत विकसित होकर साहित्य और सस्कृति के आकाश मे ओज के मगल और सृजन के ओजस्वी सूर्यो का निर्माण करेंगे।

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शिव काव्य की यह ओजमयी और सृजनात्मक परम्परा एक ओर न शृगार और माधुर्य के विपरीत है और न दूसरी ओर काव्य के इतिहास मे विदित ओजस्वी काव्य के साथ एक रूप है। सृजन शिवम् का बीज है। प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही अर्थो मे शिवम् की इस सृजनात्मक भूमिका मे शृगार और माधुर्य के लिए पर्याप्त स्थान है। इतना अवश्य है कि यह शृगार रीतिकाल के काव्य का तथा अधिकाश सस्कृत काव्य का अतिरजित विलास नही है। शिव और पार्वती के परिणय तथा रति और लास्य के पूर्व दोनो

की तपस्या का यही रहस्य है। स्वस्थ शृंगार और रति के साथ जीवन के अन्य मंगलमय तत्वों का समन्वय ही प्रकृति और शृंगार को संस्कृति में अन्वित करता है। दूसरी ओर यह ओजस्वी परम्परा काव्य के विदित वीर रस से भिन्न है। वीर रस के विदित रूप में भाव की दृष्टि से शृंगार की रति की भांति ओज का आधार अवश्य है। किन्तु वह ओज प्रायः क्रोध का रूप ग्रहण कर लेता है। शत्रुता उसका सम्बल है। युद्ध इसका क्षेत्र है। वीरत्व का दंभ और प्रदर्शन तथा शत्रु का अपमान इसका धर्म है। ओजस्वी शिव काव्य में ये सभी तत्व आगन्तुक रूप में संभव हो सकते हैं। किन्तु वे उसके स्वरूप के मौलिक और आवश्यक उपादान नहीं हैं। ओजमयी सांस्कृतिक परम्परा का आधार शक्ति है। शक्ति का रूप बड़ा व्यापक है। शारीरिक बल, बौद्धिक विवेक, मानसिक स्फूर्ति, चेतना की सजगता, अध्यात्म की गौरवमयी उदारता आदि अनेक रूपों का इसमें समाहार है। शत्रुता के वीर दर्प की भांति यह शक्ति सापेक्ष नहीं है। यह अपने स्वरूप में ही साध्य है। सांस्कृतिक जीवन की मंगलमयी परम्परा में इसके जागरण और विकास का महत्व अपने आप में है। मनुष्य के सांस्कृतिक उत्कर्ष की प्रेरणा का यह एक बहुत बड़ा भाग है। आगमों में शक्ति को शिव का प्राण माना जाता है इसका यही तात्पर्य है कि यह शक्ति की साधना मंगलमयी संस्कृति का प्राण है। शक्ति के बिना जिस प्रकार शिव निर्जीव हैं, उसी प्रकार इस व्यापक शक्ति साधना के बिना संस्कृति और समाज भी निर्जीव है। यह शक्ति की ओजस्वी और मंगलमयी काव्य की प्रेरणाओं का स्रोत और लक्ष्य है।

इस शक्ति की साधना में ही नवोदित जीवन का उत्कर्ष और विकास पूर्णता प्राप्त करता है। यही शक्ति सामाजिक जीवन में लौकिक अभ्युदय तथा सामाजिक श्रेय की रक्षिका है। यही शक्ति आध्यात्मिक निःश्रेयस की साधना और सिद्धि है। यही शक्ति लोक और अध्यात्म की सेतु है। इसी शक्ति की साधना में आत्मदान का योग देकर गुरुजन अपने जीवन में शिवम् का साक्षात्कार कर सकते हैं। यह शक्ति अपने स्वरूप में सत्य, शिव और सुन्दर है। इसीलिए तंत्रों में इसे शैवी, शाम्भवी आदि तथा ललिता, सुन्दरी आदि नामों से अभिहित किया गया है। उदार होते हुए भी यह शक्ति अनीति के लिए अकरुण है। सजग और सचेतन होने के कारण अनीति के आतंक का उन्मूलन करना इस शक्ति का सहज धर्म है। यह शक्ति सांख्य और वेदान्त की आत्मा के समान एकांगी अध्यात्म की प्रतीक नहीं है।

यह जीवन और आत्मा का वह पूर्ण और समग्र रूप है, जिसमे जीवन के आधार और लक्ष्य-भूत समस्त तत्वो का समाहार है। महादेवीदुर्गा के स्वरूप की कल्पना मे शक्ति का यह पूर्ण और व्यापक रूप साकार हुआ है। सिंहवाहिनी, अनेक भुजावाली और अनेक अस्त्र धारण करने वाली भगवती के स्वरूप मे शक्ति के सभी रूपो का समाहार है। असुरो के संहार मे यह स्पष्ट है कि सामाजिक श्रेय और शान्ति तथा अध्यात्म दोनो की बाधक आसुरी अनीति का उन्मूलन शक्ति के पूर्ण रूप का एक प्रसिद्ध धर्म है। किन्तु साहित्य के विदित वीर रस की भांति रोष मे वीरत्व का प्रदर्शन और शत्रु का दलन इस शक्ति का सर्वस्व नही है। दुर्गा-सप्तशती मे शक्ति की विभूतियों का जो वर्णन है उनमे शक्ति के सांस्कृतिक और रचनात्मक रूपो की ही प्रधानता है। महादेवी के तीनो चरित्रो मे जो असुरदलन की प्रधानता दिखलाई देती है, वह उनके बाह्य चरित्र की दृष्टि से ही है। इसका कारण सामाजिक जीवन मे अनीति का आतक है। वस्तुत शक्ति का ध्वसात्मक रूप असुरो और अनाचारियो की अनर्गल अनीत का आगन्तुक फल है।

किन्तु आसुरी अनीति सामाजिक जीवन मे अनेक आपत्तियो और विक्षोभो का कारण है। अत जीवन और काव्य दोनो में व्यवहारिक दृष्टि से शक्ति के रचनात्मक रूप के साथ-साथ इस ध्वसात्मक रूप की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है। अनीति के प्रति उदासीन होकर ही प्राचीन भारत का उत्कृष्ट अध्यात्म असफल हुआ। ऋग्वेद मे इन्द्र के मन्त्रों मे अनीति के प्रति सजगता का प्राचीन प्रमाण हमारे इतिहास और परम्परा मे मिलता है। उसके बाद ब्राह्मण धर्म के स्वार्थमय और बाह्य आचारो मे तथा वेदान्त, जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के सीमित और एकागी अध्यात्म मे वह भावना मन्द हो गई। महाभारत मे द्रौपदी के चीरहरण के समय समस्त कुल वृद्धो की उदासीनता से यह स्पष्ट है कि अनीति के प्रति समाजिक उदासीनता और उसकी सहिष्णुता एकागी अध्यात्म के प्रभाव से उस समय तक काफी बढ चली थी। चाणक्य ने एक बार उस सजगता की शिखा को अपनी तेजस्विनी आत्मा की ज्वाला से पुन दीप्त किया था किन्तु चन्द्रगुप्त के वशधर अशोक के साम्राज्य के ऐतिहासिक दृष्टि से अनुकूल वातावरण में उठने वाली एकागी अध्यात्म को प्रतिकूल वात्याओं मे वह शिखा सदा के लिए अस्तगत हो गई है। इतिहास मे उसकी चिनगारियाँ सदा चमकती रहीं, किन्तु उनमें से कोई भी चिनगारी इतनी शक्ति प्राप्त न कर सकी कि वह हमारी सांस्कृतिक

भूमि को आलोक और ओज से सफल बनाने वाले सूर्य का रूप ग्रहण कर सकती। स्वाधीनता के इस जागरण काल मे हमारा नवीन उदय भी कुछ ऐसी एकागी भूमिका म हुआ है जैसी एकागी भूमिका मे बुद्ध और अशोक के युग में हमारा पतन आरम्भ हुआ था, जिसे कि अधिकाश लोग अपना अभ्युदय मानत हैं। इस नवीन युग के विधाता गान्धी में बुद्ध की आत्मा और अशोक की प्रभुता दोनो का एकत्र सयोग है। गाधीजी बुद्ध के समान साधु थे और दूसरी ओर राजनीतिक नता होने के नात उनका प्रभाव अशाक क समान था। उनके जीवन काल म उनक अहिंसात्मक आन्दोलन की जागृति द्वितीय महायुद्ध के बाद की अतर्राष्ट्रीय स्थिति तथा अगरेजो की दूरदर्शिता के कारण भारत को जो स्वतन्तता प्राप्त हुई है, उसके कारण एकागी अध्यात्म और अहिंसा की भ्रामक नीति को बहुत बल मिला है। यदि बुद्ध और अशोक के प्रभाव की भाति गाधीजी का प्रभाव दो हजार वर्ष तक न भी रहा तो भी कई शताब्दियो तक वह अवश्य रहगा। किसी आन्तरिक जागरण और बाहरी आपत्ति स सचेत होकर ही युगा स भ्रा त भारतवासी जीवन की समग्रता क स्वस्थ समर्थ और सुन्दर रूप को पहिचानेंगे। (आज चीनी आक्रमण न जागरण का वह अवसर उपस्थित कर दिया है)।

कि तु अभी तक ढाई हजार वर्ष से हमारा सास्कृतिक वातावरण इतना भ्रान्त है कि हमारे देश और साहित्य के इतिहास म कोई भी नेता विचारक अथवा कवि जीवन के इस पूर्ण और जाग्रत रूप की कल्पना भी नही कर सका। इसीलिए हमारे समस्त साहित्य म इसको प्रतिष्ठा करने वाली कोई कृति उपलब्ध नही होती। भारतीय काव्य तो काम सूत्र और काव्य शास्त्र के प्रभाव के कारण माधुर्य और शृगार मे ही अधिक अनुरक्त रहा। वीर रस के जा काव्य अथवा नाटक मिलत हैं उनमे व्यक्तियो के वीरत्व का अतिरजित वर्णन अधिक है, समाज क सास्कृतिक कल्याण की दृष्टि से शक्ति साधना की सृजनात्मक परम्परा का सकेत उनम कही नही मिलता। जिस प्रकार बुद्ध और अशोक के बीच मे चाणक्य की चिन्ता और साधना के रूप मे सास्कृतिक जीवन की समवन और सजग भूमिका एक बार उद्घाटित हुई थी उसी प्रकार चाणक्य के चरित्र की पीठिका म ही एक बार आधुनिक युग म जयशकरप्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में उसका आभास फिर दिखाई दिया है। स्कन्दगुप्त मे भी उसी की प्रतिध्वनि है। प्रसाद के नाटको क अतिरिक्त सास्कृतिक जागरण की ओजमयी कृतियाँ भारतीय साहित्य म ढूँढे भी

नही मिलती। छायावादी युग की अस्पष्ट, अमूर्त किन्तु निम्न शृगारिकता के प्रभाव के कारण जयशकरप्रसाद की 'हिमाद्रि तुग शृग' से पुकारने वाली स्वयप्रभा और समुज्ज्वला भारती' अन्य आधुनिक कवियो को प्रभावित नही कर सकी। डॉ० फ्रायड के अचेतन मनोविज्ञान के प्रभाव से सचेतन होकर हमारे अधिकाश युवक कवियो की कुण्ठित वासना शृगार के ही गीत गाकर अपने जीवन की व्यर्थताओ का भुलाती रही है। जयशकरप्रसाद के नाटको का ओजस्वी स्वर केवल दिनकर के काव्या मे सुनाई दिया। प्रसाद के नाटक और दिनकर के काव्यों के अतिरिक्त हमारे समस्त साहित्य मे सास्कृतिक और सामाजिक जागरण की ओजस्वी कृतिया दुर्लभ हैं। सस्कृत काव्य म तो वीर रस बहुत कम है। कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, बाण आदि म शृगार और करुण की ही प्रधानता है। हिन्दी के इतिहास म जो वीर काव्य मिलता है उसमे व्यक्ति के वीरत्व की अतिरजित प्रशसा अधिक है। सामाजिक जागरण और सास्कृतिक उत्कर्ष की भूमिका मे शक्ति की सृजनात्मक परम्परा का अभाव सा ही है। इसके अतिरिक्त इस काव्य के रूप मे परुषा वृत्ति के आधार पर शब्दो का मुखर ओज ही अधिक है, भाव का गम्भीर तेज कम है। वीर गाथा काल के काव्यो मे यही व्यक्तिवाद और मुखरता प्रधान है। भूषण का काव्य रीतिकाल के लिए अपवाद होते हुए भी उसी परम्परा मे है। आधुनिक युग के वीर-रस प्रधान महाकाव्य तथा राष्ट्रीय जागरण की कविताओ मे भी यही मुखरता अधिक है। वैखरी की मुखरता आत्मिक दुर्बलता की प्रतिक्रिया है, यह मनोविज्ञान का एक सरल सत्य है। पश्यन्ती और मध्यमा की भूमि मे सूक्ष्म, गभीर और आन्तरिक ओज का अन्तर्निहित सार ही सास्कृतिक शक्ति-काव्य को प्राण और रूप प्रदान कर उसे पराशक्ति के पीठ पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

अध्याय ४३

शिवम् की सृजनात्मक परम्परा

आत्मदान की सृजनात्मक परम्परा शिव का सक्रिय रूप है। किन्तु इस परम्परा का निर्वाह सन्तति और परिवार तक ही सीमित नहीं है। आत्मभाव एक अनन्त वृत्ति है अतः उसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। व्यावहारिक सीमा की दृष्टि से भी सन्तति और परिवार केवल उसके आरम्भ बिन्दु हैं। इन बिन्दुओं पर केन्द्रित वृत्तों की परिधि क्षितिज के समान अनन्त और व्यापक है। अखिल विश्व और समस्त समाज इस परिधि के क्रोड में समा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से आत्मदान में एक घनिष्ठ आत्मीयता की भावना अपेक्षित है। अतः सन्तति और परिवार के क्षेत्र में यह सहज सम्भव है। किन्तु इस क्षेत्र के बाहर इस भावना का विस्तार शिव की पूर्णता का मार्ग है। सन्तति और परिवार से आरम्भ होने वाली सृजनात्मक परम्परा समाज में व्याप्त होकर व्यक्ति की पूर्णता और समाज के मंगल की विधि बनती है। आत्मभाव वह अनन्त विभूति है जो सरस्वती के कोष की भांति बांटने से बढ़ती है। वेदान्त के ब्रह्म की भांति वह अपने में पूर्ण होते हुये भी तथा अनेक बार पूर्ण रूप से प्रदान किये जाने पर भी पूर्ण ही बनी रहती है। पूर्ण अनन्त के स्वरूप की संज्ञा है। बांटने से उसकी प्रचुरता में न्यूनता नहीं आती। यदि यह कहें कि इसके विपरीत बांटने से उसकी समृद्धि होती है तो अनुपयुक्त न होगा। 'पूर्णता' प्रचुरता और समृद्धि की एक तात्विक और तार्किक मर्यादा है। व्यवहार और अनुभव की दृष्टि से विभाजन के द्वारा इस आत्म विभूति की समृद्धि जीवन का एक ऐसा तथ्य है, जो हमारी सांस्कृतिक क्रियाओं को सार्थकता प्रदान करता है। पूर्णता में समृद्धि की कल्पना से अपूर्णता का जो आभास होता है, वह बुद्धि के तर्क की विवशता है। दूसरी ओर उस पूर्णता में समृद्धि का अनुभव अनुभूति की वास्तविकता है। ब्रह्म के मूल अर्थ में वर्द्धनशीलता का भाव अनुभूति की इसी वास्तविकता का द्योतक है।

अस्तु आत्मदान के द्वारा आत्मविभूति की समृद्धि संस्कृति में शिव की जीवन में स्फूर्ति है। यह स्पष्ट है कि आत्मदान की जिस सृजनात्मक परम्परा में शिव की प्रतिष्ठा होती है उसका सांस्कृतिक क्षेत्र प्राकृतिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक

है। सृजन का प्राकृतिक क्षेत्र तो औरस सन्तति तक ही सीमित है। प्रत्येक मनुष्य के अस्तित्व मे किसी न किसी सूत्र और दिशा से सृजन का प्राकृतिक आधार प्रकृति-सिद्ध है। किन्तु सूर्य के प्रकाश की भाँति सृजन का प्राकृतिक सूत्र और उसकी दिशा एक ही हो सकती है। उस एक सूत्र के सम्बन्ध मे सृजन के प्राकृतिक पक्ष का महत्व भी कम नही है। प्रकृति सस्कृति का आधार है। आधार के स्वस्थ, सुदृढ और समृद्ध होने पर ही वह आधार सस्कृति के भव्य प्रसाद की भूमिका बन सकता है। केवल सृजन का औरस सम्बन्ध प्राकृतिक आत्मदान की एक मर्यादा है। जन्म के बाद आत्मदान का प्राकृतिक क्षेत्र भी सास्कृतिक क्षेत्र के समान ही मुक्त और व्यापक हो जाता है। किन्तु प्रकृति की अपनी एक मर्यादा है। प्रकृति स्वस्थ जीवन और सास्कृतिक निर्माण का आधार मात्र है। प्रकृति को एक स्वगत मर्यादा देकर विधाता ने सस्कृति के विस्तार के लिये अनन्त सम्भावनाओ का अवकाश दिया है। प्रकृति की आत्मगत मर्यादा जीवन के स्वास्थ्य, शान्ति आदि का अनन्त स्रोत है। एक ओर जहाँ प्रकृति की अपेक्षायें निरन्तर बनी रहती हैं, वहाँ दूसरी ओर उनकी तृप्ति की मर्यादा बहुत सीमित है। प्राकृतिक अपेक्षाओ के निरन्तर बने रहने के कारण सस्कृति की प्राकृतिक भूमिका जूट की जमीन की भाँति नित्य नई होती रहती है। प्रकृति के धर्मो की निरन्तरता मे पलने वाली यह नवीनता ही प्रकृति और सस्कृति का सेतु है। सस्कृति के मगल और सौन्दर्य में यह नवीनता का बीज ही आनन्द का अनन्त स्रोत है। मनोविज्ञान इस नवीनता को रुचि और आकर्षण का मुख्य सूत्र मानता है। कला और काव्य मे भी इस नवीनता को सौन्दर्य का स्रोत मानते हैं। माघ का 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया' तथा मतिराम का 'ज्यो ज्यो निहारियें नेरे, ह्वै नैनन त्यो त्यो खरी निकसै सी निकाई' और सुमित्रानन्दन पत का 'पुन पुन प्रिय पुन नवीन' सौन्दर्य मे नवीनता के रहस्य के उद्घाटन के ही प्रमाण हैं। वेद अखिल भारतीय वाङ्मय का आदि स्रोत है तथा भारतीय सस्कृति का मूल आधार है।

ओकार को वेद का सार माना जाता है। साहित्य और शास्त्र की परम्पराओ मे ब्रह्मा का आदि वचन होने के कारण ओकार को मगल मूलक माना जाता है। 'प्रणव' ओकार की प्राचीन सज्ञा है। ओकार को वेदों का सार माना जाता है। गीता मे 'प्रणव सर्ववेदेषु'[४५] कहकर भगवान ने वेद मे ओकार को अपनी विभूति बताया है। प्रणव की व्युत्पत्ति मे नवीनता का ही बीज है। प्रकर्ष रूप से नवीनता

के भाव प्र+नव की प्रणव संज्ञा है। प्रणव वेदों का ही क्या वाङ्मय की मुख्य विभूति है। माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार को चतुष्पाद माना गया है और ओंकार के समान आत्मा को भी चतुष्पाद मानकर उसके रूपों की व्याख्या की गई है। ओंकार की चतुर्थ मात्रा अथवा अमात्रिक चतुर्थ भाग आत्मा के तुरीय रूप और परावाक् के तुल्य है। उसकी प्रथम मात्रा कण्ठस्थानीया अकार बहिःप्रज्ञ आत्मा और वैखरी वाक् के तुल्य है। शेष दो मात्राओं को आत्मा तथा वाक के शेष दो रूपों के समकक्ष माना जा सकता है। ओंकार, वाक् और आत्मा की यह चतुष्पाद समानता निराधार ऊहा मात्र नहीं है। इसका एक सांस्कृतिक रहस्य है। ओंकार वाङ्मय का सार है। वाङ्मय वाक् रूप है। वाक् और वाङ्मय में चिदात्मा की यह अभिव्यक्ति होती है। आत्मा की विभूति ही वाक् रूप से स्फुटित होकर वाङ्मय में व्याप्त है। वाक् वाङ्मय और आत्मा नित्य होते हुये भी नित्य नवीन हैं। सनातन होते हुए भी उनकी नव नव रूपों में अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ब्रह्म के संवर्धन और पूर्ण की समृद्धि के समान ही है। यही अभिव्यक्ति जीवन और संस्कृति में नवीनता का सूत्र और आनन्द का स्रोत है। प्रकृति और सर्ग के क्रम की परिवर्तनमयी नवीनता एक बाह्य गति है। अपने एकान्त रूप में यह गति वस्तुतः नवीनता की संज्ञा की अधिकारिणी नहीं है। नवीनता वस्तु और प्रकृति के परिवर्तन का रूप अवश्य है किन्तु वह चेतना की अवगति में ही स्फुटित होता है। अतः प्रकृति और सर्ग के क्रम की नवीनता भी आत्मा की अवगति पर आश्रित है। किन्तु आत्मा के स्वरूप में इस नवीनता के भाव और अनुभूति दोनों का निधान है। समुद्र अथवा सरोवर की भाँति आत्मा के स्वरूप में निरन्तर नवीनता की लहरें स्पन्दित और आलोकित होती रहती हैं। लहरों के स्पन्दन और आलोकन समुद्र की भाँति ही आत्मा से अभिन्न हैं। शब्द—ब्रह्म आत्मा, और परावाक् के अद्वैतभाव का यही अभिप्राय है। अपने नित्य अखण्ड अद्वैतभाव में सर्वदा स्थित रहते हुए भी परावाक् और पराआत्मा अनायास ही नित्य नवीन रूपों में स्फुटित होती रहती है। रूपों की इस नवीनता के साथ साथ आत्मा के सनातन भाव में ही नवीनता का एक अखण्ड स्रोत प्रवाहित रहता है जिसे अनुभूति में ही जाना जा सकता है। वस्तुतः आत्मा के सनातन स्वरूप की यही निगूढ नवीनता व्यंजना के अखिल रूपों की अजस्रधारा का मूल स्रोत है। प्रकृति के रूपों की नवीनता इसी का आधार प्राप्त कर सार्थक होती है। संस्कृति के रूपों में इस नवीनता की और भी सम्पन्न अभिव्यक्ति होती है।

प्रकृति की अपेक्षाओं की स्वगत मर्यादा और उसके रूपों की सीमित नवीनता सास्कृतिक निर्माणो के महत्व के स्रोत खोलती है। इन सास्कृतिक निर्माणो का आधार और उपदान बनकर तथा अपनी मर्यादा मे इनके लिये अवकाश प्रदान कर प्रकृति कृतार्थ होती है। सतति के प्राकृतिक सृजन के बिन्दु से आरम्भ होकर सास्कृतिक सृजन की परम्परा के क्षितिजों का विस्तार अनन्त जीवन में होता है। सृजन के प्राकृतिक धर्म मे आत्मदान की परिधि सबसे अधिक सीमित है, किन्तु सतति के सृजन म भी यह परिधि बिन्दु मात्र नही है। मिथुनो के द्वयणुक से मानो प्रत्यक्ष त्रसरेणु की सृष्टि होती है। यह जीव जगत के सृजन की त्रिपुटी है। वस्तु जगत के निर्माणो म सहयोग का क्षेत्र अधिक व्यापक है। इस सहयोग म आत्मदान की दिशायें अधिक हो जाती हैं तथा सृजन के सौन्दर्य और आनन्द की समृद्धि होती है। सृजन की प्राकृतिक भूमि से उठकर इस सहयोग की दिशायें और सम्भावनायें और अधिक व्यापक हो जाती हैं। आत्मिक सहयोग, जिसे हम समझने के लिए मानसिक सहयोग कह सकते हैं, दिक् काल आदि के प्राकृतिक नियमो से आबद्ध नही है। जिस प्रकार मन और आत्मा अपनी क्रिया मे स्वतत्र है, उसी प्रकार उनकी क्रिया का क्षेत्र भी मुक्त और असीम है। सृजन के इस आत्मदान का अनुयोग आत्मभाव की दृष्टि से प्राकृतिक निर्माणो मे भी हो सकता है। सास्कृतिक पक्ष मे यह सन्तति के सृजन मे भी सम्भव है तथा वस्तुओ के निर्माण मे भी सम्भव है। यह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो रूपो म हो सकता है। सीमित होने हुये भी प्रत्यक्ष रूप अप्रत्यक्ष के असीम और अलक्ष्य गौरव को ग्रहण करने मे सहायक होता है। मनुष्यो के जीवन तथा सस्कृति, साहित्य आदि के रूपो मे जहाँ सृजन के उपादान पूर्णत प्राकृतिक नही होते अथवा यों कहिये प्राकृतिक की अपेक्षा आत्मिक तथा मानसिक अधिक होते हैं, वहाँ आत्मदान की सीमायें और सम्भावनायें वस्तुत असीम हो जाती हैं। यही सस्कृति, काव्य, कला, अध्यात्म आदि का मुक्त और अनन्त तथा अनन्त सौन्दर्यमय क्षेत्र है। इसी क्षेत्र में औरस और पारिवारिक सम्बन्ध के बिन्दुओ से उठकर आत्मदान के क्षितिज सामाजिक जीवन के अनन्त गगन में विस्तीर्ण होते हैं। इसी क्षेत्र मे औरस और पारिवारिक सम्बन्ध के बिन्दु से सामाजिक मगल का सिन्धु उमड़ता है।

सामाजिक क्षेत्र मे भी आत्मदान के शिव की परम्परा का रूप भी वही होता है जो सतति और परिवार के सम्बन्ध मे होता है। औरस सतति और समाज के

सम्बन्ध मे रक्त और शरीर की आत्मीयता के अतिरिक्त और कोई अन्तर नही है। यह केवल एक प्राकृतिक अन्तर है। मनुष्य का स्वभाव प्रकृति से अधिक प्रभावित होने के कारण ही औरस सम्बन्ध का इतना अधिक महत्व है। इतना अवश्य है कि आत्मीयता का प्राकृतिक आधार होने के कारण औरस सम्बन्ध मानसिक आत्मीयता के लिए एक सहज अवलम्ब बन जाता है। साथ ही वह प्रकृति के साथ सास्कृतिक भावो के सहज समन्वय का आधार भी बन जाता है। किन्तु यदि प्राकृतिक औरस सम्बन्ध सास्कृतिक भावो तथा मानसिक आत्मीयता के विस्तार मे बाधक बनता है तो सभ्यता के लिए दुर्भाग्य की बात है। वस्तुत औरस सम्बन्धो से उत्पन्न सकोचो का कारण अर्थ व्यवस्था और प्राकृतिक सुविधाओ के वितरण मे विषमता है। यह आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे इस विषमता के दूर होने पर मनुष्य के स्वभाव के सास्कृतिक स्रोत खुल जायगे। आर्थिक और सामाजिक समता का सूर्योदय होने पर मनुष्य के मन के सकुचित कमल खिल जायेंगे और सास्कृतिक भावो का आमोद मुक्त भाव से चतुर्दिशाओ मे फैलने लगेगा। इस आशा मे केवल एक ही आशका है, वह यह है कि विज्ञान और व्यापार के प्रभाव से आधुनिक सभ्यता के दृष्टिकोण मे आर्थिक और भौतिक उपकरणो का इतने अतिरजित अनुपात मे आदर हो रहा है कि एक प्रकार की विषमता दूर होने पर एक दूसरी उससे भी कठिन विषमता उत्पन्न हो जायेगी। इस विषमता का मिटाना और भी अधिक कठिन होगा, क्योकि पहली विषमता की भाँति इस विषमता को मिटाने मे मनुष्य की कोई प्राकृतिक प्रेरणा सहायक न होगी। इन दो विषमताओ म मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणा की स्थिति एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। आर्थिक वितरण और व्यवस्था मे जो विषमता है, उससे मनुष्य की प्राकृतिक आकाक्षायें कुठित होती हैं और मनुष्य की प्रकृति ही उस मनुष्यता के विरुद्ध विद्रोह करती है। इसी विद्रोह के प्रभाव से विषमता के विरोधी आन्दोलन चल रहे हैं, और वह धीरे-धीरे मिट रही है। किन्तु विज्ञान और व्यापार के प्रभाव से जो एक नई विषमता उत्पन्न हो रही है वह प्राकृतिक आकाक्षाओ को कुठित करने के स्थान पर उन्हे अतिरजित प्रोत्साहन दे रही है। इस प्रोत्साहन के कारण मनुष्य की प्राकृतिक प्रेरणा इस विषमता को बढाने मे ही सहायक होगी। इस विषमता को मिटाकर सास्कृतिक सतुलन स्थापित करने के लिये मनुष्य जाति को शिक्षा द्वारा चेतना के जागरण का मार्ग अपनाना होगा। विषमता के बढते हुए वातावरण मे इस मार्ग

का बनाना और सार्थक होना दोनों ही बहुत कठिन हैं। इस कठिनता के दो मुख्य कारण विचारणीय हैं। एक तो यह कि प्रकृति के भोगो मे एक स्वाभाविक आसक्ति है। शरीर और मन दोनो का स्वभाव इस आसक्ति से आबद्ध है। प्रकृति की प्रेरणाओ की आधुनिक अतिरजनाओ से इन आसक्ति का बन्धन और दृढ हो रहा है। ऐसी परिस्थिति मे किसी भी शिक्षा के द्वारा सान्स्कृतिक सतुलन की सफल चेतना का जागरण बहुत कठिन होगा। दूसरे प्रकृति के भोग स्वभाव से ही स्वार्थमय हैं। समस्त भोगो की सवेदना और अनुभूति का केन्द्र अहकार है। आर्थिक व्यवस्था की स्थिति मे जो क्लेश रहता है उसमे जहाँ एक ओर अहकार को तीव्र आघात पहुँचता है, वहाँ दूसरी ओर दूसरो के क्लेश की सवेदना से सहानुभूति उत्पन्न होती है। सहानुभूति करुणा का ही एक भाव है। आत्मभाव अथवा प्रेम उसका मर्म है। यह सत्य है कि अधिक क्षीणता की अवस्था मे मनुष्य निष्कर्म हो जाता है। *'बुभुक्षित किं न करोति पापम्' क्षीणता की इन्ही चरम अवस्थाओ मे* लागू होता है। अन्यथा क्षीणता और क्लेश की सहनीय और माध्यमिक अवस्थाओ मे सवेदना तथा करुणा ही जाग्रत होती है। यही सवेदना शोषितो के सगठन की प्रेरणा और उनके विद्रोह की शक्ति बनती है। जहाँ प्राकृतिक आकाक्षाओ की कुठा मे यह सातिमुखी सम्वेदना पलती है, वहा प्राकृतिक भोगो की अतिरजना से एक अतिरजित अहकार की वृद्धि होती है। अतिशय भोगमुखी सभ्यता इस अहकार के अत्यन्त सीमित रूप को दृढ बनाती हैं। दम्पति अथवा प्रेमियो के मिथुन इस अहकार की इकाई बन गये हैं। इन मिथुनो मे भी परस्पर सघर्ष दिखाई देता है। कारण यह है कि वस्तुत प्रकृति के अहकार की इकाई व्यक्ति ही है। प्रकृति के अहकार और भोग की आकाक्षा को सीमित करने पर ही सामाजिक सम्बन्धो की सास्कृतिक भूमिका बनती है। इन सम्बन्धों में आदान के मोह के स्थान पर प्रदान की उदारता मनुष्य का धर्म बनती है। प्रकृति के उपादान इस प्रदान के विषय बनते हैं। यही प्राकृतिक प्रदान सास्कृतिक आत्मदान का आधार और सूत्र बनता है। सतति और परिवार के सीमित क्षेत्रो में प्राकृतिक भोगो की मर्यादा के आधार पर ही प्राकृतिक और सास्कृतिक आत्मदान का वृक्ष सभ्यता की भूमि पर सामाजिक चेतना के जागरण के द्वारा प्राकृतिक और सास्कृतिक आत्मदान का क्षेत्र कितना ही बढाया जा सकता है। सामाजिक सगठन की समृद्धि का यही आशामय मार्ग है। किन्तु आधुनिक युग में ऐतिहासिक आर्थिक

विषमताओं के निवारण के साथ-साथ एक नई और कठिनतर विषमता का जो रूप बढ रहा है, उसे देखते हुए इस आशा के मार्ग मे अनेक आशकाये खडी हो जाती हैं। ज्यो-ज्यो प्राचीन आर्थिक विषमतायें दूर हो रही हैं त्यो त्यो क्लेशजन्य समवेदना और सहानुभूति का प्राकृतिक आधार मिट रहा है। अत सभ्यता के विकास के साथ आत्मदान के सास्कृतिक भावो का आधार ही अधिक महत्वपूर्ण बनता जायेगा, किन्तु इन आधारो के उपयोग के लिए उदार चेतना के जागरण की आवश्यकता होगी। बौद्धिक क्षेत्र मे इस उदार चेतना की महिमा दिन दिन अधिक विशुद्ध रूप मे हमारे सामने आ रही है।

किन्तु दूसरी ओर प्राकृतिक भोगो की अतिरजना जिस विजृम्भित अहकार का पोषण कर रही है वह इस उदार चेतना के बिल्कुल विपरीत है। इसी विरोध के कारण आधुनिक शिक्षा की समस्त बौद्धिक व्याख्याये निष्फल हो रही हैं। शिशु-पालन का भार सरकार द्वारा ले लेने पर आत्मदान का औरस आधार भी न रहेगा। औरस आधार का रक्त-सम्बन्ध तथा क्लेश की समवेदना मे प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही क्षेत्रो म आत्मदान के विस्तार के लिए एक प्राकृतिक आधार था। इन दोनो आधारो के न रहने पर प्राकृतिक आत्मदान का तो महत्व ही कम हो जायेगा। इसका महत्व तो मुख्यत अभाव मे ही है। अभावो के न रहने पर प्राकृतिक आत्मदान मे उपादान का महत्व न होकर आन्तरिक और आत्मिक भावना का महत्व ही अधिक होगा। यह भावना एक सास्कृतिक भाव है, अत विषमताओ और अभावो के न रहने पर तथा शिशु की असमर्थता का महत्व भी कम हो जाने पर आत्मदान का सास्कृतिक भाव ही अधिक महत्वपूर्ण रह जायगा। समाज मे से अज्ञान और अधकार मिटने पर प्रौढो के सम्बन्ध म सास्कृतिक आत्मदान के भी कुछ पक्ष, जो आजकल महत्वपूर्ण हैं, विलीन हो जायेंगे। बालको की शिक्षा का भी सरकार की ओर से प्रबन्ध होने पर शिक्षको के अतिरिक्त अन्य लोगो के लिए आत्मदान का यह क्षेत्र भी बन्द सा हो जायेगा। इस प्रकार सभ्यता के आधुनिक विकास की गति में प्राकृतिक आत्मदान का महत्व बहुत कम हो जायेगा और सास्कृतिक आत्मदान के क्षेत्र बहुत सीमित हो जायेंगे। शासन और श्रम की व्यवस्था म अपने कर्तव्य का पालन उसका एक सामान्य रूप रह जायगा। यह कर्तव्य जीविका के प्रतिदान के साथ होगा। दूसरे इसमे वैज्ञानिक और व्यापारिक सभ्यता के यान्त्रिक बन्धन, विवशता और एकरसता रहेगी। इन सबके प्रभाव

से वह कर्तव्य पालन एक नियमित किन्तु नीरस व्यापार बन जाएगा। इस नीरसता के निवारण के दो ही मार्ग हो सकते हैं, एक तो प्राकृतिक भोगों के अनियन्त्रित रूपों की मादकता, दूसरे सांस्कृतिक भावों का स्वतन्त्र और असीम उल्लास। सभ्यता के विकास की गति में जिस प्रकार प्राकृतिक आत्मदान का महत्व कम हो रहा है तथा सांस्कृतिक आत्मदान के क्षेत्र सीमित हो रहे हैं उसे देखते हुए यही प्रतीत होता है कि इस नीरसता के निवारण का पहिला मार्ग ही अधिक प्रचलित रहेगा। प्रकृति के भोगों की आधुनिक अतिरञ्जना में इस पहिले मार्ग की एक सहज प्रेरणा रहेगी। यह प्रेरणा और सांस्कृतिक आत्मदान के क्षेत्रों का सीमित होना दोनों पहिले मार्ग के प्रचार में ही सहायक होंगे। ऐसी स्थिति में साहित्य कला आदि के क्षेत्रों में सत्य और सहयोग का भाव ही सांस्कृतिक आत्मदान के विकास का एक मात्र सम्भव मार्ग रह जायगा। सृजनात्मक परम्परा के सूत्र के बिना यह भी अहंकार और विलास की अतिरंजनाओं के कारण असफल रहेगा अतः सरकार द्वारा शिक्षा और चिकित्सा का प्रबन्ध होने पर भी शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में मुक्त रूप से सांस्कृतिक आत्मदान की भावना का सवर्द्धन ही भावी मनुष्य को प्रकृति की अतिरंजना के उन्माद से बचाने का एक मात्र मार्ग है। संतति और परिवार के औरस सम्बन्धों का महत्व कम हो जाने के कारण विस्तृत सामाजिक क्षेत्र में शिक्षा की सृजनात्मक परम्परा तथा सेवा की स्नेहमयी पद्धति के निस्सीम विस्तार की सम्भावनायें भावी समाज में विकसित हो सकेंगी। इन सम्भावनाओं को सत्य और सार्थक बनाने के लिए हमें अपने प्राकृतिक भोगों की अतिरंजित आकांक्षा को सीमित, अपने अहंकार को मर्यादित तथा आत्मभाव की सांस्कृतिक चेतना को विकसित बनाना होगा। यह विकास ही भविष्य में व्यक्ति के आनन्द और समाज के मंगल का मार्ग होगा। यह विकास हमारे अब तक विदित सभी सांस्कृतिक रूपों से भिन्न और अधिक समृद्ध होगा। प्राकृतिक विषमताओं और असमर्थताओं के न रहने के कारण इस आत्मदान में अनुग्रह का वह भाव नहीं रहेगा जिससे हमारी सभ्यता अभी मुक्त नहीं हो पा रही है। इसमें नेतृत्व और महत्ता का वह दर्प भी न रहेगा जिसे हमारी सभ्यता अभी तक बड़ी श्रद्धा से पूजती आई है। इस नवीन आत्मदान का आधार वह स्वतंत्र और समतापूर्ण आत्मभाव होगा जिसे पूर्व का अध्यात्मवाद दर्शन का चरम तत्व मानता आया है। इस स्वतन्त्रता और समता के आत्मभाव में ही सच्चे साम्यवाद और जनतन्त्रवाद का आनन्दमय

साम्राज्य स्थापित होगा। इसी आत्मवाद की समृद्धि में कला और संस्कृति के अनन्त सौन्दर्य और मंगल के अजस्र स्रोत प्रवाहित होंगे। इन्हीं प्रवाहों के नैसर्गिक कूलों पर सौन्दर्य और श्रेयमयी सभ्यता के तीर्थ निर्मित होंगे।

शिवम् का स्वरूप सृजनात्मक है। एक सृजनात्मक परम्परा के द्वारा ही शिवम् जीवन और समाज की निरन्तर विभूति बन सकता है। सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से सौन्दर्य का स्वरूप भी सृजनात्मक है। किन्तु शिवम और सुंदरम के सृजनात्मक स्वरूप में एक अन्तर है। सौन्दर्य को सृजनात्मक कहने की अपेक्षा सृष्टि कहना अधिक उचित है। सौन्दर्य के रूप में चेतना की सृजनात्मक वृत्ति सफल होती है। किन्तु सौन्दर्य के इन फलों में सृजन के बीज नहीं होते। सौन्दर्य की सृष्टि स्वयं एक परम्परा हो सकती है किन्तु सौन्दर्य का स्वरूप स्वयं इस परम्परा की विधायक नहीं है। वस्तुतः सौन्दर्य की परम्परा सृष्टियों की परम्परा है। इन परम्पराओं के स्रोत पृथक पृथक विधाताओं की प्रतिभा में हैं। इन प्रतिभाओं की स्वतंत्र सृजनात्मक वृत्ति के कारण अन्य शक्ति-बिन्दुओं के आत्मदान की प्रेरणा का अनुयोग इनके कृतित्व में अधिक नहीं है। सौन्दर्य की ये कृतियाँ निर्बीज फलों की भाँति सृजन की परम्पराओं का विधान नहीं करती। सौन्दर्य के आस्वादन से हमें आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द में हम विभोर हो जाते हैं किन्तु उसमें हमें सौन्दर्य के सृजन की प्रेरणा नहीं मिलती। कला के अनुरागी बनकर हम कला के स्रष्टा नहीं बन जाते, यदि क्रोचे के मत के समान हम कला के आस्वादन को ही सौन्दर्य की सृष्टि मानें तो दूसरी बात है। किन्तु कला के आस्वादन का यह रूप स्वयं सौन्दर्य की सृष्टि होते हुए भी कला की पूर्व सृष्टि से भी अधिक निर्बीज होती है। कला की प्रथम सृष्टि आस्वादन के आनन्द की सृष्टि अवश्य करती है किन्तु आस्वादन के आनन्द की सृष्टि अन्य किसी सृष्टि की विधायक नहीं होती। इस प्रकार यदि कला-कृतियाँ और उनके आस्वादन को सौन्दर्य की सृष्टि मानें तो सौन्दर्य की सृजनात्मक परम्परा इन्हीं दो चरणों में समाप्त हो जाती है। अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि अनुभूति और कला-कृति दोनों के रूप में सौन्दर्य स्वयं एक सृष्टि है, किन्तु वह सौन्दर्य के सृजन की परम्परा की प्रेरणा नहीं बनती। परम्परा के निर्माण के अर्थ में सौन्दर्य सृजनात्मक नहीं है। सृष्टि होते हुए भी सौन्दर्य स्रष्टाओं की सृष्टि नहीं है। इसके विपरीत शिवम् दोनों ही अर्थों में सृजनात्मक है। वह आत्मदान के द्वारा दूसरे की चेतना में एक अपूर्व भाव की

सृष्टि है। किन्तु चेतना में भाव की यह सृष्टि कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि की भाँति निर्बीज नहीं वरन सबीज होती है। वस्तुतः वह स्रष्टाओं की सृष्टि है। इस स्रष्टाओं की सृष्टि में शिवम् की सृजनात्मक परम्परा निरन्तर प्रगतिशील रहती है। सौन्दर्य के आस्वादन के विपरीत शिवम् के आत्मदान के लाभ को प्राप्त कर हम शिवम् के सृजन की प्रेरणा मिलती है। कलाकृतियों का आस्वादन करके हम कलाकार बनने की कामना नहीं होती किन्तु शिव का प्रत्येक रूप हमें आत्म निर्माण तथा आत्म निर्माण की परम्परा को आगे बढ़ाने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार स्रष्टाओं की सृष्टि होने के कारण शिवम् का सृजनात्मक रूप सौन्दर्य की भाँति संस्कृति की परम्परा ही नहीं वरन् संस्कृति की परम्परा का विधायक भी है।

प्राकृतिक जीवन में नैसर्गिक सृजन का रूप स्वाभाविक और अचेतन होते हुये भी शिवम की इस सृजनात्मक परम्परा के अनुरूप है। वनस्पतियों की सृष्टि व फल सृजन की अनन्त परम्पराओं के वाहक हैं। वनस्पतियों की यह परम्परा ही पशुओं और मनुष्यों के जीवन में समृद्ध हुई है। शिव की पौराणिक कथा में काम का प्रसंग शिवम् के साथ सृजनात्मक परम्परा के सम्बन्ध का ही द्योतक है। जिस स्थूल अर्थ में शैव धर्म की लिंग पूजा की व्याख्या की जाती है उस रूप में भी वह सृजनात्मक परम्परा का ही प्रतीक है। यदि काश्मीरी शैव धर्म के अनुसार इस प्रतीक की व्याख्या विश्व सृष्टि के रूप में की जाये तो शिव का सृजनात्मक रूप और भी अधिक व्यापक रूप में स्फुटित होता है। शिव की शक्ति सृजनात्मिका शक्ति है। उसके विमर्श से ही विश्व सृष्टि होती है। यह शक्ति शिव से अभिन्न है। सुन्दरी होने के साथ साथ वह शिव भी है। इसीलिये उसी सृष्टि के सौन्दर्य में सृजन की अमृत परम्परा भी निहित है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ वह आत्मदानी स्रष्टाओं की भी सृष्टि है। इसीलिये ईश्वर का काव्य ही आदि और सर्वश्रेष्ठ शिव काव्य है। इस अर्थ में ब्रह्म के लिये (जो शिव भी है) 'कवि' की औपनिषदी संज्ञा अत्यन्त उपयुक्त है। अन्य प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ भाव, रूप और तत्व तीनों ही दृष्टियों से शिव के सृजनात्मक धर्म का सन्निधान करके उभय अर्थ में सृजनात्मक बन सकती हैं। समाज के जीवन के साथ एक व्यापक समात्मभाव इसकी भूमिका है। तत्व की दृष्टि से जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान सौन्दर्य के रूप को सृजन के शिव तत्व से समन्वित करता है। रूप की दृष्टि से प्रसाद और माधुर्य के साथ-साथ ओज का उत्कर्ष

व्यापक समात्मभाव की भूमिका में जीवन की सृजनात्मक परम्परा को प्रगतिशील सवाहिनी बनाता है। यह स्पष्ट है कि शिवम् की यह सृष्टि केवल प्राकृतिक नहीं है। प्राकृतिक सृजन की परम्परा इसका आधार मात्र है इसकी भूमिका पर ही सांस्कृतिक सृजन की परम्पराये स्थापित होती हैं। किन्तु सृजन की सांस्कृतिक परम्पराओं मे प्राकृतिक भूमिका के समन्वय के लिये प्रकृति का संस्कार अपेक्षित है। शिव की कथा मे काम का प्रसग जहाँ एक ओर संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा मे प्राकृतिक सृजन के निमित्त के रूप मे काम के ग्रहण का सूचक है, वहाँ दूसरी ओर काम दहन का प्रसग उस प्राकृतिक धर्म के संस्कार का द्योतक भी है। आत्मा के समृद्ध संस्कारो की विभूति प्राप्त करके ही काम का प्राकृतिक सृजनधर्म संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा की समुचित भूमिका बन सकता है। शिव की तपस्या और उनका काम दहन तथा शिव की प्राप्ति के लिये पार्वती का तप पुरुष और स्त्री दोनो के पक्ष मे काम संस्कार की साधना के संकेत हैं। शिव की तपस्या की पूर्ववर्तिता इस सत्य का निर्देशन करती है कि काम के इस संस्कार में पुरुष का नेतृत्व संस्कृति का प्रथम मन्त्र है। काम के अतिचार और उच्छृंखलता का आरोपण पुरुष पर ही अधिक किया जा सकता है। पुरुष-तन्त्र समाज का इतिहास इस आरोपण की यथार्थता का प्रमाणित करता है। प्राकृतिक सृजन के धर्म और उत्तरदायित्वो के सम्बन्ध मे पुरुष की स्वच्छन्दता नारी के मातृत्व की दुर्बलतायें आर्थिक और सामाजिक तन्त्रो पर पुरुष का एकाधिकार आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन्होने काम के सम्बन्ध मे पुरुष के अतिचार को अमर्यादित बनाया। विलासी जीवन की अकल्पनीय अतिरंजनाओ के दिव्य स्वर्ग को पृथ्वी पर साकार बनाने वाले राजेन्द्रो और सामन्तो के इतिहास मे पुरुषो के इस अतिचार के लोम हर्षक उदाहरण मिल सकते हैं। साधारण सामाजिक जीवन भी अतिरंजित विलास के इस स्वर्ग की छाया से प्रभावित है। इस दृष्टि से शिव के अनुरूप सयम और साधना के द्वारा पुरुष की मर्यादा का नेतृत्व ही संस्कृति के शास्त्र का अनुशासन-सूत्र है। किन्तु मगलमयी संस्कृति के निर्माण का यह एक ही पक्ष है। पार्वती की तपस्या का दूसरा पक्ष इस निर्माण की विधि को पूर्ण बनाता है। नारी भी प्रकृति की पुत्री है। यदि चाणक्य-नीति का 'कामश्चाष्ट-गुणस्मृत' का आरोप गलत भी हो तो भी प्राकृतिक काम की प्रबलता विशेषत मातृत्व के पूर्व स्त्री मे भी पुरुष के ही समान होती है। स्त्री का मातृत्व उसके काम की मर्यादा का एक प्राकृतिक तत्र

है। फिर भी उसके समुचित सस्कार के लिये स्त्री के लिये भी सयम और साधना अपेक्षित है। पार्वती की तपस्या स्त्री के लिये अभीष्ट इसी साधना का सकेत है। इसी साधना के द्वारा सस्कृत नारी सस्कृत शिव की अनुरूप सहधर्मिणी बन सकती है। इस साधना के पीठ पर ही दोनो का परिणय प्राकृतिक जीवन मे सस्कृति का सयम है। कार्तिकेय के समान ओजस्वी और असुरजयी कुमारो की परम्परा इसी सयम के अवगाहन का पुण्य फल हो सकती है। साधना के संस्कारों के उत्तराधिकारी ओजस्वी कुमार ही संस्कृति आतंकभूत तारको का अन्त करके विश्व को संस्कृति के उन्मुक्त विकास के योग्य बना सकते है। अतिचार की अनीति अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक और दृढ है। उसके स्थूल रूपो के उन्मूलन के बाद भी अनीति के तारको के वशधर छद्म-साधना के द्वारा युग युग मे अनर्थ के सुरक्षित त्रिपुरो का निर्माण करते रहते हैं। एक जाग्रत जन-अभियान के द्वारा लोकमगल के पाशुपत से ही इन त्रिपुरो का विनाश और उद्धार सम्भव है। *आसुरी अनीति* रक्त बीज की दुरुच्छेद्य परम्परा है। ओजस्वी कुमारो और जन-अभियानो की एक निरन्तर सजग और सृजनात्मक परम्परा की इस अनीति के सघर्ष मे लोकमगल की परम्परा को सुरक्षित और सवहित कर सकती है।

काव्य में इस परम्परा का त्रिविध सन्निधान ही काव्य को वस्तुत सास्कृतिक और मागलिक रूप देने में समर्थ है। भाव की दृष्टि से एक व्यापक समात्मभाव इस काव्य के सौन्दर्य और मगल का मूल स्रोत है। तत्व की दृष्टि से सास्कृतिक जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान ही समात्मभाव के मंगलमय स्रोत का प्रवाह है। प्रसाद और माधुर्य के साथ ओज की प्रमुखता इस मागलिक काव्य के प्रवाह की गति है। इस प्रकार भाव, रूप और तत्व इन तीनों विभाओ में शिव काव्य में संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का स्वरूप पूर्ण होता है। शिव सुन्दर भी हैं। उनकी सृजनात्मक शक्ति का नाम सुन्दरी है। अत मंगल की सृजनात्मक परम्परा कलात्मक सौन्दर्य के विपरीत सौन्दर्य की सृष्टि की परम्परा भी है। ओजस्वी कुमारो के यौवन, रूप और सस्कृति में शिव-सुन्दर बनकर संस्कृति की परम्परा मे शिवम् और सुन्दरम् की समन्वित सृष्टि बनता है। भारतीय काव्य में शिव-कथा की उपेक्षा के कारण शिवम् की सृजनात्मक परम्परा बहुत अल्प परिमाण में मिलती है। कथा का आधार शिव कथा के लिये आवश्यक नही है किन्तु केवल सिद्धान्त-तत्वो का आधार लेकर भी शिव काव्य को रूप देने वाली कोई रचना

संस्कृत अथवा हिन्दी के काव्य में नहीं मिलती। कथा काव्य में राम और कृष्ण का ही प्रभुत्व अधिक रहा है। राम और कृष्ण के जीवन में उनके पराक्रम ही प्रधान हैं; सृजनात्मक परम्परा का अधिक महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों के ही जीवन-वृत्त में साधना का कोई विशेष स्थान नहीं है। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम अवश्य कहते हैं किन्तु वह मर्यादा उनके शील की मन्स्थिर मर्यादा है। कृष्ण के चरित्र में इस शील की मर्यादा का भी कोई महत्व-पूर्ण स्थान नहीं है, वरन् इसके विपरीत गोपियों के साथ रासलीला और सोलह हजार रानियों के साथ विवाह साधना से विपरीत दिशा का संकेत करता है। संस्कृत तथा हिन्दी काव्य में जिन अन्य कथा प्रसंगों का अवलम्ब लिया गया है उनमें भी संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का कोई महत्व-पूर्ण स्थान है। वाल्मीकि रामायण में राम लक्ष्मण आदि के जन्म और उनकी शिक्षा के प्रसंग में तथा सीता के द्वितीय निर्वासन के बाद लव-कुश की शिक्षा के प्रसंग में जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निवेश मिलता है। वाल्मीकि के बाद कालीदास के काव्य में सौन्दर्य की ही सृष्टि अधिक है। काव्य के रूप में भाषा के माधुर्य और अलंकारों के प्राचुर्य में तथा काव्य के तत्व में प्रकृति और शृंगार के वर्णन में यह सौन्दर्य की सृष्टि साकार हुई है। यद्यपि कालिदास की तीनों प्रधान रचनाओं में जीवन की सृजनात्मक परम्परा के चित्रण के लिये पर्याप्त अवकाश था फिर भी शृंगार और सौन्दर्य के प्रभाव के कारण उन्होंने उसका यथोचित उपयोग नहीं किया। 'कुमारसम्भव' महाकाव्य में उन्होंने शिव और पार्वती की तपस्या में सृजनात्मक परम्परा की साधनात्मक भूमिका अवश्य प्रस्तुत की है, यद्यपि इस भूमिका में भी उनकी शृंगारमयी रुचि का प्रभाव स्पष्ट है। 'कुमारसम्भव' का उत्तरार्द्ध चाहे कालिदास की रचना हो अथवा न हो किन्तु यह स्पष्ट है कि कार्त्तिकेय के जन्म की कथा के पौराणिक चमत्कार तथा शृंगार की प्रधानता के कारण वे कुमारसम्भव की कथा की सृजनात्मक सम्भावनाओं को सफल नहीं बना सके। यदि चाहते तो वे कुमारसम्भव के ओजस्वी आख्यान को विक्रमादित्य के पराक्रमी चरित्र का प्रतीक बना सकते थे। रघुवंश की कथा तो सूर्यवंशी राजाओं की सृजनात्मक परम्परा का ही इतिहास है। उसके प्रारम्भिक सर्गों में रघु और अज के विक्रमों में इस परम्परा का उत्तम निर्वाह मिलता है। किन्तु अज-विलाप के बाद उसमें शृंगार की ही प्रधानता आ जाती है और अन्तत. रघुवंश का अन्त अग्निवर्ण के अतिरंजित विलास और क्षय में होता है। लव-कुश

के बाद रघुवश मे कोई महत्वपूर्ण राजा नही हुआ इसलिए यदि कालिदास चाहते तो लव-कुश के तेजस्वी शासन में जीवन की सृजनात्मक परम्परा का उत्कर्ष दिखाकर काव्य को एक ओजस्वी सदेश के साथ समाप्त कर सकते थे। लव कुश की कथा के समान ही शाकुन्तल भरत के बाल्यकाल का लेकर भी उसी परम्परा का सदेश साहित्य मे अमर बनाया जा सकता था। प्रम और शृगार की प्रधानता होने के कारण दुष्यन्त और शकुन्तला क पुनर्मिलन म नाटक का अन्त उचित ही है। किन्तु उस मिलन के पूर्व भी जिस प्रकार वी० शान्ताराम ने अपने 'शकुन्तला नामक चित्रपट मे किया है, लव कुश के समान भरत की शिक्षा के प्रसग म सृजनात्मक परम्परा का भी यथोचित महत्व दिया जा सकता था। विक्रमादित्य के चरित्र को लेकर भी उर्वशी क साथ उनकी प्रम कथा का ही नाटक कालिदास हम दे सके। कालिदास के बाद के प्रसिद्ध महाकाव्यो म भी सृजनात्मक परम्परा क तत्व का कोई विशेष महत्व नहीं है।

हिन्दी काव्य में सस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का प्राय अभाव है। वीरगाथा काल के कुछ काव्यो म वीरो क पराक्रम का वर्णन अवश्य है किन्तु उसमे भी सृजनात्मक परम्परा का महत्व बहुत कम है। वीरगाथा काल क बाद तो भक्ति और रीति काव्य का युग है जिसमे अलौकिक और लौकिक रूपो मे शृगार की ही प्रधानता है। राम और कृष्ण के अवतार भक्ति काव्य की परम्परा के आधार हैं। राम और कृष्ण दोनो के रूप म सौन्दर्य की ही प्रधानता है। यद्यपि दोनो के जीवन पराक्रम से पूर्ण है फिर भी तुलसी और सूर के काव्य म 'कोटि मनोज लजावन हारे' राम और 'स्त्रीणा स्मरो मूर्त्तिमान कृष्ण के रूप मे सौन्दर्य की ही प्रधानता है। भक्ति सम्प्रदायो म भी उनके रूप और सौन्दर्य की ही महिमा अधिक है। सूर के सूर सागर म श्रीमद्भागवत के दशम स्कध की रास और विरह की कथा का ही विस्तार अधिक है। कृष्ण कथा के अन्य गायको ने भी प्रेम और शृगार के इन्हीं प्रसगो का विस्तार किया है। राम कथा मे राम के जन्म की लौकिक महिमा अलौकिकता म तिरोहित हो गई है और उनके पराक्रम उनके दिव्य चमत्कार बन गये हैं। सीता का द्वितीय निर्वासन राम के शील के अधिक अनुरूप न होने के कारण लव कुश के कथा प्रसग को तुलसीदासजी ने छोड ही दिया है। राम और कृष्ण की बाल-लीला के प्रसग मे सूर और तुलसी ने वात्सल्य का विपुल वर्णन किया है। किन्तु यह वात्सल्य लालन का मोह

है। इसमे जीवन के निर्माण का प्रेम और प्रेरणा नही है। रीतिकाल का काव्य तो स्पष्ट रूप से शृगार और विलास का काव्य है, उसमे ओजमयी सृजनात्मक परम्परा के लिये कोई अवकाश नही है। रीतिकाल के काव्य में नारी का मातृत्व पूर्णत विलुप्त हो गया है। कवियो और पुरुषो की दृष्टि मे वह केवल प्रेयसी रह गई है। रीति काव्य मे इस प्रेयसी का वर्णन भी काम-सूत्र की नायिकाओ के अनुरूप है। रीति काल के वात्सल्य मे भी विलास है। बिहारीलाल का 'लरिका लैबे के मिसन छिगुनी तनिक छुवाय' इसका उदाहरण है। उपनिषदो के युग में 'किं प्रजया वा करिष्याम' कहकर एकागी अध्यात्म के साधको ने सृजनात्मक परम्परा की उपेक्षा का जो सूत्रपात किया था तथा बुद्ध ने जिसे अपने गृहत्याग में चरितार्थ किया था, जीवन के एक महान सत्य की वही उपेक्षा रीतिकाल में अध्यात्म और वैराग्य के स्थान पर अतिरञ्जित विलास में चरितार्थ हुई। उपनिषदो के एकागी विलास की परम्परा ने भारतीय जीवन के इतिहास में सृजनात्मक परम्परा को समुचित रीति से प्रतिष्ठित नहीं होने दिया।

तत्व की दृष्टि से सृजनात्मक परम्परा से रहित होने के कारण सस्कृत महाकाव्यो तथा हिन्दी के भक्ति और रीति-काव्य में भाव और रूप की दृष्टि से भी उसका समुचित सन्निधान सम्भव न था। अत अधिकाश काव्य मे प्रसाद और माधुर्य की ही प्रधानता है। ओज का योग वीर रस के प्रसग मे कही कहीं मिलता है। हिन्दी काव्य मे वह भी भाव का ओज न होकर महाप्राण वर्णों की परुषता का मुखर ओज अधिक है अथवा दर्पोक्ति की अतिरजना है। भक्ति और रीति काव्य में तो माधुर्य का ही एकरस प्रवाह है।

आधुनिक हिन्दी काव्य के आरम्भ मे सामाजिक क्रान्तियो और राष्ट्रीय जागरण के प्रभाव के कारण कुछ सामाजिक चेतना अवश्य दिखाई देती है। किन्तु खडी बोली के आरम्भ का यह काव्य ओज और माधुर्य दोनो से रहित है। गद्य के अधिक निकट होने के कारण उसमे प्रसाद की ही प्रधानता है। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' मे कृष्ण चरित का सामाजिक रूप है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य मे भक्ति काव्य और रीति काव्य दोनो के सस्कारो का सकर है। राम और कृष्ण की कथाओ मे सृजनात्मक परम्परा की सम्भावना न होने के कारण खडी बोली के आरम्भिक काव्य मे उसका सन्निधान असम्भव था। छायावाद का

काव्य तो कल्पना का नन्दनवन है जिसकी संकीर्ण वीथियों में केवल प्रेयसी अप्सराएँ ही विहार करती हैं। शताब्दियों के विदेशी शासन से पराभूत भारतीय समाज की तत्कालीन परिस्थितियों में कल्पनाशील युवकों की कुण्ठित भावनाएँ रीतिकाल के संस्कार तथा रविन्द्रनाथ के रहस्यवाद और अंग्रेजी के रोमान्टिक कवियों के प्रभाव से छायावाद के भावुक काव्य में साकार हुईं। छायावाद के चिर कुमार कवियों के लिए प्रेयसी के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में नारी की कल्पना करना सम्भव न था। यद्यपि सुमित्रानन्दन पंत ने "देवि! माँ! सहचरि! प्राण!" कह कर एक सूत्र में नारी के व्यक्तित्व के विविध पक्षों का आमन्त्रण किया है किन्तु सामान्यतः छायावाद के काव्य में और विशेषतः उनके काव्य में, नारी के इन विविध रूपों की समुचित स्थापना नहीं है। सुमित्रानन्दन पंत ने नारी की मुक्ति का आह्वान भी किया है। (मुक्त करो नारी को बन्दिनी सखी प्यारी को)। किन्तु नारी के मुक्त और गौरवमय रूप की कोई कल्पना वे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। मुक्ति के आह्वान में भी वन्दिनी नारी का 'सखी प्यारी' रूप ही उनके ध्यान में रहा है। नारी की मुक्ति का सर्वोत्तम रूप उसके मातृत्व का मान है। सतति के जीवन निर्माण में अपने भाव और अध्यवसाय का सहयोग देकर ही पुरुष नारी की स्वतन्त्रता को एक *सामाजिक सत्य* बना सकता है। प्रेम की *स्वतन्त्रता* वास्तविक स्वतन्त्रता का एक अत्यन्त अपूर्ण और उच्छृंखल रूप है। वैधानिक स्वतन्त्रता अन्य समस्त स्वतन्त्रताओं की आवश्यक भूमिका है। किन्तु अपने आप में वह एक अर्थ-हीन प्रत्याहार है। मातृत्व के गौरव का समुचित आदर न कर पा सकने के कारण सामान्यतः हिन्दी के और विशेषतः रीतिकाल तथा छायावाद के कवि नारी के *गौरव और जीवन की सृजनात्मक परम्परा को काव्य में आकार नहीं* दे सके। नारी के प्रति प्रेयसी के दृष्टिकोण के अतिरिक्त भाषा में माधुर्य की प्रधानता रीति-काव्य और छायावाद की एक और समानता है। सृजन की शिव परम्परा का निर्वाह काव्य के भाव और रूप में प्रसाद और माधुर्य के साथ ओज की अपेक्षा करता है। छायावाद के बाद के कवियों में भी छायावादी युग के प्रेम, शृंगार, कल्पना और माधुर्य के संस्कार प्रबल रहे। हिन्दी काव्य के उदयाचल पर 'दिनकर' के उदय से भाषा के भाव और शैली में नव जागरण के ओज का आविर्भाव हुआ। दिनकर का आलोक स्वच्छ होते हुए भी समकालीन हिन्दी कवियों को अधिक प्रभावित नहीं कर सका। यह 'दिनकर' का दोष नहीं, हिन्दी काव्य के

पूर्व संस्कारो का प्रभाव है। भाषा और भाव मे ओज का सन्निधान करते हुए भी 'दिनकर' अपने काव्य मे सृजनात्मक परम्परा के तत्व का सन्निधान नही कर सके। उसके लिए उन्हे कोई उपयुक्त कथानक अथवा विषय नही मिले। फिर भी 'दिनकर' के प्रकाश मे हिन्दी कविता करवट बदल रही है। स्वतन्त्र भारत के कवि निर्माण के रूपो के प्रति सजग हो रहे हैं।

अध्याय ४४

शिवम् की साधना का मूर्त्त रूप

पिछले प्रकरणो मे शिवम् का जो निरूपण किया गया है, उसमे शिवम् के स्वरूप तथा जीवन मे उसके अन्वय की सामान्य रूपात्मक परिस्थितियो का ही विवेचन मुख्यत हो सका है। चेतना के भाव के रूप में आत्मदान शिवम् का स्वरूप है। दूसरो के सृजनात्मक और सास्कृतिक विकास में जब हम समात्मभाव पूर्वक अपनी चेतना के भाव का योग देते है तभी सापेक्ष अर्थ में शिवम् का उदय होता है। विश्व के लौकिक और सास्कृतिक मगल का यही मूल सूत्र है। किन्तु समात्मभाव की जिस आत्मिक स्थिति मे शिवम् का आत्मभाव सार्थक और पूर्ण होता है उसके अनेक अन्तर्भाव हैं। उन अन्तर्भावों का बीज समात्मभाव के 'सम्' में निहित है। 'सम्' समानता, सामजस्य सतुलन आदि का द्योतक है। स्वतन्त्रता सामान्यत समत्व का और विशेषत समानता का मूलभूत सिद्धान्त है। दोनो एक दूसरे से इतने अभिन्न हैं कि उनमे अन्योन्याश्रय सा प्रतीत होता है। समता के भाव के बिना स्वतन्त्रता निरर्थक है और स्वतन्त्रता के बिना समता असम्भव है। जिस आलोकदान को शिवम् की रूपात्मक साधना का प्रथम चरण माना गया है, वह चेतनाओ की विषमता के अर्थ मे उपकार अथवा अनुग्रह नहीं है। इस विषमता के उदय होने के बाद ही समाज मे असमानता अहकार और अधिकार के भाव तथा तत्र विकसित हुये और सभ्यता एक सकट के मार्ग मे अग्रसर होने लगी, जिसका परिणाम आज की विनाशात्मक सम्भावनाओ मे दिखाई दे रहा है। इन्ही सम्भावनाओ की आशका करके वेदो के विधाताओ ने 'समानी व आकूति समाना हृदयानि व' की मगलमयी भावना प्राचीन सस्कृति मे प्रतिष्ठित की थी। इसी वैदिक भावना की प्रेरणा से उपनिषदो की शिक्षा मे ऋषियो ने 'सहनौ अवतु, सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै' की साम्य और सहयोग-मूलक भावना स्थापित करने का उद्योग किया था। उपनिषदो मे ब्रह्मतत्व की गोपनीयता और अधिकारियो की कठोर परीक्षाओ से यही सकेत मिलता है कि उपनिषद् काल की शिक्षा मे भी यह साम्य खडित होने लगा

था। उक्त प्रार्थना मे साम्य की कामना के साथ आशकाओ का बीज भी वर्तमान है। उपनिषदो के बाद के वृद्धो और गुरुओ की अधिकार और गौरव की अभिलाषा से यह साम्य उत्तरोत्तर भग होता गया। स्वतन्त्रता साम्य की आत्मा है। अत साम्य के भग होने पर यह स्वतन्त्रता भी सुरक्षित न रह सकी। समाज की अन्तर्गत व्यवस्था में इस स्वतन्त्रता की मन्दता ही अन्तत राजनीति और इतिहास में हमारी स्वतत्रता की निरन्तर हानि का मूल कारण बनी। समाज और सस्कृति पर वार्धक्य के शासन तथा दोनो के यौवन की कुण्ठा का भी यही मूल कारण है। अत समता और स्वतन्त्रता के कूलो मे ही आत्मदान के शिवम् की मगलमयी धारा प्रवाहित होती है। स्नेह, सहयोग, सद्भाव आदि सब इसी प्रवाह की तरग हैं जो उसकी गति का सकेत करती है। प्राकृतिक प्रवृत्तियो की सास्कृतिक मर्यादा स्वतन्त्रता और समानता का सहज परिणाम है। यह मर्यादा व्यक्ति और समाज के कल्याण का अखिल कामप्रद मत्र है। इस मर्यादा के सस्कार ही प्रवृत्तियो के अतिचारो को सीमित कर प्रवृत्तियो के उन्नयन के द्वारा सास्कृतिक मूल्यो मे उनके अन्वय का सम्भव बनाते हैं। मर्यादा का यह मूल मत्र अतिचार, आग्रह, आरोपण, प्रचार, अध-विश्वास आदि सभी उत्पाती प्रेतो का सस्कृति के पुण्य क्षेत्र से निष्कासन करता है। इस निष्कासन से पवित्र होकर ही जीवन का क्षेत्र सस्कृति के पुण्य पर्वों के नव नव वसन्तो के आगमन के योग्य बनता है।

सस्कृति के मगल की ये रूपात्मक परिस्थितियाँ जीवन के सौन्दर्य के पुष्पो को प्रफुल्लित करती हैं। इन्ही पुष्पो के गर्भ मे शिवम् की मूर्त सफलता के बीज अन्तर्निहित रहते हैं। सस्कृति का मगल जीवन की एक अमृत परम्परा है। अत यह स्पष्ट है कि उसका रूप सृजनात्मक है। सस्कृति और उसका मगल कोई जड प्रत्यय नही है और न वह कोई स्थिर सत्ता है। वह एक गत्यात्मक परम्परा है, जो सृजनात्मक विधान के द्वारा ही नित्य नवीन बनी रहती है। प्रकृति के क्षेत्र मे सृजनात्मक परम्परा के द्वारा सौन्दर्य के नव नव वसन्तो की परम्परा अक्षुण्ण रहती है। सृजन के क्रम मे ही सास्कृतिक परम्परा के स्रोतो म भी नित्य नवीन जनो का आगमन होता है जो प्रकृति और सस्कृति दानो के वासन्ती उद्यानो को ही नही वरन् जीवन उद्योग के खेतो और अध्यात्म के वनो को भी निरन्तर समृद्ध बनाते रहते हैं। सृजनात्मक परम्परा म ही प्रकृति के समान सस्कृति का भी अमृत धर्म सार्थक होता है। मनुष्य जीवन की परम्परा सृजन के प्राकृतिक

धर्म से ही अविच्छिन्न है। किन्तु संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा मनुष्य के स्वतन्त्र उद्योग और अध्यवसाय से ही सुरक्षित और समृद्ध होती है। मनुष्य के इस अध्यवसाय का रूप सदा सास्कृतिक मगल के अनुरूप नही रहा, इसीलिए सस्कृति की परम्परा मे अनेक बार और अनेक प्रकार के विक्षेप आते रहे हैं। इन विक्षेपो का मूल सास्कृतिक मगल की उन सामान्य और रूपात्मक मर्यादाओ के उल्लघन मे है जिनका सकेत पिछले प्रकरणो मे किया गया है। इन मर्यादाओ की भूमिका मे ही जीवन के उक्त रूपो मे सास्कृतिक मगल के तत्व मूर्त्त होते हैं। सास्कृतिक मगल के इन तत्वो मे शरीर के सुख और हित से लेकर समाज की सुव्यवस्थाओ, सम्पन्नताओं और आध्यात्मिक अध्यवसायो तक के समस्त मूल्य समाहित हैं। इन तत्वो का सन्निधान मगल के उक्त रूपो को मूर्त्त बनाता है। इन्ही तत्वो मे समता, स्वतन्त्रता आदि के सूक्ष्म रूप साकार होते हैं तथा इनके सामान्य सिद्धान्त नव-नव आकारो मे समृद्ध होते हैं।

मंगल के सूक्ष्म और सामान्य रूपो को जीवन में मूर्त्त बनाने का तथा शिवम् की सृजनात्मक परम्परा को समृद्ध बनाने का प्रथम धर्म व्यक्तित्व निर्माण है। का मनोविज्ञान और दर्शन दोनो की दृष्टि से व्यक्तित्व एक अत्यन्त सम्पन्न कल्पना है। वाह्य दृष्टि से व्यक्तित्व शरीर की इकाई मे सीमित रहता है। किन्तु जिन आध्यात्मिक मूल्यो से मानवीय व्यक्तित्व समृद्ध होता है उसके क्षितिज अत्यन्त विस्तृत और व्यापक हैं। वस्तुत देह व्यक्तित्व की इस समृद्ध कल्पना का एक प्राकृतिक आश्रय है। इस आश्रय के बिन्दु से सास्कृतिक व्यक्तित्व की परिधियाँ आध्यात्मिक मूल्यो के विस्तृत क्षितिजो का स्पर्श करती हैं। देह की सृजनात्मक परम्परा एक सहज प्राकृतिक धर्म का निर्वाह है। किन्तु मनुष्य के जीवन मे देह का विकास भी पशुओ के विकास के विपरीत जन्म में पूर्ण नही होता। पशुओ के शिशुओ की तुलना मे मनुष्य के शिशु की असमर्थता मनुष्य के शारीरिक विकास को भी सामाजिक उत्तरदायित्व बना देती है। इस शारीरिक विकास के साथ ही साथ मनुष्य का मानसिक और आध्यात्मिक विकास भी होता है। मनुष्य का सास्कृतिक विकास इन दोनो के द्वारा ही पूर्ण होता है। इन दोनो विकासो की गति का यौगपद्य समाज की समस्याओ को जटिल बना देता है किन्तु इस जटिलता में ही सस्कृति की सम्भावनायें सम्पन्न होती हैं। शिवम् के आत्मदान का योग तो प्राकृतिक सृजन मे भी अपेक्षित है, किन्तु यह आत्मदान स्वाभाविक है। सम्भवत

प्रकृति मे तो यह एक अचेतन धर्म है। किन्तु मनुष्य के जीवन मे काम के पारस्परिक व्यापार की सुखमय सम्वेदना से युक्त होकर यह सचेतन और प्रिय बन गया है। इसकी प्रियता के आकर्षण ने ही मनुष्य को विशेषत पुरुष को, भ्रान्त किया, जिसके कारण वह अपने सास्कृतिक उत्तरदायित्वो का सदा सफलता पूर्वक निर्वाह नही कर सका। प्राकृतिक सृजन का प्रमुख भार नारी के ही अधिकार म आया, अत मातृत्व का गौरव उसकी सहज सास्कृतिक मर्यादा बन गया। इस प्राकृतिक सृजन मे पुरुष का सहयोग एक निमित्त मात्र है। पुरुष के इस नैमित्तिक धर्म मे भी प्रियता का सन्तोष और अनुराग है। मातृत्व का प्राकृतिक बन्धन शिशु के पालन को भी नारी का सहज अधिकार बना देता है। प्राकृतिक बन्धन न होने के कारण इस सृजन और पालन के सम्बन्ध में पुरुष ने अपने उत्तरदायित्व के बन्धन को सम्पूर्णता के साथ न समझा और न स्वीकार किया तथा न उसका निर्वाह किया है। मुख्य रूप से वह आर्थिक उपयोग और सामाजिक सुरक्षा को ही इस सम्बन्ध म अपना धर्म मानता रहा है। इन दोनो की भी व्यापक और वास्तविक कल्पना उसके मन मे न रही, अत इनके भी आशिक निर्वाह मे वह सन्तुष्ट रहा। इनके उपक्षित अशो का भार नारी और सन्तान वहन करती रही। नारी और सन्तान के प्रति अपने व्यापक उत्तरदायित्वो को स्पष्टत न समझने और स्वीकार करने के कारण पुरुष की शक्ति और प्रतिभा को बहुत कुछ स्वतन्त्रता मिली। इस स्वतन्त्रता के अवकाश में ही पुरुष के अतिचारो, उसकी उच्छृखलताओ आदि की अमर बेलें उत्पन्न हुई तथा सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों के चारवायु से ये अमर बेलियाँ सास्कृतिक जीवन के समस्त उद्यानो और बनो पर छाने लगी। आज उनकी अतिरजित वृद्धि से जीवन के उद्यान और वन आच्छादित हो गये हैं तथा प्रत्यक्ष तक सीमित हमारी दृष्टि इन अमर-बेलियों की समृद्धि को ही जीवन का उत्कर्ष समझ रही हैं।

सास्कृतिक जीवन के इन अनर्थो का प्राचीनतम मूल यही है कि सृजन और पालन के सम्बन्ध म प्रकृति ने पुरुष को जो स्वतन्त्रता दी उसका सदुपयोग पुरुष ने इनके सास्कृतिक पक्ष के निर्वाह मे अधिक नही किया। सन्तान के स्वास्थ्य की चिन्ता तो पुरुष प्राय करता है यद्यपि सन्तान के गौरव के साथ साथ आत्म गौरव का दर्प भी इसकी प्रेरणा है। वस्तुत सन्तान के अस्तित्व मे ही वह अपने पौरुष और आत्मगौरव की सफलता मानता है। यह पूर्णत उचित है। आत्म-

गौरव की व्यापक सामानता मे पुरुष के आत्मगौरव का भी समान स्थान है। सन्तान के अस्तित्व और स्वार्थ मे उसके आत्मगौरव का अहकार एक विस्तार का ही सस्कार प्राप्त करता है। किन्तु इसके आगे भी इस विस्तार की सम्भावनायें हैं और समाज की सास्कृतिक समृद्धि के लिये वे अपेक्षित हैं। इन विस्तारो मे अस्वास्थ्य और रोग की स्थिति मे सन्तान की शुश्रूषा सबसे प्रथम है। सन्तान के सम्बन्ध मे अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा सयुक्त परिवार की सुविधाओ और सीमाओ के कारण पुरुष इस सम्बन्ध मे अपने कर्त्तव्य के प्रति बहुत उदासीन रहा है। शुश्रूषा के लिये स्त्री की उपयुक्तता की धारणा पुरुष की इस उदासीनता का मौलिक कारण नही थी। यह धारणा भ्रम-पूर्ण होने के साथ साथ उसकी वासना का विक्षेप भी है और इस विक्षेप के कारण ही उसका विलम्बित विचार उसकी स्वाभाविक उदासीनता का समाधान बन गया है। शुश्रूषा के लिये आन्तरिक, स्नेह, सहानुभूति, सद्भाव, सहिष्णुता, उदारता, विनय और सेवा के भाव अपेक्षित हैं। इनके होने पर पुरुष की शुश्रूषा भी उतनी ही मृदुल, प्रिय और शान्तिदायक हो सकती है जितनी कि स्त्री की शुश्रूषा। नारी का मातृत्व केवल अपने प्राकृतिक स्वभाव के कारण ही शुश्रूषा के अधिक उपयुक्त नही है। इस मातृत्व की भूमिका मे मन की उक्त विभूतियो का उत्कर्ष उसे सम्भव बनाता है। इनमे कोई भी भाव ऐसा नही है जिसका विकसित करना पुरुष के लिए सम्भव न हो और जिसका विकास पुरुष के व्यक्तित्व की सास्कृतिक समृद्धि के लिये हितकर न हो।

स्वास्थ्य और शरीर के अतिरिक्त व्यक्तित्व के विकास मे अन्य सभी सास्कृतिक मूल्यो का स्थान है। व्यक्तित्व की दृष्टि से इन मूल्यो के विकास का अभिप्राय मन और आत्मा की समृद्धि है। मानसिक विकास मे बुद्धि और भावना का विकास तो स्पष्ट है। भावना मे श्रेय और सौन्दर्य दोनो का विकास सम्मिलित है। आत्मा के विकास मे इन सबके अतिरिक्त और भी कुछ तत्व हो सकते हैं जिनका स्पष्ट निरूपण करना कठिन है किन्तु इसका एक रूप अत्यन्त स्पष्ट है और यही रूप मानसिक और आत्मिक विकास का मूलमन्त्र है। वह रूप चेतना की स्वच्छता, उसका जागरण और उसकी स्फूर्ति है। चेतना आत्मा का स्वरूप है, जो मन और बुद्धि को प्रकाशित करता है। अत चेतना की स्वच्छता उसके जागरण और उसकी स्फूर्ति मे ही मन, बुद्धि और भावना की विभूतियो का सपादन

हो सकता है। वस्तुत यह शिवम् की साधना म सत्य की भूमिका है। शिवम् की साधना के प्रथम चरण के रूप में जिस आलोकदान का पीछे विवेचन किया गया है वह कर्त्ता के कर्त्तव्य की दृष्टि से शिवम् किन्तु ग्राहक की दृष्टि से सत्य के आलोक का ही आरम्भ है। सन्तान तथा अन्य बालकों के जीवन में सत्य के जागरण में योग देना शिवम् की साधना का प्रथम चरण है। उपनिषदों के 'सहवीर्य करवावहै' के अनुरूप समानता और स्वतन्त्रता की भावना से ज्ञान का जागरण विकासशील व्यक्तित्वो मे सत्य की सुदृढ पीठिका का निर्माण करता है। सत्य क इसी सुदृढ पीठ पर श्रेय और सस्कृति का प्रासाद निर्मित होता है। सास्कृतिक मूल्यो के सस्कार मनुष्य में जन्मजात नहीं होते, अत गुरुजनो का आत्मदान ही बालको के व्यक्तित्व को इन मूल्यो के सस्कारों से सम्पन्न बनाने में समर्थ है। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि बालको के व्यक्तित्व मे एक विकासशील वृत्ति अन्तर्निहित रहती है। वे गुरुजनो के आलोकदान के अनुग्रह को एक निष्क्रिय आदान के रूप मे ग्रहण नही करत वरन् अपनी सक्रिय चेतना की चेष्टा मे अन्वित करके उसे आत्मसात् करत हैं। वस्तुत ज्ञान के तत्वदान की अपेक्षा प्रवगति की शक्ति को स्फुरित करके गुरुजनो का आलोकदान अधिक कृतार्थ होता है। इसी स्वच्छ और सक्रिय ज्ञान के प्रकाश मे श्रेय और सौन्दर्य के रहस्य विकासशील व्यक्तित्वो की चेतना मे आलोकित होते हैं।

श्रेय और सौन्दर्य के लोक मे आकर व्यक्तित्व का सामाजिक रूप स्फुटित होता है। सत्य की एकान्त साधना की कल्पना की जा सकती है। किन्तु श्रेय और सौन्दर्य का स्वरूप ही सामाजिक है। सामाजिक सम्बन्धो और व्यवहारो मे ही सौन्दर्य साकार होता है तथा श्रेय चरितार्थ होता है। बालको के व्यक्तित्व मे श्रेय की भावना का जागरण उसी आत्मदान की वृत्ति का स्फुरण है जिसके द्वारा उन्हे अपने सास्कृतिक व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणा मिलती है। अत स्पष्ट रूप से आत्मदान के द्वारा बालको के व्यक्तित्व में श्रेयोमयी वृत्तियों का जागरण ही सष्टाओ का सृजन है। आत्मदान का शिवम् नव नव व्यक्तित्वों मे अपनी विभूति का विस्तार करके अपनी परम्परा को अमर बनाता है। स्वतन्त्रता और समानता पूर्वक आलोकदान करके बालको की चेतना मे सत्य के प्रकाश मे श्रेय, सौन्दर्य, स्नेह सद्भाव, शील, सत्य, सेवा, विनय आदि के सस्कार जागरित करके उनके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने मे ही बडो का कर्तव्य सफल है। भारतीय

संस्कृति की परम्परा मे वात्सल्य का बहुत महत्व है। भगवान के बालरूप की उपासना हमारे धर्म की एक विशेषता है। सामाजिक जीवन के व्यवहार मे भी इस वात्सल्य का फल दिखाई देता है। भारतीय परिवारो मे बच्चो के लाड प्यार की कमी नही वरन् उसका आधिक्य ही है। हमारे साहित्य म, विशेषत भक्ति-काव्य म, इस वात्सल्य की प्रचुरता है। सूर और तुलसी का वात्सल्य वर्णन हिन्दी काव्य की विभूति है। किन्तु इस वात्सल्य की कई सीमाएँ हैं। एक तो यह वात्सल्य का भाव शिशुकाल तक ही सीमित है। कैशोर की उठती हुई अवस्था मे स्नेह और सम्मान के साथ जीवन के गौरव-पूर्ण विकास के लिए जो प्रेरणा चाहिये वह हमारे सामाजिक जीवन मे कहाँ है ? दूसरे इस वात्सल्य म लालन का भाव अधिक है, बालक के जीवन मे विकास के ओजस्वी संस्कारो की प्रेरणा कम है। बालक के सौन्दर्य और उसकी लीलाओ मे सतति-लाभ के सुख-सौभाग्य का विमाह अधिक है, नवोदित व्यक्तित्व के उज्ज्वल भविष्य की योजनाएँ कम हैं। सुकुमार कैशोर वय मे कस, चाणूर आदि का मर्दन करने वाले श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे यशोदा की भावना "जाने कहा मेरो कु ज बिहारी" इस लालन मे मोह के अधिक्य का एक श्रेष्ठतम उदाहरण है। काव्य मे जो वात्सल्य का वर्णन हमे प्राप्त है उसमे एक अलौकिकता की तीसरी सीमा और है। उसका सम्बन्ध मुख्यत राम कृष्ण के अवतारो से है। दिव्य होने के कारण काव्य का यह वात्सल्य समाज का प्रतीक नही बन सकता। बालगोपाल की मूर्त्तियो की भक्त परिवारो मे जीवित बालको से अधिक शुश्रूषा होती रही है। लाड-प्यार और लालन के साथ साथ दूसरी ओर बालको का ताडन और तिरस्कार वात्सल्य के मूल को ही खण्डित करता रहा है। इस सम्पूर्ण विडम्बना का कारण यही है कि बालको के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र और आदरपूर्ण विकास की भावना समाज और साहित्य की परम्परा में प्रतिष्ठित न हो सकी। आधुनिक हिन्दी काव्य मे वात्सल्य के वर्णन का अभाव भी उक्त तथ्य का समर्थन करता है। अत्यन्त अल्प परिमाण मे जो कुछ वात्सल्य का वर्णन आधुनिक हिन्दी काव्य मे मिलता है, वह भी सूर और तुलसी के वात्सल्य के अनुरूप लालन मे ही परि समाप्त है। डा० देवराज के 'जीवन रश्मि' नामक कविता सग्रह मे तथा निरकार देव 'सेवक' के 'मुन्ना के गीत' आदि ग्रन्थो मे जो वात्सल्य की रचनाएँ मिलती हैं वे भारतीय समाज के परिचित पुत्रोत्सव की ही प्रतिध्वनि है। बाल्य तथा कैशोर में स्वतन्त्रता और सम्मानपूर्वक व्यापक

सांस्कृतिक विभूतियों से सम्पन्न व्यक्तित्व के विकास की प्रेरणाएँ समाज और साहित्य दोनों में ही बहुत कम है।

सन्तान के जीवन में व्यक्तित्व के समृद्ध विकास की प्रेरणाओं का सन्निधान शिव की सृजनात्मक परम्परा का एक बहुत सीमित अर्थ है। अत्यन्त निकट और आत्मीय होने के कारण सन्तान के विकास में शिवम् की साधना सहज और स्वाभाविक है। किन्तु शिवम् के आत्मदान का कर्तृत्व और उसकी सृजनात्मक परम्परा इसी में परिसमाप्त नहीं है। अतः विस्तृत समाज में शिवम् की साधना ही संस्कृति के धर्म को पूर्ण बनाती है। समाज में व्यवहार और सृजनात्मक परम्परा दोनों ही रूपों में शिवम् की यह पूर्णता चरितार्थ होती है। शिवम् का आत्मदान सांस्कृतिक जीवन का एक सनातन और सार्वभौम धर्म है। समाज में जितने व्यापक रूप में हम इसका निर्वाह कर सकें उतना ही हमारा शिव-धर्म का पालन अधिक पूर्ण होगा। यथा-सम्भव सभी व्यक्तियों के प्रति स्वतन्त्रता और समानता की भावना इस धर्म का प्रथम चरण है। इस प्रथम चरण में ही मानवीयशील की मर्यादायें इतनी दृढ़ हो जाती हैं कि वे समस्त अतिचारों और उच्छृंखलताओं की अर्गला बन जाती हैं। शिव धर्म के इस प्रथम चरण में ही मनुष्यत्व की अपार विभूतियाँ उद्‌घाटित होती हैं। मनुष्यत्व की इस मौलिक मर्यादा का उल्लंघन ही इतिहास के समस्त अत्याचारों तथा अतीत और भविष्य के विनाशक युद्धों के लिये उत्तरदायी है।

शिव के आत्मदान की पूर्णता अपनी ओर से स्वतन्त्रता और समानता के निर्वाह मात्र में नहीं है। किसी भी व्यक्ति के कर्तृत्व में शिवम् का धर्म पूर्ण नहीं होता। समाज की सापेक्षता के कारण समाज की समग्र व्यवस्था में ही शिवम् का वास्तविक रूप प्रतिष्ठित होता है। अतः व्यक्तिगत निर्वाह के अतिरिक्त स्वतन्त्रता और सम्मान के सामाजिक संरक्षण तथा अतिचार के निरोध में आत्मदान का शिवम् समाज में चरितार्थ होता है। सामाजिक निर्माण और सामाजिक सुरक्षा शिवम् के सामाजिक रूप के दो प्रमुख अंग हैं। निर्माण उसका भावात्मक पक्ष है और सुरक्षा उसका निषेधात्मक पक्ष है। सुरक्षा की निषेधात्मक भूमिका निर्माण के लिये आवश्यक है। सुरक्षा का अर्थ अपनी लौकिक स्थिति को सुदृढ़ बनाकर अनीति और अतिचार के प्रतिकार को निश्चित बनाना है। अनीति और अतिचार के अधिक उग्र होने पर इस सुरक्षा के लिये संघर्ष और युद्ध की भी आवश्यकता हो सकती है। अहिंसा

जीवन का सार्वभौम सत्य है। समाज मे सार्वभौम न होने पर वह अर्थहीन हो जाता है। सार्वभौम न होने पर वह अर्थहीन ही नही, किन्तु असमर्थ भी हो जाता है। उग्र, सचेतन और सगठित अनीति के लिये अहिंसा एक अत्यन्त मृदुल और सन्दिग्ध उपचार है। *अहिंसा की अपूर्णता शक्ति की उपेक्षा में है।* उसकी एकांगिता और निषेधात्मकता अत्याचारियो के प्रति अतिशय करुणा तथा उनके अत्याचारो से पीड़ित सज्जनों और असहायों के प्रति निर्मम क्रूरता में है। अहिंसा एक क्रूर भ्रांति की वेदी पर एकांगी सत्य के प्रति जीवन के सम्पूर्ण सत्य का बलिदान है। अहिंसा के मसीहा जहाँ अत्याचारियो के प्रति इतने करुण हैं कि उनके क्रूर से क्रूर अतिचार का *प्रतिकार भी उन्हें मान्य नही है और वे सज्जनो के सद्भावपूर्ण सगठन की शक्ति* मे भी उनके अतिचार की गति को रोकना उचित नही समझते, वहाँ दूसरी ओर वे सज्जनो के श्रेय, सम्मान और शान्ति की ओर से इतने उदासीन हैं कि अत्याचारों की वेदी पर बलिदान के उपदेशों के अतिरिक्त उन्हें वे सद्भावपूर्ण सगठन के बल का आश्वासन देना भी आवश्यक नही समझते। अत्याचारियों की ओर से उनकी अहिंसा शक्ति के प्रति संस्कृति का आत्मसमर्पण है। दूसरी ओर सज्जनों की ओर से उनकी अहिंसा शक्ति के प्रति अत्यन्त विराग है। अहिंसा का यह आत्मविरोधी दृष्टिकोण स्पष्टतः एक छल है, जो एक धर्म-भीरु, अर्ध-निद्रित और दुर्बल समाज में ही सफल हो सकता है। जीवन के लौकिक और सांस्कृतिक श्रेय के प्रति सजग होने पर कोई भी समाज इस छल को सहन नहीं कर सकता। चीन की क्रान्ति और उसका राष्ट्रीय जागरण इस सत्य का जीवन्त प्रमाण है। चीन का उद्धार और जागरण अहिंसा के बल पर नही शक्ति के बल पर हुआ है। इसीलिये नवीन *क्रान्ति के बाद चीन निर्माण के पथ निरन्तर प्रगति कर रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता* का आन्दोलन केवल अहिंसा के बल पर नहीं वरन् सन् ४२ के आन्दोलन में प्रमाणित देश की जागरण शील शक्ति के प्रति अग्रेजों के उदार और विवेकशील दृष्टिकोण के साथ कुछ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संयोग से सफल हुआ है। अहिंसा ने इस पराजित जाति को आत्मबल देकर जागरण का पथ प्रशस्त किया इसमे सन्देह नही। यह विवशता की स्थितियों में अहिंसा का उत्तम उपयोग है। किन्तु यह अहिंसा-दर्शन की पूर्णता प्रमाणित नही करता।

समाज का जागरण और संस्कृति की प्रगति शक्ति की प्रेरणा से ही सम्भव है। प्रकृति के निरन्तर विकास में शक्ति के ही स्रोत प्रसारित होते हैं। 'सुरक्षा'

शक्ति का निषेधात्मक धर्म है जिसको आवश्यक बनाने का उत्तरदायित्व उन पर है जो मानव होकर भी क्रूरता मे दानव को लज्जित करते हैं और दूसरो के विकास का अवरोध करने मे ही शक्ति का सदुपयोग मानते हैं। शक्ति का दुरुपयोग करने वाले स्वय भी अपने विकास मे शक्ति का उपयोग न कर सके इसे इतिहास प्रमाणित करता है। प्रकृति और सस्कृति दोनो मे शक्ति का स्वरूप सृजनात्मक है। चेतना के उज्ज्वल आलोक मे यह शक्ति विकास का पथ प्रशस्त करती है। 'प्रेम' ज्ञान से आलोकित शक्ति का सबल है। प्रेम मे चेतना का ज्ञान मानवता का धर्म बनता है। 'शक्ति' उस प्रेम की ही निर्माण और सुरक्षा की क्षमता है। ज्ञान, शक्ति और प्रेम के समन्वय में ही मानवीय संस्कृति की कल्पना पूर्ण होती है। इन्ही के पुनीत सगम पर सस्कृति का अक्षयवट स्थापित हो सकता है। भारतीय सस्कृति में ज्ञान का आलोक और प्रेम का माधुर्य बहुत है किन्तु शक्ति की उपेक्षा के कारण दोनो एकागी और अपूर्ण रहे। असफलता और असमर्थता के कारण दोनो मे कोई भी जागरण और विकास का पथ प्रशस्त न कर सका। शक्ति की यह उपेक्षा भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप नहीं है। ऋग्वेद मे, विशेषत इन्द्र के मन्त्रो मे, शक्ति का आमत्रण है। वेद-मत्रो के गायक दीर्घायु और स्थिर अगो की कामना करते थे। उपनिषदो के वेदान्त तथा जैन और बौद्ध धर्म के एकागी अध्यात्म के आरम्भ से शक्ति का तिरोधान आरम्भ हो गया। वेदान्त के मायावाद, जैन और बुद्ध धर्मों की अहिंसा तथा वैष्णव धर्मो के आडम्बर के कारण शक्ति का बीज-मत्र सफल न हो सका। इतने विशाल और समृद्ध देश का विडम्बनामय इतिहास इसी का परिणाम है। इन त्रिविध भ्रान्तियो के वात्याचक्र में शक्ति का यह मौलिक सन्देश भी तिरोहित हो गया जो भारतीय शक्ति-दर्शन की परम्परा में सुरक्षित है। सिंहवाहिनी भगवती दुर्गा का स्वरूप शक्ति की साधना का सुन्दर और समग्र प्रतीक है। दुर्गा सप्तशती मे देवताओं के सामूहिक तेज से भगवती दुर्गा के उदय मे सज्जनो के सद्भाव पूर्ण, निर्भीक और श्रेयोमय सगठन का सकेत है। वर्षारम्भ की शक्ति-पूजा यही प्रमाणित करती है कि शक्ति की साधना ही भारतीय सस्कृति का मूलमन्त्र है। यही मूलमत्र मानवीय सस्कृति का आधारभूत सत्य भी है। एकागी अध्यात्म और अहिंसा तथा धर्म के अतिरजित आडम्बर के चकाचौंध मे यह सत्य विलुप्त हो गया है। किन्तु इस सत्य के उद्घाटन के बिना स्वतंत्र भारत का जागरण और विकास संभव नहीं है। शैव दर्शन के अनुसार शिव के

साथ शक्ति की अभिन्नता यही संकेत करती है कि शक्ति की साधना के बिना जीवन के श्रेय का सम्पादन और संरक्षण सम्भव नहीं है। आलोकदान की उदार शिक्षा के साथ शक्ति के सम्पादन की प्रेरणा ही बालकों को व्यक्तित्व के विकास को पूर्ण बना सकती है। सन्तान के अतिरिक्त समाज में शिक्षा और शक्ति का यह समन्वित आचार ही युवकों और प्रौढ़ों का सदाचार है। यही सदाचार मानव धर्म का शील है। इसी सम्पन्न शील में प्रेम का व्यापक अर्थ सफल होता है।

ज्ञान, शक्ति और प्रेम के त्रिपाद गायत्री मंत्र की साधना ही श्रेयोमयी संस्कृति का राजमार्ग है। इस मंत्र का पुरश्चरण व्यक्तिगत साधना अथवा सन्तान की शिक्षा में ही पूर्ण नहीं होता। समाज की व्यवस्था तथा समाज के आधार और व्यापार में चरितार्थ होकर ही यह सफल होता है। अतः समाज को लौकिक और भौतिक व्यवस्थाओं तथा समाज के निर्माणों में इस साधना का समन्वय आवश्यक है। आत्मदान का शिवम् भौतिक वस्तुओं के निर्मितों में ही साकार होता है तथा सामाजिक व्यवहार में ही चरितार्थ होता है। अतः मंगलपूर्ण समाज के व्यापार और व्यवहार में उसका अन्वय आवश्यक है। भौतिक वस्तुओं की समृद्धि अपने आप में मंगलमयी नहीं है। इसी सत्य की उपेक्षा आधुनिक सभ्यता की विडम्बना बन रही है।

सामाजिक संस्थायें भी मानव के त्रिविध विकास की वास्तविक साधक न होने पर निष्फल हैं। केवल उत्पादन और वितरण के सिद्धान्त ही व्यापार का पूर्ण रूप नहीं है और उनमें मानवीय अहित के छिद्र हो सकते हैं। यांत्रिक व्यापार और यांत्रिक सभ्यता में वस्तुओं का उत्पादन आत्मदान के शिवम् से रहित होने के कारण उदासीन और आयासमय हो गया है तथा व्यक्तिवाद और प्रकृतिवाद के प्रचार के कारण सामाजिक व्यवहार में समात्मभाव के शिवम् और सुन्दरम् की सम्भावनायें मन्द होने लगी हैं। इस दृष्टि से पूँजीवाद और साम्यवाद के फलों में अधिक अन्तर नहीं है। दोनों की उत्पादन प्रणाली यांत्रिक होने के कारण उत्पादन एकाकी का आयास है जिसके श्रम में श्रेय और सौन्दर्य का समन्वय सम्भव नहीं है। जनतंत्र और साम्यवाद दोनों ही प्रणालियों में शासन की सार्वभौम प्रभुता में व्यक्ति का गौरव विलीन होगया है। वस्तुओं के वैभव और प्रवृत्तियों के रंजन में मनुष्य का कुंठित अहंकार अपना परितोष खोज रहा है। किन्तु सभ्यता की यह गति मरु-मरीचिका है। समात्मभाव के अतिरिक्त मनुष्य के स्थाई आनन्द और मंगल का

कोई दूसरा स्रोत नहीं है। इसी मूल स्रोत से आत्मदान के रूप मे शिवम् सफल होता है और आकृति की अभिव्यक्ति के रूप मे सौन्दर्य साकार होता है। दोनो का मूल स्रोत समान होने के कारण दोनो का समन्वय सम्भव ही नही, स्वाभाविक है। शिवम् और सुन्दरम् के इस समन्वय में ही इस सत्य की पूर्णता है। इसी पूर्णता में संस्कृति की साधना सफल होती है। इसी सफलता मे निहित निर्माण के बीज जीवन और संस्कृति के विकास को एक अमृत परम्परा का रूप देते हैं। इन बीजों का आत्मदान मागलिक परम्पराओ को चिरन्तन बनाता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बनकर इसी के वासन्ती पुष्प संस्कृति के अभिनव वसन्तो का स्वागत करते हैं। इन्ही बीजो का आत्मदान रस से आप्लुत फलो मे मूर्त होकर श्रेय और सौन्दर्य की साधना को सार्थक बनाता है। संस्कृति और साहित्य मे साकार होकर यही साधना उन्हे जीवन का वरदान बनाती है।

भारतीय काव्य मे लोक मगल की भावना का सनिधान पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। किन्तु मगल की यह कल्पना अत्यन्त सीमित और अपूर्ण है। इसका कारण कवियो की दृष्टि का ही सकोच नही है वरन् इसके साथ साथ भारतीय संस्कृति की परम्परा का दोष भी है। ऋग्वेद के युग मे भारतीय जीवन उल्लास, उत्साह, ओज और आनन्द से पूर्ण था। ऋग्वेद के समृद्ध जीवन मे प्राय जीवन के सभी मूल्यो को पर्याप्त महत्व दिया गया था। शिव साधना के जिन तत्वों का पीछे निर्देश किया गया है उनमे अधिकाश तत्व उस प्राचीन संस्कृति की कल्पना मे सन्निहित थे जिस समात्मभाव को हमने श्रेय और सौन्दर्य का मूल माना है वह ऋग्वेद के मत्रो की रचना, पाठ और भावना मे मिलता है। ऋग्वेद के मत्र लोक मानस से प्रसूत भावगीत हैं, उनका पाठ भी सामूहिक रूप से होता था। "समानी व आकूति समाना हृदयानि व" मे ऋग्वेद का समात्मभाव युग की सामाजिक आकाक्षा के रूप मे व्यक्त हुआ है। जिस प्राणोत्कदान को हमने शिव की साधना का प्रथम चरण माना है वह 'सहवीर्यं करवावहै' मे उपनिषद् काल की शिक्षा की उदार भावना मे व्यक्त हुआ है। ज्ञान के साथ साथ शक्ति और प्रेम की साधना भी वैदिक युग मे पाई जाती है, किन्तु उपनिषद् काल के बाद एकागी अध्यात्म और अहिंसा के प्रभाव से शक्ति की साधना उपेक्षित हो गई। शक्ति से रहित होकर ज्ञान और प्रेम अपूर्ण, अरक्षित और दीन हो गये। दर्शन और भक्ति म ज्ञान और प्रेम अध्यात्म के अनिरञ्जित रूप बन कर विकसित हुए।

शक्ति के बिना जीवन के यथार्थ की भूमि से उनका सम्पर्क कम हो गया और दोनों अलौकिकता के अनुरागी बन गये। भक्ति और नीति के काव्यों में ज्ञान और प्रेम के इस अपूर्ण रूप का प्रभाव स्पष्ट है। उपनिषदों के एकांगी अध्यात्म में भी ऋषियों के वास्तविक जीवन में बहुत कुछ स्वस्थ सम्पर्क शेष थे। वाल्मीकि और कालिदास के काव्य में तत्कालीन जीवन की यथार्थताओं का सम्पर्क बहुत कुछ मिलता है। उसमें जीवन के श्रेयोमय तत्त्वों का भी बहुत कुछ सन्निधान है। संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा के कुछ संकेत वाल्मीकि रामायण के लव-कुश प्रसंग में तथा रघुवंश के आरम्भिक सर्गों में मिलते हैं। शक्ति-साधना की परम्परा तो न जाने कितने पहले मन्द हो गई थी। अतः राम और कृष्ण के ओजस्वी चरित्रों में भी उसकी प्रधानता न रही। रघुवंश के आरम्भिक सर्गों में युवराजों के वर्णन में संतति के व्यक्तित्व-निर्माण और उसके गौरव के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। किन्तु कालिदास के समय से ही काव्य पर कामशास्त्र का प्रभाव दिखाई देता है और उसमें शृंगार का अनुराग बढ़ता जाता है। शृंगार के साथ कल्पना और अभिव्यक्ति का चमत्कार मिलकर काव्य को एक मनोविलास बना देते हैं। यद्यपि भारवि श्री हर्ष और माघ के काव्य में जीवन के गम्भीर सत्यों का सन्निधान है फिर भी उनमें कल्पना और अभिव्यक्ति के कौशल का ही दृष्टिकोण प्रधान है। जीवन के निर्माण, कल्याण और सुरक्षा की व्यापक पीठिका संस्कृत के किसी भी महाकाव्य में नहीं मिलती।

हिन्दी काव्य को आध्यात्मिक संस्कृति और शृंगार के संस्कार उत्तराधिकार में मिले। पराधीनता के युग में अध्यात्म ही एक अवलंब था। यद्यपि भक्तिकाल के पूर्व कुछ दरबारी कवियों ने कुछ पराक्रमी राजाओं की वीर गाथाओं का वर्णन किया, किन्तु उनमें जातीय ओज की अपेक्षा व्यक्तियों की वीरता और कीर्ति का अतिरंजित वर्णन अधिक है। विदेशियों के साथ भारतीय राजाओं के संघर्ष में राष्ट्रीय सुरक्षा की अपेक्षा वीरता का व्यक्तिगत दर्प अधिक था। इसीलिये अन्ततः वे पराजित हुए। देश की पराजय के बाद अध्यात्म का ही अवलम्ब शेष रह गया, जो सन्तों की वाणी और भक्ति काव्य में मुखरित हुआ। जीवन से समन्वित न होने के कारण वह अध्यात्म स्वयं ही एकांगी और अपूर्ण था। पराधीनता के युग में उस अध्यात्म के आडम्बर में बहिष्कृत शृंगार ने भक्ति के छद्म-वेष में प्रवेश किया। रीति काव्य में शृंगार का मनोविलास ही काव्य का सर्वस्व बन गया।

हिन्दी के छायावादी काव्य मे भी रीतिकाल के रस-शृगार की ही छाया है। भाषा और शैली की नवीनता होते हुए भी दोनो के तत्त्व मे बहुत कुछ समानता है। पराधीनता के कारण उत्पन्न हुई सामाजिक स्थितियो मे जो मानसिक कुण्ठाएँ पैदा हुईं उनकी प्रतिक्रिया काल्पनिक शृगार मे होना स्वाभाविक था। राष्ट्रीय जागरण के युग मे ओज और उत्साह की कुछ स्फुट रचनाएँ अवश्य रची गई किन्तु व्यक्ति अथवा समाज के निर्माण की कोई समग्र योजना कविता म साकार नही हुई। उस समय एक स्वतन्त्रता ही हमारा लक्ष्य थी। अत किसी रचनात्मक योजना की प्रतिष्ठा काव्य मे कोई दूरदर्शी कवि ही कर सकता था। प्रतिभा होते हुए भी ऐसी दूरदर्शिता कोई कवि न दिखा सके।

वस्तुत सास्कृतिक समृद्धि और सामाजिक निर्माण की कोई समग्र और व्यवस्थित योजना भारतीय कवि-चेतना में आरम्भ से ही नहीं रही। कालिदास के समय से ही अभिव्यक्ति और अलकार का कौशल काव्य का मुख्य लक्षण बन गया। इसीलिये विषय और कथानक के चुनाव को कवियो ने कोई विशेष महत्व नही दिया। जिन कथानको को उन्होने ग्रहण भी किया उनमे भी उन्होने वर्णन के कौशल को ही अधिक महत्व दिया, किसी सास्कृतिक प्रयोजन और जाति निर्माण की भावना से लिये उसका उपयोग नही किया। सामाजिक और सास्कृतिक निर्माण की प्रेरणा बनने योग्य अनेक कथानक इस पराक्रमी देश के समृद्ध इतिहास म भरे हुए हैं। किन्तु अभी तक उनम बहुत कम की ओर कवियो की दृष्टि गई है। लोक मगल की ओर कवियो की उदासीनता का यह पर्याप्त प्रमाण है। जिन कथाओ का ग्रहण किया गया है उनमे राम कृष्ण की कथाएँ प्रधान हैं। श्रीकृष्ण के जीवन मे पराक्रम की प्रधानता होते हुए भी कृष्ण काव्य मे शृगार की ही प्रधानता है। राम के चरित्र का चित्रण इससे अधिक व्यापक रूप म हुआ है। 'रामचरितमानस' म तुलसीदासजी ने रामकथा के निमित्त से पारिवारिक सम्बन्धो का एक उत्तम आदर्श प्रस्तुत किया है। किन्तु उसमें एक तो राम को भगवान मानने के कारण अलौकिकता की छाया है, दूसरे सामाजिक निर्माण और सुरक्षा की अपेक्षा उसमें नैतिक आदर्श का आग्रह अधिक है। सूर का सूरसागर तो गोपियो के निशिदिन बरसने वाले विरहाश्रुओ से ही परिपूर्ण है। कृष्ण के जीवन म जो सामाजिक श्रेय और सुरक्षा के तत्व थे उनके लिये उसमे अवकाश नहीं। सामाजिक श्रेय और सुरक्षा के प्रति जागरण का सर्वोत्तम काव्य हमे जयशकरप्रसाद की प्रतिभा के वरदान के रूप में

मिलता है। जयशंकरप्रसाद की 'कामायनी' में आदि मानव की कथा को लेकर मनुष्य के सांस्कृतिक निर्माण की एक सूक्ष्म किन्तु, समृद्ध कल्पना मिलती है। यद्यपि 'कामायनी' के मनु में मनुष्य के शृंगार और अहंकार की वे दुर्बलताएँ स्पष्ट हैं जिनमें हम सभ्यता और काव्य में बहुत परिचित हैं, फिर भी उसके उत्तरार्ध में सांस्कृतिक साधना का एक अध्यवसाय दिखाई देता है। 'कामायनी' में जीवन की सृजनात्मक परम्परा का संकेत भी मिलता है यद्यपि उसके विकास का अवकाश कामायनी के कवि को नहीं मिला। 'कामायनी' आदि मानव का काव्य है, इसमें मानव की प्राकृतिक प्ररणाओं और सांस्कृतिक सम्भावनाओं का चित्रण है। संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा का सूत्र कामायनी' के अन्त में मनु के शिव दर्शन के बाद ही ग्रहण किया जा सकता था। 'कामायनी' का अन्त इस सृजनात्मक परम्परा की भूमिका है। इसी भूमिका को ग्रहण कर 'पार्वती महाकाव्य' में सृजनात्मक परम्परा का विकास समाज और संस्कृति के व्यापक क्षेत्र में किया गया है। जातीय जागरण और सुरक्षा के रूप में सांस्कृतिक श्रेय की प्रेरणा प्रसादजी के नाटकों में भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। 'कामायनी' के पिछले सर्गों में सामाजिक व्यवस्था और व्यापारिक विधि के रूप में भी लौकिक श्रेय के संकेत मिलते हैं। 'कामायनी' एक सूत्र-काव्य है, अतः उसमें ये संकेत सूत्रों के रूप में ही मिलते हैं। उनके विस्तार का अवकाश 'कामायनी' की योजना में नहीं है। प्रसाद के अतिरिक्त हिन्दी के छायावादी काव्य में रीति-काव्य के अनुरूप प्रेम और शृंगार की ही प्रधानता है, यद्यपि उस पर रहस्यवाद की छाया है। श्रेय के भाव छायावादी काव्य में कुछ सुन्दर कल्पनाओं के रूप में ही मिलते हैं। वैसे भाव निराला में एक ओजस्वी रूप में मिलते हैं। छायावाद के कल्पनाशील काव्य की प्रतिक्रिया आधुनिक युग में प्रगतिवाद में हुई। प्रगतिवाद के पीछे साम्यवाद की क्रान्तिमयी प्रेरणा है। इस क्रान्ति में अतीत के प्रति विद्रोह अधिक है, भविष्य की रचनात्मक प्रेरणा कम है। अत्यन्त अर्वाचीन काव्य में विद्रोह की ध्वनियों के साथ सृजनात्मक भाव भी मुखरित हो रहे हैं। जयशंकरप्रसाद के काव्य की ओजस्वी शैली तथा उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक भावना सबसे अधिक स्फुट रूप में 'दिनकर' के काव्य में विकसित हुई है। इसीलिये प्रसाद के बाद आधुनिक हिन्दी काव्य का नेतृत्व 'दिनकर' को प्राप्त हुआ। 'दिनकर' की प्रेरणा के प्रकाश में हिन्दी काव्य की सरिता में नवीन ओज और सौन्दर्य के अनेक नीरज विकसित हो रहे हैं।

सामाजिक श्रेय और संस्कृति के सम्बन्ध में अनीति और अत्याचार से सुरक्षा का प्रश्न भारतीय कवियों की आत्मा को कभी गम्भीरता के साथ स्पष्ट न कर सका। वस्तुत सुरक्षा की यह भावना लौकिक काव्य के आरम्भ के पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी। उत्तर वैदिक काल मे होने वाली एकागी अध्यात्म की शान्ति और उसके प्रचार ने इस सुरक्षा की भावना के पुनर्जागरण की सम्भावनाओं को बहुत मन्द बना दिया था। अशोक के शासन काल मे उसके एशियाव्यापी प्रचार तथा शकराचार्य के द्वारा वेदान्त-डिडिम की भारतव्यापी घोषणा से यह सम्भावना और भी मन्द हो गई। शकराचार्य के बाद होने वाले भक्तिमूलक आन्दोलनों तथा उनसे प्रभावित भक्ति काव्य के प्रचार ने एकागी अध्यात्म की भ्रान्ति को रूढ बनाने मे सहायता की। स्वतन्त्रता का राष्ट्रीय आन्दोलन भी उसी एकागी अध्यात्म और अहिंसा की भूमिका मे आयोजित हुआ था, अत उससे प्रेरित और प्रभावित काव्य मे भी सास्कृतिक श्रेय की सुरक्षा की भावना कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न कर सकी। अनीति और अत्याचार के प्रसग मे सबसे अधिक अरक्षित स्त्री और बालक होते हैं। अरक्षा की अवस्था मे सबसे अधिक अहित बालकों का हुआ है और सबसे अधिक अत्याचार नारी को सहन करने पड़े हैं। किसी कारण भी हो हमारे समाज में इन दोनो के ही जीवन गौरव, विकास, सरक्षण आदि को समुचित महत्व न दिया जा सका। महाभारत के इतने प्राचीन काल मे ही द्रौपदी के चीर-हरण, सात महारथियों के द्वारा अकेले अभिमन्यु के वध तथा अश्वत्थामा के द्वारा रात्रि के अकाल मे द्रौपदी के सोते हुए पाँच पुत्रों की हत्या आदि प्रसगो मे हमे इस दिशा मे अपने प्राचीन समाज के पतन के सकेत मिलते हैं। मुसलमानों के अत्यन्त अपमान पूर्ण अत्याचारों के कारण राजपूत काल में और विशेषत राजपूतों मे नारी की मर्यादा को लेकर सम्मान की भावना अवश्य जागरित हुई थी, किन्तु अन्तत वह भी मन्द हो गई। एक मात्र चित्तौड मे इस मर्यादा का विजय-स्तम्भ हमारे आत्म गौरव की समाधि के रूप मे शेष रह गया। किन्तु बालकों के सम्मान और उनकी सुरक्षा का भाव दिव्य वात्सल्य के अनुरागी देश मे जागरित न हो सका। हकीकतराय की हत्या और गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों के जिन्दा दीवार में चुने जाने के बाद भी हमारे भक्तिलीन समाज में इस सम्बन्ध मे कोई चेतना जागरित नहीं हुई। किन्हीं कारणो से ही हो, किन्तु हमारे समाज में व्यक्तिगत सुख, श्रेय और शान्ति की भावना रूढ हो गई थी; अत. सामाजिक चेतना सदा मन्द रही।

सामाजिक चेतना की मन्दता के कारण ही इतना बडा देश इतने अधिक काल तक पराधीन रहा जिसका विश्व के इतिहास में कोई उदाहरण नहीं है तथा इतने असह्य अत्याचारो को इतनी व्यापक और गम्भीर सीमा तक सहता रहा। भारत के विभाजन की भूमिका में स्त्रियो और बालको के प्रति होने वाले घोर अत्याचारों से अविचलित रहने वाले समाज और उसके नेतृत्व का यही विधान है। जिस समाज का यह इतिहास है उसके कवियो से हम क्या आशा कर सकते हैं। कवि ससार का सबसे अधिक सुरक्षित और सबसे भीरु प्राणी है। उसकी इसी भीरुता के कारण कविता अनेक बार कल्पना के स्वप्न लोको मे पलायन करती रही है। एकागी अध्यात्म के समान जीवन की कठोर यथार्थताओ से अपनी आँख मूँद कर वह सौन्दर्य के स्वप्न देखती रही है। चन्दवरदाई के समान योद्धाओ के साथ युद्ध म जाने वाले वीर कवि विरले ही हुये हैं। स्वप्न लोकों का विहारी कवि क्रान्ति से कितना डरता रहा है इसका प्रमाण काव्य का समस्त इतिहास है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य लोको मे कुछ क्रान्तियाँ अवश्य हुई हैं किन्तु जीवन की क्रान्ति का सन्देश काव्य मे बहुत कम मिलता है। अपने सुरक्षित स्वप्न-लोक मे प्राय कवि इतिहास के गौरव और सौन्दर्य के ही गीत गाता रहा है। क्रान्ति का आवाहन करने वाले आधुनिक कवि भी क्रान्ति का सजीव रूप अपने काव्य मे प्रस्तुत नहीं कर सके।

इस सबका कारण समाजिक अनीति और अत्याचार के प्रति सामान्यत हमारे समाज की, और विशेषत कवियो की, उदासीनता है। अनन्त अत्याचारों और असत्य पराक्रमों के इस देश में इस उदासीनता का मूल जाति की निश्चेष्टता में नहीं वरन् प्रतिभाओ और नेताओ की विचित्र नीति में है। जिन प्रतिभाओ और नेताओ ने उत्तर वैदिक काल मे एकागी अध्यात्म का प्रचार किया उनके वशधर सस्कृति की इस गम्भीर समस्या के प्रति सजग नहीं हो सके। राम और कृष्ण के पराक्रमी चरित्र को लेकर भी वे शक्ति और सुरक्षा की दिशा मे देश के जागरण का निर्देश नही कर सके। इस दृष्टि से शिवम् की भावात्मक साधना की प्रतिष्ठा भारतीय काव्य मे कम ही मिलती है। जयशकरप्रसाद के नाटकों के अतिरिक्त इसका परिचय अन्यत्र दुर्लभ है। इस दिशा में हमारी राष्ट्रीय चेतना मन्द होने के कारण प्रसाद के नाटको की प्रेरणा न तो हमारे उदासीन समाज मे किसी स्फूर्ति का सचार कर सकी और न युवक कवियो की प्रतिभा को ही इस

ओर सचेत कर सकी । युगो से इस दिशा मे उदासीन समाज की चेतना को 'पार्वती' महाकाव्य मे आसुरी अनीति और अत्याचारो की गभीर भूमिका मे शक्ति और सुरक्षा तथा एक अभयपूर्ण सस्कृति के निर्माण की ओजस्वी योजना की ओर ध्यान देने की भी रुचि नही है । इस सम्बन्ध मे प्रतिभा और नेतृत्व के अधिकारियो की भावना और दृष्टिकोण भी अपनी सनातन परम्परा के अनुरूप उदासीन और उपेक्षामय है । ज्ञात नही कि भविष्य मे अपने श्रेय और सुरक्षा के प्रति जागरित होकर समाज कवियो की प्रतिभा को प्रेरित करेगा अथवा कोई जाग्रत प्रतिभा अपने प्रकाश से समाज की पलके खोलेगी ।

अध्याय ४५

शिवम् और क्रान्ति

पिछले प्रकरण मे शिवम् की जिस भावात्मक साधना का सकेत किया गया है वह एक प्रगतिशील परम्परा है। जीवन स्वभाव से ही गतिशील है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की व्यवस्था काल क्रम की व्यवस्था के अन्तर्गत है। हमारा अतीत इतिहास बनकर स्मृति की धारणा म सुरक्षित रहता है और दूसरी ओर कल्पना भविष्य का विधान करती है। परम्परा का सरक्षण करते हुए भी जीवन प्रगति के मार्ग मे अग्रसर होता है। इस प्रगति का रूप विकास है। विकास जीवन के रूप और तत्व की समृद्धि है। विकास की परम्परा में नवीन तत्वों और रूपो का उदय होता है। प्रकृति के तत्व तो नियत हैं। विधाता ने उनकी कभी सृष्टि की हो किन्तु भौतिक तत्व की सृष्टि मनुष्य का अधिकार नही। वह केवल तत्व के सयोग से नये मिश्रण और विगपत नये रूप रचता है। यही रूप रचना उसकी भौतिक सृष्टि है। किन्तु चेतना के लोक म मनुष्य नये भाव-तत्व और नये रूप दोनो की रचना करता है। चेतना अनन्त होने के कारण मनुष्य की यह भाव और रूप की सृष्टि भी अनन्त है। मनुष्य की यह भाव-सृष्टि चिन्मय होते हुई भी भौतिक उपकरणो और लौकिक व्यवहारो मे साकार होती है। प्रकृति और चेतना के इसी सगम में सौन्दर्य और सस्कृति का उदय होता है। सौन्दर्य सृष्टि है तथा सस्कृति सृजनात्मक होने के साथ-साथ सृजन की प्रेरणा भी है। अत एक सृजनात्मक परम्परा मे ही जीवन का सास्कृतिक विकास अक्षुण्ण रहता है। सृजन का यह रूप बडा व्यापक है। भौतिक रूपो और कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि की ओर तो मनुष्य की रुचि बहुत रही है। किन्तु सृजन का सर्वोत्तम रूप स्रष्टाओ का सृजन है। प्रकृति के क्षेत्र मे सृष्टि के इसी रूप के आधार पर जीवन और मनुष्य जाति की परम्परा चल रही है। मनुष्य के जीवन मे चेतना का अधिक विकास हुआ है और इसके आरम्भिक जीवन काल मे चेतना के इस विकास की अवधि बहुत है। इसलिए मनुष्य के जीवन मे चेतना के सास्कृतिक निर्माण का महत्व बहुत है। इस सास्कृतिक निर्माण मे बालक की स्वभाव से विकासशील चेतना

के जागरण में बड़ों के आत्मदान का अनुयोग अपेक्षित है। मानृत्व के सहज बन्धन के कारण नारी अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह अधिक निष्ठा के साथ करती आई है। प्राकृतिक सृजन में निमित्त मात्र होने के कारण पुरुष को जो स्वतन्त्रता और अवकाश मिले उनका उपयोग सांस्कृतिक सृजन में सहयोग देने की अपेक्षा पुरुष ने अपनी प्रवृत्तियों के रंजन में अधिक किया। भौतिक रूपों और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में उसकी जितनी रुचि रही उतनी रुचि स्रष्टाओं के सांस्कृतिक निर्माण में नहीं रही। स्रष्टाओं का सांस्कृतिक निर्माण केवल सौन्दर्य के रूपों की रचना नहीं है उसमें आत्मदान के शिव का भावयोग भी अपेक्षित है। शिव की अपेक्षा मनुष्य की रुचि सुन्दरम् में अधिक रही है। उसकी सभ्यता और कला का विकास इसका प्रमाण है। सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव के अधिक निकट है। शिव साधना है। साधना स्वभाव की अपेक्षा आत्मा का अध्यवसाय अधिक है। साधना के लिए प्रकृति की मर्यादा अपेक्षित है। इसीलिए 'संयम' साधना का आरम्भिक सूत्र है। इस मर्यादा के द्वारा ही व्यक्ति और समाज के सांस्कृतिक विकास का पथ प्रशस्त हो सकता है।

समाज के इस सांस्कृतिक विकास में श्रेय और सुरक्षा की समस्या प्रधान है। बुद्धि और कल्पना के उत्कर्ष तथा इनसे प्रसूत साधन तन्त्रों के सहयोग से मनुष्य की, विशेषतः पुरुष की, अनीति और अतिचार की क्षमता बहुत बढ़ गई है। आत्मरक्षा में असमर्थ होने के कारण स्त्री और बालक पुरुष के अतिचारों की यातना युगों से सहते आये हैं। पुरुष के अतिचार के अतिरिक्त उसके अधिकार और शासन की भावना भी सामाजिक श्रेय और सुरक्षा के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास में बाधक रही है। जिन व्यक्तियों और वर्गों के हाथ में अधिकार और शासन के तन्त्र आ गये उन्होंने सब प्रकार के छल-बल से उन्हें अनन्त काल तक बनाये रखने का प्रयत्न किया। समाज में परम्पराओं के रूढ़ होने का यही मुख्य कारण है। किसी कारण भी हो शिक्षा और ज्ञान का समाज में इतना मुक्त प्रचार नहीं हुआ है कि साधारण जन अपने को उन छलों की प्रवंचना से बचा सकें जिनका प्रयोग अधिकार-प्राप्त लोग अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए करते हैं। यदि साधारण जनों में इस प्रवंचना के मर्म को समझने की क्षमता होती तो धार्मिक आडम्बर, शोषण पूर्ण

व्यापार और वैभव पूर्ण राजतन्त्रों की परम्पराएँ पिछले युगों में शताब्दियों तक न चलती रहती। आज सर्वोदय की धारणा संस्कृति का एक सरल सत्य बन गई है। किन्तु अभी भी वह कुछ आदर्शवादी नेताओं की कल्पना मात्र है। एक ओर साधारण जनता में जागरण की कमी और दूसरी ओर अधिकार-प्राप्त लोगों के द्वारा भ्रान्ति की प्राचीन परम्पराओं का पोषण इस कल्पना को सत्य बनाने में बाधक है और न जाने कब तक रहेगा। एक ओर जहाँ प्रगति की कामना मनुष्य में स्वाभाविक है वहाँ दूसरी ओर उसके स्वभाव में एक रूढ़िवादी तत्व भी है जिसके कारण वह निस्सार हो जाने पर भी प्राचीन परम्पराओं से लिपटा रहता है। इस रूढ़िवादिता का एक कारण ज्ञान के आलोक की कमी भी है। सत्य का स्वच्छ दर्शन होने पर जब जीवन और चेतना का समृद्ध रूप स्पष्ट होता है तो मनुष्य निस्सार रूढ़ियों से बँधा नहीं रहता क्या कि उसके सामने प्रगति का मार्ग खुलजाता है। रूढ़ियों से लिपटे हुए और सत्ताधारियों के भ्रान्ति चक्रों में भटकते हुए साधारण जनों के लिए ये दोनों ही बातें साधारणत संभव नहीं हैं। इसीलिए मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में प्रतिभा, नेतृत्व और क्रान्ति की आवश्यकता होती है।

प्रतिभा चेतना की अद्भुत समृद्धि है। वह क्रान्तदर्शिनी होने के कारण क्रान्तिकारी होती है। शंकराचार्य ने कवि को 'क्रान्तदर्शी' कहकर 'सर्वदृक्' बताया है।[४६] क्रान्त' अतीत को कहते हैं, जो व्यतीत हो चुका है। क्रान्त का दर्शन केवल अतीत के यथार्थ का परिज्ञान नहीं है, वह उसके सत्य का सम्यक बोध भी है। सत्य अखण्डित है। अत एक व्यापक दृष्टि के द्वारा ही अतीत के सत्य का निर्देशन भी सम्भव है। भविष्य की संभावना ही अतीत के असत्य का अनावरण कर सकती है। अत समग्र सत्य का द्रष्टा ही अतीत के असत्यों को अनावृत करके भविष्य की संभावनाओं का मार्ग आलोकित करता है। जो चेतना जीवन के इस समग्र सत्य को जितनी पूर्णता और स्पष्टता के साथ ग्रहण कर सकती है वह उतनी ही प्रतिभाशाली है। प्रतिभा से प्रकाशित चेतनाएँ ही संस्कृति के नयन हैं। वे ही विकास के मार्ग में उसकी दिशा का संकेत करते हैं। अत समाज के नेतृत्व का मौलिक श्रेय इन प्रतिभाओं को ही प्राप्त है। यदि समाज की व्यवस्था में कुछ मध्यवर्ती लोगों के सत्ता और अधिकार के स्वार्थ बाधक न हों तो मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के लिए इन प्रतिभाओं का आलोकमय नेतृत्व ही पर्याप्त है। इनकी दृष्टि में ही

वह दिव्य प्रेरणा है जो मनुष्य के अज्ञान को विच्छिन्न करके उसे आलोक के मार्ग में अग्रसर कर सकती है। 'सौन्दर्य लहरी' में शक्ति के निमेष और उन्मेष से प्रलय और उदय की कल्पना[४७] तथा भामती के मंगल में ब्रह्म के वीक्षित से पंचभूतों के उदय की कल्पना[४८] चेतना की दृष्टि की सृजनात्मक शक्ति का संकेत है। प्रतिभा की दृष्टि एक सृष्टि है और सृजनात्मक है। वह समाज के जीवन में नये आलोक का विस्तार करके निस्सार रूढ़ियों के असत्य का उद्घाटन कर प्रगति का पथ प्रकाशित कर सकती है। किन्तु एक ओर सत्ताधारियों के स्वार्थ और अधिकार की दुर्दमनीय आकांक्षाएँ और दूसरी ओर कुछ अतिचारियों के आतंक मिलकर समाज में एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसके धूमिल वातावरण में प्रतिभा का प्रकाश लोक मन तक नहीं पहुँच पाता। आलोक के ग्रहण के लिए लोचन तो चाहिए। प्रतिभा आलोक दे सकती है दृष्टि नहीं। दृष्टि तो जन-मन को अपनी जाग्रत चेतना ही से प्राप्त होगी। जीवन के समग्र सत्य का प्रकाशित करने वाली प्रतिभा दुर्लभ है और उससे भी अधिक दुष्कर जन मन में उसके आलोक के ग्रहण के योग्य दृष्टि का उदय है। प्रतिभा उदासीन तो नहीं होती। चेतना की सजगता उसका लक्षण है। लोकहित की भावना उसकी व्यापक दृष्टि में समाहित है। इतना अवश्य है कि वह स्वार्थ, अधिकार और शासन की भावना से प्रेरित होकर प्रचलित अर्थ में नेतृत्व को नहीं अपना सकती। यही कारण है कि संसार का कोई प्रसिद्ध शासक उदार अर्थ में प्रतिभाशाली नहीं हुआ और कोई वस्तुत उदार प्रतिभा नेता न बन सकी। जितने प्रतिभाशाली नेता हुए हैं उनका नेतृत्व जीवन के समग्र सत्य को खण्डित करके ही सम्भव हो सका है। अपनी महत्ता का आरोपण और खण्डित सत्य का प्रचार इन प्रतिभाओं की दो मुख्य अपूर्णताएँ हैं। एकांगी अध्यात्म, सन्यास और वैभव के नेतृत्व मनुष्य के अज्ञान, परिग्रह और दीनता को चकित करके अधिक प्रभावशाली रहे हैं। इन नेतृत्वों की भ्रान्ति में भटकता हुआ समाज अपने सांस्कृतिक विकास के पथ पर सदा भ्रष्ट होता रहा है।

प्रतिभा और नेतृत्व दोनों का कर्त्तव्य समाज का जागरण और उसके सांस्कृतिक विकास में योग है। प्रतिभा तो सदा जीवन के समग्र अथवा आंशिक सत्य का उद्घाटन करती है। किन्तु नेतृत्व की दुर्बलताएँ सामाजिक चेतना के जागरण में सबसे अधिक बाधक होती हैं। राजाओं की सेना की भांति नेताओं के अनुचरों

का एक वर्ग बन जाता है। नेतृत्व की कल्पना ही भेद और विषमता पर आधारित है। अतः वह स्वतंत्रता और संस्कृति के समग्र सत्य का खण्डन करती है। प्रतिभा चेतना की समृद्धि की विभूति है। श्रेष्ठता के दंभ से उनके सत्य की समग्रता खण्डित हो जाती है। नेतृत्व स्पष्ट रूप से श्रेष्ठता का दम्भ और व्यवहार है। अतः वह असत्य पर आधारित है। इन दुर्बलताओं के कारण नेतृत्व संस्कृति के विकास मे बाधक है। क्रान्ति की घोषणा करते हुए भी वह अपने अधिकार और सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए निस्सार रूढियो का पोषण करता है। किसी क्रान्ति का पक्षपाती होते हुए भी नेतृत्व अपनी सत्ता के मोह मे उस क्रान्ति को ही रूढ बना देता है। रूढि का विरोध करने वाली क्रान्ति एक प्रतिक्रिया है जो विरोध मे ही सार्थक होती है। विरोध-मूलक होने के कारण वह प्राय निषेधात्मक होती है। निषेधात्मक होने के कारण ही वह रूढि बन जाती है। वास्तविक क्रान्ति जीवन की निरन्तर प्रगतिशील धारा है जो नदी की धारा के समान अपने प्रवाह के वेग से अपने स्वरूप को स्वच्छ रखती है। अनीति के आरूढ होने पर प्रगति के लिए विरोध और विनाश भी आवश्यक हो सकता है। किन्तु सांस्कृतिक प्रगति का वास्तविक रूप निर्माण ही है। अनीति से जीवन की सुरक्षा के साथ-साथ समाज के स्वास्थ्य, शिक्षा, श्रेय और सौन्दर्य के विकास की रचनात्मक योजना ही वास्तविक प्रगति है। जागरूक स्रष्टाओं के सृजन से ही इस रचनात्मक क्रान्ति की परम्परा अमर हो सकती है। स्रष्टाओं के सृजन के लिए विशेषत पुरुष का आत्मदान के प्रति अनुराग अपेक्षित है। आत्मदान के शिव के द्वारा ही सांस्कृतिक प्रगति की साधना सफल हो सकती है। शक्ति के द्वारा समाज की सुरक्षा तथा आत्मदान की प्रेरणा की स्फूर्ति के समन्वय में ही सांस्कृतिक प्रगति पूर्ण होती है।

इस सबन्ध मे इतना कहना होगा कि नेताओ की अपेक्षा साधारण पुरुष शिवम् मे सहयोग के इस उत्तरदायित्व को अधिक सफलता और सद्भावना के साथ निभाता आया है। नर के स्वभाव मे शिवम् का प्राकृतिक समवाय न होते हुए भी मानुषिक काम की तन्मय आत्मीयता और उनके साथ उद्भुत होने वाले पारिवारिक प्रेम की भूमिका मे उसके सांस्कृतिक जीवन मे आत्मदान के शिवम् का बहुत कुछ विकास हुआ है। पत्नी और सन्तान के प्रेम तथा परिवार के पालन में श्रम, त्याग और सेवा के द्वारा वह जीवन मे अपने शिवम् का बहुत कुछ प्रमाण देता रहा है। पारि-

वारिक जीवन की जिन परिस्थितियो को पुरुष ने स्वीकार किया उनके व्यावहारिक उत्तरदायित्व को वह बहुत कुछ निष्ठा और सफलता के साथ निभाता आया है। आदिम काल से यदि स्त्री का जीवन समर्पण और सेवा के द्वारा घर के भीतर पति और परिवार के पालन में बीता है, तो पुरुष का जीवन घर के बहार पत्नी और परिवार के पोषण के लिए श्रम और कष्ट उठाते, सकट और आपदाएँ झेलते तथा उनकी रक्षा के लिए सघर्ष और सगठन करते बीता है। यह सभव है कि पुरुष ने अपने स्वाभाविक अहकार के कारण पारिवारिक जीवन मे कुछ अधिकारो का आरोपण तथा कुछ विशेष सुविधाओ की आकाक्षा की हो। यह भी सभव है कि उसकी कुछ धारणाएँ जाने अनजाने कुछ अत्याचार का भी कारण बनी हो। यह भी सभव है कि समाज के कुछ उच्छृखल सदस्यो का अनर्गल व्यवहार अरक्षितो के लिए आतक और अत्याचार का कारण बना हो। किन्तु इन सबके मूल मे नर की अहकारमयी प्रकृति के अतिरिक्त उसकी सास्कृतिक चेतना के समुचित विकास अभाव भी है। सास्कृतिक चेतना का विकास मनुष्य के आत्म-जागरण से होता है। यह आत्म जागरण मनुष्य का व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व है। किन्तु चेतना का विकास बडे विवेकमय, निर्भीक और दृढ अध्यवसाय का फल है। इसके लिए शिक्षा और अवकाश चाहिए। आदिम काल मे जन साधारण की शिक्षा के लिए अधिक सुविधाएँ नही थी। एक दृष्टि से शिक्षा के इतिहास को मानवीय चेतना के विकास का इतिहास कहा जाय तो अनुचित न होगा। आधुनिक युग के महान् विचारक शिक्षा के क्षेत्र मे भी क्रान्तिकारी थे। शिक्षा मानवीय सस्कृति का तत्र है। शिक्षा की प्रणाली में मनुष्य की सास्कृतिक चेतना सामाजिक रूप मे अपने विकास का पथ खोजती है। किन्तु यह पथ की खोज स्वय बहुत कुछ शिक्षा पर निर्भर होती है। तात्पर्य यह है कि चेतना का जागरण स्वय अपना साध्य और दूसरी ओर स्वय अपना साधन है। अत यह समझना आवश्यक है कि आदिम और मध्य युगो मे जब मानवीय चेतना आज के समान इतनी विकसित थी, उस समय इस विकास का अभाव स्वय अपने विकास म बाधक रहा। अत यह स्वभाविक ही था कि मनुष्य के शिक्षा सबन्धी दृष्टिकोण और उसकी सास्कृतिक चेतना का विकास धीरे-धीरे और बहुत मन्द गति से हुआ है। चेतना के विकास की इस आत्मगत बाधा के साथ साथ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन तथा सामाजिक व्यवस्था की परिस्थितियाँ कठिनाइयाँ पैदा करती रही हैं। जागरण के पूर्व जीवन

का संरक्षण और पोषण आवश्यक है। मनुष्य के शिशु की असमर्थताओं तथा उसके विकास की भौतिक अपेक्षाओं के कारण स्त्री-पुरुष दोनों का बहुत कुछ समय और श्रम परिवार की बाह्य व्यवस्थाओं को जुटाने और सभालने में ही लग गया। मानवीय परिवार के पालको के इस उत्तरदायित्व ने उनके जीवन को बहुत कुछ व्यस्त बना यिदा। इस व्यस्तता में अवकाश का अभाव सास्कृतिक चेतना के जागरण में दूसरी बाधा बन गया। आदिम काल से लेकर आज तक साधारण लोगों का जीवन तो परिवार के पोषण के साधनों को जुटाने में ही बीतता रहा है। आज भी साधारण लोग जीविका तथा जीवन के साधनो को जुटाने मे ही जीवन अर्पित कर रहे हैं। यही कारण है कि प्राचीन काल में तथा मध्ययुग में संस्कृति और समाज के अधिकांश नेता वे ही लोग हुए हैं जो एकाकी जीवन, संन्यास, गृह-कलह, महत्वाकाक्षा आदि किसी भी कारण के संयोग से चिन्तन और नेतृत्व के लिए अवकाश पा सके। भारतीय जागरण का आरम्भ और विकास दोनों ही अधिक अंश में इन्हीं मुक्त पुरुषों की देन है। वेदो के निर्माता मत्रदृष्टा ऋषि थे, उन ऋषियो मे बहुत से गृहस्थ थे। किन्तु जीवन के सबन्ध मे कुछ त्यागमयी धारणाओं के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को सरल और उत्तरदायित्व को हल्का बना लिया था। फिर भी इन ग्रहस्थ ऋषियो का विचार इतना क्रान्तिकारी नहीं है। वैदिक विचार की परम्परा मे उपनिषदो की अन्तर्मुखता के अतिरिक्त और कोई क्रान्ति की धारा नहीं है। भारतीय विचार क्षेत्र मे क्रान्ति उपस्थित करने वाले सभी महान् नेता आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से समृद्ध और वृत्ति से सन्यासी, अतएव जीवन के भार से पूर्णतः मुक्त, थे। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, सूर, तुलसी, दयानन्द, विवेकानन्द, गान्धी और जवाहरलाल तक हमारी क्रान्ति के पीछे यही सिद्धान्त कार्य कर रहा है। सुकरात, ईसा, कान्ट आदि अनेक पश्चिमी नेताओं के सम्बन्ध में भी यह उतना ही सत्य है। मुहम्मद साहब, मार्क्स और फ्रायड के जीवन में यदि यह इतना लागू नही होता तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मार्क्स और फ्रायड की क्रान्ति सास्कृतिक की अपेक्षा प्राकृतिक जीवन की क्रान्ति अधिक है। मार्क्स और फ्रायड का उदय निःसन्देह हमारी सामाजिक व्यवस्था में अर्थ और काम के क्षेत्र में पुरातन काल से चले आने वाले दमन की प्रतिक्रिया है। इन दोनों के विचारो ने जहाँ एक ओर अर्थ और काम के क्षेत्र में होने वाले दमन से मुक्ति का द्वार खोला वहाँ दूसरी ओर दमन की प्रतिक्रिया के रूप में अर्थ और काम के एक अतिरंजित जीवन

को समर्थन और पोषण भी दिया। आधुनिक साहित्य मे दोनो के प्रभाव तथा आधुनिक जीवन के वैभव और विलास मे इसका प्रमाण मिल सकता है। यह वस्तुत अर्थ और काम के क्षेत्र मे दमन की प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रतिक्रिया का उद्देश्य तो मनुष्य के सास्कृतिक जीवन मे अर्थ और काम की स्वस्थ व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करना ही है। किन्तु सत्य यह है कि इन क्रान्तियो की प्राकृतिक सीमा मे इनके सास्कृतिक समन्वय की पर्याप्त प्रेरणाएँ नही हैं। मनुष्य के सत्ता और स्वास्थ्य मे अर्थ और काम का घनिष्ठ सबन्ध होने के कारण ये क्रान्तियाँ इतनी दूर-व्यापी हुई हैं। प्रकृति के इस जागरण मे सास्कृतिक चेतना का सस्कार मिलने पर ये क्रातियाँ अपने उद्देश्य मे सफल हो सकती हैं। इतना अवश्य कहना होगा कि इन क्रातियो के कठोर सत्य ने मनुष्य के इतिहास मे युगो से पलती हुई अनेक भ्रातियो को खडित कर दिया है तथा सामाजिक व्यवस्था म पैदा हुई अनेक विषमताओ को एक कडी चुनौती दी है। इस अभ्रान्त चुनौती की चपेट मे हमारी समस्त प्राचीन व्यवस्था के जर्जर मूल काप उठे हैं और सभ्यता एक नये निर्माण की दिशा खोज रही है।

इसके पहले पूर्व और पश्चिम मे जितनी भी क्रान्तियाँ हुई उन सबका उद्देश्य मुख्यत सास्कृतिक था। धर्म, ज्ञान, आचार आदि इन क्रातियो के प्रमुख क्षेत्र थे। वैदिक युग की विचारधारा मे इतनी अधिक क्रान्ति नही थी क्योकि उस विचार धारा के निर्माता एक सरल पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। उपनिषद् काल मे कदाचित् सामाजिक और राजनीतिक स्थिति मे शान्ति और निर्द्वन्द्वता होने के कारण आध्यात्मिकता और अन्तर्मुखता का अनुपात कुछ बढ गया। महावीर और बुद्ध की सन्यास मुखी विचार-धारा ने इसे ऐसी प्रबल प्रेरणा दी कि ढाई हजार वर्षों से यह पूर्व-एशिया की चेतना को शासित कर रही है। पारिवारिक व्यस्तता मे सुरक्षा और शान्ति का भी अभिलाषी मानव इसे अपनी श्रद्धा का कर देता आया है। जीवन के पारिवारिक उत्तरदायित्वो से अपने को मुक्त करके इन विरागी विचारको ने जो जीवन-दर्शन जनता के सामने रखा उसका अपूर्ण रहना स्वाभाविक था। साधारण मनुष्य के पारिवारिक जीवन की कठिनाइयो का समाधान अथवा उसकी अपेक्षाओं का समाहार इसमें सभव नहीं था। जीवन के सभी उत्तरदायित्वों को वे त्याग चुके थे और जो अल्प अपेक्षाएँ उनके जीवन में शेष रह गयी थीं उनकी व्यवस्था उनके नेतृत्व मे अनायास समाहित हो गयी थी। अत जीवन के साधन-

पक्ष के महत्व को वे पर्याप्त गौरव नहीं दे सके। इसका परिणाम एकांगी अध्यात्म का प्रतिपादन और प्रचार हुआ। जीवन से अतीत इस अध्यात्म को भारतीय मुनियों और मनीषियों ने इतनी ऊँचाई पर पहुँचा दिया कि साधारण जनता की दृष्टि उससे चकाचौंध हो गयी। इनके त्याग और वैराग्य के सामने लोगों को अपना लौकिक जीवन तुच्छ और हेय प्रकट होने लगा। महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, गान्धी, जवाहरलाल आदि के राजसी और वैभवमय पूर्व जीवन के साथ तीव्र विरोध और महान अन्तर रखने के कारण इनके त्याग की महिमा और भी दीप्त हो उठी। इसी दीप्ति के चकाचौंध में भारतीय जनता युगों से जीवन के भ्रान्त पथ में भटक रही है। यह चकाचौंध उनकी दृष्टि को इतना तिलमिलाता रहा है कि वह आँख खोलकर न अपने लोक जीवन के गौरव को ही पहचान सकी और न सन्यासियों के एकांगी अध्यात्म की अपूर्णताओं को ही परख सकी।

विश्व के, तथा विशेषतः भारतवर्ष के, इतिहास में धर्म, संस्कृति और विचार के क्षेत्र में इन्हीं अद्भुत राज-पुरुषों का नेतृत्व रहा है। शंकराचार्य, विवेकानन्द, ईसा आदि की भाँति जिनके पास राजसी कुलीनता की कीर्ति नहीं थी उसे उनके ओजस्वी व्यक्तित्व और उनकी वर्चस्वी प्रतिभा ने पूरा किया। त्याग, वैराग्य और प्रतिभा के संयोग से अपूर्ण होते हुए भी इनका दर्शन और नेतृत्व इतना प्रभावशाली बन गया कि आज भी लोक का मानस इनके प्रभावों से मुक्त होकर जीवन का एक स्वतंत्र सन्तुलित और समन्वित दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ नहीं है। साधारण लोगों की जो भौतिक और पारिवारिक कठिनाइयाँ उनकी चेतना के जागरण में पहले बाधक थीं वे ही अब भी बाधक बनी हुई हैं। इन्हीं कठिनाइयों ने इन राजर्षियों के नेतृत्व को अवसर दिया। शिक्षा, विचार और जागरण की कमी के कारण साधारण जनता संस्कृति के इतिहास में किसी देवदूत की अनुयायी बनकर चलने में ही अपनी कृतार्थता मानती आयी है। भारत की संस्कृति सबसे प्राचीन, दृढ़ और प्रभावशाली है। इसलिए यह अनुगमन की भावना भारतीयों में सबसे अधिक रही है। इसी कारण जीवन की परिस्थितियों में छिपी हुई आशंकाओं तथा बाहरी आतंकों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को अभ्रान्त रूप में समझने में वह इतनी कम जागरूक रही है। संसार के अन्य किसी भी देश में राजर्षियों का इतना दीर्घ और प्रभावशाली नेतृत्व नहीं रहा। दूसरे देशों के मनीषियों में वैभव के त्याग की भूमिका न होने के कारण न उनके विचार ने और न

अनेक व्यक्तित्व तथा जीवन ने जनता को इतनी प्रबलता के साथ प्रभावित किया और न वे उसके मन में लोक जीवन के प्रति विरक्ति का भाव ही उत्पन्न कर सके। भारत के एकांगी अध्यात्म ने और प्रणेताओं के राजसी प्रभाव ने भारतीय जनता की लोक संग्रह भावना को इतना दुर्बल बना दिया कि वह अपने आतंक पूर्ण इतिहास में न कभी सजग और संगठित होकर अपने लौकिक स्वार्थों की रक्षा के लिए उद्यत हुई और न कभी अनीति से क्षुब्ध होकर उसके प्रतिरोध के लिए संगठित क्रान्ति की योजना बना सकी। दूसरे देशों के नेतृत्व में त्याग और वैराग्य का चकाचौंध न होने के कारण इन देशों की जनता का लोक संग्रह का भाव कुंठित नहीं हुआ। धर्म का साम्राज्य समाप्त होने के बाद योरोपीय देशों में राजनीतिक उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का उत्साह इसी अकुंठित परिग्रह भावना से उदित हुआ था। भारतवर्ष की ऐतिहासिक पराजय इसी कुंठित परिग्रह भावना का फल है। यद्यपि यह सत्य है कि परिग्रह की मानवीय मर्यादा ही नवीन संस्कृति का आधार बनेगी। किन्तु इस मर्यादा के संतोष में लौकिक जीवन के गौरव और साधारण जीवन धर्मों के महत्व का समुचित समन्वय होगा। यह भी सत्य है कि पश्चिम के इसी परिग्रह प्रेम ने साम्राज्यवाद का रूप लेकर विश्व-शान्ति के लिए सबसे बड़े संकट को उत्पन्न किया है। तात्पर्य यह है कि पूर्व का त्यागपूर्ण और एकांगी अध्यात्म ही पूर्व की असफलता रहा और दूसरी ओर पश्चिम का उत्साह पूर्ण परिग्रहवाद सफल रहा। किन्तु यह सफलता और असफलता एक दृष्टि से है और दूसरी दृष्टि से इसे पूर्ण बनाने की आवश्यकता है। इस पूर्ति के लिए पूर्व को अपने आध्यात्मिक संस्कारों में परिग्रह की मर्यादा और उसके गौरव का समन्वय करना होगा। दूसरी ओर पश्चिम को एक असाधारण त्याग का दृष्टिकोण अपनाकर अपने साम्राज्यवादी इतिहास का परिशोध करना होगा तथा अपने परिग्रह की इस मर्यादा को एक अपूर्व अध्यात्म से अनुप्राणित करना होगा। तभी पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों की ध्रुवाएँ एक अपूर्व सन्तुलन प्राप्तकर विश्व की शान्ति को प्रेरणा दे सकेंगी।

संस्कृति के इस सन्तुलित और समन्वित दृष्टिकोण में जनमानस के साथ पूर्ण सम्वादिता होगी तथा लोक जीवन की पारिवारिक और व्यवहारिक परिस्थितियों के साथ इसकी पूर्ण संगति होगी। नयी सभ्यता का यह रूप जन-जागरण से उत्पन्न तथा जन चिन्तन के द्वारा प्रतिष्ठित होगा। जिस प्रकार राज-संस्कृति में [illegible]

मे शिवम् और सुन्दरम् का पूर्ण समन्वय है, उसी प्रकार इस लोक-चिन्तन में सत्य के पूर्ण रूप का उद्भावन होगा। आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद की भाँति जब बौद्धिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद तथा सामान्तवाद का अन्त होगा तभी *लोक-मानस मे पूर्ण और स्वस्थ संस्कृति का राज-कमल विकसित होगा।* इस नवीन संस्कृति की क्रान्ति के लिए औद्योगिक सहकार की भाँति बौद्धिक सहयोग तथा सहचिन्तन को शिक्षा के बीज-मंत्र के रूप मे प्रतिष्ठित करना होगा। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदि के क्षेत्र मे प्रचार और आरोपण का जो अपार महत्त्व बढ गया है उसके स्थान पर विचार के *स्वतंत्र विकास तथा मानसिक सहयोग की* प्रणाली को आदर देना होगा।

मानवीय जीवन और संस्कृति की जिस सृजनात्मक और प्रगतिशील परम्परा का निर्देश इस प्रकरण के आरम्भ मे किया गया है उसकी स्वच्छ दृष्टि उदार और *उज्ज्वल प्रतिभा ही प्रदान करती है। मानवीय चेतना के ज्योतिर्मय कमल मे* प्रतिभा के इस समग्र रूप के दल धीरे-धीरे विकसित हो रहे हैं। प्रतिभा के अनुरूप उदार होने पर सामाजिक और राजनीतिक नेतृत्व भी इसमे सहायक हो सकता है। सहायक ही नही वरन् प्रतिभा की दृष्टि को जीवन के सांस्कृतिक विकास मे चरि-*तार्थ करने मे नेतृत्व का एक व्यावहारिक उपयोग है। यह स्पष्ट है कि अधिकार,* **सत्ता और शासन के मोह से मुक्त होने पर ही यह नेतृत्व समाज का उपकारक हो सकता है।** अन्यथा एक ओर क्रान्ति का उद्योग करते हुए भी दूसरी ओर वह एक रूढ़िका प्रतिष्ठापन करता है। ऐतिहासिक क्रान्तियो मे प्राय यही हुआ है। *विनाशात्मक होने के साथ-साथ रचनात्मक होने पर क्रान्ति प्रगति का पथ प्रशस्त* कर सकती है। विनाश के लिए अनीति के प्रति असहिष्णुता, अमर्ष और क्रूरता भी अपेक्षित है, किन्तु दूसरी ओर प्रगति का द्वार खोलने के लिए हृदय का उदार विस्तार अपेक्षित है। **विनाश की क्षमता को एक अर्थ में हम शक्ति कह सकते हैं। हृदय की उदारता स्पष्टत· प्रेम है। प्रतिभा का आलोक मूलत· ज्ञान है। वह सांस्कृतिक जीवन की एक स्वच्छ दृष्टि है।** ज्ञान से आलोकित होने पर शक्ति के द्वारा होने वाला विनाश भी श्रेय के लिए ही होता है और वह प्रेम, मोह अथवा दुर्बलता नही बन पाता। **शक्ति से समन्वित ज्ञान ही संस्कृति को प्रकाश देने में समर्थ होता है तथा शक्ति से युक्त प्रेम ही पूर्ण होता है।** इसीलिए दिव्य और महान् चरित्र मे शक्ति और प्रेम दोनो का समन्वय मिलता है। भवभूति के 'वज्रादपि

कठोराणि मृदूनि कुसमादपि' का यही मर्म है। दुर्गा सप्तशती म भगवती दुर्गा के चरित्र मे 'चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च' का भी यही रहस्य है। अनीति क दलन मे राम और कृष्ण के अवतारो तथा दुर्गा के पराक्रमा मे सज्जनो क प्रति उदार प्रेम की करुणा और आततायियो के प्रति वज्रकठोर शक्ति का समन्वय महत्त्वपूर्ण है।

नेतृत्व की अपेक्षा क्रान्ति और प्रगति दोनो म प्रतिभा का सहयोग साहित्य दर्शन, कला और काव्य क माध्यम से अधिक होता है। अपनी उदारता और स्वच्छता के कारण प्रतिभा सत्ताकामी नेतृत्व मे अधिक रुचि नही रखती। साहित्य और कला क रूपा मे सभी समान रूप से प्रभावशाली नही होते। साहित्य में दर्शन जीवन की दृष्टि है। प्राय प्रतिभा दर्शन के दृगो से ही अपने आलोक को प्रकाशित करती है। सगीत, भाव और रागात्मिका वृत्ति का समन्वय होने के कारण कला के रूपो मे काव्य का प्रभाव अधिक रहा है। आधुनिक युग म कहानी और उपन्यास का प्रभाव अधिक बढ रहा है। साहित्य के सभी रूपा म जीवन की आकृतियो की व्यजना होती है। अपने रूप और युग की वृत्ति के अनुरूप साहित्य के सभी रूप अपना महत्व रखते हैं फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि काव्य के रूप और व्यजना मे एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण उसम हृदय के मर्म को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति है। आधुनिक युग को छोडकर प्राचीनकाल और मध्य-युग म साहित्य म काव्य की ही प्रधानता रही है। सगीतमय शब्द समात्मभाव का सर्वोत्तम माध्यम होने के कारण श्रेय और सौन्दर्य के समन्वय का सर्वोत्तम सूत्र है। हृदय के मर्म को स्पर्श करके काव्य जीवन की तत्व-दृष्टि को प्रेरणा की स्फूर्ति देता है। काव्य के प्रभावशाली रूप म समाहित होकर शान्ति और प्रगति की कल्पनायें समाज की सक्रिय शक्तियाँ बन सकती हैं। इस दृष्टि से काव्य के इतिहास पर विचार करने से जीवन के श्रय और सत्य के साथ कवि प्रतिभाओ के सम्पर्क की व्यापकता और गम्भीरता का ज्ञान हो सकता है। इतिवृत्तो, प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन तथा कुछ सामाजिक स्थितियो और चरित्रो के चित्रण मे ही कवि-कर्म पूर्ण नहीं है। व्यजना का चमत्कार तथा अलकार का सौन्दर्य और भी कम महत्वपूर्ण है। आकृति का विस्तार और उसकी गम्भीरता ही काव्य का सर्वोत्तम मानदड है। इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि शान्ति और प्रगति की अपेक्षा परम्परा, प्रकृति और सौन्दर्य के प्रति कवियो की प्रतिभा का अनुराग अधिक रहा

है। वाल्मीकि रामायण के अन्त और रघुवंश के आरम्भिक सर्गों के अतिरिक्त जीवन की सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान काव्य में दुर्लभ है। संस्कृत और हिन्दी के महान् कवियों में जीवन के यथार्थ का ग्रहण बहुत सम्पन्न रूप में मिलता है। वाल्मीकि और कालिदास में भारत की सुन्दर प्रकृति के चित्रण अवलोकनीय हैं। दोनों में भारतीय संस्कृति की तत्कालीन स्थितियों का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। किन्तु कामसूत्र और काव्य शास्त्र के प्रभाव से कालिदास से ही शृंगार और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अनुराग बढ़ता दिखाई देता है। इस प्रकार कालिदास के बाद काव्य में परम्परा और भी अधिक निर्जीव हो जाती है तथा शृंगार और सौन्दर्य का अनुराग ही बढ़ता जाता है। भवभूति और भारवि को छोड़कर कालिदास के बाद के संस्कृत काव्य में इस प्रवृत्ति का विकास स्पष्ट है। क्रान्ति और प्रगति की सशक्त और सृजनात्मक परम्परा के सूत्र तो वाल्मीकि और कालिदास में भी नहीं मिलते। वस्तुत क्रान्ति और प्रगति की क्षमता भारतीय संस्कृति की चेतना में उत्तर वैदिक काल में ही मन्द हो चली थी। अधिकार सत्ता और शासन के अभिलाषी नेतृत्व की परम्परा उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। समाज और संस्कृति में आध्यात्मिक और धार्मिक परम्पराओं का पिष्टपेषण होता रहा। कला और काव्य प्रमुखत सौन्दर्य के साधक बनकर धार्मिक और राजनीतिक नेतृत्व का अलंकरण करते रहे। राजसत्ता, धर्म और कला के संयोग से वैभवपूर्ण वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। राम और कृष्ण राजकुल के वंशधर ही नहीं थे, धर्म-परम्परा में उनकी प्रतिष्ठा भी राजाओं के ही अनुरूप है। क्रान्ति और प्रगति की प्रतिभा से अपरिचित जनता दोनों की समान भाव से पूजा करती रही है। उन दोनों की दया पर ही उसका जीवन निर्भर रहा है।

नेतृत्व की सत्ता और उसके वैभव की पूजा एक दीर्घ परम्परा के कारण इतनी दृढ़ हो गई थी कि वाल्मीकि और जयशंकरप्रसाद के बीच में कोई भी ऐसी क्रान्तिदर्शी प्रतिभा उत्पन्न न हो सकी जो जनता को आत्मगौरव, जागरण और प्रगति का संदेश दे सकती। हिन्दी के आरम्भिक युग के वीर काव्य राजाओं के वीरत्व की ही गाथायें हैं, उनमें जनता के गौरव और जागरण का मन्त्र नहीं है। इसीलिए पराधीनता के उस आरम्भिक युग में भी कोई काव्य स्वाधीनता की क्रान्ति का शंखनाद न बन सका। भक्ति काव्य में वीरगाथाओं के राजाओं

का स्थान भगवान ले लेते हैं। किन्तु जनता के जीवन के लिए दोनों का फल समान है। अपनी दीनता और हीनता में सतुष्ट रहकर राजा और भगवान दोनों के ऐश्वर्य की पूजा तथा उनकी अपार विभूति से कुछ प्रसाद पाने की अभिलाषा ही जनता की एक मात्र कामना रह गई थी। परम्परा के गौरव और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का सन्निधान करके काव्य जनता की इस भ्रान्ति का पोषण करता रहा। रीतिकाल में परम्परा जड़ हो जाने के कारण प्राचीन परम्परा का सूत्र भी विच्छिन्न हो गया और राजाओं के अनुकरण से भगवान शृगारिक नायक नायिकाओं के प्रतीक बन गये। परम्परा जीवन का यथार्थ है। जीवन के यथार्थ से दूर होकर कविता कल्पना का चमत्कार बनी। शृगार और अभिव्यक्ति में प्रकृति और सौन्दर्य ही कविता के सर्वस्व रह गये। इन्हीं सस्कारों को लेकर आधुनिक युग का छायावादी काव्य उदय हुआ। छायावाद के शृगार और सौन्दर्य के वातावरण में प्रसाद की क्रान्तिदर्शिनी प्रतिभा का उदय भारतीय काव्य के इतिहास में अपूर्व है। प्रसाद के नाटकों में जातीय जागरण का जो उदात्त स्वर सुनाई पड़ता है वह पूर्वकाल के काव्य में दुर्लभ है। यद्यपि प्रसाद की क्रान्ति का यह स्वर भी राज्य क्रान्ति के रूप में ही है फिर भी उनके नाटकों में जागरण के व्यापक सूत्र विद्यमान हैं। 'कामायनी' महाकाव्य में प्रकृति और परम्परा की भूमिका पर सास्कृतिक साधना और प्रगति का अर्थगर्भित प्रतीक ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। परम्परा और प्रगति का जो अद्भुत समन्वय जयशंकरप्रसाद में मिलता है वह भारतीय काव्य में अत्यन्त दुर्लभ है। इस दृष्टि से प्रसाद की प्रतिभा तुलसी और रवीन्द्र से भी अधिक उदात्त और उज्ज्वल है। प्रसाद की क्रान्तिदर्शी प्रतिभा का आलोक लेकर 'दिनकर' हिन्दी काव्य के क्षितिज पर उदित हुए। उनके 'रश्मिरथी' में प्राचीन इतिहास का एक उदात्त चरित्र अकित है। 'कुरुक्षेत्र' में रूढियों से प्रसूत समस्याओं का गभीर मन्थन है। उसमें क्रान्ति के बीज हैं। प्रगतिवादी काव्य के विद्रोह और अन्य कवियों की विधायक कल्पना के समन्वय से काव्य और सस्कृति के क्षेत्र में एक स्वस्थ, समृद्ध और प्रगतिशील परम्परा का विकास होगा, ऐसी आशा करना युग की सभावनाओं और कवि-प्रतिभा की क्षमताओं के अनुरूप है।

सुन्दरम्

अध्याय ४६

रूप और सौन्दर्य

कला और सस्कृति मे सौन्दर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। 'कला' सस्कृति का एक प्रधान अग है तथा सौन्दर्य कला का सार है। बहुत कुछ कल्पना की सृष्टि होने के कारण कला मे 'सत्य' का स्थान सदिग्ध रहता है। 'श्रेय' के साथ कला का सम्बन्ध भी बहुत विवादग्रस्त है। किन्तु सस्कृति और कला के प्रसग मे 'सौन्दर्य' की महिमा सभी को मान्य है।

सौन्दर्य का आकर्षण सहज होने के कारण सामान्यत सभी उससे परिचित हैं। सौन्दर्य का मनुष्य की आत्मा से कुछ ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध है कि सौन्दर्य के अनुभव, आस्वादन और आनन्द के लिये उसके स्वरूप का परिचय आवश्यक नही है। समझने की अपेक्षा सौन्दर्य आस्वादन की वस्तु अधिक है। हम सौन्दर्य के लक्षणो को न समझने पर भी उस पर मुग्ध होते हैं और उसे सराहते हैं।

सराहने की अपेक्षा सौन्दर्य को समझना अधिक कठिन है। सौन्दर्य का सम्मोहन मनुष्य के मन पर सौन्दर्य के सहज प्रभाव के रूप मे प्रकट होता है। किन्तु सौन्दर्य को समझना एक बौद्धिक व्यापार है। सौन्दर्य कहाँ तक बुद्धि का विषय है और किस सीमा तक विश्लेषण के द्वारा उसके स्वरूप को समझा जा सकता है, यह सदिग्ध है। फिर भी मनुष्य जैसा बौद्धिक प्राणी सौन्दर्य के केवल सहज सम्मोहन से सतुष्ट नही रह सकता। जहाँ तक सम्भव रहा है, उसने सौन्दर्य के स्वरूप का विश्लेषण किया है। सौन्दर्य-शास्त्र इसी विश्लेषण का परिणाम है।

मनुष्य की चेतना के इतिहास मे साधारण जनो मे सौन्दर्य का सम्मोहन, कलाकारो के द्वारा कलाकृतियो मे सौन्दर्य का सर्जन और विचारको द्वारा सौन्दर्य के स्वरूप का विश्लेषण—ये तीनो व्यापार समानान्तर गति मे चलते रहे हैं। इन तीनो व्यापारो मे परस्पर तथा इनमे एक व्यापार के अन्तर्गत भी प्राय मतभेद रहता है। कुछ लोग अपनी रुचि के अनुसार जिस वस्तु को सुन्दर मानते हैं, उसे दूसरे लोग सुन्दर नही मानते। कलाकृतियो मे सौन्दर्य को साकार करने की प्रणालियाँ इतिहास

मे बदलती रही हैं। किन्तु सौन्दर्य के विचारकों में सबसे अधिक मतभेद है। दर्शन के सिद्धान्तो की भाँति सौन्दर्य की परिभाषायें भी असंख्य हैं। साधारण जनो की सौन्दर्य विषयक धारणाओं तथा कलाकारों की कृतियो के सौन्दर्य के स्वरूप मे प्राय बहुत समानता मिलती है। इसके विपरीत विचारकों मे सौन्दर्य के सम्बन्ध मे सबसे अधिक मतभेद मिलता है।

इस मतभेद के बीच सौन्दर्य की भारतीय धारणा एक अत्यन्त मान्य सिद्धान्त का सकेत करती है। इस सिद्धान्त का सूत्र सस्कृत भाषा के 'रूप' शब्द में निहित है। संस्कृत साहित्य मे रूप' शब्द का प्रयोग प्राय 'सौन्दर्य के पर्याय के रूप मे होता है। कालिदास ने अपने काव्य मे अनेक स्थानो पर 'रूप' शब्द का प्रयोग 'सौन्दर्य के अर्थ मे किया है। 'कुमार सम्भव' मे मदनदहन के बाद शिव का प्रसन्न करने म असफल रहने पर पार्वती अपने 'रूप' (अर्थात् सौन्दर्य) की निन्दा करती हैं (निनिन्द रूप हृदयेन पार्वती—सर्ग ५–१) 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे शकुन्तला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि 'मानो विधाता ने विश्व के समस्त रूप (अर्थात सौन्दर्य) के सचय से शकुन्तला की रचना की है' (रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृता नु—अक २) 'सौन्दर्य के पर्याय के रूप म 'रूप शब्द का यह प्रयोग सौन्दर्य के मर्म का गम्भीर सकेत करता है। सस्कृत जैसी गम्भीर भाषा मे शब्दों का प्रयोग आकस्मिक नही है। सस्कृत भाषा के शब्द विषयो और तत्वो के यदृच्छागत प्रतीक मात्र नहीं हैं, वरन् वे अत्यन्त सार्थक प्रतीक हैं। उनमे गम्भीर सिद्धान्तो के तत्व समाहित हैं। 'सौन्दर्य के पर्याय के रूप मे 'रूप' शब्द का प्रयोग भी सस्कृत भाषा की इस अर्थ-सम्पन्नता का द्योतक है। कदाचित 'रूप' में 'सौन्दर्य' का गूढतम रहस्य निहित है।

'सौन्दर्य' के पर्याय के रूप मे 'रूप' शब्द का प्रयोग सबसे अधिक सीमित है। एक प्रकार से जिस 'सौन्दर्य' के लिए 'रूप' का प्रयोग होता है वह भी सौन्दर्य का एक विशेष और सीमित रूप ही है। प्राय मनुष्यो, विशेषत स्त्रियो, के सौन्दर्य के लिए 'रूप' शब्द का प्रयोग काव्य और लोक-व्यवहार मे अधिक प्रचलित हैं। अन्य पदार्थों के सौन्दर्य के लिए भी 'रूप' का प्रयोग सम्भव और समीचीन है, किन्तु व्यवहार मे वह अधिक प्रचलित नही है। 'सौन्दर्य' और 'रूप' दोनो के व्यापक अर्थ का अनुसधान करने पर 'रूप' और सौन्दर्य का पर्याय-भाव अधिक व्यापक रूप मे प्रमाणित हो सकेगा तथा सौन्दर्य का अधिक व्यापक रहस्य प्रकट होगा।

व्यापक अर्थ में सौन्दर्य मनुष्य अथवा स्त्रियो अथवा पदार्थों की सुषमा तक ही सीमित नही है, वह काव्य एव कला की रचनाओ का भी लक्षण है। कलात्मक कृतियो मे सौन्दर्य का व्यापक रूप मिलता है। 'कला' सौन्दर्य की रचना है। मनुष्यों और पदार्थों का सौन्दर्य भी कला के सौन्दर्य से पूर्णत भिन्न नही है। दोनो में सौन्दर्य का एक सामान्य लक्षण खोजा जा सकता है। सभी कलाएँ दृश्य रूप की रचना नही हैं। काव्य का सौन्दर्य पूर्णत दृश्य नही है। मनुष्यो का सौन्दर्य भी उनके दृश्य रूप मे ही समाप्त नही हो जाता। यद्यपि सामान्यत मनुष्यो के दृश्य रूप मे ही हम सौन्दर्य देखते हैं, किन्तु मनुष्यो के सौन्दर्य का भी एक सूक्ष्म और दृश्येतर पक्ष है जिसे हम सौन्दर्य का भाव पक्ष कह सकते हैं। मनुष्यो के सौन्दर्य का यह दृश्येतर भावपक्ष कलात्मक सौन्दर्य के साथ उसकी समानता के सामान्य सूत्र का संकेत करता है।

व्यापक अर्थ मे 'सौन्दर्य' केवल 'दृश्य रूप' नही है। इसी प्रकार व्यापक अर्थ मे 'रूप' भी केवल दृश्य रूप अथवा आकार नही है। व्यापक अर्थ में 'रूप' शब्द अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) का समानार्थक है। अग्रेजी का 'फ़ौर्म' अभिव्यक्ति के सभी प्रकारो को अपनी व्यापक परिधि मे समाहित कर लेता है। पदार्थों तथा कलाकृतियो की अभिव्यक्ति के सभी रूप इसके अन्तर्गत आजाते हैं। 'वस्तु-तत्व' से भिन्न अभिव्यक्ति के समस्त रूप 'फौर्म' (Form) के द्वारा लक्षित होते हैं। सस्कृत का 'रूप' शब्द भी व्यापक अर्थ मे अभिव्यक्ति के इन समस्त रूपो को लक्षित करता है और इस प्रकार वह अग्रेजो के 'फौर्म' का समानार्थक बन जाता है। इस व्यापक अर्थ मे 'रूप' अथवा 'फौर्म' का प्रयोग सुन्दर पदार्थ अथवा कृतियो तक ही सीमित नही है, वरन् वह सभी पदार्थों को अपनी परिधि मे समाहित करता है। सत्ता तथा अभिव्यक्ति के सभी प्रकारो का कोई रूप होता है, उन सबकी कोई 'फौर्म' (Form) होती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक वस्तु का एक 'आकार' होता है। इस 'आकार' को हम 'रूप' (Form) का अल्पतम रूप मान सकते हैं। यह आकार वस्तु की रूपरेखा मात्र है। वर्ण (रग), कान्ति आदि इस आकार के अन्तर्गत 'रूप' (Form) के अन्य अतिरिक्त प्रतिरूप हैं। वस्तुओ, चित्रो, शरीर, सगीत आदि मे विन्यास की लय मे 'रूप' (Form) की अन्य विधाएँ प्रकट होती हैं। भौतिक वस्तुओ का रूप 'चाक्षुप' होता है। सगीत का लयात्मक रूप 'श्रव्य' है। चित्रकला, सगीत, काव्य आदि कलाओ के 'रूपो' (Forms) में ऐन्द्रिक पक्ष

के अतिरिक्त एक मानसिक पक्ष भी होता है। दृश्य अथवा चाक्षुष रूपो मे मनुष्य देह के समान कुछ रूपो (Forms) मे विशेष रूप से सौन्दर्य की स्थापना की जाती है। इसी विशेष प्रयोग मे 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना है।

रूप के इन व्यापक और विशेष प्रयोगो का परिक्षण करने पर 'रूप' और 'सौन्दर्य' के पर्याय भाव का रहस्य अधिक प्रकट हो सकता है। व्यापक और सामान्य प्रयोग म 'रूप' को अग्रेजी के 'फौर्म' (Form) का समानार्थक मानकर उसको अभिव्यक्ति का माध्यम कहा जा सकता है। कोई भी भौतिक सत्ता अथवा मानसिक तत्व (Matter) जिस माध्यम के द्वारा अपने को व्यक्त करता है उसे 'रूप' (Form) कह सकते हैं। अभिव्यक्ति के ये रूप ऐन्द्रिक और मानसिक दोनो प्रकार के होते हैं। भौतिक और प्राकृतिक पदार्थो मे तथा मूर्ति कला मे अभिव्यक्ति के रूप ऐन्द्रिक होते हैं। सगीत का रूप श्रव्य है। काव्य का रूप प्रधानत मानसिक है। साधारणत इन सभी ऐन्द्रिक और मानसिक रूपो को 'सुन्दर' नही माना जाता। अत 'सौन्दर्य' के साथ 'रूप' का पर्याय भाव इस व्यापक और सामान्य प्रयोग मे प्रकट नही है।

व्यापक अर्थ मे अग्रेगी के 'फौर्म' के समानार्थक सभी 'रूप' सुन्दर नही माने जाते। सस्कृत के 'रूप' शब्द के समान अग्रेजी के 'फौर्म' मे सौन्दर्य का भाव स्पष्ट नही है। रूप-मात्र को 'सुन्दर' मानने पर समस्त सत्ता और अभिव्यक्ति को सुन्दर मानना होगा। यह सौन्दर्य का सबसे व्यापक भाव है। दूसरी ओर 'सौन्दर्य' के स्पष्ट पर्याय के अर्थ मे 'रूप' का सीमित प्रयोग सुन्दर प्राकृतिक पदार्थो, विशेषत मानुषी आकृतियो, तक ही सीमित है। इन दो सीमाओ के बीच 'रूप' (Form) के अन्य ऐन्द्रिक तथा मानसिक भेद आते हैं। भौतिक पदार्थो तथा मूर्तकलाओ के रूप चाक्षुष होने हैं। दर्शनो मे रूप को चाक्षुष ही माना गया है। चाक्षुप क्षेत्र से आगे बढने पर 'रूप' अग्रेजी के 'फौर्म' (Form) की व्यापकता की ओर बढने लगता है। सगीत का रूप श्रव्य है। काव्य का रूप प्रधानत मानसिक है। ऐन्द्रिक रूपो मे भी कुछ मानसिक रूप का समवाय रहता है। चाक्षुप रूपो की परिधि को 'आकार' कहते हैं। आकार मे 'रूप' एक रूप-रेखा मात्र रह जाता है। अल्पनाओ (Designs) मे आकार मात्र मे भी सौन्दर्य प्रकट होता है। मानुषी देह मे चाक्षुप रूप का क्षेत्र सबसे अधिक सीमित हो जाता है। किन्तु भाषा और व्यवहार मे इसी सीमित प्रयोग मे 'रूप' शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना है। मानुषी

देह के सौन्दर्य का विश्लेषण करने पर 'रूप' शब्द के साथ 'सौन्दर्य' के पर्याय भाव का मर्म तथा सौन्दर्य के स्वरूप का रहस्य दोनों एक साथ प्रकट होंगे।

प्राकृतिक पदार्थ होने के कारण मनुष्य की देह भी एक चाक्षुष रूप व आकार में व्यक्त होती है। देह का यह आकार रूप-रेखा मात्र नहीं है। इस आकार के अन्तर्गत वर्ण और कान्ति की छवि से आच्छादित मांस तत्व का विन्यास निहित है। पशुओं की तुलना में इस देह विन्यास में 'अतिशय' दिखाई देता है। वर्ण का अतिशय जिन पशु-पक्षियों के रूप में हमें दिखाई देता है उन्हें भी हम सुन्दर कहते हैं। मनुष्य की देह में गठन का भी अतिशय है। मनुष्य, विशेषत स्त्रियों के कपोल, बाहु, वक्ष जघन आदि में इस गठन में अतिशय का अंश स्पष्ट है। इस अतिशय को हम 'रूप का अतिशय' कह सकते हैं। **यह 'रूप का अतिशय' ही सौन्दर्य का मर्म है और इसी मर्म के सूत्र से 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना है।** देह के गठन में वर्तुल मांस-पेशियों के विन्यास की लय 'रूप के अतिशय' की वृद्धि करती है। विस्तार और विन्यास के रूप में 'रूप का यह अतिशय' अन्य कला कृतियों में भी मिल सकता है। संगीत का स्वर-संतान और स्वर-विन्यास इस अतिशय का एक उदाहरण है जो संगीत में सौन्दर्य को समाहित करता है। इसके अतिरिक्त 'रूप' के विस्तार और विन्यास में रचनात्मकता, निष्प्रयोगिता आदि के रूप में भी 'अतिशय' मिलता है। **इस प्रकार रूप के 'अतिशय' के उत्तरोत्तर जटिल रूपों के द्वारा प्रकृति और कला का सौन्दर्य समृद्ध होता है।**

संस्कृत के 'रूप' का प्रमुख और प्रसिद्ध भाव सौन्दर्य ही है। काव्य और लोक-व्यवहार दोनों में ही 'रूप' का प्रयोग 'सौन्दर्य' के अर्थ में ही अधिक होता है। अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) और संस्कृत के 'आकार' के भाव 'रूप में अन्तर्निहित होते हुए भी स्पष्ट नहीं हैं, वे कुछ पुनर्विचार के द्वारा ही स्पष्ट होते हैं। किन्तु वस्तुत इन तीनों शब्दों और भावों में एक अन्तरंग सम्बन्ध है। संस्कृत के 'रूप' शब्द के व्यापक अर्थ में यह सम्बन्ध संनिहित है। सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' का प्रयोग काव्य और लोक-व्यवहार दोनों में प्रसिद्ध ही है। सौन्दर्य के अतिरिक्त 'रूप' का जो भाव अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) के द्वारा निर्दिष्ट होता है, वह भी संस्कृत के 'रूप' शब्द के द्वारा लक्षित होता है। 'रूप' के इस भाव का भी सौन्दर्य से गहरा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि मूलत 'रूप' (Form) और 'सौन्दर्य' एक दूसरे के पर्याय दिखाई देते हैं। 'फौर्म' (Form) से लक्षित होने

वाले 'रूप' मे ही सौन्दर्य का मर्म निहित है। इसी मर्म के सूत्र से 'रूप' और 'सौन्दर्य' एक दूसरे के पर्याय बने हैं। कला और काव्य के सौन्दर्य का विवेचन करने पर सौन्दर्य का यह मर्म अधिक स्पष्ट रूप मे प्रकट होगा।

अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) मे 'सौन्दर्य' के भाव का स्पष्ट सकेत नही है फिर भी वह सस्कृत के उस 'रूप' से अधिक व्यापक है जो 'सौन्दर्य' का पर्याय है। 'सौन्दर्य' के लिये जिस रूप का प्रयाग होता है वह मानुषी आकृतियो तक ही सीमित है। प्राय स्त्रियो के सौन्दर्य के लिये 'रूप' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। मनुष्यो अथवा स्त्रियो का सौन्दय सम्पूर्णत दृश्य नही है। उसका एक अलक्ष्य भाव पक्ष भी है किन्तु प्राय उसे हम दृश्य-रूप म ही समझते हैं। 'रूप' का यह सीमित प्रयोग दर्शनो के अनुरूप है। न्याय दर्शन में रूप को चाक्षुप गुण मान गया है। 'रूप' वस्तुओ का वह गुण है, जिसका ग्रहण चक्षुओ के द्वारा होता है। *यह मूर्त वस्तुओ का दृश्य-रूप है। सौन्दर्य' का पर्याय 'रूप' दर्शन के इस* चाक्षुप रूप का ही विस्तार है। किन्तु सौन्दर्य केवल चाक्षुप अथवा दृश्य नही है। कलाओ का सौन्दर्य इससे अधिक व्यापक है। सौन्दर्य की इस व्यापकता का अनुसधान करने पर विदित होगा कि अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) के समानार्थक 'रूप' में सौन्दर्य की व्यापक व्याख्या का सूत्र सनिहित है। सौन्दर्य' के समानार्थक 'रूप' *तथा दर्शनो के 'चाक्षुपरूप' म आकार अथवा आकृति की दिक् गत सीमाओ का* स्पष्ट सकेत नही है, किन्तु कुछ कलाओ मे यह 'आकार' भी सौन्दर्य का अभिन्न अग है। अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) मे इस आकार का भी अव्यक्त सकेत है। अंग्रेजी के फौर्म' (Form) के व्यापक अर्थ के अनुसार 'रूप' का अर्थ-निर्धारण करने पर सौन्दर्य के व्यापक रूप की अधिक सगत व्याख्या हो सकती है तथा *सस्कृति, काव्य और लोक-व्यवहार मे प्रसिद्ध सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' शब्द का* प्रयोग अधिक सम्पन्नता के साथ प्रमाणित हो सकता है।

स्त्रियों अथवा पुरुषो के सौन्दर्य के अर्थ म 'रूप' शब्द का प्रयोग सबसे अधिक सीमित है। यह दर्शनो के चाक्षुप 'रूप' को सुन्दर और असुन्दर दो भागो मे विभाजित करता है। किन्तु 'रूप' के इस सीमित प्रयोग में भी कलात्मक सौन्दर्य *का मूल सूत्र सनिहित है। मनुष्यो के सौन्दर्य की सबसे अधिक सामान्य परिभाषा* 'रूप के अतिशय' (Excess of Form) के द्वारा की जा सकती है और यही परिभाषा कलाओ के व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या भी कर सकती है। इस प्रकार

मनुष्यों के सौन्दर्य के सामान्य अर्थ में 'रूप' शब्द के प्रयोग की संगति कलात्मक सौन्दर्य के साथ मिल जाती है।

मनुष्यों का सौन्दर्य यदि प्रधानत चाक्षुप अथवा दृश्य रूप ही माना जाय, तो वह दर्शनों के चाक्षुप रूप का एक सीमित प्रयोग है। इस प्रयोग मे रूप के सुन्दर और असुन्दर दो विभाग हो जाते हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि सौन्दर्य रूप (Form) ही है, यद्यपि सभी रूप सुन्दर नही हैं। चाक्षुप 'रूप' के रहस्य का अधिक सूक्ष्म अनुसधान करने पर 'रूप' (Form) के सामान्य स्वरूप मे सौन्दर्य का व्यापक रहस्य मिल सकता है। सौन्दर्य का यही रहस्य कलात्मक सौन्दर्य का विवरण भी कर सकेगा। मनुष्यो के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' का साधारण प्रयोग तथा 'चाक्षुप रूप' के अर्थ में उसका दार्शनिक प्रयोग, ये दोनों ही सीमित होते हुए भी सौन्दर्य के मूल मर्म पर ही अवलम्बित हैं। इन प्रयोगो की सीमितता सौन्दर्य के सामान्य सिद्धान्त को खण्डित नही करती वरन् एक दृष्टि से उसे अधिक प्रखर बना देती है।

सौन्दर्य 'रूप' (Form) की अभिव्यक्ति है। इस सामान्य 'रूप' (Form) में ही सौन्दर्य का मूल रहस्य निहित है। सामान्यत 'रूप' को हम अभिव्यक्ति का माध्यम कह सकते हैं। विषय की दृष्टि से अभिव्यक्ति विषय की सत्ता और उसके स्वरूप का प्रकाशन है। इस प्रकाशन के द्वारा ही विषयो की सत्ता और उनके स्वरूप की अवगति होती है। यह सत्य है कि इस अवगति म ही ये सत्ता और स्वरूप कृतार्थ होते हैं, अत यह अवगति अभिव्यक्ति का अभिन्न पक्ष है। फिर भी इस अवगति की प्रक्रिया और इसका आश्रय इस अभिव्यक्ति मे अस्पष्ट रूप मे अन्तर्निहित रहते हैं, वे प्रकट और स्पष्ट नहीं रहते। अस्तु, अभिव्यक्ति के भाव का मुख्य भार विषय की सत्ता और उसके स्वरूप तथा उनके प्रकाशन की ओर रहता है। विषय की सत्ता और उसके स्वरूप मे भी सत्ता की अपेक्षा विषय का स्वरूप इस अभिव्यक्ति मे अधिक प्रधान और प्रखर रहता है। अवगति के आश्रय की भाँति विषय की सत्ता को भी अन्तर्निहित मानना ही अधिक उचित है। एक प्रकार से *विषय के स्वरूप की स्थिति भी अस्पष्ट, अनिश्चित और अन्तर्निहित ही* रहती है। वस्तुत व्यक्त 'रूप' के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से विषय की सत्ता और उसके स्वरूप को समझना कठिन है। अभिव्यक्त 'रूप' ही विषय की सत्ता का प्रमाण और उसके स्वरूप का विवरण बनता है।

अस्तु, विषयों की अवगति में अभिव्यक्ति का 'रूप' ही प्रखरता से प्रकाशित होता है। स्थूल विषयों की अवगति साधारण जनों के लिए सहज होती है, अत 'चाक्षुष रूप लोक के अनुभव में प्रमुख बन जाता है। दर्शनों का 'चाक्षुष रूप' इस लोक-साधारण अनुभव का प्रखरतम 'रूप' है। सामान्य और व्यापक अर्थ में 'रूप' सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार की सत्ताओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है। दर्शनों का 'चाक्षुष रूप' और मनुष्य के सौन्दर्य का पर्याय 'रूप' ये दोनों ही उक्त व्यापक रूप के उत्तरोत्तर सीमित प्रयोग हैं। किन्तु इन सीमित प्रयोगों में भी 'रूप' के सामान्य भाव का सूत्र अक्षुण्ण बना रहता है। दूसरी ओर 'चाक्षुष रूप तथा अभिव्यक्ति के सामान्य रूप इन दोनों म सौन्दर्य का भाव खोजा जा सकता है। इस प्रकार 'रूप के व्यापक और सीमित प्रयोग की सगति सम्भव हो सकती *है तथा इस सगति में 'रूप और 'सौन्दर्य' के पर्याय भाव का रहस्य भी मिल* सकता है।

हमने ऊपर 'रूप' (Form) को व्यापक अर्थ में 'अभिव्यक्ति का माध्यम' और 'सौन्दर्य' को 'रूप का अतिशय' कहा है। इसका यह अभिप्राय समझा जा सकता है कि अतिशय से रहित 'रूप' (Form) में सौन्दर्य नहीं होता तथा सामान्यत 'रूप' सौन्दर्य का पर्याय नहीं। वस्तुत 'रूप का अतिशय' एक सापेक्ष भाव है। मूलत समस्त 'रूप' (Form) अतिशय ही है और समस्त रूप (Form) सौन्दर्य का पर्याय है। किन्तु साधारण अनुभव और व्यवहार में अधिक प्रचलित हो जाने के कारण सामान्य 'रूप' (Form) में अतिशय का भाव तथा सौन्दर्य सामान्यत विदित नहीं होता। 'रूप के अतिशय' के अधिक समृद्ध रूप ही प्राय प्रभावशाली होते हैं। सबसे अधिक प्रभावशाली होने के कारण ही मनुष्यों का 'रूप' सौन्दर्य का पर्याय बना। किन्तु वस्तुत समस्त 'रूप' (Form) ही एक प्रकार का 'अतिशय' (Excess) है। विषय अथवा वस्तु की सत्ता अथवा उसके स्वरूप की दृष्टि से अभिव्यक्ति एव उसका रूप (Form) दोनों ही एक प्रकार के अतिशय हैं। विषय की सत्ता और स्वरूप अपने आप में ही पूर्ण और पर्याप्त माने जा सकते हैं। इस प्रकार अभिव्यक्ति और उसका रूप (Form) दोनों ही 'अतिशय' बन जाते हैं।

दूसरी ओर जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से भी अभिव्यक्ति का 'रूप' (Form) एक प्रकार का अतिशय ही ठहरता है। उपयोगिता एक तात्विक दृष्टि है। उसका प्रयोजन वस्तु की सत्ता, उसके तत्व और स्वरूप से अधिक होता है।

अभिव्यक्ति का 'रूप' (Form) उपयोगिता की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। *जीवन के रक्षण और भोजन के प्रसग मे यह बात सरलता से स्पष्ट हो जाती है।* जीवन का रक्षण जीवन की सबसे अधिक मौलिक उपयोगिता है। भोजन उस रक्षण का साधन है। रक्षण के दृष्टिकोण से भोजन केवल पोषक तत्व का ग्रहण है। यही ग्रहण 'आहार' का मूल भाव है। यह आहार भोज्य पदार्थ की सत्ता का हरण ही नही, उसके रूप (Form) का भी विनाश है। केवल रक्षण की दृष्टि से भोज्य पदार्थ के रूप' (Form) का कोई महत्व नही है। इन पदार्थो के भक्षण मे हम इनके रूप' (Form) का विनाश करते हैं। सभ्यता एव सस्कृति के विकास मे, विशेषत भारतवर्ष मे, भोज्य पदार्थों मे जिन समृद्ध रूपो का सन्निधान हुआ है, उनकी भोजन रक्षण और पोषण की दृष्टि से कोई उपयोगिता नही है। अत **उपयोगिता की दृष्टि से इन रूपो (Forms) को 'अतिशय' कहा जा सकता है।** रूपो के इस अतिशय मे ही हम भोजन का सौन्दर्य मानते हैं यद्यपि भोजन की उपयोगिता उसके तत्वो मे ही निहित रहती है। *यह भी सकेत किया जा सकता है कि रूपो के इस* अतिशय मे ही सौन्दर्य की समृद्धि प्रकट होती है और यह सौन्दर्य ही सस्कृति का अलकार है।

इस प्रकार वस्तु की सत्ता और जीवन की उपयोगिता दोनों की दृष्टि से अभिव्यक्ति के 'रूप' (Form) को सामान्यत 'अतिशय' कहा जा सकता है। चाहे अधिक परिचय और प्रचलन के कारण सभी पदार्थों के सामान्य रूप मे हम सौन्दर्य दर्शन न हो, किन्तु सौन्दर्य के अधिक प्रखर और मान्य रूपो मे 'रूप के इस 'अतिशय *मे ही सौन्दर्य का रहस्य मिलेगा। यदि वस्तु की सत्ता और जीवन की उपयोगिता* की दृष्टि से समस्त 'रूप' (Form) अतिशय है तो व्यापक अर्थ मे 'रूप (Form) को सौन्दर्य' का पर्याय कहा जा सकता है। सौन्दर्य के अधिक प्रसिद्ध रूपो मे सौन्दर्य की यह परिभाषा अधिक मान्य रूप मे चरितार्थ होती है। जीवन के इतिहास और *कला के क्षेत्र मे समस्त रूपो (Forms) मे सौन्दर्य प्रकाशित होता है।* कला के सम्बन्ध मे तो यह स्पष्ट है कि 'रूप (Form) मात्र की रचना 'सौन्दर्य' की अवगाहक होती है। *'कला' रूप (Form) की रचना है। कला ही रचनात्मक रूप* को नवीनता देती है। इस नवीनता मे रूप का सौन्दर्य निखर उठता है और प्रभावशाली बन जाता है। रचनात्मकता और रूप की नवीनता सौन्दर्य का कितना सूक्ष्म एव गम्भीर रहस्य है, यह इसी से प्रकट होता है कि सस्कृति के इतिहास तथा

कला दोनो मे अधिक परिचय से सौन्दर्य की अनुभूति मन्द होने लगती है। किन्तु दूसरी ओर रूप का सौन्दर्य अमृत भी है। जीवन तथा कला के अनेक रूपो के स्थायित्व में हमे रूप के सौन्दर्य के इस अमृतत्व का आभास मिलता है।

'सौन्दर्य' कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कला रूप के सौन्दर्य की रचना है। किन्तु समस्त रूप (Form) में रचना का संयोग सम्भव नहीं है। मनुष्य-कृत रूपो को ही रचनात्मक कहा जा सकता है। यह समस्त रचना मनुष्य की कला है। किन्तु मनुष्य-कृत रूपो के अतिरिक्त हम विश्व के उन रूपो मे भी सौन्दर्य देखते हैं जो मनुष्य की रचना नही हैं। आकाश, पर्वत, नदी, वन, वृक्ष, बादल, आदि भी हमे सुन्दर जान पडते हैं। उनके सौन्दर्य का रहस्य भी उनके रूप(Form) मे ही निहित है, यद्यपि यह रूप प्रकट मे किसी की रचना नहीं है। रचनात्मकता मनुष्य-कृत रूपो के सौन्दर्य का मर्म अवश्य है। वह इतनी महत्वपूर्ण जान पडती है कि मनुष्य ने विश्व के उन रूपों में भी इसका अन्वय कर लिया है, जो उसकी रचना के फल नही है। विश्व के इन रूपो को वह ईश्वर की रचना मानता है। शैव-दर्शन मे ईश्वर की इस रचनात्मक शक्ति को 'कला' कहते हैं। इस कला-शक्ति की 'सुन्दरी' सज्ञा सार्थक और उपयुक्त है।

अस्तु, मनुष्य की कला तथा व्यापक विश्व दोनो के ही क्षेत्र मे हमे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। मूलत यह सौन्दर्य अग्रेजी के 'फोर्म' (Form) के समानार्थक व्यापक 'रूप' का लक्षण है। यह व्यापक रूप विश्व के विषयो और कलाकृतियो दोनो मे ही अभिव्यक्त होता है। वस्तुत. यह व्यापक रूप (Form) उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। रूप के माध्यम से ही विश्व के विषय और कला की कृतियाँ अवगति का विषय बनती हैं। पदार्थो की सत्ता और जीवन के अस्तित्व की दृष्टि से अभिव्यक्ति का यह समस्त रूप सामान्य अर्थ मे अतिशय है, क्योकि उपयोगिता के लिए पदार्थो का सम्पूर्ण महत्व उनके तत्व मे ही निहित है। इस सामान्य 'रूप' (Form) मे भी सौन्दर्य का दर्शन सम्भव है। दिव्य कला-शक्ति और लौकिक कला की रचनाओ में सौन्दर्य का यह व्यापक रूप घटित होता है। सामान्य 'रूप' (Form) मात्र मे भी सौन्दर्य के दर्शन हो सकते हैं, क्यो कि विषयो की सत्ता और जीवन के अस्तित्व की दृष्टि से समस्त रूप (Form) ही अतिशय हैं। किन्तु रूप के अतिशय के कुछ प्रखर रूपो में सौन्दर्य के दर्शन अधिक स्पष्ट होते हैं।

कलाकृतियो का विश्लेषण करने पर विदित होगा कि उनमे रूप के अतिशय का भाव अनेक प्रकार से समाहित रहता है। प्रथमत कलात्मक रूपो की रचना उपयोगिता की दृष्टि से नहीं होती। अत इन रूपो को अतिशय मान सकते हैं। इन रूपो की रचना का कलात्मक कर्म ही अपने आप में एक अतिशय है। जीवन के अस्तित्व और उपयोगिता की दृष्टि से वह आवश्यक नही है। द्वितीयत रचना-कर्म के अतिरिक्त इस कर्म के फल-भूत 'रूप' (Form) भी अतिशय ही हैं। जीवन में उनका उपयोग आवश्यक नहीं है। जीवन के अस्तित्व और उसकी उपयोगिता के अतिरिक्त रूप के अतिशय का तीसरा रूप 'रूप' (Form) के विस्तार में मिलता है। रूप का यह विस्तार सगीत के स्वर सतान मे सबसे अधिक स्पष्ट प्रकट होता है। इसीलिए सगीत कला का सबसे अधिक प्रिय और प्रचलित रूप है। नृत्य, काव्य आदि कलाओ मे भी रूप के उक्त तीनो प्रकार के अतिशय की अभिव्यक्ति मिलती है।

मनुष्य की कला कृतियो के अतिरिक्त विश्व के प्राकृतिक विषयो मे जहा हम अधिक स्पष्ट रूप मे सौन्दर्य का अनुभव होता है वहाँ भी उसका आधार 'रूप का अतिशय' ही है। समस्त भौतिक विश्व ही रूपात्मक है। यदि उपयोगिता की तात्विक दृष्टि के अनुकूल समस्त रूप को अतिशय माने, तो विश्व के समस्त रूपो मे सौन्दर्य का दर्शन होगा। यह सम्भव है और यही सम्भावना कला शक्ति की 'सुन्दरी' सज्ञा को सार्थक बनाती है। किन्तु समस्त विश्व के समस्त रूपो मे सौन्दर्य का दर्शन 'अतिशय' के आधार पर ही होगा अर्थात् पदार्थ के रूपों मे अतिशय का भान होने पर ही उनमे सौन्दर्य का अनुभव होगा। इसीलिये जहा यह 'अतिशय' का भान अधिक स्पष्ट होता है, वही विश्व अथवा प्रकृति के रूपो मे हम सौन्दर्य अधिक स्पष्ट दिखाई देता है।

विश्व के रूपो मे 'अतिशय' का द्वितीय रूप अधिक प्रखर होता है। विश्व के रूपों का रचनात्मक कर्म सदिग्ध होने के कारण 'अतिशय' का प्रथम रूप उनमें स्पष्ट नहीं रहता। विश्व के भौतिक रूपो के प्रधानत चाक्षुष होने के कारण उनमे अतिशय का तीसरा रूप भी नही निखरता। चाक्षुष रूप एक आकार मे सीमित रहते है, जो इन रूपो की मर्यादा बन जाता है। 'अतिशय' के सीमित हो जाने के कारण आकार मे सौन्दर्य का निम्नतर रूप प्रकट होता है। चाक्षुष रूपो का आकार उनकी रूप-रेखा मात्र होता है। चित्रकला मे रूप-रेखा और आकार

सौन्दर्य का अल्पतम रूप मानी जाती है। चाक्षुप रूपो के आकार की मर्यादा मे सीमित 'रूप' (Form) के अन्तर्गत कान्ति और वर्ण 'रूप के विस्तार' के अर्थ मे 'अतिशय' की सृष्टि करते हैं। इन्ही कान्ति और वर्ण के वैभव के कारण पुष्पो तथा रंजित मेघो मे प्रकृति का सौन्दर्य सामान्यत अधिक स्पष्ट रूप म विदित होता है। मनुष्य के सौन्दर्य के अर्थ म भी रूप' का रहस्य बहुत कुछ कान्ति के वैभव मे प्रकट होता है। यह कान्ति' आकार की मर्यादा के अन्तर्गत रूप के विस्तार के अर्थ मे रूप का अतिशय' है। इसी आधार पर मनुष्य के सौन्दर्य के पर्याय के अर्थ मे रूप' का प्रचलन हुआ है।

किन्तु विश्व अथवा प्रकृति के रूपो म सामान्यत उपयोगिता से सम्बन्धित 'रूप का अतिशय' ही अधिक स्पष्ट रहता है। जब तक हम प्रकृति के रूपो को उपयोगिता से दूर रखते हैं, तभी तक हमे उनमे सौन्दर्य दिखाई देता है। उपयोगिता का तात्विक दृष्टिकोण आते ही रूप के अतिशय का आभास नष्ट हो जाता है और सौ दर्य की अनुभूति मन्द हो जाती है। **प्राकृतिक सौन्दर्य के आकर्षण का रहस्य निरुपयोगी रूप के अतिशय में निहित है।** जीवन के नागरिक उपकरणो की तुलना मे वन्य प्रकृति के उपकरण हम' अधिक निरुपयोगी प्रतीत होत हैं। इसीलिए 'हमे उनमे सौन्दर्य दिखाई दता है। उन वन्य प्रदेशो के निवासी उपयोगिता का दृष्टिकोण रखने के कारण प्रकृति म वह सौन्दर्य नहीं देखते, जो हमे दिखाई देता है। निरुपयोगी दृष्टिकोण के कारण ही दर्शको के लिए वे पर्वतीय और ग्रामीण स्थल सुन्दर बन जाते हैं, जो वहा के निवासियो के लिये अभिशाप होते हैं। कान्ति और वर्ण की विभूति के अतिरिक्त निरुपयोगी 'रूप का अतिशय' ही फूलो और रंगीन मेघो को अधिक सुन्दर बनाता है। फलो की अपेक्षा फूल और काले बादलो की अपेक्षा रंगीन बादल अधिक निरुपयोगी, अत अधिक सुन्दर होते हैं।

विश्व के भौतिक विषयो मे चाक्षुप रूप का सौन्दर्य ही प्रधान है। इसीलिए दर्शनो मे चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य गुणो को ही 'रूप' माना है। अंग्रेजी के 'फौर्म' (Form) का समानार्थक 'रूप' चाक्षुप रूप की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वह श्रव्य शब्दो का आकार भी है। संगीत की लय मे श्रव्य रूप का सौन्दर्य प्रकट होता है। नदियो, निर्झरो, पक्षियो आदि के शब्द मे निरुपयोगी रूप का सौन्दर्य ही प्रमुख होता है। 'रूप' के विस्तार का सौन्दर्य उनमे अधिक नही निखरता। 'रूप' के विस्तार का सौन्दर्य मनुष्य के संगीत मे अधिक समृद्ध होता है।

रस, गन्ध और स्पर्श के गुणो मे सौन्दर्य की अपेक्षा संवेदना का सुख (अथवा दुःख) अधिक प्रकट होता है। इसीलिये सौन्दर्य के प्रसग में इनका विवरण कम मिलता है। सौन्दर्य मे भी अनुभूति का अन्तर्भाव रहता है, किन्तु भाषा के व्यवहार में सौन्दर्य का वस्तुगत भाव ही प्रमुख है। सौन्दर्य अनुभूति का नहीं वरन् वस्तु का गुण है। उसकी अनुभूति को हम 'आनन्द' की संज्ञा दे सकते हैं। किन्तु रस, गन्ध और स्पर्श की सम्वेदना मूलरूप मे अनुभवगत एव आत्मगत है। इसीलिये सौन्दर्य की इन गुणो से अधिक सगति नही है। मनुष्य की इन्द्रियो में आंख और कान की बनावट अधिक जटिल और विकसित है। चाक्षुप रूप और शब्द म समृद्धि की सम्भावना अधिक होने के कारण ही कदाचित ये इन्द्रियाँ अधिक विकसित हुई हैं। ऐन्द्रिक और भौतिक दोनो ही कारणो से चाक्षुप रूप और शब्द ही कलात्मक सौन्दर्य मे प्रधान रहे हैं। विश्व और प्रकृति के रूपो मे शब्द के 'रूप' मे अतिशय की अधिक सम्भावना नही है। अतः उसमे चाक्षुप रूप का सौन्दर्य ही प्रमुख है। मनुष्य की कला मे शब्द के अन्तर्गत रूप के विस्तार की अनन्त सम्भावना होने के कारण संगीत सौन्दर्य की सर्वोत्तम विभूति बन गया है। फिर भी भारतीय संस्कृति मे चाक्षुप रूप और शब्द के सौन्दर्य के साथ साथ रस और गंध के सौन्दर्य का बहुत कुछ समन्वय किया गया है।

मनुष्य की देह के सौन्दर्य के अर्थ मे 'रूप' का प्रयोग सौन्दर्य की उक्त धारणाओ के अनुकूल ही होता है। 'रूप के अतिशय' के तीनों ही रूप मनुष्य के सौन्दर्य में न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। प्रजनन के प्रसग द्वारा हम मनुष्य की सत्ता मे भी रचनात्मकता मान सकते हैं। मनुष्य लौकिक अर्थ मे मनुष्य की रचना है। स्रष्टा (माता-पिता) के अपने अस्तित्व की दृष्टि से वह सृजन एक प्रकार का अतिशय ही है। दूसरे पशुओ की तुलना मे मनुष्य के रूप (देह के आकार) मे 'रूप' का अतिशय भी बहुत है। मनुष्य के चर्म की कान्ति, सिर के केश, तथा कपोल, वक्ष, बाहु, जंघा आदि की मास पेशियाँ रूप के इस अतिशय के उदाहरण हैं। इनका कोई प्रकट उपयोग सामान्यतः विदित नही है। देह के अन्तर्गत, विशेषतः आनन की परिधि मे भाल, भ्रुवा, नेत्र, नासिका, अधर आदि के आकार के निरुपयोगी पक्षो म सौन्दर्य की प्रतिष्ठा निरुपयोगिता के भाव के साथ सौन्दर्य के घनिष्ट सम्बन्ध को प्रमाणित करती है। तीसरे कान्ति, केश और मास-पेशियों मे 'रूप के विस्तार' के अर्थ मे भी 'रूप का अतिशय' भी प्रकट होता है। नारी के 'रूप' (Form) मे

'रूप का यह विस्तार' अधिक प्रकट और प्रखर है। कान्ति और केश के अतिरिक्त उनके कपोल, वक्ष, नितम्ब, जघन आदि के वर्तुल विस्तार उनकी देह में सौन्दर्य की समृद्धि करते हैं। तीनों ही रूपों में 'रूप का अतिशय' मनुष्य के सौन्दर्य के अर्थ में 'रूप' के सीमित प्रयोग की सार्थकता को सिद्ध करता है। पुरुष की अपेक्षा नारी के रूप में 'रूप का अतिशय' अधिक होने के कारण नारी की 'सुन्दरी' संज्ञा सार्थक है तथा कला एवं काव्य में नारी के सौन्दर्य की प्रधानता उचित है।

किन्तु रूप' (Form) केवल चाक्षुष नहीं है। ऐन्द्रिक क्षेत्र में भी चाक्षुष रूप के अतिरिक्त शब्द की लय का आकार भी रूप की व्यापक परिधि में समाहित है। संगीत का स्वर-सन्धान रचना, उपयोगिता और विस्तार तीनों ही दृष्टियों से रूप का अतिशय है। ऐन्द्रिक क्षेत्र के बाहर अंग्रेजी के 'फ़ॉर्म' के अर्थ में 'रूप' के अन्तर्गत काव्य आदि कलाओं की रचना में अभिव्यक्ति के रूप एवं उसके अतिशय को भी सम्मिलित किया जा सकता है। ऐन्द्रिक रूप से भेद करने के लिये हम इसे 'मानसिक रूप' कह सकते हैं। इस मानसिक रूप में ऐन्द्रिक रूप के उपकरणों का भी अन्तर्भाव रहता है, किन्तु रूप का अतीन्द्रिय पक्ष ही इसमें प्रधान होता है। शब्द के माध्यम की सार्थकता के कारण काव्य-कला में मानसिक रूप' का 'अतिशय' सबसे अधिक रहता है। कलाओं में काव्य की सर्वाधिक सम्पन्नता का यही रहस्य है। काव्य में रूप के अतिशय के अलंकार आदि बाह्य उपकरणों के अतिरिक्त अभिव्यक्ति की भंगिमाओं के अनन्त और अनिर्वचनीय अतिशय समाहित रहते हैं, जो काव्य के सौन्दर्य को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाते हैं।

अस्तु, अंग्रेजी के 'फ़ॉर्म (Form) के समानार्थक एवं व्यापक रूप की कई कोटियाँ हैं। रूप की इन विभिन्न कोटियों के अन्तर्गत समान सूत्र का अनुसंधान करके 'रूप के अतिशय' की विभिन्न श्रेणियों में 'सौन्दर्य' का रहस्य मिल सकेगा। सौन्दर्य का यही रहस्य संस्कृत भाषा में व्यवहृत 'रूप' और 'सौन्दर्य' के पर्याय-भाव को प्रमाणित कर सकेगा। इस व्यापक अर्थ में 'रूप' पदार्थों अथवा विषयों की अभिव्यक्ति का व्यापक माध्यम है। 'अभिव्यक्ति' पदार्थों अथवा विषयों का प्रकाशन है। अवगति में प्रतिबिम्बित होकर यह अवगति कृतार्थ होती है। इस अवगति में ही अभिव्यक्ति के रूप में 'सौन्दर्य' साकार होता है। यद्यपि भाषा के व्यवहार में सौन्दर्य वस्तुओं का गुण प्रतीत होता है फिर भी अवगति से भिन्न उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। व्यापक अर्थ में रूप (Form) सभी भौतिक और मानसिक

विषयों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यदि इस व्यापक अर्थ में 'रूप' को सौन्दर्य' का पर्याय माना जाय तो सभी भौतिक पदार्थों एवं भाषा आदि की सभी अभिव्यक्तियों को सुन्दर मानना होगा। वस्तुतः अभिव्यक्ति के समस्त रूपों में कुछ न कुछ सौन्दर्य अवश्य होता है तथा व्यापकतम अर्थ में 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय है। किन्तु सामान्यतः यह समझना कठिन है। अतः 'रूप का अतिशय' सौन्दर्य की अधिक मान्य परिभाषा है। उपयोगिता का सम्बन्ध वस्तु के तत्व से होने के कारण एक प्रकार से समस्त रूप (Form) ही अतिशय है, अतएव समस्त रूप सुन्दर है। किन्तु जिस रूप में यह अतिशय अधिक प्रखर और स्पष्ट प्रतीत होता है उसे सुन्दर मानने में कम कठिनाई होती है। उपयोगिता के अतिरिक्त रचना विस्तार और विन्यास में रूप का उत्तरोत्तर वर्धमान अतिशय सौन्दर्य को अधिक समृद्ध रूपों में अभिव्यक्त करता है।

व्यापक 'रूप' के अनेक भेदों में 'आकार' सबसे सरल है। अल्पनाओं (Designs) और भौतिक पदार्थों में यह आकार' ऐन्द्रिक होने के कारण अधिक स्पष्ट होता है, वैसे भाषा आदि की अभिव्यक्तियों का भी आकार होता है। यह आकार वस्तु अथवा विषय के विन्यास की रूप रेखा मात्र है। भौतिक अथवा प्राकृतिक पदार्थों के 'आकार' की रूपरेखा शून्य नहीं होती, उसके बीच में वर्ण, कान्ति आदि का रूप भरा रहता है। इन पदार्थों का सौन्दर्य आकार एवं चाक्षुष रूप का संयुक्त फल है। दृश्य पदार्थों में आकार और चाक्षुष रूप अभिन्न रहते हैं। अल्पनाओं (Designs) में भी केवल आकार नहीं होता, आकार की रूप-रेखा के बीच चाक्षुष रूप रहता है। किन्तु अल्पना में आकार की रूप-रेखा ही प्रधान रहती है। इसी प्रकार भौतिक और दृश्य पदार्थों में वर्ण, कान्ति आदि का रूप ही प्रधान रहता है। दृश्य अथवा चाक्षुष रूप की अपेक्षा 'ऐन्द्रिक रूप' अधिक व्यापक है। संगीत और काव्य के स्वर-विन्यास का आकार भी इसके अंतर्गत है। वह 'श्रव्य रूप' है। ऐन्द्रिक रूपों में दृश्य और श्रव्य रूप ही प्रमुख होते हैं। काव्य, संगीत आदि कलाओं में ऐन्द्रिक रूप के अतिरिक्त 'रूप' का एक मानसिक पक्ष भी होता है। इसे रूप का भाव पक्ष कह सकते हैं। किसी सीमा तक काव्य, संगीत आदि कलाओं में ऐन्द्रिक और मानसिक दोनों प्रकार के रूपों का संगम होता है। ऐन्द्रिक अथवा दृश्य रूपों में भी रूप के भाव-पक्ष का समन्वय रहता है, यद्यपि वे प्रधानतः ऐन्द्रिक ही प्रतीत होते हैं। ऐन्द्रिक रूप में भी मानसिक रूप के समन्वय

से युक्त काव्य आदि कलाओं का रूप सबसे अधिक व्यापक है। ऐन्द्रिक और चाक्षुप रूप उनकी अपेक्षा सीमित है। 'आकार' अल्पतम रूप का उदाहरण है।

अभिव्यक्ति के माध्यम की दृष्टि से 'रूप' का प्रयोग 'रूप (Form) के उक्त सभी भेदों मे सगत है। किन्तु 'सौन्दर्य' के अर्थ मे इनके लिए 'रूप का प्रयोग कुछ विचारणीय है। रूप-मात्र में सौन्दर्य की प्रतीति कठिन है। रूप के अतिशय को अधिक सरलता से 'सौन्दर्य का पर्याय माना जा सकता है। रूप की भांति अतिशय के भी अनेक अर्थ हैं। प्राकृतिक उपयोगिता की दृष्टि से 'रूप' का निरुपयोगी पक्ष 'अतिशय' कहा जा सकता है। रूप का यह अतिशय सौन्दर्य का मर्म है। प्राकृतिक पदार्थों मे हमे तभी सौन्दर्य दिखाई देता है जबकि उनके प्रति हमारा निरुपयोगिता का दृष्टिकोण रहता है। उन्ही पदार्थों के उपयोगी बन जाने पर उनका सौन्दर्य तिरोहित हो जाता है। सन्ध्या के बादल, इन्द्रधनुप, उपा चाँदनी, पुष्प आदि इसी आधार पर सुन्दर दिखाई देते हैं। उपयोगिता का प्रयोजन न होने के कारण हमे ग्राम, वन, समुद्रतट, रेगिस्तान आदि सुन्दर जान पड़ते हैं। किन्तु उनके निवासियो को वे इतने सुन्दर नही लगते, क्योंकि इनके साथ उनका सम्बन्ध उपयोगिता का होता है। फलो की अपेक्षा पुष्प अधिक निरुपयोगी और अधिक सुन्दर होते हैं। मनुष्य देह मे मुख, आँखें, भाल, कपोल, नासिका, कान आदि अगो मे निरुपयोगी पक्ष सौन्दर्य के प्रमुख आश्रय हैं।

रूप का विस्तार और विन्यास भी अतिशय के अन्तर्गत है। निरुपयोगिता के अतिरिक्त इनके अर्थ में भी अतिशय का प्रयोग किया जा सकता है। विस्तार रूप के आकार का प्रस्तार अथवा परिमाण का उत्कर्ष है। सगीत का स्वर उत्थान प्रस्तार का उदाहरण है। पुष्पो, पशुओं और पक्षियो, बादलो आदि के वर्ण (रग) की प्रभा रूप के परिमाण का उत्कर्ष है। पुरुष अथवा स्त्री के कपोल, बाहु, वक्ष आदि की मास-पेशियों की पृथुलता में निरुपयोगिता, आकार के प्रस्तार और परिमाण के उत्कर्ष इन तीनों प्रकार के अतिशय का समन्वय है। काव्य के गठन मे भी अभिव्यक्ति के रूप का अतिशय रहता है। व्यजना, अलकार आदि इस अतिशय के ही रूप हैं। विस्तार का अतिशय रूप के आकार का प्रस्तार अथवा परिमाण का उत्कर्ष है। यह अतिशय की परिमाण-गत धारणा है। 'विन्यास' रूप (Form) की समग्रता का आकार है। वह समग्र रूप के गठन का गुण है। सगीत की लय, राग के विधान, चित्र की योजना, मूर्ति की आकृति, काव्य की

व्यंजना आदि के समग्र रूप की रचना को 'विन्यास' कहा जा सकता है। यह विन्यास रूप के विधायक तत्वों की एक विलक्षण भंगिमा है। इसकी समग्रता अपने आप में एक अतिशय है जो इन तत्वों से अतिरिक्त है। यह इन तत्वों का संकलन मात्र नहीं है। इस विन्यास में ही रूप की विशेषता रहती है और यह सौन्दर्य का विशेष लक्षण है। विस्तार के अतिशय इस विन्यास के विधायक बन कर ही सौन्दर्य के उपकरण बनते हैं। संगीत की लय, पुरुष के सुगठित शरीर और स्त्री के वर्तुल अंगों के सौन्दर्य का रहस्य विन्यास के अतिशय में ही निहित है। 'लय' इस विन्यास का सामान्य लक्षण है। आकार की एक रूपता का खण्डन करके अंगों के आकारों का एक विलक्षण सामंजस्य इस लयात्मक सौन्दर्य का रहस्य है। चाक्षुष रूपों में इसी रहस्य के आधार पर स्त्री की देह सर्वाधिक सौन्दर्य की निधान बनी है।

निरुपयोगिता, विस्तार और विन्यास के अनुकूल 'रूप का अतिशय' प्रकृति और कला दोनों के सौन्दर्य की व्याख्या कर सकता है। 'सौन्दर्य' कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। 'कला' सौन्दर्य की रचना है। सौन्दर्य कलाकृतियों के अतिरिक्त विश्व और प्रकृति में भी व्याप्त है। उपयोगिता की भाँति सत्ता को ही पर्याप्त मानने पर 'रचना' भी एक 'अतिशय' बन जाती है। निरुपयोगिता और सत्ता दोनों ही दृष्टियों से कला में रूपों की रचना एक अतिशय सिद्ध होती है। इस अतिशय में ही कला का सौन्दर्य है। विस्तार में विन्यास का अतिशय इस सौन्दर्य को समृद्ध करता है। चतुर्विध अतिशय से युक्त होने के कारण ही कला का समृद्ध सौन्दर्य मानवीय संस्कृति की अनमोल विभूति बनता है। प्रकृति के त्रिविध अतिशय से युक्त सौन्दर्य को रचनात्मकता के अतिशय से सम्पन्न बनाने के लिए ही विश्व को ईश्वर की रचना माना जाता है। शैव तंत्रों में विश्व की सृजनात्मिका शक्ति का नाम ही 'कला' है। इस 'कलाशक्ति' को 'सुन्दरी' कहते हैं। इसका 'सुन्दरी' नाम रूप के चतुर्विध अतिशय में सौन्दर्य के रहस्य का संकेत करता है।

व्यापक 'रूप' (Form) के सभी भेदों में रूप के उक्त चतुर्विध अतिशय के आधार पर हम सौन्दर्य का रहस्य खोज सकते हैं। इसी रहस्य के आधार पर व्यापक अभिव्यक्ति का माध्यम 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना। ऐन्द्रिय रूपों में रूप का यह अतिशय और तद्गत सौन्दर्य अधिक स्पष्ट और सुग्राह्य होता

है। ऐन्द्रिक रूपो मे भी चाक्षुप रूप अधिक प्रभावशाली है। इसीलिए दर्शनो मे भी रूप को चाक्षुप ही माना गया और दृश्य पदार्थों मे सौन्दर्य की धारणा अधिक परिचित एव मान्य रूप मे प्रतिष्ठित हुई। दृश्य पदार्थों मे सौन्दर्य की धारणा सीमित होने के कारण ही नारी देह मे सौन्दर्य की कल्पना केन्द्रित हुई। तथा 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का रूढ पर्याय बना। किन्तु नारी देह के अतिरिक्त अन्य दृश्य पदार्थों म भी रूप के चतुर्विध अतिशय के आधार पर हम सौन्दर्य का सगत अन्वय कर सकते हैं। अतीन्द्रिय रूपों मे सौन्दर्य की इस परिभाषा के घटित होने पर व्यापक अर्थ मे भी 'रूप' (Form) सौन्दर्य का पर्याय बन जाता है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'रूप के अतिशय' के उक्त रूपों का समुचित सामजस्य ही सौन्दर्य का विधायक है। रूप के विस्तार के जो रूप रचनात्मकता अथवा निरुपयोगिता का खण्डन करते हैं, व सौन्दर्य का भग करते हैं। निरुपयोगिता के प्रसग मे यह विचारणीय है कि किसी प्रकार हानिकारक होने पर 'रूप का विस्तार' निरुपयोगी नही रहता, अत वह सौन्दर्य का विघात करता है। कैंसर आदि मे मास-पेशियो का विस्तार इसी कारण कुरूपता का कारण बनता है। रूप की व्यवस्था के सामजस्य को भग करना भी एक प्रकार की हानि करना है। अत वर्ण, स्वर आदि किसी भी रूप का ऐसा विस्तार भी सौन्दर्य का विघातक है। सामजस्य रूप के विस्तार अथवा अतिशय की ऐसी मर्यादा है जो *रूप के अगो के अतिशय को सौन्दर्य का विधान प्रदान करती है तथा साथ ही सौन्दर्य* की रक्षा भी करती है। **प्राकृतिक प्रयोजन की दृष्टि से निरुपयोगी होते हुए भी सौन्दर्य की निरुपयोगिता आत्मघाती नहीं है। अपने स्वरूप की रक्षा को तो सौन्दर्य का प्रयोजन मानना होगा।** अत सामजस्य की मर्यादा के अन्तर्गत ही रूप के अतिशय अनन्त सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

अस्तु, सामान्यत 'रूप' (Form) अथवा 'रूप का अतिशय' (Excess of Form) ही सौन्दर्य का मूल स्वरूप है। ऐन्द्रिक और मानसिक दोनो ही रूपों में रूप का अतिशय' सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। दर्शन के 'चाक्षुप रूप' मे यह 'रूप का अतिशय' मूर्त्त कलाओ को जन्म देता है। मनुष्य की देह के सौन्दर्य के अर्थ मे 'रूप' का प्रयोग इसी चाक्षुप रूप का सीमित किन्तु सार्थक प्रयोग है। रचना और प्रभाव दोनो ही दृष्टियो से मनुष्य के रूप का सौन्दर्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। नारी के रूप मे रूप' के निरुपयोगी अतिशय के अर्थ मे सौन्दर्य

की विपुल विभूति साकार हुई है। मूर्ति कलाओं में रूप के ऐन्द्रिक अतिशय सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। संगीत में शब्द के सूक्ष्म माध्यम में ऐन्द्रिक और मानसिक रूप का समृद्ध संगम होता है। काव्य में ऐन्द्रिक रूप के योग से मानसिक रूप के जटिल अतिशय कला के सबसे अधिक समृद्ध रूप का निर्माण करते हैं। काव्य की यही समृद्धि विधाता के अर्थ में 'कवि' के प्राचीन प्रयोग को सार्थक बनाती है।

अध्याय ४७

कला और सौन्दर्य

सौन्दर्य का प्रयोग अनेक स्थितियों और धरातलों में होता है। सम्भव है सौन्दर्य का कोई सामान्य स्वरूप हो जो इन सब स्थितियों में और धरातलों में व्याप्त हो। किन्तु इन स्थितियों और धरातलों मे अभिव्यक्त होने वाले सौन्दर्य के रूपों में जो भेद किया जाता है उसका आधार क्या है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। हम प्रकृति के दृश्यों को देखते हैं और उनमें सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। यह सौन्दर्य के अनुभव का एक धरातल है। यदि प्रकृति का यह सौन्दर्य दर्शन एकान्त में सम्भव हो, जैसा कि कुछ लोगों का मत है, तो जब हम प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर दूसरों को अपने इस अनुभव में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं, यह सौन्दर्य की दूसरी स्थिति है जो पहली स्थिति से भिन्न है। ये दोनों स्थितियाँ सौन्दर्य के दर्शन से सम्बन्ध रखती हैं। एक तीसरी स्थिति सौन्दर्य का सृजन है, जिसमें कुछ लोग अनुकृति और दूसरे कृति का गौरव देखते हैं। सौन्दर्य के सृजन में कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय होती है और वह सौन्दर्य के उन रूपों के अनुरूप रूपों की रचना करती है जिनके दर्शन में पहिले उस सौन्दर्य का अनुभव हुआ था। सौन्दर्य का सृजन पूर्णतः दर्शन पर आधारित नहीं है। सृजन के कुछ मौलिक रूप भी हैं, जिनमें दर्शन का आधार अल्प अथवा नगण्य है और कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय होती है। सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप प्रायः 'कला' कहलाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन की भाँति कला के सौन्दर्य का दर्शन और अनुभावन सौन्दर्य की एक भिन्न स्थिति है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन में भाग लेने के आमन्त्रण की भाँति कलात्मक सौन्दर्य के अनुभावन में भाग लेने के लिए भी हम प्रायः दूसरों को आमंत्रित करते हैं। सौन्दर्य के एकान्त और सामूहिक अनुभावन भिन्न होंगे, यदि इन दोनों स्थितियों में कोई मौलिक और मनोवैज्ञानिक भेद है। सौन्दर्य के इस दर्शन, सृजन और विभाजन के अतिरिक्त उसका एक रूप प्रदर्शन भी है। यह प्रदर्शन एक का प्रदर्शन और दूसरे का दर्शन है। किन्तु प्रदर्शन और दर्शन की स्थिति एक दूसरे से भिन्न है। दर्शन का कर्ता सौन्दर्य को

केवल एक अनुभावन की वस्तु मानता है, वह उसके प्रति किसी अधिकार का अनुभव नहीं करता। प्रदर्शन का कर्त्ता सौन्दर्य को अपना अधिकार और अपनी विभूति मानता है। सुन्दरी स्त्रियों के रूप-दर्प और उनकी शृंगार सज्जा में यह प्रदर्शन का सौन्दर्य प्राय देखा जाता है। इस प्रदर्शन के सौन्दर्य में कला की सृजनात्मक वृत्ति भी अन्तर्निहित है। संगीत, नृत्य और नाटक में सृजन का प्रदर्शन के साथ संयोग अधिक स्पष्ट है। ये तीनों ही कला के रूप हैं। इनमें सृजन का सौन्दर्य स्पष्ट है। कोई आत्मलीन कलाकार एकान्त में भी नर्तन और गायन करते हैं किन्तु प्रदर्शन इन कलाओं का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। इन कलाओं में सृजन और प्रदर्शन की क्रिया एक साथ होती है। अत प्रदर्शन इनके स्वरूप का अंग प्रतीत होता है। चित्र और मूर्तिकला में भी प्रदर्शन होता है। आधुनिक कलाकारों की कृतियों की प्रदर्शनियाँ होती हैं। किन्तु इन कलाकारों का सृजन और प्रदर्शन पृथक-पृथक क्रियायें हैं, जो भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं। सौन्दर्य के सृजन, प्रदर्शन और अनुभावन की ये स्थितियाँ जीवन और अनुभावन की कुछ असाधारण अवस्थायें हैं जिनमें हम अपने सामान्य जीवन और व्यवहार की तुलना में कुछ विशेषता और नवीनता का अनुभव करते हैं। इस असाधारण स्थितियों के अतिरिक्त सौन्दर्य का एक ऐसा रूप भी है जिसमें दर्शन, सृजन और प्रदर्शन तीनों ही सम्मिलित हैं तथा जो हमारे सामान्य जीवन और व्यवहार के साथ एकाकार हो गया है। महान और प्रसिद्ध कलाओं के अतिरिक्त लघुतर और उपयोगी कलाओं का सौन्दर्य के इस रूप में विशेष योग है। निकटता और निरन्तर परिचय के कारण सौन्दर्य के इस रूप में हमें नवीनता का अनुभव कम होता है। इसका अभिप्राय यही है कि इस सौन्दर्य का भाव हमारे जीवन और व्यवहार में मिलकर उनके साथ एक हो जाता है, अत वह जीवन और व्यवहार के समान ही साधारण बन जाता है। सौन्दर्य के इस रूप में दर्शन, सृजन और प्रदर्शन प्राय पृथक-पृथक दिखाई देते हैं, किन्तु सामान्यत इसमें इन तीनों का संगम रहता है। इसका कारण हमारे जीवन और व्यवहार की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में दर्शन कलाकार के चिन्तन के समान एकाकी नहीं होता। इसके सृजन में भी सहयोग रहता है और प्रदर्शन तो स्वरूप से ही सौन्दर्य की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में सौन्दर्य एकान्त अनुभव अथवा सृजन की वस्तु नहीं है वरन् वह सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति, सहयोग की कृति और साहचर्य का आनन्द है।

सौन्दर्य की इन सभी स्थितियो मे हम किसी न किसी रूप मे सौन्दर्य का अनुभव और प्रयोग करते हैं। प्रश्न यह है कि क्या सौन्दर्य का कोई ऐसा सामान्य स्वरूप है जो इन सब स्थितियो और रूपो मे व्याप्त हो। सौन्दर्य के इस सामान्य स्वरूप की इन विशेष रूपो के साथ क्या सगति है, यह भी विचारणीय है। प्राय इन प्रश्नो के समाधान मे इन अनेक स्थितिया की रूपगत विशेषताओ की अवहेलना की जाती है। सौन्दर्य की असाधारण स्थिति की जीवन और व्यवहार के सामान्य भाव के साथ सगति इन समाधानो मे दुर्लभ ही है। ग्रीक युग मे कुछ विचारक सौन्दर्य को बाह्य और वास्तविक मानकर उसके वस्तुगत गुणो का अन्वषण करते रहे। आधुनिक युग मे फैकनर ने सौन्दर्य के इसी वस्तुगत रूप के निर्धारण का अभिनव प्रयत्न किया है। किन्तु आधुनिक युग मे सौन्दर्य के आत्मगत रूप की धारणा अधिक प्रबल रही है। योरोप के आधुनिक दर्शन के आरम्भ से ही उदय होकर यह धारणा क्रोचे के अनुभूतिवाद मे (जिसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है) पर्यवसित हुई है। सौन्दर्य की अर्वाचीन धारणाओ को क्रोचे ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। क्रोचे का कार्य सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास मे एक क्रान्ति समझा जाता है। जिस प्रकार हीगल के अध्यात्मवाद से प्रभावित अभिनव अध्यात्मवाद इगलैण्ड का महत्वपूर्ण दार्शनिक आन्दोलन था, उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद से प्रभावित सौन्दर्य शास्त्र की मान्यता भी वहाँ पल्लवित हुई। हीगल के अध्यात्मवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालो मे ब्रैडले और बोसान्क्वेट का नाम उल्लेखनीय है उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालो म कौलिगवुड और कैरिट अग्रगण्य हैं।

वस्तुवादी और सहानुभूतिवादी दोनो ही धारणायें एकागी प्रतीत होती हैं। एक सौन्दर्य को वस्तुओ का गुण मानकर उसके अनुभावन और सृजन मे चेतना की सक्रियता और सृजनात्मकता के मूल्य का तिरस्कार करती है। दूसरी सौन्दर्य को पूर्णत आत्मगत मानकर उसके वस्तुगत और स्वतत्र स्वरूप की उपेक्षा करती है। वस्तुगत सौन्दर्य केवल ग्रहण का सौन्दर्य है। मनुष्य की चेतना केवल उसकी द्रष्टा है, सौन्दर्य के निर्माण मे उसका कोई सक्रिय सहयोग नही है। सौन्दर्य की वस्तुवादी धारणा मे कठिनाई यह है कि एक ही वस्तु भिन्न भिन्न व्यक्तियो को सुन्दर और असुन्दर अथवा कम सुन्दर प्रतीत होती है। सौन्दर्य की धारणा मे जो परिवर्तन होता है, उसकी व्याख्या क्या हो सकती है, यदि वस्तु के रूप और गुण

तथावत् रहते हों। जो वस्तु कुछ लोगों को असुन्दर प्रतीत होती है, वह दूसरों को कैसे सुन्दर लगती है? यदि सौन्दर्य पूर्णत पराधीन और विवशता का भाव है तो हमें उसमें स्वतन्त्रता के आनन्द का अनुभव कैसे होता है? दूसरी ओर अनुभूतिवादी व्याख्याओं की कठिनाई यह है कि जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है अनुभूति प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य का अनुभावन सम्भव बना देती है। इस प्रकार सुन्दर और असुन्दर अथवा कम और अधिक सुन्दर का भेद भी मिट जाता है। ये भेद हमारे साधारण अनुभव की वास्तविकतायें हैं अत इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुभूतिवाद में आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्य का स्वरूप पूर्ण हो जाता है अत बाह्य माध्यमों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक गौण उपचार हो जाती है। इतना ही नहीं यह बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति के साथ सगत भी नहीं है। आत्मगत अनुभूति का अनुवाद बाह्य उपकरणों में सभव नहीं है अत ये बाह्य अभिव्यक्तियाँ सौन्दर्य की आन्तरिक भावना को व्यक्त करने के स्थान पर उसे खडित करती हैं। बाह्य अभिव्यक्तियों के समान ही साधारण जीवन में सौन्दर्य का व्यवहार भी असगत हो जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य एक असाधारण आत्मगत अनुभूति है जो कला की बाह्य अभिव्यक्तियों और जीवन के सौन्दर्य व्यवहार की व्याख्या नहीं करती।

अत यह विचारणीय है कि सौन्दर्य की विभिन्न स्थितियों में सौन्दर्य का रूप क्या है और सौन्दर्य का ऐसा स्वरूप क्या है जो सौन्दर्य की सभी स्थितियों और उसके सभी व्यवहारों की सन्तोषजनक व्याख्या कर सके। यदि सौन्दर्य की वस्तुवादी और अनुभूतिवादी दोनों ही व्याख्यायें सतोषजनक नहीं हैं तो यह सम्भव है कि इन दोनों धारणाओं का समन्वय सौन्दर्य की कोई सतोषजनक व्याख्या बन सके। यह समन्वय कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं है इसका कारण यह है कि सम्भवत यह समन्वय ही हमारे जीवन की स्थिति और उसके व्यवहार का आधार है। इस समन्वय का सूत्र हमारे जीवन की सामाजिक स्थिति में है। यह स्पष्ट है कि इस समन्वय का रूप व्यापक होगा। इसके स्वरूप का सामजस्य कहना अधिक उचित होगा क्योंकि इसकी व्यापकता में आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति से लेकर सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक व्यवहार तक का समाहार करना होगा। इस समाहार में सगति और सामजस्य का सूत्र उक्त समन्वय का सबसे महत्वपूर्ण अग होगा। पिछले अध्यायों में इस समन्वय की धारणा को हमने

समात्मभाव की सम्भूति कहा है। इस समन्वय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सौन्दर्य की अन्य व्याख्याएं एकांगी हैं और वे सौन्दर्य की समस्त स्थितियों की व्याख्या नहीं करतीं। वस्तुवादी व्याख्याओं में चेतना की सक्रिय सृजनात्मक वृत्ति का पर्याप्त महत्व नहीं है। वे इसका समाधान नहीं करतीं कि सामान्यतः जो वस्तुयें असुन्दर प्रतीत होती हैं, वे किसी भाव-स्थिति में सुन्दर कैसे प्रतीत होने लगती हैं? अनुभूतिवादी *व्याख्यायें सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक* स्थितियों को पर्याप्त महत्व नहीं देतीं। बाह्य अभिव्यक्ति कितनी महत्वपूर्ण है यह इसी से स्पष्ट है कि सभी कलाकारों ने अपनी अनुभूति को बाह्य आकार दिया। दूसरे यह बाह्य अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य के सामाजिक महत्व का माध्यम है। व्यक्तिगत अनुभूति होते हुए भी सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत नहीं है, जीवन की सामाजिक स्थितियों में सौन्दर्य का अनुष्ठान सदा महत्त्वपूर्ण रहता है। व्यक्ति निष्ठता सौन्दर्य *का स्वभाव है, किन्तु स्वरूप नहीं। व्यक्ति के केन्द्र में उदय होकर सामाजिक* समात्मभाव के क्षितिजों पर उसका विस्तार होता है। इसी समात्मभाव में उसकी आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्तियाँ स्पष्ट एवं साकार होती हैं। अनुभूति की अभिव्यक्ति समात्मभाव में संगति होने पर ही सौन्दर्य की अन्य संगतियाँ सम्भव हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त उक्त दोनों एकांगी मतों में सौन्दर्य को एक असाधारण स्थिति माना जाता है। *एक मत में इस असाधारणता के आधार वस्तुओं के गुण हैं,* दूसरे मत में इसका आधार एक दुर्लभ आत्मगत स्थिति है। अनुभूतिवादी मत सिद्धान्ततः सौन्दर्य की भावना को सर्वदा और सर्वत्र सम्भव मानता है। इस दृष्टि से उसकी सौन्दर्य-भावना व्यापक है। वस्तुवादी मत में इस प्रकार की व्यापकता सम्भव नहीं है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य वस्तुगत गुणों पर आश्रित होने के कारण परतन्त्र है। अतः वह जीवन की सभी स्थितियों में सम्भव नहीं हो सकता। सुन्दर और असुन्दर का भेद वस्तुवादी मत में अनिवार्य और कठोर है। इस भेद की कठोरता सामान्य जीवन में सौन्दर्य के उदार और व्यापक व्यवहार के साथ संगत नहीं है। अनुभूतिवादी मत में सौन्दर्य वस्तु-निरपेक्ष होने के कारण सर्वदा और सर्वत्र सम्भव है किन्तु अनुभूति का जो स्वरूप उसे सम्भव बनाता है वह अत्यन्त दुर्लभ है। न्याय दर्शन के निर्विकल्प प्रत्यक्ष की भाँति क्रोचे कलात्मक अनुभूति के निर्विकल्पक रूप को समस्त अनुभवों में साधारण और व्याप्त मानते हैं। किन्तु

ऐसी निर्विकल्प अनुभूति का साक्षात्कार कठिन है। अनुमान पर अनुभूति को आश्रित करना न्याय की प्रमाण विधि के विपरीत है। यदि यह निर्विकल्प अनुभूति सम्भव भी हो तो यह नि सदेह अल्पस्थायी है। सम्भव है कलाकारो का यह स्थिति अधिक काल के लिए प्राप्त होती हो। कलाविधि के अतिरिक्त एक दूसरा प्रश्न अभिव्यक्ति के बाह्य माध्यमा और बाह्य व्यवहार की अनेक रूपता के साथ इसकी सगति का प्रश्न है। अनुभूतिवादी इस सगति को नही मानते। इसीलिए कलाकृतियो की बाह्य अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि मे गौण है। प्रश्न यह है कि यदि यह सगति सम्भव नही है ता कलाकार इतनी तत्परता के साथ अपनी सौन्दर्यानुभूति को बाह्य माध्यम मे अभिव्यक्त करने की साधना क्यो करता है। सत्य यह है कि सामाजिक समात्मभाव में ही सौन्दर्य की कल्पना पूर्ण होती है। वस्तुत उसी में उसका आरम्भिक उदय भी होता है। कलाकार की आन्तरिक सौन्दर्यानुभूति भी काल्पनिक समात्मभाव के रूप में होती है। निर्विकल्प अनुभूति क विपरीत यह समात्मभाव बाह्यता और अनेकता के अन्तर्गत ही सम्भव होता है। अत बाह्य माध्यमो मे इसकी अभिव्यक्ति तथा सामाजिक जीवन म इसका व्यवहार इसके स्वरूप क साथ पूर्णत सगत है।

कलाकार को कुछ विशेषता का गौरव देते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि कलाकार की सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य के लोक-सुलभ व्यवहार में कोई मौलिक भेद है। स्वय क्रोचे ने कला और सौन्दर्य क समस्त भेदा का निराकरण किया है। किन्तु दूसरी ओर जिस अनुभूति को उन्होने सौन्दर्य का साधारण स्वरूप माना है, वह स्वय दुर्लभ और असाधारण है। सत्य यह है कि बाह्यता और अनेकता के साथ सगत समात्मभाव में ही सौन्दर्य की अनुभूति उदय होती है तथा इसी सगति की स्थिति में कलाकार बाह्य उपकरणो और माध्यमों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। साधारण जन भी बाह्यता तथा अनेकता क साथ सगति की स्थिति म ही सौन्दर्य का व्यवहार करत हैं। यह सौन्दर्य की साधारण स्थिति है जो कला की बाह्य अभिव्यक्ति और जीवन म सौन्दर्य क व्यवहार के साथ सगति है। सौन्दर्य की वही धारणा सत्य है जो सौन्दर्य को चेतना की एक साधारण वृत्ति मानकर उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के समस्त रूपों के साथ सगत होती है। सौन्दर्य का यह रूप सामान्य होते हुए भी उसके विभिन्न रूपों मे विशेषताओ का स्वीकार करना पडेगा। ये विशेषताय सौन्दर्य के अनुभव, उसकी अभिव्यक्ति और

उसके व्यवहार के अन्य उपकरणो पर निर्भर होगी। किन्तु इन सभी विशेष रूपों मे सौन्दर्य की उपस्थिति मानने पर इन उपकरणो का सौन्दर्य के सामान्य स्वरूप के साथ सगत मानना होगा। सौन्दर्य का ऐसा सामान्य लक्षण जो इनके साथ सगत नही है सौन्दर्य की सतोषजनक व्याख्या नहीं है। साधारण जीवन और अनुभव मे इनके साथ सगति की स्थिति म ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और उसका व्यवहार होता है। सौन्दर्य का एक साधारण स्वरूप अवश्य है, किन्तु उसके रूपो के भेद भी सत्य हैं। ये भेद जिन उपकरणो पर निर्भर हैं उन्हे बनाना होगा। किन्तु साथ ही सौन्दर्य के सामान्य स्वरूप के साथ इन उपकरणो का सगत मानना होगा। अन्यथा सौन्दर्य की भावना उक्त एकागी मतो की भाति ही सकुचित और सीमित हो जायेगी। जीवन के व्यवहार मे सौन्दर्य एक अत्यन्त व्यापक भावना है अत यह सकोच सौन्दर्य का स्वरूप नहीं है वरन् एकागी मतो का आग्रह है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में सबसे प्रथम और प्रमुख भेद कला और सौन्दर्य का भेद है। सौन्दर्य का प्रयोग सामान्यत एक स्वतन्त्र और वास्तविक सत्ता के लिए किया जाता है। सौन्दर्य उस सत्ता का स्वरूप है। सौन्दर्य की सत्ता के सम्बन्ध मे मनुष्य का कृतित्व आवश्यक नही। निसर्ग प्रकृति और मनुष्य की कृतियाँ दोनो मे सामान्य रूप से सौन्दर्य की स्थिति है। किन्तु कला का सौन्दर्य मनुष्य की सृष्टि है। कला मनुष्य की कृति का सौन्दर्य है। इसके विपरीत प्रकृति का सौन्दर्य उसके कृतित्व से स्वतन्त्र है। सौन्दर्य का दर्शन एक ग्रहणात्मक व्यापार है, उसका सृजन एक रचनात्मक क्रिया है। सृजन मे सौन्दर्य की चेतना अधिक सक्रिय होती है। किन्तु इन दोनो स्थितियो मे सौन्दर्य का स्वरूप यदि समान है तो उनके भेदो का आधार क्या है? वस्तु-वादियो के अनुसार प्राकृतिक सौन्दर्य वस्तुओ के गुणो पर निर्भर है, मनुष्य उसका निष्क्रिय ग्राहक है। किन्तु सौन्दर्य के सृजनात्मक रूपो मे सर्वत्र वस्तुगत गुणो का आधार ढूँढना कठिन है। चित्रकला और सगीत मे प्राकृतिक गुणो का कुछ आधार अवश्य है, किन्तु वह इनके सौन्दर्य का सर्वस्व नही। काव्य मे यह आधार सबसे कम है। भाव का सौन्दर्य प्रकृति का गुण नही, चेतना की स्वतन्त्र सृष्टि है। कविता में यह भाव का सौन्दर्य ही प्रधान है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक आधार की अन्तिम सीमा है। यद्यपि अधिकाश काव्य और अधिकाश कला इसी सीमा के अन्तर्गत है, फिर भी कला का, विशेषत काव्य का, मौलिक सौन्दर्य इस सीमा को पार करके

ही अपने स्वरूप म मिलता है। प्राकृतिक प्रवृत्तियो पर भी जब इन व्यापक क्षितिजो के रजित मघो की छाया पडती है तभी प्रवृत्तियो के जीवन म सौन्दर्य के सस्कार उदित होते हैं।

जहाँ वस्तुवादी कला के सृजनात्मक सौन्दर्य म भी प्रकृति के वस्तुगत आधार खोजते हैं वहाँ अनुभूतिवादी प्राकृतिक सौन्दर्य मे भी कला के सृजनात्मक धर्म का आरोपण करते हैं। क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड का मत है कि सृजनात्मक कल्पना की दृष्टि से अनुभावन करने पर प्रत्येक वस्तु सुन्दर हो जाती है। यह कल्पना सत्य और असत्य के भेद से ऊपर है।[६०] बाह्यता और यथार्थता का अनुपग इसमें नहीं रहता। सुन्दर पदार्थ स्वतन्त्र कल्पना की सृष्टि बन जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य की यह व्याख्या हमारे सामान्य अनुभव के साथ सगत नही है। हम प्रकृति के पदार्थों का अपनी सृष्टि नही मानते, फिर भी उनमे सौन्दर्य का दर्शन होता है। स्वय कौलिंगवुड ने प्राकृतिक सौन्दर्य की व्याख्या एक दूसरे प्रकार से की है। उनकी दृष्टि मे प्रकृति का सौन्दर्य कृति के विपरीत अ कृति का सौन्दर्य है। अ कृति होने के कारण ही हमें पवत नदी आकाश आदि सुन्दर प्रतीत होते हैं।[६१] यह विचारणीय है कि उनकी यह व्याख्या कलात्मक सौन्दर्य की सृजनात्मक व्याख्या के विपरीत है। इस आधार पर कला और प्रकृति के सौन्दर्य को स्वरूपत भिन्न मानना होगा। किन्तु यदि हम कला और प्रकृति दोनो मे सौन्दर्य की भावना करते हैं तो सौन्दर्य की दोनो कल्पनाओ मे एक सामान्य लक्षण होना समीचीन है। कलात्मक सौन्दर्य और प्राकृतिक सौन्दर्य की विरोधी व्याख्याओ में क्रोचे के मत की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। दोनो मे ग्रहण और सृजन का भेद तो किसी सीमा तक मान्य है फिर भी सौन्दर्य के एक सामान्य लक्षण की व्याप्ति आवश्यक है। क्रोचे की अनुभूति अथवा कौलिंगवुड की कल्पना प्राकृतिक सौन्दर्य की समीचीन व्याख्या नहीं है क्यों कि प्राकृतिक सौन्दर्य मे बाह्यता का अनुपग हमारे अनुभव का साधारण सत्य है। वस्तुवादी मत कला के सृजनात्मक सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नही करते। अनुभूतिवादी उसे पूर्णत आत्मगत बना देते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य न पूर्णत वस्तुनिष्ठ है और न पूर्णत हमारी चेतना की आत्मगत सृष्टि है। वह वस्तु के गुण, इन्द्रियो के धर्म और चेतना की क्रिया का सयुक्त फल है। वर्ण, रूप आदि की वैज्ञानिक व्याख्यायें इस सामजस्य म सौन्दर्य के उदय का समर्थन करती हैं। वस्तुवादी व्याख्या म चेतना की क्रिया के लिए और अनुभूतिवादी व्याख्या मे वस्तु की

बाह्यता के लिए स्थान नहीं है। समात्मभाव एक ओर चेतना का भाव है, उसमें ग्रहण और सृजन दोनों की सम्भावनायें हैं, दूसरी ओर बाह्यता और अचेतना से उसकी सहज संगति है। प्रकृति के एकान्त निरीक्षण में हम प्रकृति के साथ ही समात्मभाव उपस्थित करते हैं। अधिकांश काव्य में प्रकृति का मानवीयकरण इसका प्रमाण है। प्रकृति का सौन्दर्य हमें विभोर भी करता है किन्तु साथ ही हम उसके दर्शन में आत्मीयों के साहचर्य और सहयोग के लिए उत्कंठित हो उठते हैं। प्रकृति दर्शन का यह लोक प्रिय रूप इस मत का समर्थन करता है कि समात्मभाव की स्थिति ही सौन्दर्य का मूल स्रोत है।

प्रकृति के दर्शन का सौन्दर्य पूर्णतः आन्तरिक सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें बाह्य प्रकृति का अनुपात स्पष्टतः रहता है। जो वस्तुएँ सहज रूप में सुन्दर प्रतीत नहीं होतीं, उनमें सौन्दर्य के अनुभावन में आत्मगत कल्पना का सक्रिय योग अधिक रहता है। इन वस्तुओं में सौन्दर्य की भावना सबके लिए समान रूप में नहीं होगी। किन्तु प्रकृति की अनेक वस्तुएँ सबको ही सुन्दर प्रतीत होती हैं। इनकी सौन्दर्य भावना में चेतना के साथ साथ वस्तुओं के गुणों का भी योग रहता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वस्तुओं के गुणों का प्रभाव इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियों को जो सम्वेदनाएँ प्रिय लगती हैं उन्हें मन सुन्दर कहता है। प्रकृति के एकाकी दर्शन में सुख और शांति का अनुभव अधिक होता है। एकाकी मनुष्य प्रकृति के निरीक्षण की अपेक्षा प्रकृति में विश्राम अधिक करता है। जो प्रकृति के दर्शन में सौन्दर्य देखता है वह प्रायः प्रकृति के साथ साहचर्य और समात्मभाव का अनुभव करता है। अधिकांश कवि और कलाकार प्रकृति के साथ बंधु भाव का अनुभव करते हैं। अंग्रेजी का प्रसिद्ध प्रकृति-कवि वर्ड्सवर्थ डैफोडिल के फूलों के साथ नाचता है।[६२] सुमित्रानन्दनपंत बसंत की हरियाली में किसी को क्रीड़ा कौतूहल करते देखते हैं।[६३] उन्हें पेड़ की 'छाया' में सोती हुई दमयन्ती[६४] और ग्रीष्म की गंगा में लेटी हुई तन्वंगी तापस-बाला दिखाई देती है।[६५] चन्द्रमा और कमल में तो कवि प्रेयसी का मुख युगों से देखते आये हैं। काव्य में प्रकृति का मानवीयकरण यही संकेत करता है कि प्रकृति में साहचर्य और समात्म-भाव के साथ ही कवि सौन्दर्य का अनुभव करता है। मानवीयकरण के बिना भी साहचर्य और समात्मभाव संभव हैं, किन्तु प्रकृति में सौन्दर्य की भावना साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में ही होती है। इसके बिना प्रकृति में जिसे हम सुन्दर

कहते हैं वह केवल संवेदना की प्रियता है। जब दो आत्मीय जन समात्मभाव के साथ प्रकृति का दर्शन करते हैं तो उस प्रियता में सौन्दर्य का उदय होता है। समात्मभाव की चिन्मय स्थिति में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति आकृति की व्यंजना है। यह आकृति प्रकृति के परिमय गुणों के अतिरिक्त एक अनभिधेय अन्तर्भाव है। प्रकृति का अर्थ उसके परिमय गुणों का यथार्थ है जो प्रियता की संवेदना उत्पन्न करता है। इस अर्थ में आकृति का आधान दर्शक अथवा दर्शकों की चेतना करती है और उस आकृति की चिन्मय अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का उदय होता है। एकाकी के प्रकृति के साथ समात्मभाव में भी सौन्दर्य है, किन्तु एक से अधिक दर्शकों के साहचर्य और समात्मभाव में सौन्दर्य की समृद्धि होती है। हम एक दूसरे के सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भाग लेकर उसे समृद्ध बनाते हैं।

इस प्रकार विदित होता है कि प्रकृति के अनुकूल उपादानों में भी सौन्दर्य मनुष्य की सृजनात्मक चेतना का विधान है। सौन्दर्य की यह सृष्टि वस्तुओं की वाह्यता, यथार्थता और सगुणता का निराकरण करके कल्पना के आत्मलोक में उनका उन्नयन नहीं है वरन् उनकी वाह्यता, स्वतन्त्रता और सगुणता को स्वीकार करते हुए साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में उनकी प्रियता में सौन्दर्य का विधान है। प्रकृति का यह सौन्दर्य न पूर्णत वस्तुगत है और न एकान्तत आत्मगत। वस्तुत यह प्रकृति की वस्तुगत और प्रिय सत्ता में अन्तर्निहित आकृति की समात्मभाव की स्थिति में भावमयी व्यंजना है। प्राकृतिक सौन्दर्य की इस व्याख्या में प्रकृति के अकृत होने का प्रसंग नहीं आता जैसा कि कौलिंगवुड की व्याख्या में आता है। वस्तुत अकृतत्व सौन्दर्य का आवश्यक अंग नहीं है। प्रकृति में जिसे उदात्त कहा जाता है (जैसे पर्वत, समुद्र, आदि) उसमें अकृतत्व अथवा अपने कृतित्व के अभाव का भाव अवश्य रहता है। यह अभाव भेद उत्पन्न करके उदात्त का उद्‌घाटन करता है। यह उदात्त सुन्दर नहीं है। इसमें भेद और भय है तथा हमारी तुच्छता है। अधिक परिचय और सम्पर्क के बाद जब इस उदात्त के साथ हमारा समात्मभाव स्थापित हो जाता है तो यही सुन्दर बन जाता है। इसी समात्मभाव के आधार पर व्रजवासियों के लिए कालिन्दी के कूल, कदम्ब के वृक्ष, करील के निकुंज और वृन्दावन की वीथियाँ सुन्दर थे। अंग्रेजी की वह कहावत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि अधिक परिचय से घृणा उत्पन्न होती है। अधिक परिचय घृणा का कारण नहीं

है किन्तु निकटता मे उद्घाटित होने वाले भेद इसके कारण हैं। **प्रेम और सौन्दर्य का आधार समात्मभाव है। वह परिचय और घनिष्ठता से ही स्थापित होता है।**

प्राकृतिक सौन्दर्य की यह व्याख्या कलात्मक सौन्दर्य के पूर्णत अनुरूप है। यद्यपि कलात्मक सौन्दर्य चेतना की स्वतन्त्र सृष्टि है, फिर भी यह सृष्टि निराधार नही होती। **प्राकृतिक और सामाजिक जीवन के उपकरणों से ही कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है।** इसमे सदेह नही कि प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन मे वस्तु-निष्ठता अधिक स्पष्ट होती हैं तथा चयन का क्षेत्र कम होता है। कलात्मक सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता इतनी स्पष्ट नही होती और चयन का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। वाह्य उपादान की सम्वेदना वाध्यकारी न होने के कारण कला मे ग्रहण की अपेक्षा सृजन की सभावना अधिक होती है। **सृजनात्मक वृत्ति की प्रधानता ही प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से कलात्मक सौन्दर्य की मुख्य भेदक है।** किन्तु ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ग्रहण प्रकृति के गुणो की सवेदना की प्रियता तक ही सीमित है। उसमे सौन्दर्य का उदय समात्मभाव की स्थिति मे आकृति के अन्तर्भाव की व्यजना के द्वारा ही होता है। **समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना ही कलात्मक सौन्दर्य का भी मूल है।** इतना अवश्य है कि कला मे चेतना आकृति की व्यजना मे अधिक स्वतन्त्र और सक्रिय होती है। किन्तु जिस प्रकार प्रकृति मे सौन्दर्य का दर्शन पूर्णत वस्तुनिष्ठ और ग्रहणात्मक नही है उसी प्रकार कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि भी पूर्णत वस्तुगत आधार से रहित केवल आत्मगत सृष्टि नही है। वाह्य प्रकृति और जीवन के उपादानो से ही तत्व चयन कर समात्मभाव की स्थिति मे जीवन की आकृति की व्यजना कलात्मक सौन्दर्य को आकार देती है। **कलात्मक सौन्दर्य की यही व्याख्या सामान्य जीवन में सौन्दर्य के प्रयोग, कला की वाह्य अभिव्यक्ति, कला के सहकारी रूपो, लघुतर कलाओं, और कला के उपयोगी तथा व्यापारिक रूपो का समाधान करती है।** कला की यह व्याख्या कला के रूप को **व्यापक और साधारण मानकर उसके सौन्दर्य का मर्म उद्घाटित करती है।** वह क्रोचे की अनुभूति अथवा कौलिंगवुड की कल्पना के समान भावना की किसी असाधारण स्थिति पर निर्भर नही है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यजना मानवीय जीवन के सवन्धों मे उतनी ही व्यापक और साधारण है जितना कि कला का सौन्दर्य है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन के अतिरिक्त सौन्दर्य की एक और स्थिति है जिसे हम प्रदर्शन कह सकते हैं। प्रदर्शन कलात्मक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है किन्तु इस अभिव्यक्ति में दर्शकों, श्रोताओं आदि की उपस्थिति का भाव रहता है। प्रदर्शन कला की सामाजिक अभिव्यक्ति है। विशेष रूपों में बाह्य अभिव्यक्ति एकांत भी हो सकती है, किन्तु प्रदर्शन के लिए सामाजिक वातावरण अपेक्षित है। कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में समाजभाव काल्पनिक भी हो सकता है। कलाकृति की रचना के समय तो प्राय वह काल्पनिक होता है। प्राय कलाकार रचनाएँ एकान्त में करते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि वे एकान्त-भाव में रचनाएँ नहीं करते। व्यावहारिक यथार्थ की दृष्टि से अकेले होते हुए भी वे मन के भाव से अकेले नहीं होते। किन्तु कला के प्रदर्शन की स्थिति में दर्शकों की उपस्थिति काल्पनिक नहीं, वास्तविक होती है। नाटक, संगीत, नृत्य आदि कला के प्रदर्शन के परिचित रूप हैं। चित्रकला आदि की भी प्रदर्शनियाँ होती हैं। कवि सम्मेलनों में कविता का भी प्रदर्शन होता है। प्रदर्शन का अभिप्राय केवल कलात्मक सौन्दर्य का सृजन नहीं है। सृजन के अतिरिक्त उपस्थित जनों के प्रति सौन्दर्य के सम्प्रेषण का भाव भी प्रदर्शन का मुख्य अंग है। कलात्मक सौन्दर्य का सृजन भी प्रदर्शन के समान बाह्य अभिव्यक्ति है, किन्तु दर्शकों की उपस्थिति की कल्पना उसमें आवश्यक नहीं है। प्रदर्शन में वह उपस्थिति कल्पना नहीं वरन् वास्तविकता है। दूसरी ओर प्रदर्शन में कला का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है। दर्शक सौन्दर्य का अनुभावन किस रूप में करते हैं? यद्यपि प्रदर्शन की स्थिति में सामान्यत यह समझा जाता है कि कलाकार कला के सृजन में ही तन्मय रहता है। यह तन्मयता सफल प्रदर्शन की वास्तविक स्थिति है किन्तु यह इतनी पूर्ण नहीं होती कि दर्शकों की उपस्थिति की चेतना के लिए उसमें स्थान न हो। और न इस सामाजिक चेतना का कला की सफल सृष्टि से कोई मौलिक विरोध है। स्वयं कलाकार और दर्शक इस बात की साक्षी देते हैं कि सामाजिक उपस्थिति के वातावरण में कला की जैसी अद्भुत सृष्टियाँ देखी गई हैं वैसी अन्यथा देखने में नहीं आतीं। चित्रकला का तो कुछ रूप ही ऐसा है कि उसका सृजन और प्रदर्शन दोनों एक साथ सम्भव नहीं हो सकते, किन्तु नृत्य, संगीत आदि के साथ सृजन और प्रदर्शन का यौगपद्य अधिक स्वाभाविक है। शिक्षण और सहयोग (तबला) की आवश्यकता के कारण इनके अभ्यास में भी एकान्त नहीं होता और

एक दृष्टि से अभ्यास भी प्रदर्शन ही होता है। विशेष अवसरो और समाहारो के अवसर पर प्रदर्शन की सामाजिक भूमिका विशाल हो जाती है। प्राय देखा गया है कि इस विशाल भूमिका मे कला की ऐसी अद्भुत सृष्टियाँ होती हैं जो कदाचित् ही एकान्त मे सम्भव हो।

इससे यही प्रकट होता है कि सामाजिक समात्मभाव कला की सृष्टि का प्रेरक और उसकी आवश्यक भूमिका है। इस भूमिका मे जीवन की आवृतियो की व्यापक व्यजना कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप है। यह भ्रम है कि कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि एकान्त, व्यक्तिगत, आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति मे होती है तथा दूसरो की उपस्थिति कलाकार की तन्मयता को भग करती है और सौन्दर्य के उत्कर्ष मे बाधक होती है। समात्मभाव के द्वारा ही सामाजिक उपस्थिति सौन्दर्य के उत्कर्ष की साधक होती है। लोक-सगीत और लोक-नृत्य की सामूहिक प्रक्रिया मे यह समात्मभाव सक्रिय और पूर्ण होता है। अन्य स्थितियो मे यह इतना सक्रिय नही होता किन्तु आन्तरिक योग और अनुराग के रूप मे आत्मिक भाव की दृष्टि से पूर्ण हो सकता है। पूर्ण रूप मे समात्मभाव एक आत्मिक भाव ही है। बाह्य क्रिया से उसका विरोध नही है और सामान्यत बाह्य क्रिया उसमे सहायक होती किन्तु आवश्यक नही। आन्तरिक समात्मभाव को भी भाव की दृष्टि मे सक्रिय कह सकते हैं। इस समात्मभाव की पूर्णता ही कला की श्रेष्ठ सृष्टियो की भूमिका है। जहाँ इस समात्मभाव मे अपूर्णता रहती है अर्थात् जहाँ सामाजिक उपस्थिति भेद और विक्षेप का कारण होती है वहा समात्मभाव को खडित करने के कारण वह कला के श्रेष्ठ सृजन मे बाधक होती है। प्राय इसी दृष्टि से सामाजिक उपस्थिति को कलात्मक सौन्दर्य का बाधक माना जाता है। वस्तुत समात्मभाव की भूमिका मे ही जीवन की आवृतियो की व्यापक व्यजना के द्वारा ही कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। नाटक की तो सामाजिक उपस्थिति के बिना कल्पना की ही नही जा सकती। एक विशाल सामाजिक भूमिका मे ही नाटक के अभिनय का आयोजन होता है। रगमच शब्द मे अभिनय के मच की तुलना मे रग (सामाजिक उपस्थिति) को प्राथमिकता दी गई है। यद्यपि रगमच शब्द हिन्दी के आधुनिक प्रयोग मे अग्रेजी के स्टेज का समानार्थक हो गया है, किन्तु वस्तुत. वह उसका समानार्थक नही। स्टेज का समानार्थक केवल मच है। रग का अर्थ दर्शको की सामाजिक उपस्थिति है। यौगिक होते हुए भी रगमच शब्द रूढ प्रतीत

होता है। योगरूढ तो वह निश्चय रूप से है। इसका कारण भी भारतीय नाट्य शास्त्र में अभिनेताओं के साथ दर्शकों के सहयोग और समात्मभाव की आधारभूत-कल्पना है। इस समात्मभाव में विक्षेप अथवा बाधा होने पर अभिनेताओं और दर्शकों दोनों का रस भग हो जाता है। ऐसी स्थिति में कला का सृजन और प्रदर्शन सफल और श्रेष्ठ नहीं होता। संस्कृत नाटकों की 'नान्दी' नाटक के आरम्भ में ही इस समात्मभाव की स्थापना का सूत्र है। नाटक में जीवन के कलात्मक सौन्दर्य की सजीव, सक्रिय और साक्षात रूप में सृष्टि होती है। उसमें समात्मभाव की संभावना अधिक होती है, चाहे वह लोक संगीत और लोक नृत्य के समान पूर्ण न हो। इसीलिए नाटक कला का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। लोकप्रियता की दृष्टि से नृत्य और लोक संगीत के बाद नाटक की ही गणना होती है। सभी देशों के साहित्य में नाटक अत्यन्त प्राचीन है और नाटककार ही महान् साहित्यकार माने गये हैं।

भारतीय काव्य शास्त्र में कला और काव्य का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र से ही प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि की रामायण काव्य कृति की दृष्टि से आदि काव्य हो सकती है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि नाटकों की परम्परा वाल्मीकि और भरत दोनों से अधिक प्राचीन है। मध्यकाल में भी नौटंकी, स्वांग, रास, रामलीला आदि कला के नाटकीय रूप ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। नाटक के स्वरूप में ही कई पात्रों के समन्वित अभिनय के कारण संगीत अथवा नृत्य के प्रदर्शन की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है। इस समात्मभाव की अधिकता तथा नाटक के सौन्दर्य की सजीवता और सक्रियता के कारण भी दर्शकों के समात्म-भाव की संभावना नाटक में नृत्य अथवा संगीत के प्रदर्शन की अपेक्षा अधिक रहती है। कलाओं के साहित्यिक रूपों में नाटक में ये सम्भावना सबसे अधिक रहने के कारण नाटक साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय रूप है। भरत के नाट्य शास्त्र से आरम्भ होकर भारतीय काव्य शास्त्र में रस का समस्त विवेचन नाटकीय स्थिति पर ही आश्रित है। कालिदास और प्रसाद प्राचीन संस्कृत और आधुनिक हिन्दी के दो महान कवि हैं, किन्तु दोनों की प्रतिभा नाटकों में ही सर्वोत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुई है और नाटकों के कारण ही उनकी प्रतिष्ठा है। अंग्रेजी का महान कवि शेक्सपियर भी नाटककार है। इतना अवश्य है कि समात्मभाव की पूर्ण स्थिति सामूहिक नृत्य अथवा संगीत में ही होती है, इसीलिए

शिव-पार्वती का लास्य और श्री कृष्ण तथा गोप-गोपियो का रास कलात्मक सौन्दर्य के सर्वोत्तम रूप हैं, किन्तु इसमें सदेह नहीं कि साहित्य के समस्त रूपो में नाटक इसके सबसे अधिक निकट है। इस निकटता क कारण ही नर्तन की वाचक नट धातु से नाटक की उत्पत्ति हुई है। यह शब्द की उत्पत्ति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन लोक-नृत्यों से ही नाटक का विकास हुआ है।

भारतीय काव्य शास्त्र म इसका बहुत विवेचन किया गया है कि अभिनेता और दर्शक म किस रूप म कलात्मक सौन्दर्य अथवा रस का उदभव होता है। रस के मूल आश्रय तो नाटक के मूल पात्र थे। अभिनेता और दर्शक उस रस का अनुभव किस रूप म करते हैं। रस को मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिगत मानकर भारतीय आचार्य अनेक कठिनाइयो मे पड गये। पात्रो के साथ एकात्मभाव म उत्पन्न होने वाले पातक से बचने के लिए साधारणीकरण का सिद्धान्त बना। डा० राकेश गुप्त ने बडी विदग्धता के साथ यह प्रमाणित किया है कि नाटक का आनन्द साधारणीकरण पर नहीं वरन् विशेषीकरण पर निर्भर करता है।[5] साधारणीकरण की कल्पना मुख्यत दर्शक के सम्बन्ध मे ही की गई है किन्तु अभिनेता के पातक का समाधान क्या है? अभिनेता म साधारणीकरण का प्रयोग करने पर नाटक का आधार ही खण्डित हो जायेगा। नाटक का स्वरूप ही पात्रो के रूप और चरित्र की विशेषता पर निर्भर करता है। साधारणीकरण मे ये विशेषताय विलय हो जायेंगी और नाटक का रूप नष्ट हो जायेगा। ग्रीक के विचारको ने नाटक के सम्बन्ध मे अनुकरण का सिद्धान्त उपस्थित किया। नाटक मे अनुकरण होता है, यह सत्य है। इस अनुकरण से एकात्मक भाव की स्थापना भी होती है, यदि हम इसका अर्थ व्यक्तित्व का विलय न समझें। वस्तुत जीवन और कला की सारी कठिनाइयाँ व्यक्तित्व को एक कठोर इकाई मान लेने से आरम्भ होती हैं। इस मान्यता मे एकात्मता के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। व्यक्तित्वो का एकीकरण एक मनोवैज्ञानिक असभावना है। अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अधिक जटिल है। व्यक्तित्वो का कठोर पार्थक्य और पूर्ण एकीकरण इन दोनो ही स्थितियो मे अनुकरण सम्भव नहीं हैं। व्यक्तित्वो का सापेक्ष भेद उसमे रहता है। अभिनेता अपने व्यक्तित्व को कभी नहीं भूलता और न वह तथ्य को भूलता है कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। दर्शक भी अभिनय को अभिनय ही समझते हैं। अत अभिनेता के अनुकरण और दर्शक के एकात्मभाव दोनो को

समात्मभाव के रूप में समझने से नाटक के सौन्दर्य और रस की व्याख्या अधिक सतोषजनक रूप में हो सकती है। समस्त कठिनाइयो का मूल मनुष्य की चेतना को प्रकृति के नियमो के अनुसार समझने का प्रयत्न है। व्यक्ति की कठोर इकाई की कल्पना इसी प्रयत्न का परिणाम है। प्रकृति म इकाइयाँ कठोर हैं, अत उनका एकात्मभाव सम्भव नही है। सचेतन एकात्मभाव की कल्पना भी हम एक नवीन किन्तु कठोर इकाई की स्थापना क रूप म करत हैं। यह चेतना के क्षत्र म प्रकृति के नियमो का प्रयोग है। वस्तुत चेतना एक स्वतन्त्र और व्यापक तत्त्व अथवा वृत्ति है। उसकी इकाई अथवा एकात्मता प्रकृति की भाति कठार नही है। अन्य वस्तुओ और व्यक्तियो के साथ समात्मभाव मे ही उसका स्वरूप साकार और साक्षात होता है। नाटक के अनुकरण (अभिनय) और दर्शन (प्रेक्षण) में यही समात्मभाव सौन्दर्य और रस का हेतु बनता है। वस्तुत नाटक अनुकृति होने के साथ-साथ एक कृति भी है। समात्मभाव की भूमिका में कलाकार जीवन की आकृतियो की व्यजना करते हैं। यह व्यजना ही सौन्दर्य और रस की सृष्टि है। कुछ विद्वानो का मत है कि कला का दर्शक इस मौलिक सौदर्य की आत्मगत सृष्टि करता है। वह स्वय कलाकार बन जाता है। इसी भाव मे वह सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा रस लाभ करता है। इस मत म भी व्यक्तित्व की कठोर कल्पना और उनके एकीकरण की विरोधात्मक भूल है। सत्य यह है कि जिस प्रकार अभिनेता का मूल पात्रा के साथ एकीकरण न सम्भव है और न आवश्यक, उसी प्रकार कलाकार के साथ भी दर्शक अथवा पाठक का एकीकरण न सम्भव है और न आवश्यक है। मनुष्य की चेतना का यही स्वरूप है कि वह अपने प्राकृतिक व्यक्तित्व के आधार में रहते हुए भी अन्य चेतनाओं के साथ समात्मभाव में सौन्दर्य की सृष्टि और उसका अनुभव करती है। चेतना की स्मृद्धि का यही रूप है। यह समात्मभाव जीवन और कला की सभी स्थितियो और सभी रूपो मे होना है। इसीलिए कला की भिन्न भिन्न स्थितियो और उसके भिन्न भिन्न रूपो म सौन्दर्य के रूप और रस के अनुभव का प्रकार भिन्न होता है। यह विविधता ही चेतना और कला की समृद्ध विभूति का रहस्य है। जीवन म इस समात्मभाव की स्थिति म आवृति की व्यजना सौदर्य और रस की सृष्टि करती है। अभिनय और दर्शन में इस समात्मभाव की

स्थिति मे क्रमशः एक एक विभा और बढ़ जाती है। जीवन और कला में सौन्दर्य का मूल स्वरूप समात्मभाव ही है, किन्तु विभिन्न स्थितियों में उसकी विभाओं के भेद से आकृति की व्यंजना और उसके अनुभावन का प्रकार भिन्न हो जाता है। यही जीवन और कला दोनों में सौन्दर्य के सृजन, अनुभावन, दर्शन, प्रदर्शन आदि मे सौन्दर्य और रस के प्रकार मे भेद तथा जीवन, कला, सौन्दर्य और रस की सम्पन्नता का रहस्य है।

अध्याय ४८

काव्य और सुन्दरम्

सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को सामान्यत मौलिक सस्कृतिक मूल्य माना जाता है। विचारकों ने तीनो के विविक्त स्वरूप के निर्धारण का प्रयत्न किया है। चाहे इन स्वरूपो का निर्धारण कितना ही कठिन हो किन्तु प्राय इन्हे एक दूसरे से भिन्न माना जाता है। सत्यम्' शिवम् और सुन्दरम् से भिन्न है। 'शिवम्' का लक्षण सत्यम् और सुन्दरम् से पृथक है और 'सुन्दरम्' सत्यम् तथा शिवम् से विलक्षण है। 'सत्यम्' हमारी जिज्ञासा का समाधान है। वह एक तटस्थ और निरपक्ष तत्व है, जो अपने स्वरूप म ही मूल्यवान है। विज्ञान, तर्कशास्त्र और दर्शन उसी के अनुसन्धान के मार्ग हैं। मानवीय अनुभव के रूप मे इस अवगति को सत्यम् का सामान्य लक्षण कह सकते हैं, जो उसके अनेक रूपो मे व्याप्त है। 'शिवम्' हमारे आचार का लक्ष्य है। मानवीय आचार सामाजिक है अत 'शिवम्' एक सामाजिक मूल्य है। मानवीय आचार और सम्बन्धो मे ही उसके स्वरूप की महिमा है। उनसे भिन्न इसके स्वरूप की कल्पना करना भी कठिन है। सामाजिक का अर्थ यह नहीं है कि उसमे व्यक्ति का कोई मूल्य और महत्व नहीं है। व्यक्तियो से ही समाज बनता है। व्यक्तियो के अतिरिक्त समाज के रूप और अस्तित्व की कल्पना करना कठिन है। किन्तु सामाजिक रूप में व्यक्तियो की इकाई अपने सीमित अहभाव मे ही पूर्ण नहीं रहती। व्यापक पारस्परिक सम्बन्धों मे व्यक्तित्व एक अधिक सम्पन्न-पूर्णता प्राप्त करता है। सीमित अर्थ मे व्यक्तित्व की कल्पना स्वार्थमय है। यह स्वार्थ प्रकृति का लक्षण है। मनुष्य के प्राकृतिक धर्मों म क्रियाओ के फल और हित स्वार्थमय हैं। सामाजिक सम्बन्धो के कुछ रूपो मे इन स्वार्थों का विनिमय भी होता है। यह विनिमय एक मानसिक व्यापार है। प्राकृतिक धर्मों में विनिमय सम्भव नहीं है। वे पूर्णत व्यक्तित्व और स्वार्थ मे रूढ हैं। प्राकृतिक स्वार्थों के इस विनिमय मे ही व्यक्तित्व अपनी सकुचित सीमा का अतिक्रमण करता है। विनिमय के मानसिक व्यापार मे यह विस्तार स्पष्ट है। मानसिक और आत्मिक उपादानो के विनिमय और व्यवहार मे व्यक्तित्व का ऐसा विस्तार होना

है कि वह अपने सीमित रूप में भिन्न प्रतीत होने लगता है। अहंकार का बिन्दु यदि पूर्णतः विलीन नही हो जाता तो भी उसका इतने व्यापक क्षितिजों में विस्तार हो जाता है कि उसकी समृद्धि में उसका मूल संकुचित भाव नगण्य-सा लगता है। मानसिक और आत्मिक व्यापारों के क्षेत्र में विनिमय का स्वरूप भी बदल जाता है। इसमें गणित के नियम लागू नहीं होते। प्रदान से हानि नहीं होती वरन् दाता और प्राप्तकर्त्ता दोनों की समृद्धि होती है। सरस्वती के कोष की विचित्रता का यही रहस्य है। पारस्परिकता और प्रदान दानों ही इस मानवीय सम्बन्ध के रूप हैं। दोनों में भेद करना भी कठिन है। एक सापेक्ष भाव से ही हम इनमें 'स्व' और 'पर' का व्यवहार करते हैं तथा प्रदान और प्राप्ति की कल्पनायें स्थिर करते हैं।

व्यक्तित्व के प्राकृतिक और आत्मिक दो धरातलों को लेकर जीवन के शिवम् की कल्पना दो रूपों में की जाती है। इन्हें हम श्रेय के प्राकृतिक और सांस्कृतिक रूप कह सकते हैं। प्राकृतिक श्रेय को भारतीय दृष्टिकोण से 'प्रेय' कहना अधिक उचित है। संवेदना की प्रियता उसका लक्षण है। वह मनुष्य के शरीर और मन का स्वभाव है। यह प्राकृतिक प्रेय सांस्कृतिक श्रेय का स्वरूपतः विरोधी नहीं है, वह उसकी आवश्यक भूमिका है। किन्तु प्राकृतिक प्रेय जीवन के श्रेय का सर्वस्व नहीं है। भारतीय परम्परा में सांस्कृतिक श्रेय को ही शिवम् का मुख्य रूप माना है, इसलिए पुराणों में शिव के दिव्य रूप की कल्पना की गई है। तन्त्रों में शिव को चिरानन्दमय माना गया है तथा उपनिषदों में 'अद्वैतम्' के साथ-साथ 'शिवम्' को ब्रह्म का लक्षण बताया गया है। आत्मा अथवा चेतना का यह क्षेत्र प्रकृति अथवा संवेदना के नियमों से अतीत है। उसमें प्रकृति के स्वार्थ की सीमाएँ भंग हो जाती हैं और अहंकार के पलकों पर विस्तार के क्षितिज खुल जाते हैं, 'स्व' और 'पर' का भेद कठिन हो जाता है, पारस्परिकता और प्रदान की सीमाएँ एक अपूर्व आत्मभाव में विलय होने लगती हैं। यह आत्मभाव ही सांस्कृतिक शिवम् का मूल स्वरूप है। वस्तुतः यही पूर्ण सत्य है। इसमें सुन्दरम् का भी समन्वय है। इसलिए पुराणों में शिव का स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है। शिव के रूप के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं वे उनके उपकरणों पर आश्रित हैं। कालिदास का 'कुमार सम्भव' उन सब भ्रान्तियों का खंडन करता है। तन्त्रों में भी 'सुन्दरी' शिव की अभिन्न शक्ति है। आत्मभाव के शिवम् के इस रूप में सत्यम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। व्यवहार में पारस्परिकता अथवा भाव और आनन्द की पारस्परिक समृद्धि इसका

लक्षण है। किन्तु 'स्व' और 'पर' की व्यावहारिक सापेक्षता की दृष्टि से हम इसे **'आत्मदान'** कह सकते हैं। कहा जा चुका है कि आत्मा के क्षेत्र में 'दान' हानि नहीं, लाभ है, अतः यह आत्मदान आत्म-लाभ भी है। किन्तु सत्यम् और सुन्दरम से भेद करने के लिए तथा व्यावहारिक दृष्टि से इसके सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष को स्पष्ट करने के लिए इसे *आत्मदान कहना ही अधिक उचित है।* **आत्मा का स्वरूप चैतन्य है; अतः अपनी सजग चेतना के द्वारा दूसरे के सचेतन जीवन के निर्माण और विकास में हम जितना योग देते हैं उतना ही हमारा जीवन शिवम् की साधना से पूर्ण है। सृजन जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सस्कृतिक धर्म है। अतः दूसरों के सृजनात्मक जीवन में आत्मा के अध्यवसाय का सहयोग शिवम् की श्रेष्ठ साधना है।** पश्चिमी आचार शास्त्र के अनेक सम्प्रदायों में व्यक्तित्व की प्राकृतिक सीमा में ही पूर्ण मानकर सवेदनात्मक सुख को श्रेय का समानार्थक माना है। भारतीय धारणा के अनुसार *इस प्राकृतिक श्रेय को प्रेय कहना ही अधिक उचित है। यह प्रेय पूर्णतः* स्वार्थमय है। इसकी एक मर्यादामय भूमिका में जिन आत्मीय सम्बन्धों और *साधनाओं का विधान किया जाता है उन्हीं को श्रेय कहना अधिक उचित है।* वे ही शिवम् के रूप हैं। जिस प्रकार अवगति सत्य के अनेक रूपों का सामान्य लक्षण है, उसी प्रकार आत्मदान शिवम् के अनेक रूपों का सामान्य लक्षण है। **अवगति जिज्ञासा का सन्तोष और आत्मा का प्रसाद है।** इस प्रसाद में भी हम हर्ष आह्लाद अथवा आनन्द का मर्म खोज सकते हैं किन्तु अवगति का शुद्ध रूप एक उदासीन भाव से सत्य का अनुसधान और उद्घाटन है। **शिवम् के आत्मदान का फल आनन्द है।** यहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध की सीमा अतिक्रान्त हो जाती है। अतः आनन्द *को आत्मदान का स्वरूप भी कह सकते हैं। दर्शनों में आत्मा का स्वरूप ही* आनन्द है। आत्मा पूर्ण और आनन्दमय है। **'आत्मदान' आत्मा के पूर्ण प्रदान द्वारा (हानि के विपरीत) पूर्ण की समृद्धि है।** व्यवहारिक दृष्टि में सर्वथा आनन्द की समृद्धि आत्मदान का फल है।

सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के विविक्त रूपों की धारणा में 'सत्यम्' का **सामान्य स्वरूप अवगति और आत्मा का प्रसाद उसका फल है।** 'शिवम्' का **स्वरूप आत्मदान है तथा फल आनन्द है।** इस निर्धारण में सुन्दरम् का क्या स्वरूप है? *जिस प्रकार प्राकृतिक तथ्य से लेकर आध्यात्मिक सत्य तक सत्यम् के अनेक रूप* **हैं तथा** जिस प्रकार ऐन्द्रिक प्रेय से लेकर आध्यात्मिक निःश्रेयस तक शिवम् के

अनेक रूपों की कल्पना की गई है उसी प्रकार सुन्दरम् के भी अनेक रूप मानवीय चेतना के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सुन्दरम् का दृश्य रूप सबसे अधिक लोक विदित है। इसका कारण ऐन्द्रिक संवेदना का सहजभाव और संवेदनाओं के कुछ रूपों की स्वाभाविक प्रियता है। उषा, चन्द्रमा, पुष्प और इन्द्रधनुष को सभी सुन्दर कहते हैं। इन्द्रियों की संवेदना से निर्धारित ये सुन्दरम् के बाह्य और वस्तुगत रूप हैं। रूप और वर्ण इनकी प्रमुख विशेषतायें प्रतीत होती हैं। वर्ण को अधिकांश दार्शनिक पदार्थों का उपगुण मानते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि वह पूर्णत वस्तुगत नहीं है, वरन् अंशत संवेदना की क्रिया पर निर्भर है। आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान वर्ण की इस आत्मगत धारणा का समर्थन करते हैं। रूप भी एक अर्थ में आत्म सापेक्ष है। फिर भी वर्ण की अपेक्षा उसमें वस्तुगत धर्म अधिक है। इसलिये सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ आचार्यों ने वस्तु व्यवस्था के उन आकारों के निर्धारण का प्रयत्न किया है जिनमें सौन्दर्य का संनिधान प्राय होता है। जिस प्रकार कुछ वर्ण अथवा वर्ण योजनायें सामान्यत सुन्दर प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार आकार की कुछ व्यवस्थायें भी स्वभावत सुन्दर लगती हैं। विद्वानों ने आकार की इन व्यवस्थाओं को सन्तुलन, संगति, लय, समानुपात आदि की योजनाओं के रूप में निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। यह स्मरण रखने योग्य है कि संवेदना की प्रियता के कारण सुन्दरम् के ये वस्तुगत रूप सुख के समानार्थक हैं।

यद्यपि वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सत्य है कि सामान्यत हम जिन वस्तुओं को सुन्दर मानते हैं, उनके जिन गुणों में सौन्दर्य का आधान होता है वे पूर्णत वस्तुगत नहीं होते वरन् बहुत कुछ सीमा तक उनका आधार आत्मगत होता है, फिर भी साधारण व्यवहार में हम उन गुणों को वस्तुओं का गुण मानते हैं। गुणों की इस वस्तुनिष्ठता का आधार हमारी संवेदनाओं का बाह्य विक्षेप है। इसी विक्षेप के कारण जो गुण सौन्दर्य के लक्षण माने जाते हैं वे वस्तुओं में विद्यमान प्रतीत होते हैं। हमारी सम्वेदनाओं में बहुत कुछ समानता है इसलिए वस्तुओं के कुछ सामान्य रूपों में सौन्दर्य के लक्षणों का व्यवहार होता है। 'सुन्दर' पद का प्रयोग विशेषण के रूप में किया जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य किसी वस्तु का गुण है। सौन्दर्य का प्रयोग भी एक गुण के रूप में होता है। वस्तुओं और व्यक्तियों के लिए सुन्दर का प्रयोग सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का ही संकेत करता है। नर नारी एक दूसरे को सुन्दर मानते हैं। यह सौन्दर्य का वस्तुगत और व्यक्तिगत

रूप है जो जीवन मे आकर्षण का विषय है। लोग सुन्दर वस्तुओ की कामना करते हैं और उनकी प्राप्ति से अपने को कृतार्थ मानते हैं। पुष्प, चन्द्रमा, उषा, इन्द्रधनुष आदि सबको सुन्दर लगते हैं। इतिहास मे सुन्दर स्त्रियो के लिए युद्ध होते रहे हैं। आज भी पश्चिमी देशो मे स्त्रियो की सौन्दर्य प्रतियोगिता होती है, जिसमे सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी को 'विश्व सुन्दरी' का पद मिलता है। यह एक रोचक और **विचारणीय स्थिति है कि इस सौन्दर्य प्रतियोगिता में सौन्दर्य का मानदड व्यक्तिगत नहीं वरन् वस्तुगत होता है।** विश्व सुन्दरी का निर्णय किसी निर्णायक की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर नही है। रोम के म्यूजियम मे रखी हुई ग्रीस की प्रेम और सौन्दर्य की देवी वीनस की प्रतिमा के अग-विन्यास के आधार पर विश्व सुन्दरी की श्रेष्ठता का निर्णय होता है। सौन्दर्य की श्रेणियो के सम्बन्ध मे तो मतभेद हो सकता है, किन्तु अधिक और कम सुन्दर वस्तुएँ सभी सुन्दर कोटि मे होती हैं और सामान्यत लोग उनके सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं। कुछ वस्तुओ और व्यक्तियो का सौन्दर्य इतना प्रबल होता है कि वे हमे अपना महत्व स्वीकार करने के लिए विवश कर देता है। यह ठीक है कि बिना व्यक्ति के (द्रष्टा के) सुन्दर वस्तुओ के सौन्दर्य का भी ग्रहण और स्वीकरण करने वाला कौन होगा? किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि द्रष्टा उन वस्तुओ के सौन्दर्य का सृजन करता है। व्यक्ति पर निर्भर होते हुए भी सौन्दर्य की विशेष बाह्य वस्तुओ और व्यक्तियो में ही होता है। **बाह्यता का अनुभव और सुन्दर वस्तुओ के सम्बन्ध में सामान्य एकमत्य यही सूचित करता है कि सौन्दर्य द्रष्टा पर निर्भर नहीं वरन् वस्तुगत गुण है।**

यह सामान्य व्यवहार के अनुरूप दृश्य अथवा ऐन्द्रिक सौन्दर्य की स्थिति है। संवेदनाओ की गति बहिर्मुखी है। जैसा कठ उपनिषद् का वचन है 'विधाता ने हमारी इन्द्रियो की गति बहिर्मुखी बनाई है, इसीलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है अन्तरात्मा को नही देखता।'[४९] इन्द्रियो की बहिर्मुखी वृत्ति के कारण ही सौन्दर्य का विशेष बाह्य वस्तुओ मे होता है किन्तु साथ ही संवेदना चेतना का ही एक रूप है। सचेतन अनुभूति मे ही सौन्दर्य का बोध होता है। यह विचार करना आवश्यक है कि इस सौन्दर्य की अनुभूति का रूप क्या है। यदि सौन्दर्य पूर्णत एक वस्तुगत गुण है तो सौन्दर्य की अनुभूति का रूप सत्य की अवगति के समान तटस्थ और उदासीन होना चाहिये। किन्तु ऐसा नही है। सत्य की अवगति मात्र से हम सन्तुष्ट हो जाते हैं। उसका उद्घाटन मात्र हमारे

सन्तोष के लिए पर्याप्त होता है। इस अवगति की आवृत्ति की भी आवश्यकता हमें सामान्यत नही होती। आवृत्ति का कोई व्यवहारिक प्रयोजन हो सकता है, किन्तु वह सत्य और अवगति के स्वरूप का आवश्यक अग नही है। सौन्दर्य की कहानी इससे भिन्न है। सौन्दर्य के बोध में अवगति के साथ-साथ अनुराग तथा आकर्षण होता है। हम सुन्दर वस्तुओ को अपनाना चाहते हैं। इसके विपरीत सत्य के तत्वो के प्रति हमारा ऐसा मोह नही होता। हम सत्य की दृष्टि से वस्तुगत सत्ताओ और नियमो पर अधिकार नही चाहते। उपयोगिता की बात भिन्न है। किन्तु सुन्दर वस्तुओ के प्रति हमारा अनुराग और आकर्षण अधिकार की भावना से प्रेरित होता है। सुन्दर के प्रति हमारे इस आकर्षण का रहस्य क्या है? विश्लेषण करने पर इसमे दो तत्व दिखाई पड़ते हैं। एक तो हमारी ऐन्द्रिक सवेदना का तत्व है और दूसरा अनुभूति का तत्व है। बुद्धि चेतना का निष्पक्ष और उदासीन रूप है। अत वह सत्य की अवगति मात्र से सन्तुष्ट हो जाती है। किन्तु सम्वेदना रागमयी है। सुखवाद उसके राग का सिद्धान्त है। सवेदना प्रियता की अभिलाषिणी है। अपने प्रिय मार्गो में पुन पुन विचरण करने मे उसे सुख मिलता है। सम्वेदना की इसी सुख-भावना के कारण 'सुन्दर' को 'रमणीय' का अभिधान मिला। सम्वेदना परिचित रूपो मे नवीन सौन्दर्य तथा नवीन रूप भी खोजती है। यह नवीनता भी उसके सुख का एक सूत्र है। 'पुन-पुन यन्नवता-मुपैतितदेवरूप रमणीयताया' ऐसे ही प्रसगो मे सार्थक होता है। सौन्दर्य-बोध मे सवेदना की इस रमणीशीलता के कारण ही कुछ सम्प्रदायों में सौन्दर्य को सुख का समानार्थक माना है।

सौन्दर्य-बोध का दूसरा तत्व अधिक आत्मगत है। सामान्यत हम इसे 'अनुभूति' कह सकते हैं। इस अनुभूति मे भी सौन्दर्य के प्रति अनुराग और आकर्षण होता है, यद्यपि इस अनुभूति का रूप उतना सुखाभिलाषी और अधिकार-कामी नही होता। सौन्दर्य के समग्र बोध में सवेदना को छोड़कर चेतना का जो तत्व शेष रह जाता है, उसे हम 'अनुभूति' कह सकते हैं। प्राय कुछ अतीन्द्रिय विषयों के सौन्दर्य की भी चर्चा होती है। इनके प्रसग मे हम इस अनुभूति के रूप को सवेदना से पृथक करके समझ सकते हैं। कल्पना की शक्ति के द्वारा यह अनुभूति मानों अपने विषय मे तन्मय हो जाती है। क्रोचे ने अनुभूति के इसी रूप को कला और सौन्दर्य का स्वरूप माना है। विषय के साथ आत्मीयता की भावना

कारण इस अनुभूति में एक आह्लाद का उदय होता है जो इन्द्रियों की सम्वेदना के सुख से भिन्न है। संवेदना का सुख बाह्य आश्रय पर निर्भर करता है तथा स्वार्थमय है। सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति का रूप स्वतन्त्र और स्वार्थरहित होता है। सम्वेदना के सुख को हम दूसरों को वितरित नहीं कर सकते। अनुभूति के आह्लाद को हम बाँटना चाहते हैं और बाँट सकते हैं। वस्तुतः इस वितरण की कल्पना में ही आह्लाद का उदय होता है। हम अकेले भी सम्वेदना का सुख प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु आन्तरिक अनुभूति दूसरों के प्रति व्यक्त होने के लिए आकुल हो उठती है। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि आन्तरिक अनुभूति का सचेतन रूप आन्तरिक अभिव्यक्ति है। क्रोचे ने कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक रूप माना है। उन्होंने बाह्य अभिव्यक्ति को कला में एक गौण स्थान दिया है किन्तु वस्तुतः यह बाह्य अभिव्यक्ति भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का ही बाह्य और सामाजिक आकार है। जीवन कला और साहित्य में इसकी इतनी प्रचुरता है कि इसे गौण कहना अनुचित प्रतीत होता है। बाह्य अभिव्यक्ति सौन्दर्यानुभूति का कितना आवश्यक अंग है यह इसी से विदित होता है कि विश्व के सभी महान् कलाकारों ने अपनी सौन्दर्यानुभूति को आकार दिया। कलाकारों की भाँति ही साधारण जन भी अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए आकुल हो उठते हैं। उनकी अनुभूति अपनी विभूति में भाग लेने के लिए दूसरों को आमन्त्रित करती है। सौन्दर्य की अनुभूति के इस वितरण में ही आह्लाद है। वितरण से यह आह्लाद और बढ़ता है। सौन्दर्य की सम्वेदना की तुलना में उसकी अनुभूति के ये लक्षण विशेष महत्वपूर्ण हैं। अनुभूति चेतना का आन्तरिक रूप है। वह व्यक्तिगत प्रतीत होता है। कम से कम व्यक्ति में उसकी केन्द्रीयता स्पष्ट है, यद्यपि इस अनुभूति के क्षितिज व्यक्तित्व की सीमित परिधि को पार करते हुए दिखाई देते हैं। सौन्दर्य की अनुभूति में कल्पना प्रधान है। कल्पना का स्वरूप एकात्मता की स्थापना है। किसी भी रूप और भाव से तन्मय होकर कल्पना अनुभूति में सौन्दर्य का उदय करती है। इस तन्मयता को कुछ विद्वानों ने तादात्म्य अथवा समानुभूति माना है। प्रकृति और मनोविज्ञान दोनों के क्षेत्रों में तादात्म्य असम्भव है। समानुभूति भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अकल्पनीय है। दूसरे की अनुभूति को हम तद्रूप होकर आत्मसात् नहीं कर सकते। एक व्यक्तित्व दूसरे का स्थानापन्न नहीं बन सकता।

कदाचित् व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनो ही दृष्टियो मे यह अधिक सगत प्रतीत होता है कि अपने व्यक्तित्व मे रहते हुए भी हम दूसरी वस्तुओ और दूसरे व्यक्तियो के साथ समात्मभाव का अनुभव करते हैं। सहानुभूति, समानुभूति आदि से भेद करने के लिए हम इसे 'सम्भूति' कह सकते हैं।

ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्राकृतिक प्रियता के अर्थ मे चाहे सौन्दर्य का बोध अकेले व्यक्ति मे भी सम्भव हो, किन्तु चेतना की भावात्मक और सृजनात्मक वृत्ति के रूप मे सौन्दर्य का बोध और उसकी अभिव्यक्ति इस समात्मभाव की सभूति के ही रूप मे होती है। क्रोचे तथा उनके अनुयायियो ने जिस व्यक्तिगत अनुभूति अथवा उसकी समानार्थक अभिव्यक्ति या कल्पना को कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप माना है, वह सौन्दर्य के बोध और अभिव्यक्ति की वास्तविक स्थिति नही है, वरन् एक प्रत्याहार मात्र है। यदि ससार मे एक ही व्यक्ति अकेला होता तो यह निश्चित है कि वह कलाकार अथवा कवि न होता। उसमे सौन्दर्य के बोध और अभिव्यक्ति की सम्भावना जाग्रत न होती। बृहदारण्यक उपनिषद् के आरम्भ मे प्रजापति के एकाकीपन की विडम्बना इस सत्य को प्रमाणित करती है। एकाकीपन मे उन्हे आनन्द न मिला। अत उन्होंने मिथुन सृष्टि की रचना की[२०] और उसमे प्रवेश करके आनन्द का लाभ किया।[२१] इस प्रवेश का तात्पर्य चेतना का समात्मभाव ही है क्योंकि शकराचार्यजी ने अपने भाष्य मे आत्मा के स्थानान्तर, गमन आदि का निषेध किया है। कोई भी एकाकी व्यक्ति प्रजापति के समान अनुभव के द्वारा इस सत्य का साक्षात् कर सकता है। कलाकार को सौन्दर्य का एकान्त अनुभावक मानकर क्रोचे और उनके अनुयायियो ने कलाकार के साथ ही अन्याय नही किया वरन् कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे एक अयथार्थ धारणा भी प्रचलित की है। मनुष्यता और एकान्त दो विरोधी प्रत्यय हैं। एरिस्टोटिल ने कहा था कि जो अकेला रह सकता है, वह देवता अथवा राक्षस होगा। निस्सदेह मनुष्यता का उदय चेतना के समात्मभाव से ही हुआ है, और यह समात्मभाव ही मानवीय संस्कृति, कला आदि का मूल आधार है। यही सौन्दर्य और आनन्द का स्रोत है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ एकाकीपन से तात्पर्य बाह्य विविक्तता से नही है वरन् आन्तरिक और मानसिक एकान्त से है। यह मानसिक एकान्त मनुष्य को इतना असह्य है कि अकेला होने पर वह अपने आत्मीयो के साथ काल्पनिक साहचर्य से अपने को संतुष्ट करता है। कोई मनुष्य निकट न होने पर वह जड

पदार्थों से अपना बन्धुत्व स्थापित है। आदिम वासियों में जो प्रकृति का मानवीयकरण मिलता है उसका कारण चाहे भय हो अथवा अलौकिकता की आस्था अथवा और कोई कारण हो, किन्तु इनमें कोई भी कारण काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलने वाले प्रकृति के मानवीयकरण की व्याख्या नहीं कर सकता। काव्य की स्थिति में इन कारणों के लिए अवकाश नहीं है। काव्य में प्रकृति के मानवीयकरण का कारण कवि की अथवा कविता के पात्रों की प्रकृति के साथ साहचर्य की कामना है। मेघदूत के प्रवासी यक्ष की भाँति एकाकी होने पर मनुष्य अपने आत्मीयों के साथ काल्पनिक साहचर्य तथा प्राकृतिक पदार्थों के वास्तविक साहचर्य से अपना आश्वासन करता है। कला और काव्य के इतिहास में एकान्त भाव का कोई उदाहरण मिलना कठिन है। जिसे कुछ विद्वान तन्मयता अथवा तादात्म्य कहते हैं वह कवि की चेतना अथवा भावना की एकांतिक अथवा व्यक्तिगत स्थिति नहीं है। समात्मभाव ही उस स्थिति का वास्तविक रूप है। **प्रकृति के पदार्थों और जीवन के पात्रों के साथ कवियों और कलाकारों का यही समात्मभाव कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा बना है। कल्पना इस समात्मभाव की शक्ति है।** आत्मीय व्यवहारों में हम इसी के द्वारा साहचर्य के आनन्द और सौन्दर्य के बोध का लाभ करते हैं। एकान्त में यह कल्पना और भी प्रबल हो जाती है। मेघदूत का यक्ष इसका उदाहरण है। सम्भवत कवियों और कलाकारों म यह एकान्त का भाव अधिक होता है। इसीलिए समात्मभाव की कल्पना द्वारा साहचर्य की सृष्टि करने की क्षमता अधिक होती है। काव्य शास्त्र की परम्परा में कवि को 'प्रजापति' माना गया है। यह नितान्त उपयुक्त ही है। सम्भवत कवि बच्चन का यह कथन सत्य है कि 'नर-नारी से भरे जगत में कवि का हृदय अकेला।" किन्तु इस अकेलेपन में वह जिस एकान्त सृष्टि की रचना करता है वह विश्व के साथ आत्मभाव से परिपूर्ण है। मानसिक भाव से अकेला न होते हुए भी कवि को यह बाह्य एकान्त भी असह्य होता है और इसलिए वह "नीड़ का निर्माण फिर फिर" करता है।

सत्य यह है कि यह समात्मभाव ही कवि, कलाकार तथा सामान्यत मनुष्य की चेतना की विभूति है। किसी भी स्थिति में वह इससे वंचित होने के लिए तैयार नहीं। यह समात्मभाव तन्मयता और तादात्म्य की एकांतिक और व्यक्तिगत अनुभूति से भिन्न है। कला और काव्य के क्षेत्र में ऐसी अनुभूति केवल एक

प्रत्याहार है। पूर्ण रूप मे तो वह केवल समाधि में अल्प-काल के लिए सभव हो सकती है। एकान्त भाव में तो नहीं किन्तु व्यक्तिगत भाव मे वह प्रत्यक्ष की उदासीन अवगति में होती है। अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे कलात्मक अनुभूति की एकातता और व्यक्तिनिष्टता की असत्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। क्रोचे ने अनुभूति और अभिव्यक्ति को एकाकार माना है। स्मरण रखना चाहिये कि यह कलात्मक सौन्दर्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति है, उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को क्रोचे और उनके अनुयायी केवल एक उपचार मानते हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि क्रोचे की इस आन्तरिक अभिव्यक्ति का रूप क्या है। वस्तुत क्रोचे की अनुभूति के रूप को भी समझना कठिन है। एकातिक और व्यक्तिगत भावो मे सवहनशीलता अथवा प्रेषणीयता नही होती। इस दृष्टि से क्रोचे का कलाकार लाईब्रनीज़ के वातायन-विहीन चिद् बिन्दुओ के समान है। किन्तु वस्तुत जीवन का व्यवहार कला, काव्य शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सब प्रेषणीयता पर निर्भर हैं। समात्मभाव इसका आधार है। इस समात्मभाव का स्वरूप चेतनामय है। व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति, तादात्म्य की समानुभूति आदि से भेद करने के लिए हम इसे सभूति कह सकते हैं। आत्मभाव की सभूति का यही रूप वस्तुत अभिव्यक्ति के साथ एकाकार है। यह अभिव्यक्ति का वह रूप है जो चेतना मे विवृत होने के साथ-साथ बाह्य रूप मे भी साकार होता है। कलात्मक सौन्दर्य बोध के साथ बाह्य अभिव्यक्ति की संगति और दोनो की सार्थकता का सूत्र भी यही है। इस समात्मभाव की संभूति में ही सौन्दर्य का उदय होता है तथा उसकी अभिव्यक्ति होती है। बाह्य अभिव्यक्ति इसी चिन्मय अभिव्यक्ति का आकार है जो आन्तरिक अभिव्यक्ति के पूर्णत. अनुरूप न होने पर भी केवल उपचार नहो है। समात्मभाव की संभूति में उदय होने पर ही सौन्दर्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति सचेतन और स्पष्ट होती है। मुकुल की पखुडियो की भांति बाह्य अभिव्यक्ति में इस अनुभूति के अन्तर्भाव और अधिक स्पष्ट होते हैं। सौन्दर्य के चेतनामय तत्व और रूप वस्तुत. इन उभयविध अभिव्यक्तियों की प्रक्रिया मे ही स्पष्ट और साकार होते हैं। समात्मभाव की संभूति और इन अभिव्यक्तियों से भिन्न एकान्त और व्यक्तिगतभाव मे आन्तरिक अभिव्यक्ति के भी स्पष्ट होने की कल्पना असगत है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य की अनुभूति की कल्पना भी केवल एक प्रत्याहार है।

अस्तु, हमारी दृष्टि में व्यक्तिगत अनुभूति, अभिव्यक्ति और समानुभूति

की अपेक्षा समात्मभाव की सभूति कलात्मक सौन्दर्य की व्याख्या का अधिक सही सिद्धान्त है। ये सभी सिद्धान्त चेतना मे कला और सौन्दर्य का मूल खोजत हैं। इन मे चाहे कोई भी सिद्धान्त कलात्मक सौन्दर्य की अधिक सही व्याख्या हो किन्तु ये सभी सिद्धान्त समान रूप से सौन्दर्य का स्वरूप आन्तरिक अथवा आत्मिक मानत हैं। इनक अनुसार सौन्दर्य कोई वस्तुनिष्ठ तत्व अथवा किसी वस्तु का गुण नही है वरन् वह चेतना का स्वरूप अथवा लक्षण है। यदि यह भी कहा जाय कि चेतना सौन्दर्य का सृजन करती है तो भी अनुपयुक्त न होगा। सौन्दर्य शास्त्र के आधुनिक विद्वान् कलात्मक चेतना को सृजनात्मक मानते हैं। क्रोचे के अनुसार वह अपने विषयो की रचना करके अपने को अभिव्यक्त करती है।[५२] क्रोचे के अनुयायी कौलिगवुड ने उसे 'कल्पना' का नाम दिया है, जो इस दृष्टि से अधिक उपयुक्त है कि कल्पना मे चेतना की सृजनात्मक शक्ति का स्पष्ट सकेत है। इसके अतिरिक्त क्रोचे की अनुभूति बाह्य विषयो के साथ हमारे व्यवहारिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट नही करती। किन्तु 'कल्पना' मे इस सम्बन्ध का भी स्पष्ट सकेत है। अध्यात्म-दर्शनो की भाषा मे क्रोचे की अनुभूति आरोह-क्रम के अनुरूप है, यद्यपि इसमे आरोह के क्रम भी स्पष्ट नही है। कौलिगवुड की कल्पना मे आरोह और अवरोह दोनो क्रमो का समन्वय है। वस्तुत कल्पना मे आरोह अन्तर्निहित है और अवरोह स्पष्ट है। अत वह व्यवहारिक प्रयोग के अधिक अनुरूप है। अन्य विद्वानो ने चेतना के रूपो का प्रयोग व्यवहारिक अर्थों मे ही किया है।

लिप्स की समानुभूति चेतना का एक अन्य रूप है जिसमे विषय के साथ तादात्म्य को कलात्मक सौन्दर्य का मूल माना जाता है। लिप्स की समानुभूति और कौलिगवुड की कल्पना बहुत कुछ समान है। दोनो में इतना अन्तर है कि लिप्स की समानुभूति का रूप मनोवैज्ञानिक है तथा कौलिगवुड की कल्पना का आधार एकातिक अध्यात्मवाद है। लिप्स की समानुभूति स्पष्टत व्यक्तिगत है। क्रोचे की अनुभूति और कौलिगवुड की कल्पना म व्यक्तित्व का रूप ढूंढना कठिन है। सौन्दर्य के रूपो को हम व्यक्तिगत चेतना की विशेष रचनाये माने, यही उनमे एक मात्र सम्भावना है। किन्तु जिस एकान्त और कैवल्य म दोनो की चेतना सौन्दर्य की रचना करती है, उसमे उसकी विशेषता और उसके व्यक्तित्व का कोई घटक शेष नही रह जाता। बाह्य सृष्टि की अनेकरूपता के साथ सगति में ही इस व्यक्तित्व और विशेषता का रूप सम्पन्न होता है। दोनो की कलात्मक चेतना म इस सगति

का समुचित अन्वय नहीं है। फिर भी चेतना के इन सभी सौन्दर्य-विधायक रूपों मे विषयो का प्रसग है। सौन्दर्य को मुख्यत आत्मगत मानते हुए भी वे उसे पूर्णत आत्मगत नही मानते। पूर्णत आत्मगत मानने पर उसकी चर्चा भी असगत होगी। परिपूर्ण आत्मवाद पूर्ण मौन और पूर्ण अन्धकार में ही सगत हो सकता है, जो प्रकाश और अभिव्यक्ति-शील चेतना के पूर्णत विपरीत है। किसी भी रूप में केवल वस्तु और विषयो के प्रसग में ही प्रतिष्ठित होने वाले कला-सिद्धान्त लोक-मन के अधिक अनुकूल होते हुए भी कलात्मक सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नही करते। वस्तुत ये सिद्धान्त कलात्मक सौन्दर्य के मूल मर्म को ही भूल जाते हैं। सभी सिद्धान्त अपनी विधायक कल्पना मे लीन अथवा विषय जगत् के साथ तादात्म्य मे तल्लीन कलाकार की एकान्त स्थिति मे ही सीमित हैं। किन्तु सत्य यह है कि ऐसी एकान्त स्थिति मे कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि नही होती। इसीलिए हम अधिकाश कला और काव्य मे देखते हैं कि एकाकीपन से आक्रान्त कलाकार वस्तुओ और विषयो को भी सचेतन व्यक्तित्व से सम्पन्न करके उनके साथ समात्मभाव की स्थापना करता है और इसी समात्मभाव मे कलात्मक सौन्दर्य का उदय होता है।

यह समात्मभाव अनुभूति, समानुभूति अथवा कल्पना की भाँति आत्म-सीमित चेतना का अपने विषयों के साथ तादात्म्य नहीं है। यह चेतना के दो बिन्दुओं अथवा दो ध्रुवाओं का परस्पर संवाद है। चेतनाओं का यह संवाद ही समात्मभाव है। यह समात्मभाव विषयो के सामान्य प्रसग तथा इस प्रसग के अभाव में दोनों ही प्रकार से सम्भव है। इस प्रकार यह कला और सौन्दर्य की अधिक व्यापक व्याख्या है। कलाकार की आत्म-सीमित चेतना को सौन्दर्यानुभूति का केन्द्र मानने वाली व्याख्यायें या तो विषयो के साथ तादात्म्य में सौन्दर्य का मूल खोजती हैं या क्रोचे और कौलिगवुड के समान आत्मलीन अनुभूति को ही कला का स्वरूप मानती हैं। दोनों ही व्याख्यायें सौन्दर्य और कला के सामाजिक रूप का समाधान नहीं करती। दो या अधिक व्यक्तियो के घनिष्ठ और आत्मीय सम्पर्क के समात्मभाव में, बिना किसी विषय के उपादान के, केवल भावों की (मौन अथवा मुखर) अभिव्यक्ति मे, जो सौन्दर्य का उद्घाटन होता है उसका समाधान इन व्याख्याओं में कहां है? क्रोचे और कौलिगवुड की व्याख्यायें मुख्यत आत्मवादी हैं, किन्तु उनका आत्मवाद तात्विक अध्यात्मवाद की कोटि का है और जीवन अथवा कला के

व्यवहारिक रूप के साथ उसकी सगति नही है। विषयो के साथ तादात्म्य और सौन्दर्य का मूल मानने वाले सिद्धान्त चेतनाओ के सजीव और विषय-स्वतन्त्र सवाद की व्याख्या नही करते। इस तादात्म्य म हम अपने को विषयाकार बनाने की कल्पना करते हैं। यह तादात्म्य सचेतन व्यक्तियो के साथ भी सम्भव है किन्तु यह उन्हे भी विषय कोटि मे ले आता है। अत यह चेतनाओ के विषय स्वतन्त्र समात्मभाव के सौन्दर्य की व्याख्या नही करता। **सत्य यह है कि हम अपने को विषय रूप मानने के स्थान पर अन्य विषयो में सचेतन व्यक्तित्व का आधान करके उनके साथ समात्मभाव की स्थापना में कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।** जीवन के आत्मीय सम्बन्धो म यह समात्मभाव सहज और स्वाभाविक है। यह कलात्मक सौन्दर्य की ऐसी व्यापक व्याख्या है जिसकी उदार परिधि कला के समस्त रूपो को अपने अचल मे समेट लेती है। सचेतन व्यक्तित्व के समात्मभाव में किसी विषय प्रसग के बिना भी शुद्ध आत्म सवाद म कलात्मक सौन्दर्य का मर्म उदय होता है।

यही कला का शुद्ध और सामान्य स्वरूप है। यह कला का अशुद्धतम आत्मिक रूप भी है यद्यपि यह अन्य आत्मिक रूपो की भाति एकागी तथा प्रत्याहार-रूप नही है। साथ ही क्रोचे की अनुभूति के समान यह कलात्मक सौन्दर्य का ऐसा आरोह-रूप भी नहीं है, जिसके अवरोह क्रम की सगति कठिन हो। एक ओर जहा शुद्ध आत्मिक भावो के सवाद मे कलात्मक सौन्दर्य का शुद्ध स्वरूप उदय होता है, वहाँ दूसरी ओर बाह्य विषयो के प्रसग समात्मभाव में समाहित होकर इस सौन्दर्य को और भी समृद्ध बनाते हैं। यह समृद्धि शुद्ध आत्मिक भावो के सवाद के समात्मभाव की बाह्य विषयो और बाह्य अभिव्यक्तियो के साथ सगति का पूर्ण प्रमाण है। यही समात्मभाव अभिव्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। **इससे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति की सगति है।** यह कहना उचित ही होगा कि समात्मभाव के विषय प्रसग मे 'विषय', तथा बाह्य अभिव्यक्ति के प्रसग म 'रूप' भी, आत्मभाव से अनुप्राणित हो जाते हैं। कवि और कलाकार के लिए कला के सभी उपकरण और उपादान आत्मीय बन्धु के समान बन जाते हैं और वह उनके साथ भी समात्मभाव का अनुभव करता है। पट्ट, तूलिका, वर्णों आदि के साथ चित्रकार तथा वाद्यो के साथ सगीतकार और शब्दो के साथ कवि जिस सजीव आत्मीय भाव का अनुभव करता है, उसे सहृदय समात्मभाव के द्वारा ही समझा जा सकता है।

यह जीवन और धर्म का वह आदिम सिद्धान्त नहीं है, जिसे समाज शास्त्री जड़ पदार्थों में जीवत्व का आरोपण कहते हैं। उस आदिम सिद्धान्त का मूल भय और भेद में है, इसके विपरीत कला के समात्मभाव की प्रेरणा प्रेम और आत्मीय भाव में है। वस्तुत समात्मभाव, जीवन, संस्कृति और कला का वह व्यापक भाव है जिसमें जीवन के मांगलिक आदर्शों, संस्कृति की आनन्दमयी योजनाओं और कला के सौन्दर्य विधान का सूत्र एकत्र निहित है। इसमें कला के समस्त रूपों और भेदों के समाधान की सम्भावना है।

इसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष कलात्मक अनुभूति, तत्व, रूप और माध्यम सबकी संगति की स्थापना है। वस्तुत कलात्मक अनुभूति का तत्व और अभिव्यक्ति इस समात्मभाव में ही एकाकार होते हैं। यह समात्मभाव एक साथ सौन्दर्य का तत्व और उसकी आन्तरिक अभिव्यक्ति है। बाह्य अभिव्यक्ति के रूपों और माध्यमों में भी यह व्याप्त होता है। इस व्याप्ति के द्वारा सौन्दर्य के सभी धरातलों में एक अपूर्व सामंजस्य स्थापित होता है। इससे क्रोचे के सिद्धान्त में पैदा होने वाली आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्ति की विषमता तो दूर होती ही है, साथ ही कला और काव्य के व्यक्त रूपों का महत्व भी प्रमाणित होता है। वे व्यक्त रूप अभिव्यक्ति के उपचार मात्र नहीं, वरन् उसके वास्तविक आकार हैं। समात्मभाव के सिद्धान्त में रूप और माध्यम सौन्दर्य के तत्व के बहिर्गत और विरोधी उपकरण नहीं हैं, वरन् उसके अन्तर्गत अंग हैं। यह समात्मभाव कलाकार के जीवन में इन अंगों और उपकरणों में भी व्याप्त होता है। वस्तुत यह समात्मभाव ही मावृत और मूर्त्त व्यक्तित्व का वह रूप है जिसमें सौन्दर्य का स्वरूप और कला की कृतार्थता निहित है। इसी में जीवन का अनन्त सत्य, साकार और व्यक्त होता है। इसी में 'श्रेय' सुख और सौन्दर्य का स्रोत बनकर प्रवाहित होता है। इसी में जीवन शोपेनहावर की नियति और उसके निर्मम संकल्प के अत्याचार से मुक्त होता है। स्वतन्त्रता और सौन्दर्य का आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक समन्वय इसी में सम्भव है। कला और सौन्दर्य की अनेक अज्ञात सत्य परिभाषायें इसमें संगति और पूर्णता प्राप्त करती हैं।

अनुभूति, समानुभूति अथवा समात्मभाव की सभूति में से किसी को भी हम कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप मानें, किन्तु इन सभी मान्यताओं में यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य का स्वरूप आत्मगत है। चेतना के क्रिया के रूप में ही सौन्दर्य का

आविर्भाव होता है। इसका यह तात्पर्य नही है कि सौन्दर्य पूर्णत आत्मगत है और वस्तु-सम्पर्क से उसका कोई सम्बन्ध नही है। क्रोचे के कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप सबसे अधिक आत्मगत है, किन्तु वे भी उसमे विषयो का प्रसग मानते है, यद्यपि वे विषय चेतना की आत्मगत और स्वतन्त्र सृष्टि हैं। कॉलिंगवुड के अनुसार किसी भी विषय के प्रति कल्पनात्मक भाव उसे सुन्दर बना देता है। समात्मभाव की सम्भूति विषयो के विशेष प्रसग के बिना भी सम्भव है। किन्तु प्राय वह विषयो और क्रियाओ के अनुषग मे प्रतिफलित होती है। सौन्दर्य की अनुभूति के इन सभी रूपो में विषय का सम्पर्क होने पर भी यह प्रमाणित नही होता कि सौन्दर्य एक वस्तु-निष्ठ गुण है। जो सौन्दर्य का मूल चेतना के भाव मे मानते हैं उनके अनुसार इस भाव से प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन जाती है। इनके अनुसार ससार में कुछ भी असुन्दर नहीं है। जिन्हे असुन्दर कहा जाता है वे ऐसे पदार्थ हैं जिनके प्रति हमारा उदासीन भाव है। वस्तुओ मे सौन्दर्य की सत्ता अथवा उसके अभाव का कोई प्रश्न नही है, क्योंकि सौन्दर्य वस्तु का गुण नही है। चेतना के अनुकूल भाव के प्रकाश मे प्रत्येक वस्तु सुन्दर हो जाती है। जिन्हे कुरूप पदार्थ कहा जाता है, वे भी कला के उपादान बनकर सुन्दर लगते हैं। मैथिलीशरणगुप्त ने साकेत में कहा है कि चित्र मे अकित उलूक भी सुन्दर लगता है, यद्यपि उन्होने इसका जो कारण दिया है वह पूर्णत सत्य नही है। कुरूप और भीषण पदार्थ चित्र मे निर्जीव होने के कारण सुन्दर नही प्रतीत होते वरन् कलात्मक अभिव्यक्ति से वे सुन्दर बन जाते हैं। गुप्तजी ने कुरूपता और भीषणता को पदार्थों का गुण मान लिया है। वस्तुत यह पदार्थों के साथ हमारे सम्बन्ध के भाव हैं। जिन्हें हम कुरूप और भीषण मानते हैं, वे यदि क्रोचे और कॉलिंगवुड के अनुसार अनुभूति अथवा कल्पना के विषय बन सकें तो वे भी सुन्दर प्रतीत होने लगे। हमारे अनुसार समात्मभाव की सभूति उन्हे भी सुन्दर बना देती है। प्राचीन मुनियो के आश्रम-वासी सिंह आदि भी उनके लिए सुन्दर होगे। राक्षस आदि भी उन्हे सुन्दर प्रतीत होगे जिनके साथ उनका समात्मभाव रहा होगा।

चेतना के भाव में ही सौन्दर्य का उदय होने के कारण पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक विद्वानो मे अधिकाश सौन्दर्य के आत्मगत मानते हैं। चेतना की व्यापक अनुभूति बनकर सौन्दर्य विश्व की विभूति बन जाता है। चेतना के भाव से प्रत्येक पदार्थ सुन्दरता के पद को प्राप्त कर सकता है। इसलिए कलाकार की तूलिका और कवि

की कल्पना का पारस स्पर्श पाकर प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन जाती है। सौन्दर्य की यह आत्मगत व्याख्या यदि सही भी हो तो भी पूर्ण नहीं है। चाहे सौन्दर्य चेतना का भाव ही हो किन्तु वह पूर्णत व्यक्तिगत भाव नही है और न सामान्यत वस्तुओं के अभाव मे उदित होता है। सौन्दर्य चिन्मय भाव है फिर भी हम प्राय वस्तुओं मे उसका विक्षेप करते हैं। सामान्य व्यवहार में हम वस्तुओ और व्यक्तियो को ही सुन्दर कहते हैं। यह सामान्य व्यवहार एक भ्रान्ति नही है, चाह उसमे व्यक्त होने वाले सौन्दर्य की व्याख्या का कोई भी सिद्धान्त नही हो। सत्य यह है कि सौन्दर्य का चिन्मय भाव भी वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्पर्क में ही उदय होता है। अत सौन्दर्य को केवल आत्मगत मानना उचित नहीं है। चाह चेतना का भाव प्रत्येक पदार्थ को सुन्दर बनाने की क्षमता रखता हो, फिर भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए विषय का आधार आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि इस विषय के साथ सौन्दर्य के चिन्मय भाव का क्या सम्बन्ध है? क्रोचे सौन्दर्य के विषय को अनुभूति का विषय मानते हैं। उनके मत मे विषय की कोई स्वतन्त्र और बाह्य सत्ता नही है। कलात्मक चेतना अपनी स्वच्छन्द क्रिया के द्वारा अपने विषयो की सृष्टि करती रहती है।[५३] यह सृष्टि की अभिव्यक्ति है। क्रोचे के अनुसार कला के सौन्दर्य का यही रूप है। यह पूर्णत आत्मिक और आन्तरिक क्रिया है, जिसका बाह्य विक्षेप क्रोचे की दृष्टि मे उपचार मात्र है। कौलिंगवुड का मत भी क्रोचे के ही समान है। अनुभूति के स्थान पर वे कल्पना को सौन्दर्य का स्रोत मानते हैं। कल्पना और अनुभूति मे केवल इतना अन्तर है कि कल्पना विषयो के कलात्मक अनुभावन के आरोह-क्रम का सकेत करती है। किन्तु एक ही अध्यात्मवाद से प्रेरित होने के कारण कौलिंगवुड भी अतत कलात्मक सौन्दर्य के विषय को आत्म प्रसूत ही मानते हैं। इन सिद्धान्तो में एक ओर से विषयो का प्रसग मानकर दूसरी ओर से उनकी सत्ता का महत्व छीन लिया जाता है। यह स्थिति वस्तुतः तात्विक अध्यात्मवाद का परिणाम है। जीवन की जिन यथार्थवादी स्थितियों में सौन्दर्य का उदय होता है उनकी व्याख्यायें सिद्धान्त नहीं करते। कलाकार की व्यक्तिगत और असाधारण स्थिति इन धारणाओं की केन्द्र और परिधि दोनो है। कलाकार की स्थिति की भी व्याख्या ये सिद्धान्त कहां तक करते हैं, यह सदिग्ध है। इसमे सन्देह नही कि कलात्मक अनुभूति और कल्पना की ये स्थितियां असाधारण और क्षणिक हैं जिनमे कलाकार बाह्य प्रतीत होने वाले

विषयो की आन्तरिक और आत्मिक सृष्टि करता है। क्रोचे और कौलिंगवुड के अनुसार कला का यही रूप है। किन्तु सामान्य अनुभव और व्यवहार मे हम जो सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं वह क्या सर्वथा इसी के अनुरूप होता है? क्या हम उस समय ऐसी ही असाधारण और क्षणिक स्थिति मे पहुँच जाते हैं? क्या जीवन की अनेकरूपता और विषयो की बाह्यता के साथ भी सौन्दर्य की भावना सम्भव नही है? क्या सामान्यत हमे इन्ही के अन्तर्गत सौन्दर्य का साक्षात्कार नही होता? क्या अनेकरूपता, यथार्थ और बाह्यता का सौन्दर्य से मौलिक द्वेष है? क्या सौन्दर्य की सृष्टि के लिए क्रोचे की एकान्तिक अनुभूति मे लीन हो जाना आवश्यक है अथवा कौलिंगवुड की कल्पना मे विषयो का सत्य और असत्य से परे हो जाना आवश्यक है? क्या हमारे लौकिक व्यवहार मे चेतना की निरपेक्ष और व्यक्तिगत केन्द्रीयता में ही सौन्दर्य का उदय होता है? क्या जीवन और कला मे सौन्दर्य के रूप भिन्न हैं?

यद्यपि क्रोचे कला को चेतना की सबसे आदिम वृत्ति मानते हैं तथा व्यक्ति और समाज के शैशव मे उसकी अभिव्यक्ति खोजते हैं किन्तु दूसरी ओर वे यह मानते हैं कि विज्ञान और दर्शन के विश्लेषण और उनकी बहुरूपता मे कलात्मक चेतना की तन्मयता भग हो जाती है। क्रोचे का सिद्धान्त जगत के यथार्थ और समाज की अनेकता के सम्बन्ध में सौन्दर्य के व्यवहार की व्याख्या नहीं करता। क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार विषयो की यथार्थता और सामाजिक अनेकरूपता के प्रसग मे सौन्दर्य का व्यवहार उपचार मात्र है। उनके मत मे आन्तरिक अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति जो कलाकृतियो मे मूर्त होती है, वह भी उपचार ही है। कला और जीवन के समस्त व्यवहार को उपचार और महत्वहीन बना देना संस्कृति के सिद्धान्त की सत्यता मे सन्देह उत्पन्न करता है। सत्य यह है कि जीवन और व्यवहार के साधारण रूपों की सन्तोषजनक व्याख्या न करने वाले अध्यात्मवाद मिथ्या हैं। यह सम्भव है कि प्रतीति ही सत्य न हो किन्तु सत्य के साथ हमारी सामान्य प्रतीति की सगति आवश्यक है। अध्यात्म का वास्तविक सत्य वही है जो इस प्रतीति का आधारभूत और अन्तर्गत तत्व है तथा जो अपनी विभूति से प्रतीतियो को गौरवान्वित करता है। ऐसी स्थिति मे सुन्दरम् का सत्य स्वरूप वही होगा जो हमारे साधारण व्यवहार और अनुभव के साथ सगत होगा।

कला और सौन्दर्य की अनुभूति इतनी असाधारण और अन्तर्मुखी नहीं है जितनी कि क्रोचे और उनके अनुयायियो को अभीष्ट है; और न जगत के बाह्य यथार्थ तथा समाज की अनेकरूपता का सौन्दर्य से कोई मौलिक द्वेष है। वस्तुत कला और सौन्दर्य हमारे जीवन की नितान्त असाधारण स्थितियाँ नही हैं। वे सभ्यता के सभी युगो और रूपो मे सामान्यत व्याप्त हैं। हमारे साधारण जीवन मे एक वडे परिमाण मे कला और सौन्दर्य की भावना अलक्ष्य रूप से ओत-प्रोत है। हमारे दैनिक जीवन मे सौन्दर्य का तत्व समा गया है, वही जीवन और श्रम के भार को भी आनन्दमय बनाता है। महान् कला के ही लघु क्षण हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुओ और सम्बन्धो म साकार होते हैं। एक दृष्टि से समस्त विश्व ही दिव्य कला का विलास है। सभ्यता के विकास मे वस्तुओ और व्यवहारो के सज्जा और सौन्दर्य मे उसी दिव्य कला की किरणे प्रकाशित हुई हैं। चाहे वहिर्मुख आडम्बर के रूप मे ही सही, सभ्यता के बाह्य रूपो मे भी सौन्दर्य ही साकार हुआ है। इस सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिए बाह्य यथार्थ और सामाजिक व्यवहार की अनेकता से उन्मुख होकर आन्तरिक कल्पना मे तन्मय होना आवश्यक नही है। यह कहना अनुचित न होगा कि वस्तुत इस अनेकरूपता मे ही सौन्दर्य का उदय और उसकी समृद्धि सम्भव है। एकान्तिक और व्यक्तिगत अनुभूति की आत्मलीनता असाधारण और दुर्लभ तो है ही, उसमे वस्तुत सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है यह भी सदिग्ध है। इस आत्मलीन सौन्दर्य का प्रमाण भी कठिन है। सौन्दर्य की इस असाधारण अनुभूति को प्राप्त करना ही इसका प्रमाण है। किन्तु सौन्दर्य का यह सिद्धान्त हमारे सामान्य व्यवहार और अनुभव की सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त धारणाओ को अप्रमाणित करता है। क्रोचे ने सभवत यह माना है कि हमारे समस्त व्यवहार और अनुभव में सौन्दर्य की यह मूल भावना किसी न किसी अश मे व्याप्त रहती है। किन्तु इन दोनो स्थितियों की सगति कठिन है। आन्तरिक, आत्मलीन और व्यक्तिगत सौन्दर्य की भावना साधारण व्यवहार की वहिर्मुखता और अनेकता मे कैसे अन्वित हो सकती है, यह समझना कठिन है। दो स्थितियों की सगति उनके स्वरूप मे साम्य होने पर ही हो सकती है। क्रोचे की कलानुभूति और जीवन के व्यवहार की स्थितियो मे ऐसा कोई साम्य नही दिखाई देता।

यह सगति तभी सम्भव हो सकती है जब कि सौन्दर्य की भावना को विषयो की बाह्यता और व्यवहार की अनेकता में ही अनुस्यूत माना जाय। वस्तुत इस

बाह्यता और अनेकता मे ही सौन्दर्य की भावना प्रसूत होती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उपनिषदों के प्रजापति को इस बाह्यता और अनेकता के सृजन मे ही सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त हुआ था। इस बाह्यता और अनेकता की स्थिति म सौन्दर्य का भाव समात्मभाव की सभूति के रूप मे ही उदय हो सकता है। एकान्त की व्यक्तिगत और आत्मलीन अनुभूति के साथ उसकी सगति नही है। समात्मभाव अनेक चेतनाओं का सवाद है। यह चेतना की वह स्थिति है जब चेतना का एक बिन्दु अन्य बिन्दु अथवा बिन्दुओं के अस्तित्व को मान देता है तथा उसकी अथवा उनकी आन्तरिक और बाह्य विभूतियो म आत्मीय भावना से अपना गौरव मानकर हर्ष और समृद्धि का अनुभव करता है। यह समात्मभाव का एक ही पक्ष है। दूसरे पक्ष म चेतना का दूसरा बिन्दु इस मान की कल्पना से विनम्र और विद्रवित होकर करुणा से विभोर हो जाता है तथा अपनी आन्तरिक और बाह्य विभूति का पहिले बिन्दु की महिमा मानकर आनन्द और समृद्धि का अनुभव करता है। भाव के ये दोनो ही पक्ष समात्मभाव मे भाग लेने वाले सभी बिन्दुओं मे समान रूप से उदित होते हैं, इस भाव म साम्य का यही रहस्य है। एक अलक्ष्य व्यजना के द्वारा चेतना के बिन्दुओं म परस्पर इन भावों का सम्वाद अथवा सप्रेषण होता है। वस्तुत इस सप्रेषण मे ही समात्मभाव साकार और सजीव होता है। यह समात्मभाव पूर्णत आन्तरिक सवाद मे विभोर चेतनाओं म भी सम्भव है। किन्तु क्रोचे की कलानुभूति की भाँति व्यवहार की अनेकता और विषयो की बाह्यता से खण्डित नही होता। व्यवहार की अनेकता मे तो यह उदित ही होता है। विषयो की बाह्यता और अनेकता खण्डित करने के स्थान पर इसकी समृद्धि का निमित्त बनती है। वस्तुत यह समात्मभाव जड विषयो को भी चेतना से अनुप्राणित कर आत्मीय भावना से समाहित करता है। एकाकी मन के भावों म विषयों के साथ समात्मभाव अधिक स्पष्ट और तीव्र होता है। अग्रेजी और हिन्दी के छायावादी कवियों मे प्रकृति के साथ समात्मभाव की वृत्ति अधिक व्यापक रूप मे मिलती है। भारतवर्ष के प्राचीन जीवन और सस्कृति मे पशुओं, वनस्पतियों तथा बाह्य प्रकृति के अन्य उपादानो के साथ समात्मभाव की वृत्ति एक व्यापक रूप मे प्रतिष्ठित हुई थी। मानवीय सम्बन्ध और व्यवहार म समात्मभाव की सहज वृत्ति इस प्रतिष्ठा का पीठ थी। यही कारण है कि भारतीय जीवन और सस्कृति में कला और सौन्दर्य की भावना इतने समृद्ध रूप में व्याप्त है।

वस्तुत कला और सौन्दर्य का वही स्वरूप वास्तविक है तथा वही सिद्धान्त समीचीन है जो हमारे जीवन और सस्कृति में व्याप्त कलात्मक सौन्दर्य की भावना के सभी रूपो, धरातलो और अभिव्यक्तियों की सगत और सतोषजनक व्याख्या कर सके। इस दृष्टिकोण से कलाकार की एकान्त और आत्मलीन अनुभूति अथवा कल्पना को कलात्मक सौन्दर्य का मूल स्वरूप मानकर कला और सौन्दर्य की भावना तथा अभिव्यक्ति के उन रूपो की समुचित व्याख्या नही की जा सकती जिनमे वाह्यता और अनेकता के प्रसग उपनिवद्ध हैं। लोक-सगीत, लोक-नृत्य, धुन के सहयोग से सम्पन्न होने वाली उपयोगी कलायें, दैनिक व्यवहार की वस्तुओ मे सौन्दर्य का समावेश तथा कलाओ की वाह्य अभिव्यक्ति और उन सवके सौन्दर्य के आस्वादन मे सामाजिक तत्व का महत्व आदि ऐसी प्रमुख स्थितियाँ हैं, जिनमे वाह्य और अनेकता का प्रसग स्पष्ट है। कलात्मक सौन्दर्य की एकान्त और आत्मगत कल्पना के आधार पर इनकी समुचित व्याख्या नही हो सकती। क्रोचे के कला सिद्धान्त के अनुसार ये सब उपचार मात्र हैं। किसी भी प्रेक्षक के मन में मूल कल्पना और सौन्दर्य के उद्भावन के ये निमित्त वन सकते हैं। कौलिगवुड ने यह स्पष्ट किया है कि इन निमित्तो के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति मूल आन्तरिक रूप मे ही सौन्दर्य की पुन सृष्टि करता है। सौन्दर्य की कल्पनाओ और अनुभूतियो मे उनकी व्यक्तिगत विशिष्टता और आत्मलीनता के कारण कोई सम्प्रेषण सम्भव नही है। मानो प्रत्येक व्यक्ति का एक अपना कला-लोक है जिसमे वह अकेला ही सौन्दर्य की कल्पना और उसका आस्वादन करता है। इस कला-लोक मे वाह्यता और अनेकता का किंचित भी प्रसग नही है। कलात्मक सौन्दर्य व्यक्ति की ऐसी अविभाज्य और आत्मिक सपत्ति है जिसमे वाह्य वस्तुओ का कोई योग नही है तथा अन्य व्यक्तियो का कोई सहयोग नही है। कलाकार और कलाकृतियो के अनुरागी इसी आन्तरिक और आत्मिक रूप मे सौन्दर्य की सृष्टि और उसका आस्वादन करते हैं।

यदि कला और सौन्दर्य का यह सिद्धान्त वस्तुत सत्य हो तो यह आवश्यक नही है कि ऊपर वाह्यता और अनेकता के प्रसग से युक्त जिन कलात्मक स्थितियो का सकेत किया गया है उनके महत्व की रक्षा के लिए इस सिद्धान्त की सत्यता मे सन्देह किया जाय अथवा इसके लिए किसी अन्य सिद्धान्त की उद्भावना की जाय। चेतना की जिस स्थिति के रूप मे इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है उसमे सत्य

और असत्य का प्रसग अधिक समीचीन नही है । सत्य और असत्य का विवेक अथवा निर्णय यदि बाह्यता नही तो भेद और अनेकता के प्रसग से अवश्य अनुबद्ध है । सत्य और असत्य का भेद उसकी एक कोटि है । प्रमाता और सत्य के निर्णयक सिद्धान्त का भेद उसकी दूसरी कोटि है । प्रमाता और सिद्धान्त सदा एक ही नही होते । कम से कम उनमे एक अन्तर्गत भेद तो होता ही है । सत्य और असत्य के विवेक तथा निर्णय मे सामाजिक अनेकता भेद की तीसरी कोटि है । इस अनेकता मे बाह्यता भी विभासित होती है । यदि सत्य मे बाह्य यथार्थ को स्थान दिया जाय तो बाह्यता का प्रसग और भी स्पष्ट है । यह भेद की चौथी कोटि है । इन सब के लिए क्रोचे के सिद्धान्त मे कोई स्थान नही है । कौलिंगवुड ने स्पष्ट किया है कि कलात्मक कल्पना मे सत्य और असत्य के भेद का प्रसग नही होता । व्यक्तिगत और आत्मिक होने के कारण सत्य का निर्णायक कोई सामान्य सिद्धान्त भी नही हो सकता । इसी कारण सामाजिक प्रसग मे उसके सप्रेषण, समर्थन और समास्वादन का भी कोई प्रश्न नही उठता । यह कला-लोक लाइबनीज के वातायन-विहीन चिद्‌बिन्दुओ के आत्मलीन विश्व के समान है । इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूति ही एक मात्र प्रमाण हो सकती है । अनुभूति मे तर्क अत्यन्त अनुपयुक्त है, किन्तु जीवन और विचार के व्यवहार मे वह अनिवार्य है । कला और दर्शन के अनुभूतिवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन और व्याख्यान भी बुद्धि और तर्क की भाषा एव शैली मे हुआ है । अनुभूतिवादियो के विशाल ग्रन्थ विचार और व्यवहार की इस विवशता की विडम्बना है । 'अनुभूति' चेतना का अन्ततम मर्म है । जीवन की समस्त विभूतियाँ अनुभूति के रूप में ही प्रतिफलित होती हैं । कला और सौन्दर्य का भी यही मर्म है । यहाँ व्यक्तिगत और आत्मलीन अनुभूति की सीमा का उतना ही उल्लघन करके जितना कि स्वय अनुभूतिवादियो ने किया है, उनसे क्षमा मागते हुए हमे केवल इतना ही विचार करना अभीष्ट है कि क्या वस्तुत कला और सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत और आत्मलीन होती है, जितनी क्रोचे और उनके अनुयायी मानते हैं ? क्या बाह्यता और अनेकता इसके लिए पूर्णत उपेक्षणीय है अथवा यह इसमे बाधक है ? क्या यह सत्य नहीं है कि बाह्यता और अनेकता के प्रसग ही कलात्मक सौन्दर्य के सृजन और आस्वादन को सम्भव बनाते हैं । क्या इनका कला और सौन्दर्य से कोई आन्तरिक सम्बन्ध नही है ? क्या यह कलात्मक सौन्दर्य के आन्तरिक और विधायक तत्व नहीं हैं ?

इन सब प्रश्नों के उत्तर मे हमे मनुष्य के अन्तःकरण की भावना का ही प्रमाण मानना होगा। जीवन, संस्कृति और कला के प्रसग के तर्क केवल सहकारी के रूप मे ग्रहण किये जा सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रजापति की भाँति बाह्यता और अनेकता के अनुषग से पूर्णत रहित किसी भी मनुष्य अथवा कलाकार की कल्पना करना असभव है। वस्तुओं की बाह्यता और उनकी अनेकता से युक्त और सामाजिक अनेकता से रहित एकान्तवासी कलाकार अथवा मनुष्य की कल्पना अवश्य की जा सकती है। जन्म से ही ऐसा एकाकी रहकर कोई कलाकार तो क्या मनुष्य भी नही बन सकता। किसी दुर्भाग्य के सयोग से भेडियो म पलने वाले बच्चो के उदाहरण इसे प्रमाणित करते हैं। सामाजिक अनेकता के बीच पलने वाले किसी समय भी शरीर से अकेले होकर सम्भवत मन से एकाकी नही रहते। मेघदूत के यक्ष के समान सभी विरही इस कथन के सत्य को प्रमाणित कर सकते हैं। मनुष्यो के अभाव मे वे जड-पदार्थो से आत्म भाव स्थापित करके अपने एकान्त की शून्यता को खण्डित कर लेते हैं तथा मानसिक कल्पना से अपने आत्मीयो और बन्धुओ के साथ सान्निध्य का लाभकर अपने एकान्त की शून्यता को सम्पन्न बनाते हैं। तर्क और विवाद को छोडकर कोई भी मनुष्य अल्पकाल के लिए भी अपने को एकाकी बनाकर अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा इस कथन की सत्यता और असत्यता को अपने लिए प्रमाणित कर सकता है। इसके समर्थन मे कवि और कलाकारो के जीवन तथा उनकी कृतियो से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वस्तुओं, विषयो, व्यक्तियो, आदि के साथ साहचर्य और समात्मभाव की प्रेरणा समस्त कला और काव्य के मूल्य में मिलती है। यदि एकान्त और आत्मगत कल्पना मे ही कला की पूर्णता है तो ज्ञात नही कलाकार और साधारण कलानुरागी जन सभी सामाजिक साहचर्य मे कलात्मक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए क्यो उत्सुक रहते हैं तथा अधिकाश लोग अपनी अभिव्यक्ति को साकार स्थायी रूप क्यो देते हैं। यह कलावृत्ति के ऊपर सामाजिक वृत्ति का आरोपण नही है वरन् कलावृत्ति के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन है। व्यक्तित्वो की अनेकता में सम्भव होने वाले समात्मभाव में ही कलात्मक सौन्दर्य का बीज अकुरित होता है। बालक और बडे सब अपने कृतित्व के सौन्दर्य मे दूसरे का आत्मिक योग चाहते हैं। जहाँ साक्षात् साहचर्य और समात्मभाव की सम्भावना नहीं होती वहाँ दूरगत व्यक्तित्वो तथा दूर और निकट के पदार्थो के साथ काल्पनिक

समात्मभाव की प्रेरणा द्वारा कालिदास और उनके यक्ष की भांति वह कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यह काल्पनिक समात्मभाव मिथ्या नहीं होता। व्यक्तियों के साथ सान्निध्य होने पर भी वह चेतना की कल्पना शक्ति के द्वारा ही सम्भव होता है। जहाँ तक चेतना के केवल एक बिन्दु का सम्बन्ध है, काल्पनिक और वास्तविक सान्निध्य से प्रसूत समात्मभाव मे ठीक उसी प्रकार कोई अन्तर नही है जिस प्रकार वन मे विलाप करते हुए 'उत्तर रामचरित के राम के भाव मे सीता के सान्निध्य अथवा अभाव से कोई अन्तर नही पडता। कल्पना की सीता के साथ आलाप और विलाप मे राम का वही भाव उदित होता है जो वास्तविक सीता की उपस्थिति मे होता। एक बिन्दु के लिए तो उसमे सवाद और सम्प्रेषण भी प्राप्त हो जाता है। द्वितीय बिन्दु अथवा तृतीय प्रेक्षक की दृष्टि से इन दो बिन्दुओ के बीच वास्तविक सम्प्रषण और सवाद का अभाव अवश्य होता है। वस्तुत इन काल्पनिक साहचर्यों म वास्तविक साहचर्य की तीव्र कामना अन्तर्निहित रहती है और वही दोनो का विवेक भी करती है। साहचर्य की कामना की तीव्रता कलात्मक सौन्दर्य को बडा प्रभावशाली बना देती है इसीलिए वियोग में अधिकाश कला और काव्य की प्रेरणा रही है। क्रौंच मिथुन के वियोग ने आदि कवि की वाणी को आकार दिया। हिन्दी के छायावादी कवि पन्त ने अपने एकाकी जीवन म आदि कवि की करुणा के मर्म का अनुभव किया और वियोग म प्रथम कवि की वाणी का स्रोत पाया। काल्पनिक साहचर्य और समात्मभाव की तीव्रता तथा व्यापकता ही अधिकाश कला और काव्य की प्रेरणा है।

अस्तु कला और काव्य का उद्गम अथवा उसकी परिणति एकान्त और आत्मलीन अनुभूति अथवा कल्पना नहीं है। मूलत काल्पनिक अथवा वास्तविक साहचर्य तथा समात्मभाव में ही कला का सौन्दर्य उदित और अभिव्यक्त होता है। यह साहचर्य और समात्मभाव वस्तुओ, पशुओ, पक्षियो, मनुष्यो आदि सबके साथ सम्भव हो सकता है। अत जहां यह मानना नितान्त आवश्यक है कि सौन्दर्य केवल वस्तुओ का गुण नहीं है वरन् मूलत मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति है वहां साथ ही यह भी सत्य है कि चेतना की यह अभिव्यक्ति वस्तुओं और व्यक्तियों के सान्निध्य और उनके साथ समात्मभाव के सवाद और सम्प्रेषण में ही सम्भव होती है। समात्मभाव का यह सवाद और सम्प्रेषण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आधार अथवा

अनुषग मात्र नहीं है, वह सौन्दर्य का आन्तरिक अग और उसका विधायक तत्व है। समात्मभाव में चेतना की अभिव्यक्ति को मुख्यत सौन्दर्य का स्वरूप इसलिये कहा जाता है कि वह किसी भी वस्तु, विषय और व्यक्ति को सुन्दर बनाने अथवा उनके सौन्दर्य को व्यक्त करने मे समर्थ है। समात्मभाव की चेतना के इस प्रसाद से प्रत्येक वस्तु सुन्दर बन सकती है अथवा यो कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने की सम्भावना अन्तर्निहित है। सामान्यत वस्तुओ के परिवेश के बिना मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना सम्भव नहीं है। किन्तु जिस प्रकार क्रोचे के मत मे बाह्य वस्तुओ के प्रसग से रहित आन्तरिक और आत्मलीन व्यक्तिगत चेतना की कल्पना की गई है, उसी प्रकार यदि हम दो या अधिक व्यक्तियो के ऐसे समात्मभाव की कल्पना कर सकें जिसम कुछ काल के लिए (अधिक काल के लिए तो यह सभव नही) बाह्य वस्तुओ का चेतना से तिरोधान सम्भव हो तो चिद् बिन्दुओ के इस शुद्ध समात्मभाव मे भी भाव का एक सूक्ष्म सौन्दर्य उदित होगा। शुद्ध समात्मभाव म उदित होने वाला यह सौन्दर्य वस्तुओ की बाह्यता और अनेकता से खण्डित नही होगा वरन् इनके विपरीत वस्तु और पदार्थ उस सौन्दर्य के आकार को अधिक स्पष्ट और सम्पन्न बनाने के साधन बनेंगे। निमित्त के अतिरिक्त पदार्थ समात्मभाव के सहयोगी भी बन सकते हैं। कालिदास के काव्य की प्रकृति इस समात्मभाव की सहयोगी है। यह कालिदास के काव्य के सौन्दर्य का एक प्रमुख रहस्य है।

मूलत समात्मभाव ही कला और सौन्दर्य का मर्म है चाहे वह विशेष भाव-स्थितियो मे सम्भव शुद्ध समात्मभाव हो अथवा बाह्यता और अनेकता से युक्त सामान्य समात्मभाव हो। शुद्ध समात्मभाव की स्थितियाँ जीवन मे अल्प और असाधारण ही होती हैं। कला और सौन्दर्य की भावना उनसे कही अधिक व्यापक है। अत बाह्यता और अनेकता से सम्पन्न समात्मभाव ही कला और सौन्दर्य का अधिक व्यापक और उपयुक्त लक्षण है। चेतना के समात्मभाव को कलात्मक सौन्दर्य का लक्षण मानकर सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन धारणाओ और समस्याओ का भी समुचित समाधान किया जा सकता है। सौन्दर्य सम्बन्धी एक सामान्य धारणा यह है कि कुछ वस्तुओ मे हमे सौन्दर्य दिखाई देता है और कुछ वस्तुओ मे नही। यह विषयो के प्रसग की बात है, किन्तु सौन्दर्य के व्यवहार का यह एक इतना साधारण तथ्य है कि इसकी व्याख्या अपेक्षित है। कुछ वस्तु रूपो

मे सौन्दर्य विशेषत प्रस्फुटित होने के कारण सौन्दर्य शास्त्र के कुछ सम्प्रदायो मे सौन्दर्य के वस्तुगत गुणो का अनुसधान हुआ है। कुछ प्राचीन ग्रीक विचारको ने तथा कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने इसका प्रयत्न किया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समात्मभाव चेतना का एक सक्रिय भाव है। चेतना के उदासीन और निष्क्रिय रहने पर यह सभव नही हो सकता। चेतना की सक्रियता और समृद्धि म ही यह सभव होता है। इस सक्रिय समात्मभाव की परिधि म आकर प्रत्येक वस्तु भाव, और व्यक्ति सुन्दर बन जाता है। सक्रिय समात्मभाव जितना समृद्ध होगा सौन्दर्य की भावना भी उतनी ही व्यापक होती है। इसके मन्द सकुचित होने पर सौन्दर्य की भावना का क्षेत्र भी सकीर्ण हो जाता है। इस सकीर्णता की अवस्था मे ही समात्मभाव की परिधि से बाहर होकर कुछ सुन्दर वस्तुए असुन्दर हो जाती हैं। इस असुन्दर मे कुरूप और उदासीन दोनो ही सम्मिलित है। उदासीन वे वस्तुए हैं जो समात्मभाव की परिधि के बाहर होने के कारण हमारी चेतना को आकर्षित नही करती, किन्तु साथ ही चेतना को क्षुब्ध नहीं करती। कुरूप वे वस्तुएँ हैं जो चेतना के अधिक सकोच के कारण तथा कुछ अपने ऐन्द्रिक गुणो के कारण चेतना को क्षुब्ध करती हैं। उदासीन और कुरूप की कोई निश्चित सीमा रेखायें नही हैं। चेतना के सकोच और वस्तु के ऐन्द्रिक गुणो के पारस्परिक अनुपात पर ही यह निर्भर है कि कोई वस्तु उदासीन होगी या कुरूप। विभिन्न व्यक्तियो के लिए तथा एक ही व्यक्ति के लिए विभिन्न परिस्थितियो मे उदासीन, कुरूप और कुरूप उदासीन हो सकता है। इसी प्रकार समात्मभाव के विस्तार के द्वारा उदासीन और कुरूप सुन्दर बन सकता है। उदासीन और कुरूप के विपरीत जो वस्तुएँ बरबस सुन्दर प्रतीत होती हैं, उनमे कुछ उनके ऐन्द्रिक गुणो से उत्पन्न होने वाली अनुकूल-वेदनीयता हमारी सकुचित चेतना को भी उदार और निष्क्रिय चेतना को भी सक्रिय बना देती है। इस प्रकार अपने गुणो के प्रभाव से ये विशेष वस्तुएँ सुन्दर बनती हैं। वस्तुगत गुणो का प्रभाव होने के कारण ही इनका सौन्दर्य सामान्य और सर्वग्राह्य होता है। इस वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव इतना है कि कभी चित्त मे खिन्न और उदासीन होने पर भी हम उसका प्रतिरोध नहीं कर सकते।

इस वस्तुगत सौन्दर्य मे वस्तुओ के गुणो के प्रभाव की सक्रियता हमारे चेतना

की सक्रियता से अधिक होती है। इसीलिए हम उन्हे सुन्दर वस्तु के रूप म ग्रहण करते हैं। समात्मभाव की सक्रियता के द्वारा वस्तुओ और प्रकृति का यही रूप कवि और कलाकार की रचनाओ मे सृजन बन जाता है। किन्तु यह सृजन का सौन्दर्य उन विशेष वस्तुओ तक ही सीमित नही है, जो ग्रहण में भी सुन्दर होती हैं। कलाकार का समात्मभाव और उसकी सृजनात्मक शक्ति प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने में समर्थ है। जहाँ इस समात्मभाव मे सकोच होता है तथा सृजनात्मक शक्ति मन्द होती है वहीं असुन्दर से भिन्न सुन्दर पदार्थो की प्रतीति होती है। सौन्दर्य शास्त्र म इसी को प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक सौन्दर्य कहा जाता है। कौलिगवुड ने नैसर्गिक सौन्दर्य का मूल रहस्य यह बताया है कि जिन वस्तुओं को हम स्वय रचना नहीं करते वे हमें अस्पष्ट प्रतीत होती है।[५४] यही उनका सौन्दर्य है। हमारी सृजनात्मक वृत्ति से उनका सश्लेष नही होता, यह तो कौलिगवुड भी मानते हैं। किन्तु यह भावना कि इन्हे किसी ने नहीं बनाया सम्भवत नैसर्गिक सौन्दर्य का आवश्यक अग नही है। नैसर्गिक सौन्दर्य ग्रहण का सौन्दर्य है और वस्तुओ के विशेष गुणो का फल है। इसी प्रकार सभ्यता के प्राचीन रूप भी अपनी प्राचीनता के कारण नही वरन् ऐन्द्रिक गुणों के कारण तथा उनसे कुछ सम्बद्ध सुख की सवेदनाओ के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। जीवन के रूप होने के कारण उनम हमारा समात्मभाव भी नैसर्गिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक जागरूकता के साथ व्याप्त होता है। प्राचीन सभ्यता के रूपो के प्रति इस समात्मभाव के जागरण का कारण सभ्यता के विकसित रूपो से हमारा असतोष है। इस असतोष का कारण सभ्यता के विकसित रूपो में समात्मभाव की सम्भावनाओ और अवसरो का मन्द होते जाना है। विकसित सभ्यता मे सकुचित और असतुष्ट समात्मभाव सभ्यता के प्राचीन रूपो मे आत्म प्रकाशन और आत्म विस्तार का अवसर पाकर उनमे सौन्दर्य की सृष्टि करता है। सभ्यता के प्राचीन रूपों का सौन्दर्य समात्मभाव का सृजनात्मक सौन्दर्य ही है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के प्रभाव से ग्रहणात्मक सौन्दर्य के उपादान उनमे कम ही होते हैं। नैसर्गिक सौन्दर्य मे भी समात्मभाव की सम्वेदना हो सकती है, किन्तु जहाँ किसी भी कारण से वह नही होती, वहाँ सौन्दर्य आत्मगत न होकर वस्तुगत और वस्तु के ऐन्द्रिक गुणो के प्रभाव से उत्पन्न होता है। बाह्य गुणो की अनुकूल वेदनीयता का आकर्षण ही इस सौन्दर्य मे अधिक होता है।

अस्तु, सौन्दर्य के अधिकाश रूपों मे बाह्य विषय का प्रसग तथा रूप में तत्व

समन्वित रहता है। किन्तु यह निश्चित है कि हमारा समात्मभाव सकुचित और हमारी सृजनात्मक भावना मद होने पर ही अनुकूल वेदनीयता के प्रभाव से वस्तुओं में असुन्दर से भिन्न वस्तुगत सौन्दर्य की प्रतीति होती है। अन्यथा समात्मभाव की सृजनात्मक शक्ति प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने मे समर्थ है। अल्पकाल के लिए सापेक्ष दृष्टि से और प्रत्याहार के रूप मे वस्तुओं के अभाव में भी शक्तियों के शुद्ध समात्मभाव मे सौन्दर्य उदित हो सकता है। किन्तु यह जीवन की एक असाधारण स्थिति है, जिसमे शुद्ध भाव के सौन्दर्य और सौन्दर्य के शुद्ध भाव का आभास मिलता है। सामान्यत वस्तुओ के प्रसग मे ही समात्मभाव और सौन्दर्य दोनो फलित होते हैं। किन्तु यह प्रसग समात्मभाव और सौन्दर्य के मूलभाव मे विक्षेप नहीं बनता वरन् उसे सम्पन्न बनाता है। यही सौन्दर्य का साधारण रूप है, जो व्यवहार मे चरितार्थ होता है। इसी मूर्त्त और सजीव रूप मे सौन्दर्य हमारे सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे प्रतिष्ठित है। सौन्दर्य का यही साधारण रूप कलाओं मे भी साकार हुआ है। यद्यपि सौन्दर्य का मूल स्वरूप समात्मभाव ही है तथा बाह्य विषय उसके निमित्त मात्र हैं, फिर भी जीवन, सस्कृति और कलाओ मे सामान्यत समात्मभाव के रूप मे अभिव्यक्त होने वाला सौन्दर्य इन निमित्तो के उपादान मे ही आकार ग्रहण करता है। चित्रकला और सगीत के शुद्ध रूप विधान और स्वर विधान कला की शुद्ध रूपात्मक अभिव्यक्ति के उदाहरण हैं। किन्तु सामान्यत ये दोनो कलाएं रूप मे तत्व को समाहित करके ही कृतार्थ होती हैं। तत्व के निमित्त मे समात्मभाव का सौन्दर्य अधिक सहजता और सजीवता के साथ साकार होता है। प्रजापति की सृष्टि के समान कलाकार की साकार सृष्टि मे कला का सौन्दर्य और समृद्ध होता है।

रूप और तत्व का यह समन्वय सभी कलाओं में उपलब्ध होता है किन्तु काव्य में इसका रूप सबसे अधिक पूर्ण और सम्पन्न है। शुद्ध स्वर-योजना अथवा अल्पना के रूप मे सगीत और चित्रकला की कल्पना सम्भव है। वस्तुत बुद्ध लोग इन रूपात्मक योजनाओ को ही इन कलाओ का शुद्ध रूप मानते हैं। इन रूपो मे किसी चिन्मय भाव तत्व अथवा बाह्य वस्तु-तत्व के सयोग की आवश्यकता नही है। किन्तु काव्य का कोई ऐसा शुद्ध (तत्व-रहित) रूप कल्पनीय नहीं है। काव्य के स्वरूप में ही रूप और तत्व का समन्वय है। इसीलिए भारतीय काव्य शास्त्र मे शब्द और अर्थ के सहित भाव के रूप मे काव्य की परिभाषा की गई है। 'शब्द' काव्य का रूप है

और 'अर्थ' उसका भाव-तत्व। शब्द और अर्थ की इस अभिन्नता की उपमा कालिदास ने अपने रघुवंश के मगलाचरण मे पार्वती और परमेश्वर के अभिन्न भाव से दी है। अर्थ का मूल स्वरूप चिन्मय है। चेतना के भाव मे ही अर्थ के अनेक रूपो का तात्पर्य है। प्रत्यक्ष और कल्पना के बाह्य अर्थ (विषय) भी चेतना के भाव बनकर ही साकार होते हैं। शब्द दर्शन मे शब्द और अर्थ की यह अभिन्नता एकता की सीमा पर पहुँच गई है। शब्द को ब्रह्म स्वरूप मानकर शब्द दर्शन मे समस्त अर्थ जात को उसका (शब्द ब्रह्म का) विवर्त्त माना है। शब्द दर्शन मे शब्द का मुखर रूप और अर्थ (विषय) के बाह्य उपादान दोनो एक चिन्मय भाव मे एकाकार हो गये हैं। सुषुप्ति अथवा समाधि, स्वप्न अथवा कल्पना, जागृति अथवा व्यवहार की अवस्थाओ मे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियो के भेद चिन्मय शब्द और अर्थ के अद्वैत के व्याकरण के सापेक्ष सोपान हैं। शब्द और अर्थ के मूल स्वरूप के अनुरूप काव्य का मूल स्वरूप भी चिन्मय भाव है। किन्तु यह चिन्मय भाव नीचे की अनुभूति के समान एकान्त और आत्मगत भाव नही है। वह चिद बिन्दुओ के साहचर्य और सप्रेषण मे फलित हाने वाला समात्मभाव है। यह समात्मभाव ही कला और काव्य का मूल रूप और मूल तत्व है। इसी भाव के प्रकाश मे कला की रूपात्मक योजनायें सौन्दर्य की विधायक होती हैं तथा बाह्य विषयो और माध्यमो के उपकरणो मे साकार होती हैं। **इस समात्मभाव के रूप और तत्व की एकात्मता में कलात्मक सौन्दर्य के उदय का सबसे निश्चित प्रमाण काव्य में मिलता है।** सगीत मे इस प्रमाण का पूर्वाभास मिलता है। सगीत मे शब्द के माध्यम का प्रयोजन भी सम्प्रेषण ही है। किन्तु अर्थहीन शब्द की शुद्ध रूप योजना को सगीत मानने पर सम्प्रेषण उतना आवश्यक नही रहता। काव्य के अर्थ-युक्त शब्द की सार्थकता सम्प्रेषण मे ही है। कदाचित् सामाजिक सम्प्रेषण की आकाक्षाओ मे ही मनुष्य की सार्थक और समृद्ध भाषा का विकास हुआ है। सम्प्रेषण मनुष्यो के सामाजिक व्यवहार का सापेक्ष धर्म है। समात्मभाव उसकी चिन्मयी स्थिति है। समात्मभाव की चिन्मयी स्थिति मे सप्रेषण का व्यापार सम्पन्न होता है।

समात्मभाव मे स्फुट होने वाला कलात्मक सौन्दर्य काव्य मे सबसे अधिक समृद्ध रूप मे साकार होता है। सगीत तो काव्य का प्राण ही है। सगीत के स्वर के साथ-साथ चित्रकला के रूप-लावण्य, नृत्य की गति आदि का समन्वय भी काव्य मे सभव है और सभव होकर काव्य के रूप को समृद्ध बनाता है। अन्य कलाओ मे

शुद्ध रूपात्मक योजना सम्भव भी है, किन्तु अर्थ तत्व के उपादान के बिना काव्य की कल्पना सम्भव नही। अर्थ की व्यापक परिधि मे बाह्य वस्तुओ, विषयो, घटनाओ, जीवन की स्थितियो आदि के सभी रूप समाहित हैं। इन्ही बाह्य उपकरणो की स्थूलता मे काव्य का सूक्ष्म भाव-रूप मूर्त्त होता है। यही कारण है कि जहाँ सगीत और चित्रकला शुद्ध रूपात्मक योजनाओ के रूप मे भी सम्भव हुई हैं, वहाँ काव्य की रचना बाह्य विषयो, जीवन की स्थितियो और उसके वृत्तो के आधार पर ही हो सकी है। काव्य मे जगत् और जीवन के उपकरणो के समाहार की क्षमता सबसे अधिक है। सार्थकता के अतिरिक्त काव्य की यह व्यापकता उसकी समृद्धि का एक प्रधान कारण है। अर्थ के व्यापक उपादान को समाहित करके समात्मभाव का सौन्दर्य काव्य की सृष्टि करता है। एक ओर अर्थ की सम्पन्नता अन्य कलाओ की तुलना मे काव्य की विशेषता है। दूसरी ओर अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का समन्वय शब्द की अन्य सार्थक व्यवस्थाओ (विज्ञान, शास्त्र, दर्शन, आदि) से उसका भेद करता है। इस अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से समन्वित होकर अर्थ 'आकृति' का रूप ग्रहण करता है। जिस प्रकार समात्मभाव व्यक्तित्वो की केन्द्रित चेतना का पारस्परिक विस्तार है, उसी प्रकार आकृति व्यजना की अनिश्चित परिधियो मे अर्थ का विस्तार है। इस प्रकार समात्मभाव की चिन्मयी स्थिति और आकृति की अर्थमयी व्यजना मे पूर्ण सगति है। जिस प्रकार समात्मभाव मे कला और काव्य के रूप एव तत्व का समन्वय है, उसी प्रकार आकृति मे भी काव्य की अर्थमयी व्यजना के रूप एव तत्व दोनो का समन्वय है। अन्य कलाओ की शुद्ध रूपात्मक योजनाओ मे आकृति का यह विस्तार सम्भव नही है। वस्तुत वे योजनाये विज्ञान और गणित के रूपो की यथार्थ व्यवस्थाएँ हैं। उन्हे वस्तुगत सौन्दर्य का रूप मानना अधिक उचित है, यद्यपि ऐसी स्थिति मे इनका सौन्दर्य असुन्दर योजनाओ के भेद पर ही आश्रित हो सकता है। प्रत्येक वस्तु अथवा रूप-योजना को सुन्दर बनाने की क्षमता सौन्दर्य के आन्तरिक और आत्मगत भाव मे ही हो सकती है। रुचि की अनुभूति ऐसा ही आन्तरिक और आत्मगत भाव है। वह एकान्त और व्यक्तिगत है। समात्मभाव चिद्बिंदुओ के साहचर्य और सम्प्रेषण तथा वस्तुओ, विषयो, व्यक्तियो आदि की बाह्यता और अनेकता मे सम्पन्न होने वाला चिन्मय भाव है। आकृति की व्यापक व्यजना का सौन्दर्य इस समात्मभाव मे ही फलित होता है। प्रकृति के उपादान और रूप तथा गणित और विज्ञान के प्रत्यय यथार्थ

और निश्चित होते हैं। अनिश्चित विस्तार की व्यापकता इनके उद्देश्य की घातक है। चेतना के स्वतन्त्र और सृजनात्मक भाव में ही यह विस्तार सम्भव है। अतः आकृति चेतना का ही भाव है। यह समात्मभाव में ही सम्पन्न होता है। चेतना की एकान्त और व्यक्तिगत स्थिति में आकृति के विस्तार का न अवकाश है और न आधार है। इसीलिए चेतना के व्यक्तिगत उपकरण अथवा अन्य कलाओं की शुद्ध रूपात्मक योजनायें भी इस समात्मभाव मे समाहित होकर ही सौन्दर्य की विधायक बनती हैं। विज्ञान और दर्शन के यथार्थ अर्थ-तत्व तथा शुद्ध कलाओं की शुद्ध रूपात्मक योजनाएँ भी समात्मभाव के प्रकाश मे सौन्दर्य की आकाक्षा कर सक्ती हैं। किन्तु उनकी इस आकाक्षा मे कला अथवा काव्य का पूर्णत समन्वित रूप उदय नही होता। समात्मभाव मे तो रूप और तत्व का आत्मगत समाधान है, किन्तु इन अर्थ-तत्वो और योजनाओ मे रूप और तत्व का समुचित समन्वय नहीं है। शुद्ध कलाओ की योजनाएँ यद्यपि रूपात्मक होती हैं, किन्तु प्राकृतिक माध्यम की नियमित व्यवस्था के अर्थ मे इस यथार्थ योजना को तत्व भी कहा जा सकता है। विज्ञान और गणित के रूप भी इसी यथार्थता के अर्थ मे तत्व हैं। दोनो अर्थ की नियमित कोटि मे हैं। उनमे आकृति की व्यापक व्यजना नही है जो कलात्मक सौन्दर्य का रूप है तथा समात्मभाव के चिन्मय तत्व मे जिसका अनन्त स्रोत है। समात्मभाव के रूप और तत्व के अनुरूप अर्थ-तत्व की व्यजना काव्य की आकृति मे ही सम्भव होती है। अर्थ के तत्व में समात्मभाव की व्यापक अभिव्यक्ति के रूप का सबसे सम्पन्न समन्वय होने के कारण काव्य कला का सबसे समृद्ध रूप है।

जब तक शब्द का अर्थ-तत्व अवगति की परिधि मे रहता है तब तक वह सत्य के ही अन्तर्गत है। अर्थ रूप मे शब्द जिन विषयों, वस्तुओं, पदार्थों आदि का अभिधान करते हैं, वे भी सत्य की यथार्थगत कोटि मे हैं। कलाओ के अन्य रूपो का इस सत्य से कोई सम्बध हो अथवा न हो किन्तु काव्य से उसका अनिवार्य सम्बध है। काव्य केवल रूपात्मक कला नहीं है। सत्य के उपादान के बिना काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। यदि हम काव्य को 'दृष्टि' भी मानें तो भी यह दृष्टि शून्य का स्वप्न नही है। यह दृष्टि चेतना की वह सृजनात्मक क्रिया है जो अतीत और वर्त्तमान के सत्य को अपनी परिधि मे समाहित करके जीवन की भावी सभावनाओ के दिव्य क्षितिजों का उद्घाटन करती है। काव्य के जो सम्प्रदाय उसकी रूपात्मक रचना

को ही मुख्य मानते रहे हैं, वे भी शब्दों के अर्थ और जीवन के यथार्थ रूप में सत्य के उपादानों को ग्रहण करके ही अपने कल्पना के रूपों को आकार देते रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार केवल रूपात्मक योजना काव्य का सर्वस्व नहीं है उसी प्रकार अर्थ अथवा सत्य का तत्व भी केवल अकेला काव्य के रूप का निर्माण नहीं करता। विज्ञान, दर्शन आदि में भी यही तत्व व्यक्त होते हैं। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति का रूप ही विज्ञान, दर्शन आदि से काव्य का विभेदक है। इस अभिव्यक्ति को ही हम सुन्दरम् कह सकते हैं। काव्य की यह अभिव्यक्ति आकृति की व्यापक व्यजना है। इसे कुछ भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्य ध्वनि कहकर काव्य की आत्मा मानते हैं। भारतीय आचार्यों ने रस को ध्वनि का मुख्य लक्ष्य माना है। रस की कल्पना मनोवैज्ञानिक हो जाने के कारण व्यक्तिगत हो गई है। अत. आकृति में सन्निहित समात्मभाव और सप्रेषण के भाव ध्वनि की इस कल्पना में भली भाँति समाहित न हो सके। व्यक्तिगत सम्वेदनाओं में सीमित रस प्राकृतिक सुख और प्रेय की श्रेणी में है। समात्मभाव का रस व्यक्ति में सीमित नहीं वरन् व्यापक और समृद्धि-शील है। इसी रस की व्यजना में आकृति का विस्तार अथवा ध्वनि का प्रसार सफल होता है। इस रस को हम आनन्द कह सकते हैं, किन्तु यह सौन्दर्य से अभिन्न है। सौन्दर्य और आनन्द लावण्य और प्रसन्नता की भाँति अभिन्न हैं। इसी प्रकार समात्मभाव और आकृति भी अभिन्न हैं। समात्मभाव और आकृति की एकता कला और काव्य के मर्म तथा उनकी विशेषता का उद्घाटन करती है। एक ओर जहां कलाओं के लिए विशेषकर काव्य के लिए सत्य का उपादान आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर आकृति ही उस उपादान में कलात्मक सौन्दर्य का आधान करती है। समात्मभाव इस आकृति का आत्मगत रूप है जो किसी भी उपादान तत्व को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने मे समर्थ है। सगीत तथा चित्रकला की केवल रूपात्मक योजनाओं तथा उदासीन उपादान तत्वों में यही सौन्दर्य का सचार करती है। इन रूपों अथवा तत्वों से सयुक्त समात्मभाव, जो स्वयं रूप और तत्व दोनों से समन्वित है, कला की केवल तीन विमाओं का निर्माण करता है। कला के जिन रूपों में रूप और तत्व तथा उपादान और आकृति का समन्वय होता है, उनमे कला की चारों विमाएँ पूर्ण होती हैं। यही कला का पूर्ण और समृद्ध रूप है। इसी समृद्ध रूप में सभी कलाओं की परम्परा वर्धित हुई है। काव्य मे इस समन्वय और समृद्धि की सम्भावना सबसे अधिक है। शब्द की अद्भुद शक्ति में

तत्व और व्यजना के साथ-साथ समात्मभाव की स्थापना की क्षमता भी अन्य माध्यमो की अपेक्षा अधिक है। समात्मभाव चेतनाओ का सामजस्य है। शब्द मे भी आकृति का आधान चिद् रूप मे ही है। अत काव्य के रूप में कला की चारो विभाओ का सामजस्य अनन्य एव अपूर्व रूप में होता है। काव्य की महिमा का यह एक अत्यन्त निगूढ रहस्य है। काव्य की इस महिमा का मर्म शब्द के माध्यम की सूक्ष्मता और उसकी सामर्थ्य मे है। इस सूक्ष्मता के कारण ही शब्द के स्वरूप मे रूप और तत्व का सर्वाधिक समन्वय है। अन्य कलाओ म ऐन्द्रिक सवेदना की प्रधानता के कारण यह समन्वय भी इतना परिपूर्ण नही है तथा समात्मभाव के साथ इतना घनिष्ठ समन्वय भी उनमे सभव नही है। जिस प्रकार मनुष्य की देह म आत्मा का चैतन्य और सौन्दर्य एक विलक्षण भाव मे साकार होता है, उसी प्रकार शब्दो की देह मे कला की आत्मा (समात्मभाव) का सौन्दर्य एक विलक्षण रूप मे साकार होता है।

गद्य, विज्ञान, शास्त्र आदि के ऋजु अभिधान से भेद करने के लिए आकृति की व्यजना को वक्रोक्ति कहा जा सकता है। किन्तु इस उक्ति की वक्रता को वैचित्र्य अथवा चमत्कार के समानार्थक मानना काव्य की रूपात्मक योजना को तत्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना है। यह सत्य है कि काव्य का विशेषक आकृति ही है किन्तु आकृति के रूप मे तत्व का पूर्ण समन्वय ही देह और आत्मा के समन्वय की भाँति काव्य मे परिपूर्ण सौन्दर्य का प्रकाश करता है। वक्रोक्ति की वक्रता और उसके चमत्कार को अधिक महत्व देना इस समन्वय के सन्तुलन को भग कर देता है। काव्य तथा अन्य कलाओ मे भी व्यजना की वक्रोक्ति का आदर्श प्रकाश किरणो की ऋजु गति मे अन्वित सूक्ष्म और अलक्ष्य वक्रता है। जिस प्रकार प्रकाश किरणो की ऋजु गति मे अन्वित सूक्ष्म वक्रता बाह्य सौन्दर्य के रूपो को अपनी पारदर्शिता के द्वारा प्रकाशित करती है, उसी प्रकार शब्दो के अभिधान की प्रसन्न ऋजु गति मे अन्वित आकृति की अलक्ष्य व्यजना काव्य के सौन्दर्य को आलोकित करती है। तुलसीकृत रामायण और कामायनी की भाति जिन काव्यो मे रूप और तत्व, अर्थ और आकृति का परिपूर्ण समन्वय है, वे साहित्य की स्थायी और अनमोल निधियाँ हैं। मैथिलीशरण के काव्य की भाँति जिनमे आकृति की अल्पता है उनमे सौन्दर्य का आधान कम हो सका है। निराला के काव्य की भाति जिन काव्यो का तत्व और आकृति दोनो ही दुरूह हैं, उनमे सौन्दर्य का सहज स्फोट नही हो सका है। पत के काव्य

की भांति जहाँ अत्यन्त सचेतनता और सतर्कता से रूप और तत्व, अर्थ और आकृति का सूक्ष्म समन्वय हुआ है वहाँ भी काव्य का सौन्दर्य अधिक प्रसाधन से सजित आधुनिक युवती के सौन्दर्य की भाँति कृत्रिम हो गया है। उसमे वह स्वाभाविक सौन्दर्य नही है जो सहज और अनायास भाव से सम्पन्न समन्वय म सम्भव होता है। आधुनिक कवियो मे प्रसाद के काव्य मे यह समन्वय सबसे अधिक सहज भाव मे सम्पन्न हुआ है। अर्थ के आधान और व्यजना की सहजता के साथ-साथ उनके काव्य में आकृति का विस्तार भी अधिक है। प्रसाद के काव्य की महिमा का यही रहस्य है। सस्कृत काव्य में कालिदास की कृतियों में यह समन्वय सबसे अधिक है। इसीलिए कालिदास सस्कृत के सबसे अधिक प्रिय और प्रसिद्ध कवि हैं। विद्वानो की परम्परा म भारवि श्रीहर्ष और माघ के अर्थ गौरव को बहुत महत्व दिया जाता है। इसम सदेह नही कि इनके काव्य म अर्थ का आधान अधिक है तथा आकृति का विस्तार भी बहुत है। किन्तु निराला और केशव के काव्य की भांति आकृति की यह व्यजना दुरुह हो गई है। उसम रूप और तत्व का सहज और स्वच्छ समन्वय नही हो सका है। व्यजना का आयास अथवा आकृति की दुरुहता और तत्व मे विच्छेद उत्पन्न करके उनके समन्वय को अपूर्ण रखती है। कालिदास म भी विशेषत रघुवश और कुमार सम्भव म अलकार के आधिक्य ने काव्य के रूप और तत्व क इस समन्वय को असतुलित बनाने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनके नाटको में विशेषत शाकुन्तल में यह समन्वय परिपूर्ण और स्वाभाविक है। इसीलिए शाकुन्तल काव्य का अनुपम रत्न है। गेटे के शब्दो म शाकुन्तल वसन्त की सुषमा और स्वर्ग के सौन्दर्य का एकत्र सन्निधान है। काव्य के विशाल आकार मे यह समन्वय सहज और पूर्ण रूप मे वाल्मीकि के 'रामायण' और तुलसी के 'रामचरितमानस मे ही मिलता है। साहित्य क इतिहास म दोनों की महिमा का यही मर्म है। अग्रजी काव्य म इस समन्वय का सर्वोत्तम उदाहरण शेक्सपीयर की रचनाओ म मिलता है। स्वतन्त्रता के वाद के आधुनिक हिन्दी काव्य की दिशा जहाँ प्रगति वाद, प्रयोग-वाद आदि काव्य के अनेक एकागी रूपो की ओर है वहाँ कुछ अशो म इस समन्वय का रूप भी निखर रहा है। पत्र, पत्रिकाओ में प्रकाशित होने वाली स्फुट कविताओ म प्राय यह समन्वय देखने को मिलता है। अर्थ और आकृति का परिमाण अल्प होने हुए भी अनेक कविताओ मे न आकृति की दुरूहता है और न वक्रता की अधिकता तथा व्यजना का आयास है। यह ठीक है कि

वाल्मीकि रामायण की भांति विशाल आकार मे रूप और तत्व का समन्वय आधुनिक काव्य मे सुलभ नही है, किन्तु यह आशा की जा सकती है कि काव्य के समन्वित सौन्दर्य के ये आलोकमय दीपक ही अपनी साधना से हिन्दी काव्य के नवयुग के नव-प्रभात मे किसी विशाल काव्य के प्रचुर-तत्व सूर्य का स्वागत करेंगे जो काव्य की नवीन सृष्टियो की अनन्त प्रेरणा रहेगा ।

अध्याय ५६

काव्य और कला

सत्य शिव और सुन्दरम् की त्रिपुटी मे सुन्दरम् का कला और काव्य के साथ अधिक घनिष्ठ और सीधा सम्बन्ध है। सत्य कला और काव्य का उपादान है। किन्तु इनका स्वरूप उपादान पर निर्भर नही है। उपादान की दृष्टि से काव्य के जो भेद किये जाते हैं वे *व्यावहारिक* है तथा उनके भेदक सिद्धान्त कला के क्षेत्र से बाहर हैं। सत्य के अनेक रूपो मे से किसी को भी उपादान बनाकर काव्य की रचना हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य का सामान्य स्वरूप उपादान पर निर्भर नहीं है। इसी प्रकार शिवम् काव्य का प्रयोजन हो सकता है किन्तु वह काव्य के स्वरूप का विधायक नहीं है। सत्य के समान शिवम् के अनेक रूपो म से किसी को भी काव्य का लक्ष्य बनाया जा सकता है। प्राय इन सभी रूपो को लक्ष्य बनाकर काव्य की रचनाएँ हुई हैं। रीति काल के रीति और शृगार से लेकर भक्ति, वैराग्य और मोक्ष तक सभी को लक्ष्य बनाकर रची हुई कविताएँ सस्कृत तथा हिन्दी के साहित्य मे मिलती हैं। इससे यही विदित होता है कि काव्य का स्वरूप सत्यम् और शिवम् से निरपक्ष है।

इसका अभिप्राय यह नही है कि सत्यम् के आधार अथवा शिवम् के लक्ष्य का कविता से कोई सम्बन्ध नही है। कविता जीवन की वाणी है, अत जीवन के तत्वों से ही उसके रूप का विधान होता है। अभिप्राय केवल इतना ही है कि सत्यम् और शिवम् के किसी विशेष रूप से कविता का कोई विशेष अनुराग नहीं है। किसी भी रूप को लेकर कविता साकार हो सकती है। सत्यम् और शिवम् का कविता के साथ समवायी सम्बन्ध नही है। कविता की अपेक्षा उसके बाहर सत्यम् और शिवम् का विवेचन अधिक मिलता है। दर्शन शास्त्रों मे तथा तर्क और विज्ञानों म सत्य के निरूपण का विपुल प्रयास उपलब्ध होता है। धर्म शास्त्रो और नीति-ग्रन्थो मे शिवम् का प्रतिपादन मिलता है। प्राय सत्यम् और शिवम् के ये स्वतन्त्र निरूपण गद्य मे हैं। किन्तु सस्कृत साहित्य की भाँति जहाँ ये पद्य मे मिलत हैं वहाँ भी इनके पद्यात्मक रूप मे कोई कवित्व का सन्देह नही करता। 'पद्य' गद्य का ही छन्दोबद्ध

रूप है। सगीत की लय के कारण उसमे जहाँ कही भी कुछ सौन्दर्य का आभास आगया है उसे कविता कहना कठिन है। यह केवल शब्दो के नाद का सौन्दर्य है जो किसी सीमा तक सगीत के अन्तर्गत आ सकता है, किन्तु यह कविता की कोटि मे नही है। 'कविता' शब्द और स्वर के माध्यम से अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति म ही कविता का स्वरूप और सौन्दर्य है। यह अभिव्यक्ति कला के सामान्य सौन्दर्य का लक्षण है। कविता मे वह सौन्दर्य शब्द और स्वर के माध्यम से अर्थ और भाव मे अन्वित हो जाता है। अर्थ और भाव का क्षत्र जीवन क समान ही व्यापक है। अत इनका कोई भी रूप कविता का विधायक बन सकता है।

इतना अवश्य है कि अर्थ और भाव के तत्व के बिना जहाँ केवल स्वरा और वर्णो के सयोजन से सगीत और चित्रकला की रचना हो सकती है वहाँ अर्थ और भाव के बिना कविता की सृष्टि नही हो सकती। कला का सौन्दर्य भी पूर्णत तत्व मे निरपेक्ष नही है। किसी न किसी तत्व के माध्यम म ही वह साकार हाता है, फिर भी कला का स्वरूप रूप प्रधान ही है। रूप की अभिव्यक्ति ही कला का सौन्दर्य है। सगीत मे तो स्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भौतिक उपादान की भी अपेक्षा नही है। नृत्य कला मे स्वर के स्थान पर अगो की गति उपादान अथवा माध्यम है। चित्रकला मे वर्ण तूलिका, पट्ट आदि उपादानो की आवश्यकता होती है। किन्तु इनकी आवश्यकता चित्र की कल्पना को मूर्त्त आकार देने के लिए है। चित्रकला का मूर्त्त आकार कलाकार का बाहरी कृतित्व है। आन्तरिक कृतित्व चित्र के रूप की मानसी कल्पना मे है। इस मानसी कल्पना के लिए कोई भी उपादान अपेक्षित नही है। वह केवल चेतना का आन्तरिक रूप विधान है। यह एक सयोग की बात है कि आन्तरिक कल्पना की दृष्टि से चित्रकला सगीत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और स्वतन्त्र है तथा बाहरी अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह इनकी अपेक्षा अधिक स्थूल और परतन्त्र है। इस सयोग का कारण सगीत, नृत्य और चित्र की रचनाओ के स्वरूपो का प्राकृतिक भेद है। सगीत स्वर-सम्वेदनाओ का सयोजन है। श्रव्य रूप मे शब्द क्षणिक है। इस क्षणिकता के कारण ही स्वरो की परम्पराएँ सम्भव हैं। इस स्वर-परम्परा के विधायक ध्वनियो के पूर्वापर क्रम हैं। सम्भव है सगीतकार इस परम्परा की भी मानसी कल्पना कर सकने मे समर्थ हो और इसी कल्पना के द्वारा ये सगीत की रचनाएँ करते हो। किन्तु सामन्यत स्वर और उसकी परम्परा की कल्पना कठिन ही है। इस कठिनाई के कारण ही प्राय सगीत की रचना

और इसके अभ्यास का आनन्द दोनों ही स्वर के माध्यम से ही सम्भव होते हैं। स्वर ऐन्द्रिक क्रिया और संवेदना का एक भौतिक रूप है।

इसके विपरीत चित्रकला दृश्य रूपों का विधान है। श्रव्य रूपों की अपेक्षा दृश्य रूपों की मानसी कल्पना अधिक सहज है। इस कल्पना की आन्तरिक अभिव्यक्ति अथवा चेतना में इसके स्फोट के लिए बाह्य उपादानों की ही नहीं ऐन्द्रिक व्यापारों की भी अपेक्षा नहीं है। इसका कारण यह है कि हमारे मस्तिष्क का प्राकृतिक विधान ही ऐसा है कि हम दृश्य रूपों की मानसी कल्पना सुगमता से कर सकते हैं। इसका कारण सम्भवतः दर्शन और श्रवण के प्राकृतिक माध्यमों का भेद और मस्तिष्क के साथ उनका सम्बन्ध है। दर्शन का माध्यम प्रकाश है। प्रकाश प्रकृति के सत्व गुण का लक्षण है। दर्शनों के अनुसार प्रकृति के सत्व गुण में चेतना को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है। मस्तिष्क चेतना का आश्रय है। आधुनिक शल्य-विज्ञान के प्रयोगों से यह प्रमाणित भी हो रहा है। अतः प्रकृति का सत्वगुण हमारे मस्तिष्क का प्रमुख विधायक तत्व है। यह कल्पना ऊहा मात्र नहीं है। यदि सत्व में मस्तिष्क का निर्माण हुआ है तो प्रकाश के ग्रहण के उसका अधिक अनुकूल होना स्वाभाविक है। सम्भवतः हमारे मस्तिष्क के रूपों की मानसी कल्पना में अधिक समर्थ होने का कारण प्रकाश के साथ मस्तिष्क की यही घनिष्ठता है। संगीत की कल्पना अथवा उसका सृजन स्वरों के स्पन्दन के रूप में होता है। मस्तिष्क में इस स्पन्दन की सूक्ष्मताओं का ग्रहण करने की शक्ति बहुत है। इसी शक्ति के द्वारा स्वर के अनन्त संयोजनों और रागों के अनेक रूपों से संगीत का लोक सम्पन्न हुआ है। किन्तु मस्तिष्क में स्वर के स्पन्दनों की परम्पराओं के धारण और ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के अभाव में उनकी प्रकल्पना की शक्ति अधिक नहीं है। इसका परिणाम यह है कि संगीत की मानसी कल्पना और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति दोनों का रूप और माध्यम प्रायः एक ही है। वह माध्यम स्वरों का श्रव्य रूप है। स्वरों की स्पन्दन परम्परा का उत्पादन और ग्रहण प्रकृति के माध्यम (आकाश) और मस्तिष्क में प्रकाश की अपेक्षा अधिक हलचल उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत प्रकाश की स्थिति ग्राह्य रूप में प्रकृति के माध्यम (आकाश) में अधिक सहज और साधारण है। उसके उत्पादन का प्रश्न बहुत कम उठता है। स्वरूपतः उसका उत्पादन और प्रसार बहुत शान्त है। मस्तिष्क के द्वारा उसका ग्रहण भी बहुत सहज और शान्त भाव में होता है। यह सहज भाव और शान्ति प्रकृति के मूल स्वरूप का सामान्य लक्षण

है। प्रकृति की इसी साम्य अवस्था मे पुरुष (चेतना) के प्रतिबिम्ब से सर्ग का आरम्भ होता है। मस्तिष्क बुद्धि का आश्रय है। बुद्धि के उदय होने तक बाहरी हलचल और कोलाहल के उपकरण उत्पन्न नही होते। अत यह अनर्गल ऊहा मात्र नही है कि जो मस्तिष्क चेतना तथा बुद्धि का आश्रय है तथा जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणाओ का केन्द्र है उसकी क्रियाएँ पूर्णत सहज और शान्त हैं। शरीर के अन्य व्यापार हमारे लिए सहज और शान्त प्रतीत होते हैं किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक यत्रो के द्वारा उनकी हलचल को अकित किया जा सकता है। हृदय की आवाज हमें सुनाई नही देती किन्तु यत्र के द्वारा हम उसका स्पन्दन सुन सकते हैं। इस दृष्टि से भी स्वर विधान की अपेक्षा रूप-विधान मस्तिष्क के अधिक अनुरूप है। आलोक के उत्पादन और ग्रहण मे वह हलचल और कोलाहल नही है जो शब्द के उत्पादन और ग्रहण मे है। इसीलिए रूप की मानसी कल्पना सहज ही सभव है। रूप का माध्यम आलोक है। विश्व के वातावरण में आलोक सदा ही वर्तमान रहता है। आलोक की यह स्थिति भी सम्भवत रूप की मानसी कल्पना मे सहायक होती है और उसे सहज बनाती है।

किन्तु शब्द की आकाश मे स्थिति और मस्तिष्क के साथ उसका सम्बन्ध रूप से विपरीत है। कुछ दर्शनो के अनुसार शब्द आकाश का नित्य गुण है। किन्तु *श्रवण ग्राह्य रूप मे वह सदा वर्तमान नहीं रहता। जिन सूक्ष्म स्पन्दनों के* रूप मे आकाश मे शब्द सदा वर्तमान रहता है वे मानवीय इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नही किये जा सकते। स्पन्दनो मे एक निश्चित तीव्रता से उत्पन्न ध्वनि को ही हम श्रवण द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। यह ध्वनि एक स्फुट कोलाहल के रूप में होती है। बाहरी वातावरण के साथ-साथ हमारी इन्द्रियों और मस्तिष्क मे भी एक व्यक्त हलचल पैदा होती है। शब्द का यही मुखर और ग्राह्य रूप है। परा, *पश्यन्ती और मध्यमा के नाम से विदित शब्द के सूक्ष्म रूप मुखर और श्रवण ग्राह्य* नहीं हैं। वे ध्वनि-रूप नही वरन् अर्थ-रूप हैं। यह अर्थ ध्वनियो द्वारा व्यग्य शब्द एक चिन्मय तत्व है। इन्द्रियों और प्रकृति के तत्वो से पूर्णत निरपेक्ष होने के कारण *शब्द का यह रूप 'रूप' की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म है। किन्तु सगीत की* रचना शब्द के इस सूक्ष्म रूप से नही होती। सगीत मुखर शब्द की कलात्मक योजना है। कोलाहल और हलचल की क्रिया से युक्त होने के कारण इसका ग्रहण रूप के समान सहज नही है। *आयास और विकास के आधिक्य के कारण*

इसके ग्रहण की क्रिया रूप ग्रहण के समान मस्तिष्क की शान्त विधि के अधिक अनुरूप नहीं है। कदाचित इसीलिए प्राचीन श्रुति की परम्परा में लिपि का आविष्कार हुआ। सम्भवत इसी कारण श्रुति-पाठ की अपेक्षा दृष्टि-पाठ की प्रथा अधिक प्रचलित हो चली। आधुनिक युग में भाषण की प्रथा राजनैतिक कारणों और एक मनोवैज्ञानिक भूल से अधिक चल पड़ी है। किन्तु उसका उपयोग अधिक नही। भाषणो के अभिप्राय का ग्रहण हम बहुत कम कर पाते हैं। समूह मनोविज्ञान की एक दुर्बलता हमे समारोहों के अवसर पर व्यर्थ ही एकत्र कर लेती है। आधुनिक शिक्षा भी बहुत कुछ इसी कारण से निष्फल हो रही है। हम श्रवण की अपेक्षा दर्शन से अधिक समझते हैं। दर्शन ही ज्ञान है। अंग्रेजी के साइन्स (सियास) शब्द का मूल अर्थ ही देखना है।

रूप और शब्द में एक और भेद है। रूप एक विस्तार है और शब्द एक परम्परा है। विस्तार दिक् का लक्षण है और परम्परा काल का क्रम है। विस्तारो का यौगपद्य सभव है किन्तु परम्परा का क्रम यौगपद्य का विरोधी है। यौगपद्य एक रूप-विधान के अगो की एक काल मे स्थिति है। इस यौगपद्य के कारण रूप-योजना मे अगो का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ और उसका ग्रहण अधिक सहज होता है। इस यौगपद्य के कारण दीर्घकाल तक एक ही रूप योजना की दृष्टि के समक्ष अवस्थिति सम्भव है। इस स्थिरता के कारण रूप को मानस प्रत्यय मे स्थायित्व मिलता है। इस यौगपद्य और आलोक के सम्बन्ध से रूप-ग्रहण की क्रिया सहज भी है। शब्द की योजना और उसके ग्रहण की क्रिया इसके विपरीत है। इसका कारण शब्द का क्रमिक रूप है। एक शब्द योजना के अगो मे यौगपद्य सम्भव नही है। किन्तु यौगपद्य के बिना मस्तिष्क किसी समग्र योजना को ग्रहण करने मे समर्थ नहीं है। इसलिए परम्परा के क्रम म प्राप्त होने वाले मुखर शब्दो की समग्रता का विधान मस्तिष्क को अपनी क्रिया के द्वारा करना पडता है। यों शब्द के ग्रहण में मस्तिष्क अधिक सक्रिय होता है किन्तु शब्द योजना की समग्रता के ग्रहण मे वैसा सहज भाव नही है जैसा रूप-योजना के ग्रहण मे होता है। चेतना मस्तिष्क की शक्ति है। यौगपद्य चेतना की अभिव्यक्ति का लक्षण है। तभी वह नश्यमान् परम्पराओं में भी यौगपद्य का विधान करने मे समर्थ है। रूप-योजना की सवेदना मे सहज यौगपद्य होने के कारण उसका ग्रहण और उसकी कल्पना दोनों ही सहज हैं। शब्द एक नश्यमान् परम्परा है। कुछ दर्शनो मे शब्द को नित्य माना गया है किन्तु यह शब्द

का मुखर रूप नही, कोई सूक्ष्म और तात्विक स्वरूप है। मुखर शब्द एक उत्पाद्य, अत नश्यवान् परम्परा है। एक काल मे एक ही ध्वनि की उत्पत्ति और उसका श्रवण होता है। अपर ध्वनि पूर्व ध्वनि को नष्ट कर उसका स्थान लेती है। इस प्रकार एक ध्वनि-योजना मे मस्तिष्क इस योजना को अगभूत एक ही ध्वनि का ग्रहण करता है। अगी रूप मे समग्र ध्वनि-योजना का विधान मस्तिष्क अपनी धारणा और चेतना की क्षमता के द्वारा करता है। श्रवण काल मे ध्वनियो की परम्परा और श्रवण-सवेदनाओ के सस्कार ध्वनि-योजना की समग्रता के निर्माण मे सहायक होते हैं। किन्तु यह प्रत्यक्ष की अवस्था मे ही सभव होता है। कल्पना के काल मे मस्तिष्क को ये सहायताएँ प्राप्त नही होती। अत समग्र स्वर-योजना की मानसिक कल्पना रूप-योजना की कल्पना की अपेक्षा अधिक कठिन है। रूप-योजना की समग्रता के साक्षात और सहज रूप मे ग्रहीत होने के कारण उसकी कल्पना सहज है। आकाश मे आलोक की चिरन्तन व्याप्ति इसमे और भी सहायक है। रूप की कल्पनाओ के सहज होने के कारण ही चित्र-कला प्रधान इटली के प्रसिद्ध कला शास्त्री क्रोचे ने कल्पना की सृजनात्मक क्रिया को कला का स्वरूप ही माना है। इसी कारण सामान्यत मनुष्य को स्वर और सगीत की अपेक्षा रूप का आकर्षण अधिक है। इसीलिए हमारी सभ्यता के विकास मे भी रूप के सौन्दर्य का ही विस्तार अधिक हुआ है। शब्द एक अमूर्त और अस्थायी गुण है। अत इसका अनुराग मनुष्य के लिए श्रम साध्य है।

नृत्य मे रूप और गति दोनो का सयोग है। अगो की गति काल-क्रम की एक परम्परा है। अग और मुख की मुद्राएँ रूप के आकार हैं। अत नृत्य के दर्शन मे रूप और गति दोनो की विशेषताओ का सकर है। यह सकर समन्वय बनकर दोनो की कलात्मक सगति का विधान करता है। किन्तु नृत्य मे भगिमाओ और गतियो को ही प्रधानता है। अत नृत्य की कल्पना मे रूप की सुविधा की तुलना में गति-क्रम की समग्रता की कठिनाई सगति के समान ही अधिक है। रूप और गति के मिश्रण के कारण नृत्य मे जटिलता भी अधिक है। नृत्य की मुद्राओ के रूपो मे भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अत उसमे भी रूप के यौगपद्य की अपेक्षा गति की परम्परा का क्रम ही अधिक है। इन्ही जटिलताओ के कारण नृत्य की मानसी कल्पना सगीत की अपेक्षा कठिन है। नृत्य की किसी एक मुद्रा की कल्पना अवश्य चित्र की कल्पना के समान ही सहज है। एक अन्तर अवश्य है कि सगीत

के स्वरा की अपेक्षा नृत्य की अग गतियो की परम्परा अधिक स्थूल तथा स्थूलता के कारण अधिक सुग्राह्य है।

इस प्रकार मानसी कल्पना और अभिव्यक्ति की दृष्टि से चित्रकला सगीत और नृत्य में अन्तर है। इन अ तर का एक आधार इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम क गुण भी हैं। चित्रकला की मानसी कल्पना सबसे अधिक सहज किन्तु अभिव्यक्ति सबसे अधिक पराधीन है। इस अभिव्यक्ति के लिए अगो की क्रिया के अतिरिक्त वाह्य उपादाना की भी आवश्यकता है। सगीत की मानसी कल्पना जितनी कठिन है उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सहज है। उसके लिए किसी वाह्य उपादान की अपेक्षा नही है स्वर उत्पादन की आगिक क्रिया पर्याप्त है। *नृत्य एक जटिल कला है उसमें रूप और गति का मिश्रण है।* उसकी अभिव्यक्ति केवल अगो क माध्यम से ही सकती है। रूप म स्वर की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। इसीलिए शुद्ध सगीत की अपेक्षा नृत्य अधिक रुचिकर होता है। शुद्ध सगीत केवल एक स्वर-योजना है शब्द-योजना नही। वह वाद्य यन्त्रो अथवा अलाप के समान अनर्थक किन्तु कलापूर्ण ध्वनिया म सम्भव होता है। उस्तादो के अलाप और केवल वाद्य सगीत के प्रति साधारण जनता की उपेक्षा शुद्ध सगीत की अ लोक प्रियता का प्रभाव है। *सगीत का माध्यम स्वर तीनो कलाओ के माध्यमो म सबस अधिक सूक्ष्म है। माध्यम की सूक्ष्मता और कल्पना की कठिनाई के कारण शुद्ध सगीत सब* स कम लोकप्रिय है। सगीत का जो लोक प्रिय रूप है उसम स्वर के साथ साथ शब्द का भी समवाय है। उसमें ध्वनि के साथ साथ भाव का भी समन्वय है। जनमानस मे सगीत का प्रभाव इस सयोग के कारण अधिक होता है। भाव म स्थायी प्रत्यय की शक्ति है। मस्तिष्क की धारणा शक्ति स वह स्थिर होकर कल्पना का सहज और स्थायी आधार बनता है। वस्तुत इस सगीत म सगीत और काव्य का मिश्रण है। लोक गीतो म काव्य और सगीत के समन्वय का एक उत्तम रूप मिलता है। इसीलिए व अधिक लोक प्रिय हैं।

भाव सम्पत्ति के स्थायित्व और उपादानो की सहजता के कारण काव्य कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है। काव्य को यह श्रेष्ठता उसके माध्यम के कारण मिली है। चेतना के उत्कर्ष के अतिरिक्त भाषा मनुष्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। सम्भवत चेतना को भाव सम्पत्ति का रूप देने के लिए ही मनुष्य जीवन म भाषा का विकास हुआ है। **भाषा ही मनुष्य की परिभाषा है।** भारतीय शब्द दर्शन म चेतना क

साथ भाषा का सम्बन्ध बड़ी गम्भीरता के साथ व्यक्त हुआ है। शब्द दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना गया है और शब्द-रूप वाक् की चार कोटियां स्थापित की हैं। ब्रह्म चिन्मय है। परावाक् का स्वरूप तो वेदान्त के ब्रह्म के समान ही चिन्मय है। मध्यमा और पश्यन्ती भी इस वाक् के आन्तरिक और चिन्मय रूप की कोटियां हैं। सम्भवतः परा का कैवल्य पश्यन्ती में चेतना के विशेष भाव-रूपों में विवर्तित होता है। मध्यमा में तो भाव सूक्ष्म और आन्तर विषयों का रूप ग्रहण करते हैं। वैखरी वाक् में मुखर वाणी के माध्यम में चिन्मय भाव रूपों की अभिव्यक्ति होती है।

शब्द दर्शन में वाक् के चतुष्कोटि विधान के द्वारा चेतना के साथ मुखर वाणी के सम्बन्ध की स्थापना की गई है। इससे स्पष्ट है कि मुखर शब्द चेतना की भाव-सम्पत्ति की व्यंजना का ही साधन है। चेतना के 'भाव' अर्थ, आकृति और भावना के रूप में आन्तरिक आकार ग्रहण करते हैं। शब्द की नश्यमान् परम्परा में भाव-सम्पत्ति का स्थायित्व उसे एकता के सूत्र में आबद्ध करता है। चेतना के व्यापक आधार में विनष्ट शब्द के पूर्व-संस्कारों की आवृत्ति होती है और अपर शब्दों के अर्थ में उसका अन्वय होता है। इसी क्रम से शब्द और वाक्य में अर्थ का स्फोट होता है। शब्द परम्परा के नष्ट हो जाने पर ही उसकी अर्थ-परम्परा का अन्वय चेतना में होता है। स्मृति और धारणा की शक्ति के द्वारा यह अन्वय चेतना में स्थिर होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अर्थ-संस्कारों की धारणा का निधान अवचेतन मन है। किन्तु अवचेतन भी मन का ही एक भाग है और वह चेतना की शक्ति एवं सम्भावना से विरहित नहीं है। अर्थों के चिद्रूप होने के कारण चेतना के साथ उनका अन्वय सहज सम्भव है। अर्थ और चेतना की अनुरूपता के कारण भाषा का माध्यम सबसे उत्तम है। सूक्ष्म होने के कारण वह सबसे अधिक सम्पन्न भी है। ऐन्द्रिक अर्थों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय भावों की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य भी भाषा में निहित है। भाषा के द्वारा व्यंग्य अर्थ में रूप, स्वर और गति भी सम्मिलित है। इस दृष्टि से भी भाषा का माध्यम अधिक समर्थ और सम्पन्न है। वह चित्रकला, संगीत और नृत्य की व्यंजनाओं को भी आकार दे सकता है। साथ ही वह इनकी व्यंजनाओं को अधिक स्थायी बना सकता है। इस प्रकार जहाँ भाषा एक विशेष माध्यम है वहाँ साथ ही उसमें चित्रकला संगीत और नृत्य के माध्यमों के गुण भी वर्तमान हैं। इतना अवश्य है कि भाषा की व्यंजना संवेदनात्मक न होने के कारण वह रूप और गति को

सम्वेदनाओ को चित्र कला और नृत्य की भाँति सजीव और साकार रूप मे प्रस्तुत नही कर सकती। ऐन्द्रिक सवेदना के अभाव मे मानसिक कल्पना के द्वारा इस सजीवता की पूर्ति हो सकती है। ध्वनि तो भाषा का मुखर रूप ही है। अत सगीत के साथ काव्य की अधिक आत्मीयता है। कविता को आत्मा का मुखर सगीत कहना अधिक अनुचित न होगा। चित्रकला, सगीत और नृत्य के माध्यमो के गुणों का समाहार करके भाषा चेतना की भाव-सम्पत्ति का सबसे अधिक समर्थ और सम्पन्न माध्यम बन जाती है। चेतना के सस्कारो मे इन भाव सस्कारो की स्थिरता भाषा को मानवीय उत्कर्ष के अनुरूप माध्यम बना देती है। अर्थ की सूक्ष्मता के कारण भाषा की व्यजना चेतना के लिए सुग्राह्य बन गई है। वस्तुत चिद्रूप होने के कारण अर्थ चेतना के अनुरूप है। यह अनुरूपता ही अर्थ के ग्रहण और उसकी धारणा का मूल कारण है। अर्थ के निश्चित परिच्छेद के अतिरिक्त आकृति की व्यापक व्यजना के द्वारा भाषा का माध्यम और भी अधिक सम्पन्न बन गया है। इस सम्पन्न माध्यम को प्राप्त करके ही काव्य कला का सर्वोत्तम रूप बना है।

हम देख चुके हैं कि चित्रकला, सगीत, नृत्य और काव्य के रूप, अभिव्यक्ति और माध्यम मे अन्तर है। किन्तु यह अन्तर केवल इनके रूप की विशेषता का द्योतक है उनके रूप का विधायक नही। चारो ही कला के अन्तर्गत माने जाते हैं और यदि हम काव्य को छोड भी दें तो शेष तीन तो कला के प्रसिद्ध रूप ही हैं। माध्यमो का भेद एक बाह्य और प्राकृतिक भेद है। इसी भेद से कलाओ के रूप का भेद उत्पन्न होता है। किन्तु इस भेद के अतिरिक्त कला का सामान्य स्वरूप क्या है, जो इन सबमें व्याप्त है, यह विचारणीय है। कला का यह सामान्य स्वरूप काव्य मे भी व्याप्त होना चाहिए चाहे इससे काव्य के स्वरूप का पूर्ण निर्धारण न हो सके। रूप का ग्रहण और उसकी कल्पना सहज होने के कारण चित्रकला को प्राय कलाओ मे प्रमुखता मिलती रही है। चित्रकला को प्राय लोग जीवन के वास्तविक रूपो की कलात्मक अनुकृति मानते रहे हैं। चित्रकला मे बहुत कुछ अनुकरण होता है, इसमे सदेह नही। इस अनुकरण के द्वारा ही चित्रकला की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है। इसीलिए कई कलाशास्त्रियो ने अनुकरण को ही कला की सामान्य परिभाषा माना है। प्लेटो और अरिस्टॉटिल के मत इस प्रसग मे स्मरणीय हैं। ग्रीक साहित्य मे नाटक की प्रधानता है।

नाटक में अनुकरण का अंश होता है। इसीलिए प्लेटो ने अनुकरण को ही कला का सामान्य रूप बताया है। चित्रकला और नाटक की प्रधानता के कारण यह परिभाषा मान्यता प्राप्त कर सकी।

इसमें संदेह नहीं कि कला में अनुकरण का कुछ अंश होता है। चित्रकला और नाटक में यह अंश अधिक होता है। संगीत और नृत्य भी इससे पूर्णतः मुक्त नहीं है। संगीत और नृत्य में चित्रकला की भाँति दृश्य रूप का अनुकरण नहीं होता किन्तु उसमें ध्वनियों और गतियों का अनुकरण होता है। काव्य में भी किसी न किसी परिमाण में इन सब अनुकृतियों का समावेश रहता है। किन्तु अनुकरण कला का सर्वस्व नहीं है। उसे कला का आरम्भ कह सकते हैं। इसमें भी आपत्ति हो सकती है। कला की शिक्षा के आरम्भ में तो शिक्षक और शिष्य दोनों की ओर से अनुकरण का सचेष्ट प्रयास दिखाई देता है। किन्तु यह कला की भूमिका है उसका आरम्भ नहीं। कला का आरम्भ अनुकृति से नहीं, कृति से होता है। जिसे हम अनुकृति समझते हैं वह भी वस्तुतः कृति का ही एक रूप है। कला के सरलतम और आरम्भिक रूपों में भी चेतना के कृतित्व की ही अभिव्यक्ति रहती है। अनुकृति के विरुद्ध एक बड़ा अद्भुत किन्तु संगत तर्क यह है कि वस्तुतः अनुकृति असंभव है। जिसे हम अनुकृति समझते हैं वह वस्तुतः कृति ही है। अनुकृति की असंभवता का तर्क सबसे अधिक तीव्रता के साथ चित्रकला के ही सम्बन्ध में लागू होता है। आश्चर्य की बात यह है कि चित्रकला के सम्बन्ध में ही अनुकृति का आरोप सबसे अधिक प्रबल है। कौलिंगवुड ने बड़ी मार्मिकता के साथ सूक्ष्म तर्क के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि अनुकरण की चर्चा कला के सम्बन्ध में नितान्त असंगत और भ्रमपूर्ण है।[५५] अनुकृति का अर्थ एक वास्तविक रूप के अनुरूप कृति है। इस अनुकृति का अर्थ वास्तविक रूप के अनुरूप आकृति और वस्तुओं का निर्माण है। यह असंगत ही नहीं असंभव भी है। इसका अर्थ यही होगा कि हाथी, पहाड़, नदी, वन आदि की अनुकृति के लिए हमें इनका निर्माण करना होगा। ऐसे निर्माण का ऐश्वर्य मनुष्य को प्राप्त नहीं है। जिसे कला में अनुकृति कहा जाता है वह वस्तुतः इन रूपों का संकेत करने वाले रूपों का विधान है। यह विधान अनुकरण नहीं सृजन है। अतः जिसे अनुकृति कहा जाता है वह वस्तुतः कृति है। यहाँ तक की अनुकृति की अनुकृति भी अनुकृति नहीं है। वह भी एक नवीन कृति है।

अनुकृति के जिस भ्रान्त रूप को प्लेटो ने कवि की परिभाषा बतलाया है उसमें भी कृतित्व का मर्म अन्तर्निहित है। यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि अनुकृति का यह भ्रान्त रूप कला के सभी रूपों पर पूर्णतः लागू नहीं होता। चित्रकला के भी सभी रूपों में इसकी व्याप्ति नहीं है। बालक के विचित्र आलेखन *अनुकरण नहीं, स्वतन्त्र और स्वतः-स्फूर्त सृजन हैं* उसके आरम्भिक आनापों और उल्लसित मुद्राओं में भी कृतित्व का आरम्भिक सौन्दर्य ही उदित होता है इनमें अनुकृति का आभास भी नहीं है। **अतः सत्य यह है कि कृतित्व ही कला का मूल है। कला चेतना की सृजनात्मक क्रिया है जो इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा प्रकृति के माध्यम में मूर्त होती है।** इस सृजनात्मक क्रिया में जहाँ हम अनुकरण देखते हैं वहाँ वस्तुतः कृतित्व ही होता है। इस सृजन में एक अद्भुत सौन्दर्य और आनन्द है। तन्त्रों में शिव की सृजनात्मिका शक्ति को 'कला' कहते हैं। भगवती महाशक्ति के विमर्श से ही विश्व के अद्भुत काव्य की रचना होती है। शक्ति का यह विमर्श ही सौन्दर्य का विधान है। यह विमर्श शक्ति के स्वरूप का ही विलास है। इसीलिए भगवती की त्रिपुर सुन्दरी के रूप में वन्दना होती है। यह त्रिपुर सुन्दरी शिव की शक्ति है। शिव मंगलमय, आत्मस्वरूप और आनन्दमय है। शक्ति शिव से अभिन्न है, अतः शक्ति भी आनन्दमयी है। सुन्दरी शक्ति *का सृजन स्वरूप का विलास होने के साथ साथ आनन्द का उल्लास भी है।* आत्मस्वरूप शिव और शक्ति ही अभिन्न भाव से परम सत्य है। अस्तु शक्ति दर्शन में सत्य के स्वरूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है, वरन् सत्य यह है कि सत्य के अन्तर्भाव में शिवम् और सुन्दरम् की ही महिमा अधिक है। शिव का स्वरूप भी सुन्दर है। शक्ति का तो नाम ही सुन्दरी है। वेदान्त दर्शनों में भी *सत्य के शिव और सुन्दर स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई है।*

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द है। सत् सत्य है, चिद् शिवम् है, आनन्द सुन्दरम् का स्वरूप और फल है। उपनिषद् में चिद् स्वरूप ब्रह्म को 'शान्तम् शिवम् अद्वैतम्' कहा है।[२६] **चेतना का सर्वात्मभाव ही मंगल का मूल स्वरूप और सूत्र है।** अद्वैत वेदान्त के साथ सौन्दर्य के सम्बन्ध को समझने के लिए हमें *भगवान शंकराचार्य के भाष्यों से आगे 'सौन्दर्यलहरी' की तरंगों में प्रवाहित होना* होगा। शृंगेरी पीठ में श्रीचक्र की स्थापना आत्मा के स्वरूप में सौन्दर्य की महत्ता का प्रमाण है। **वैष्णव वेदान्तों में तो भक्ति की रसमयी प्रेरणा से ब्रह्म के स्वरूप में**

अखिल सौन्दर्य का समाधान हुआ है। भगवान मंगलमय होने के साथ परम सुन्दर भी हैं। विष्णु का स्वरूप भी शिव के समान परम सुन्दर है। राम और कृष्ण में भी सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। तुलसी के राम 'कोटि मनोज लजावन हारे' हैं और भागवत के कृष्ण 'स्मरो मूर्तिमान्' हैं। शिव की शक्ति के समान विष्णु की लक्ष्मी, राम की सीता और कृष्ण की राधा उनकी अभिन्न हृदया आह्लादिनी शक्ति है। किन्तु भक्ति दर्शनों की यह शक्ति मुख्यतः आह्लादिनी शक्ति है। शक्ति के सृजनात्मक रूप का उतना आदर भक्ति सम्प्रदायों में नहीं है। यद्यपि वेदान्तों का उत्तराधिकार पाकर इस आह्लादिनी शक्ति को जगत् जननी के रूप में मान्यता अवश्य है।

किन्तु शक्ति का यह सृजनात्मक रूप भक्ति दर्शनों में उतना स्फुट और महत्व-पूर्ण नहीं है जितना शक्ति तन्त्रों में है। इसका एक कारण तो भक्ति दर्शनों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव है। अद्वैत वेदान्त में विश्व को माया कहकर शक्ति के सृजनात्मक रूप का महत्व कम कर दिया गया। यद्यपि वैष्णव वेदान्त संसार को मिथ्या नहीं मानते फिर भी माया के नाम और भाव की उन पर छाया है। दूसरा कारण यह है कि विष्णु राम और कृष्ण के जीवन में सृजन की अपेक्षा रक्षण का ही महत्व अधिक है। वस्तुतः रक्षण ही विष्णु का मुख्य धर्म है। राम और कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, अतः उनका चरित्र भी विष्णु के ही अनुरूप है। देवताओं की त्रिपुटी में ब्रह्मा सृजन के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए विष्णु के रूप में सृजन का अधिक महत्व नहीं है। विष्णु की उपासना के रूप में विकसित होने के कारण भक्ति-परम्परा में सृजन का महत्व अधिक नहीं रहा। राधा के कुमारी तथा सीता के द्वितीय निर्वासन तक अनपत्या होने के कारण भक्ति सम्प्रदायों को सृजन की महिमा का आधार न मिल सका। लक्ष्मी, सीता और राधा के मातृरूप के सिद्धान्ततः मान्य होते हुए भी शक्ति के सृजनात्मक रूप का पर्याप्त आदर भक्ति सम्प्रदायों में न हो सका। शक्ति-तन्त्रों में भी शक्ति सुन्दरी को कुमारी रूप में पूजित किया जाता है, किन्तु साथ ही उनका मातृरूप भी स्फुट रूप से मान्य है। वस्तुतः इस मातृरूप की ही उपासना अधिक है। करुणामय और रक्षक होने के साथ-साथ शक्ति का यह मातृरूप विश्व का स्रष्टा भी है। त्रिपुर सुन्दरी जगज्जननी हैं। शक्ति का विमर्श ही विश्व के रूप में विलसित है। अस्तु तन्त्रों में शिव और शक्ति की अभिन्नता तथा उनके अभिन्न स्वरूप में सृजन और

सौन्दर्य का समवाय सबसे अधिक पूर्ण रूप मे हुआ है। उसमे जीवन और सस्कृति का सम्पूर्णतम दर्शन है। इसीलिए प्राचीन भारत मे शैव और शाक्त दर्शनो का इतना प्रभाव था। कुछ ऐतिहासिक विषमताओं के कारण ही मध्यकाल मे वैष्णव धर्मों का प्रभुत्व बढ गया। ऐतिहासिक और सामाजिक दुर्बलताओं के कारण वैष्णव धर्म की अपूर्णताएँ ही हमारा आश्वासन बनी। राम और कृष्ण के चरित्र तथा वैष्णव धर्मों मे भी अनेक हितकारी तत्व हैं, किन्तु जीवन और सस्कृति की सम्पूर्णता की दृष्टि से शिव का चरित तथा शैव दर्शन ही सबसे अधिक समृद्ध है। शक्ति और शिव के चिन्मय स्वरूप मे आनन्द के साथ सृजन और सौन्दर्य अथवा सृजनात्मक सौन्दर्य के समवाय के कारण वह सबसे अधिक पूर्ण है। खेद की बात है कि दर्शन परम्परा में शैव तंत्रो की उपेक्षा तथा साधारण जनता के जीवन में वैष्णव धर्म के प्रभुत्व के कारण सस्कृत और हिन्दी के साहित्य में शिव-कथा अथवा शक्ति सिद्धान्त के आधार पर सस्कृति के इस समग्र रूप को कलात्मक आकार देने वाली कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं है। पार्वती परमेश्वर के परमभक्त कालिदास भी हमे ऐसी कृति न दे सके। अपूर्ण होने के अतिरिक्त उनका 'कुमार सम्भव' तत्कालीन कवि परम्परा के अनुसार शृगार से अधिक प्रभावित है। शृगार के प्रभाव मे 'कुमार सम्भव' का सास्कृतिक महत्व तिरोहित हो गया है। कालिदास के बाद दो हजार वर्ष के दीर्घ किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विषमता-पूर्ण युग मे तो शिवकथा तथा शैव तंत्रो की सस्कृति के आधार पर कोई रचना अपवाद रूप मे भी न हो सकी। तुलसीदास का 'पार्वती मगल' 'कुमार सम्भव' का ही सक्षिप्त अनुवाद सा है। 'रामचरित मानस' के आरम्भ मे शिव का प्रसग राम के गौरव और शिव के उपहास के लिए है। उसे अपवाद कहना भी उचित नही। कहना होगा कि काव्य की अपेक्षा चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्य कला मे शिव और शक्ति का यह सुन्दर और मगलमय स्वरूप अधिक आदर पाता रहा। किन्तु भाषा के अधिक स्थायी माध्यम मे मूर्त्त न होने के कारण वह हमारे समाज और सस्कृति की प्रेरणा न बन सका।

प्रस्तु कला के सामान्य रूप और दर्शनों के सिद्धान्तों के अनुशीलन से यही विदित होता है कि सृजन ही जीवन का परम सत्य है। आत्मभाव और आत्मदान के द्वारा सम्भव होने वाला सास्कृतिक सृजन ही शिवम् का भी मूल स्वरूप है। यह सृजन ही सुन्दरम् है। शैव तन्त्रों के अनुसार शक्ति के विमर्श मे विश्व का आविर्भाव

और सौन्दर्य का स्फोट होता है। तन्त्रों का यह दुरूह रहस्य जीवन के प्रत्येक सृजन और कला की प्रत्येक रचना मे उदाहृत होता है। रचना रूप का विधान है। रूपों मे हम प्राय सौन्दर्य का भेद देखते हैं। यह सौन्दर्य का वस्तुगत तत्व है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र म विशेषत प्राचीन युग मे सौन्दर्य के इस वस्तु पक्ष का बहुत विवेचन हुआ है। किन्तु आधुनिक युग मे सौन्दर्य के भाव पक्ष को ही मुख्य माना गया है। रूप बाह्य है। भाव सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष है। मूल भाव चेतना की रचना त्मक वृत्ति है। इसी रचनात्मक वृत्ति म सौन्दर्य का उदय होता है। इस दृष्टि म सभी रचनाएँ सुन्दर हैं। सौन्दर्य का मूल रचना के रूप म नहीं वरन् रचना के कृतित्व मे है। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र के नेता क्रोच ने चेतना की इस रचनात्मक क्रिया को अभिव्यक्ति का नाम दिया है और इस अभिव्यक्ति को अनुभूति से एकाकार माना है। क्रोचे के मत मे कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति का रूप कल्पना है। कौलिंगवुड ने कल्पना को ही कला का स्वरूप माना है। उनके अनुसार कल्पना रूपो के अनुभावन अथवा भावन की दृष्टि है। किसी भी वस्तु अथवा रूप पर हमारी कल्पनात्मक दृष्टि होते ही हमे कलात्मक अनुभूति होती है। कदाचित कौलिंगवुड भी यह मानने को उद्यत न होंगे कि यह दृष्टि अवगति के समान चेतना का निष्क्रिय धर्म है। इस दृष्टि में भी चेतना की सृजनात्मक वृत्ति की प्रेरणा रहती है, अत इस दृष्टि में सृष्टि का भी भाव है। कलात्मक दृष्टि सौन्दर्य का अनुभावन ही नहीं, सृजन भी करती है। कलाकार की दृष्टि ब्रह्म की दृष्टि के समान ही सृजनात्मक है। ब्रह्म के वीक्षित से पच भूतो का उदय होता है और ब्रह्म के स्मित से चराचर की रचना होती है।[५७] त्रिपुर सुन्दरी के दृष्टि के उन्मेष से सृष्टि का उदय होता है।[५८] इसी प्रकार कवि और कलाकार की दृष्टि भी भाव लोकों की विधात्री है। 'कल्पना' का मूल अर्थ ही सृजन है। इसीलिए विश्व विधाता का कल्प तथा विश्व कवि का काव्य है। इस सृजन मे ही सौन्दर्य के साथ-साथ आनन्द का उदय होता है। ब्रह्म का स्मित इस आनन्द के उल्लास का सकेत है। कला और काव्य के सृजनात्मक सौन्दर्य मे मगल और आनन्द दोनो ही समवाय हैं।

कला और काव्य के सामान्य रूप मे सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप साकार होता है। शैव तन्त्रो की सुन्दरी शिव की अभिन्न शक्ति है, अत वह मगलमयी भी है। वह चिन्मयी भी है उसका सृजन उसकी चिद्विभूति का स्वतन्त्र विलास है। स्वतन्त्रता चेतना का लक्षण है। वस्तुत यह स्वतन्त्रता ही मगल का बीज है।

इसलिए शक्ति के सृष्टि काव्य तथा कलाकारों की कृतियों दोनों के सौंदर्य म मगल का अन्वय स्वाभाविक है। आदि शक्ति को तो स्वरूपत स्वतत्र मानना होगा, किन्तु मनुष्य को इस पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव दुर्लभ है। दर्शनो मे मुक्ति के रूप म इसे जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। चैतन्य युक्त होते हुए भी मनुष्यो की स्वतत्रता सीमित रहती है। कवि और कलाकारो की चेतना अधिक प्रबुद्ध होने के कारण अधिक स्वतत्र होती है। फिर भी प्रकृति परिस्थिति एव परम्पराओ के बन्धन उनकी स्वतत्रता को भी सीमित करते हैं। जिस परिमाण म तथा जिस रूप मे कवि की सृजनात्मक स्वतन्त्रता सीमित होती है उसी परिमाण और रूप मे उसकी रचना म सहज शिवत्व मे अशिवत्व के सकर की आशका रहती है। अपने चिन्मय स्वरूप और स्वतत्रता म मनुष्य की आत्मा अनन्त और अपरिच्छिन्न है। अत समता और तादात्म्य उसके सहज भाव हैं। दूसरो की स्वतन्त्रता का पूर्ण समादर एक दृष्टि से आत्मा के गौरव और अपने स्वरूप का ही आदर है। उभयथा स्वतन्त्रता का समादर सामाजिक मगल की दो ध्रुवाएँ हैं। इन दानो का मूल चेतना के स्वरूप म ही है। जिस कवि और कलाकार म इस उभयविधि स्वतन्त्रता का जितना उत्कर्ष है उतना ही शिवम् का समवाय वह अपनी कृतियो म कर सकता है।

इस प्रकार कला और काव्य के स्वरूप में सत्य के साथ शिवम् और सुन्दरम् का भी समन्वय है। चित्रकला सगीत और नृत्य मे ऐन्द्रिक सवेदना की प्रधानता होने के कारण इनका रूप अधिक प्राकृतिक है यद्यपि यह सत्य है कि इनके ऐन्द्रिक माध्यमो के द्वारा भी सास्कृतिक भावो की मार्मिक व्यजना होती है। भाषा की अर्थ और आकृतिमय चित्सम्पत्ति के कारण काव्य म आत्मा की विभूतियो का आधान अधिक सफलता और मार्मिकता के साथ हो सकता है। यही कारण है कि अन्य कलाओ की अपेक्षा काव्य के सम्बन्ध म शिवम् का विवेचन अधिक हुआ है। अन्य कलाओ मे केवल रूप का निर्माण हो सकता है और उसम रूप की प्रधानता भी रही है किन्तु काव्य म रूप का महत्व होते हुए भी अर्थ की महिमा अन्य सब कलाओ की अपेक्षा अधिक है। इसीलिए हमारे काव्य शास्त्रो मे शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य का लक्षण माना गया है। पार्वती परमेश्वर के समान सम्पृक्त वाक् और अर्थ के साहित्य' (सहित भाव) से युक्त काव्य ही सफल और सार्थक है। 'अर्थ' भाषा का चिन्मय तत्व है, अत चेतना के स्वरूप के अनुरूप होने पर ही शब्द के

साथ उसका 'साहित्य' पूर्ण हो सकता है। उभयविध स्वतन्त्रता का सृजनात्मक धर्म चेतना का मंगलमय स्वरूप है। अतः शब्द के साथ अर्थ के साहित्य की पूर्णता ही शिवम् नहीं हो सकती। भारतीय शब्द दर्शन में शब्द के मूल स्वरूप को चिन्मय मानकर अर्थ के साथ उसके साहित्य में शिवम् की सैद्धान्तिक और पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। वैखरी से लेकर मध्यमा, पश्यन्ती और परा के प्रतिलोम क्रम से शब्द क्रमशः अर्थ के चिन्मय स्वरूप से एकाकार हो जाता है। परा के स्वरूप में शब्द और अर्थ एकात्म ही है। शब्द और काव्य के मुखर रूप में इस एकात्मता का जितना सफल निर्वाह होता है उतना ही वह काव्य सफल और सुन्दर होता है। उसका सौन्दर्य शिव की सृजनात्मक शक्ति है। अन्य कलाओं में भी यह सृजनात्मक सौन्दर्य रहता है। उनमें भी अभिव्यक्ति के रूप की चिन्मय भाव के साथ संगति संभव है किन्तु वह सर्वदा आवश्यक नहीं। केवल रूप और आकृतियों की रचना में भाव-तत्व खोजना कठिन है अतः उनमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जितनी सहज होती है, शिवम् का आधान उतना आवश्यक नहीं।

सामान्यतः कलाओं में सृजन और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की प्रधानता होने के कारण पश्चिमी कला शास्त्र में सौन्दर्य का ही विवेचन अधिक हुआ है। पश्चिम के कला शास्त्र का नाम ही 'सौन्दर्य शास्त्र' है। यद्यपि कला के विवेचन को सौन्दर्य शास्त्र का पारिभाषिक नामकरण अठारहवीं शताब्दी में 'बाउमगार्टेन' से प्राप्त हुआ, किन्तु कला और काव्य का विवेचन प्राचीन रीतियों से ही सौन्दर्य के नाम से ही हो रहा है। सौन्दर्य ही कला शास्त्रियों की खोज का मुख्य लक्ष्य रहा है। जिन विचारकों ने नैतिक श्रेय अथवा बौद्धिक सत्य को कला और काव्य का मुख्य लक्षण तथा तत्व माना वे भी उसे सौन्दर्य के नाम से ही पुकारते हैं। ग्रीक के महान दार्शनिक प्लेटो ने नैतिक गुण को ही सौन्दर्य माना। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि कीट्स ने सत्य को सुन्दर बताया। एक और विचारणीय बात यह है कि सौन्दर्य शास्त्र के योरोपीय नामकरण ईस्थैटिक्स के अनुषंग ऐन्द्रिक और संवेदनामय अधिक हैं। महान जर्मन दार्शनिक कान्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ईस्थैटिक का नाम दिया है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में विसंवेदनीयकरण को अनैस्थैटिक कहते हैं। सौन्दर्य शास्त्र का यह नामकरण स्वीकृत हो जाने के बाद भी इसके संवेदनात्मक अनुषंग भाषा के प्रयोग में अवशिष्ट और प्रचलित हैं। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र का अवलोकन करने से इस नाम करण की मान्यता और यथार्थता का

रहस्य विदित हो जाता है। अधिकाश पश्चिमी कला विशारद कला के सौन्दर्य मे सवेदना को अधिक महत्व देते रहे हैं। ऐन्द्रिक रूपो की सवेदना के साथ-साथ उसमे सुख दुख की आन्तरिक वेदना भी सम्मिलित है। किन्तु दोना ही प्राकृतिक सवेदना के रूप हैं। इसकी प्रधानता के कारण आत्मिक अनुभूति और आत्मभाव आदि तत्वो का महत्व पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र म बहुत विलम्ब से समझा गया। विलम्ब से प्रकट होने पर भी उसके प्राचीन सवेदनात्मक अनुषग उसकी सीमा और बाधा बने रहे।

इसके कारण पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र और साहित्य में सम्वेदना का ही प्रभुत्व रहा। हीगेल के अध्यात्मवाद की परम्परा मे जब क्रोचे ने कला का अन्तर्गत स्वरूप उदघाटित किया तो पश्चिमी कला शास्त्र के इतिहास मे एक अद्भुत क्रान्ति उपस्थित हुई। किन्तु इटली की चित्रकला प्रधान सस्कृति के प्रभाव के कारण क्रोचे भी अपने पूर्वजो के सवेदनात्मक सस्कारो से मुक्त न हो सके। इसीलिए एक ओर कला के स्वरूप को आन्तरिक आत्मिक और स्वतन्त्र मानते हुए भी दूसरी ओर उन्होंने उसे कर्ता और विषय दानो की दृष्टि म व्यक्तिगत माना है। व्यक्तिमत्ता आत्मिक चेतना का नहीं, ऐन्द्रिक सवेदना का रूप है। आत्मभाव प्रकृति और सवेदना की व्यक्तिगत सीमाओ का अतिक्रमण करके ही अर्थवान होता है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ, मुख्यत चित्रकला म रूप की सवेदनाओ म ही यह व्यक्तिगत भाव प्रमुख होता है। सुख दुख की आन्तरिक सम्वेदनाओ म भी इस व्यक्तिगत सवेदना का केन्द्र रहता है। चित्रकला इटली की प्रधान कला रही है। दोना के सस्कार क्रोचे के अन्तर्दर्शन की सीमा रहे और इस कारण वे कला के आन्तरिक और आत्मिक तत्वा तक पहुँचकर भी उसे अपने वास्तविक रूप म उद्घाटित न कर सके। आत्मभाव और व्यक्ति केन्द्रता दो विपरीत धारणाएँ हैं। व्यक्ति-केन्द्रता भेद मूलक और अनेक रूप है। आत्मभाव का स्वरूप अद्वैत है। भारतीय वेदान्त मे इस तत्व को बड सहज और सरल सत्य के रूप म समझा गया है। चेतना और अनुभूति का विस्तार आत्मभाव का सामाजिक रूप है। हमारे प्रम-पूर्ण व्यवहारो मे इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। इस सामाजिक आत्मभाव म ही कला के सौन्दर्य और शिवम् की मूल प्रेरणा है। अनुकृति, अभिव्यक्ति, सहानुभूति आदि अनेक रूपो म पश्चिमी कला विशारद इस सामाजिक आत्मभाव की देहली तक पहुँचे किन्तु जिस प्रकार ईसाई धर्म के व्यक्तिवाद की कठिन रूढि

के कारण पश्चिमी अध्यात्मवादी आत्मा के पूर्ण और वास्तविक स्वरूप को स्वीकार करने मे सकोच करते रहे, उसी प्रकार पश्चिमी कला-विशारद धार्मिक दृष्टि के साथ-साथ कला और साहित्य में भी सवेदना की व्यक्ति-सत्ता के दृढ सस्कारो के कारण कला के आन्तरिक स्वरूप का पूर्ण उद्घाटन करने मे असफल रहे। पश्चिमी साहित्य और काव्य मे आत्मभाव के शिवम् के जो कुछ तत्व मिलते हैं वे कला के सिद्धान्तो के कारण नही हैं वरन् पश्चिमी जीवन के उदार और स्वतन्त्र दृष्टिकोण के कारण हैं।

पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र में सवेदना और व्यक्ति-सत्ता की प्रधानता के कारण सुखवाद का आग्रह भी बहुत रहा है। जिस प्रकार एक सवेदना मूलक दृष्टिकोण के कारण एक युग मे आचारशास्त्र मे सुखवाद का प्रभुत्व रहा, उसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र मे इस सुखवाद का प्रभाव बहुत रहा है। कुछ विचारक उस सम्वेदनात्मक सुख को कला के सौन्दर्य का लक्षण ही मानते रहे। जिन्होंने सुख को कलात्मक सौन्दर्य का पूर्ण लक्षण नही माना वे भी सौन्दर्य के साथ सुख के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण मानते रहे। सवेदना का स्वरूप स्वार्थमय होता है। वह व्यक्ति के देह, इन्द्रियो और मन में सीमित रहती है। यह स्वार्थ और व्यक्ति-सत्ता प्रकृति का लक्षण है। अत सम्वेदना प्रकृति-काव्य का ही उपादान बन सकती है। सम्वेदना की भूमि पर रूप और भाव दोनो का महत्व संवेदना के लिए ही है। इन्द्रियाँ इस सवेदना का माध्यम हैं। सम्भवत मन इसका आश्रय है। प्रकृति के गुण इसके उद्दीपन हैं।

यह सवेदना दो प्रकार की होती है। अनुकूल सवेदना को सुख कहते हैं और प्रतिकूल सवेदना को दुख। सुख स्पृहणीय है, दुख का सभी निवारण चाहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार सुख दुख भी आत्मा के गुण हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार तो जीवन की सभी चेष्टायें आत्मा के धर्म हैं। अन्य दर्शन इन्हे जीवात्मा के धर्म कहेंगे। उनके अनुसार आत्मा शुद्ध और निर्विकार चैतन्य है। सवदनाएँ विकार है अत वे आत्मा के धर्म नहीं हो सकती। न्याय-वैशेषिक दर्शन भी इन्हे जीवात्मा के ही धर्म मानते है। उनके अनुसार आत्मा का मूल स्वरूप चैतन्य से भी परे कोई शुद्ध सत्ता है। इस शुद्ध सत्ता मे उदित चैतन्य अथवा आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य की शक्ति से ही मन सम्वेदनाओ के ग्रहण मे समर्थ होता है। अत इतना अवश्य मानना होगा कि आत्मा के स्वरूप

से सवेदनाओ का कोई मौलिक विरोध नही है। जीवन्मुक्ति की अवस्था इसका प्रमाण है। ये सम्वेदनाएँ आत्मा की सीमा और उसका बन्धन नही हो सकती। इतना ही मोक्ष-शास्त्रो का अभीष्ट है। इस सीमा और बन्धन से मुक्त होने पर भी आत्मा का आनन्द स्फुरित होता है। इस आनन्द मे इन्द्रियो की सम्वेदनाओ का सुख भी आनन्द के रस से आप्लावित हो जाता है। आत्मिक आनन्द के साथ सुख की समानता के कारण ही उपनिषदो मे कई स्थानो पर आनन्द के अर्थ मे 'सुख' का प्रयोग हुआ है[२६] (यो वैभूमा तदेव सुख, न अल्पे सुखमस्ति)।

किन्तु यह समानता होते हुए भी सम्वेदनाओ के सुख और आत्मिक आनन्द मे भेद है। सम्वेदना का आधार तो व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूति है। सुख और आनन्द दोनो का ही स्वरूप आन्तरिक अनुभूति है। व्यक्ति को ऐन्द्रिक सम्वेदना के रूप मे एक का और आत्मिक अनुभूति के रूप मे दूसरे का अनुभव होता है। **सुख और आनन्द का भेद उनके केन्द्र में नहीं उनकी परिधि में है।** सुख की व्यापकता व्यक्ति तक सीमित है। इस दृष्टि से ऐन्द्रिक सम्वेदना के सुख का अन्वय व्यक्ति की अनुभूति मे ही सम्भव है। सम्वेदना की भूमि पर हम दूसरे के सुख-दु ख को अपने सुख-दु ख के रूप मे अनुभव नही कर सकते। यह जीवन की प्राकृतिक सीमा है। किन्तु मन और आत्मा के क्षेत्र मे यह सीमा लागू नही है। आत्मा तो स्वरूप से ही अनन्त और सर्वव्यापक है। मन की कल्पना मे भी सम्भवत आत्मा की चेतना का ही विस्तार रहता है। कल्पना और आत्म-भाव के द्वारा हम एक दूसरे के सुख-दु ख को परस्पर बाँट सकते हैं। मनोविज्ञान भी सहानुभूति और समानुभूति के रूप में आन्तरिक भावना की इस व्यापकता को स्वीकार करता है। इस आन्तरिक सम्भावना मे सम्वेदनाओं के सीमित सुख से भिन्न व्यापक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। सुख मे स्वार्थ की प्राकृतिक सीमा होती है, आनन्द मे परार्थ का आत्मिक विस्तार होता है। दोनो के बीच मे भावना अथवा सवेग की एक माध्यमिक कोटि और होती है जिसमे अनुभूति का आश्रय सुख के समान व्यक्तिगत तथा उसका विषय आनन्द के समान व्यापक होता है। वात्सल्य, दाम्पत्य, सख्य आदि के भाव तथा सामाजिक सौहार्द के अन्य रूप इसी के अन्तर्गत हैं। इस माध्यमिक भावना का भाव स्वार्थमय तथा परार्थमय न होकर प्राय पारस्परिक होता है। यह परम्परागत स्वार्थ और परार्थ दोनो का सतुलन है। इसमे अधिक महत्वपूर्ण स्वार्थ का विलय अथवा

विस्तार है। इस विस्तार के कारण परस्परता के माध्यमिक भाव संवेदना के सुख की अपेक्षा आत्मभाव के आनन्द के अधिक निकट है। वस्तुतः आत्मभाव से अनुप्राणित होने पर ही यह माध्यमिक और परस्पर भाव सफल होते हैं।

सुख की कामना मनुष्य में स्वाभाविक है। यह उसका प्राकृतिक धर्म है। आनन्द की आकांक्षा भी उसकी मूल आत्मिक प्रेरणा है, यह मानना ही दार्शनिक दृष्टि से उचित होगा। इस आत्मिक आनन्द का आभास व्यवहार और साधना में पारस्परिक भाव के रूप में ही होता है। अतः इसका अनुराग मनुष्य का सामाजिक धर्म है। मनुष्य के स्वाभाविक धर्म होने के कारण उसके जीवन, संस्कृति और साहित्य में तीनों को ही साधना को स्थान मिला है। प्राकृतिक होने के कारण सुख की कामना सबसे अधिक प्रबल है। इसीलिए अधिकांश कला और काव्य प्रकृति से प्रभावित है तथा उसमें व्यक्ति की सुख कामना अधिक सबल रूप में व्यक्त हुई है। किन्तु दूर और दुर्लभ होते हुए भी आत्मिक आनन्द की आकांक्षा भी मनुष्य को प्रेरित करती रही है। उसके दुःसाध्य होने के कारण पारस्परिक सामाजिक भावना आत्म लोक का सोपान होने के कारण मनुष्य के गौरव और अनुराग का विषय रही है। चाहे प्रकृति और सुख में मनुष्य का अधिक अनुराग हो किन्तु वह अपने आत्मिक लक्ष्य के गौरव को सदा समझता रहा है। इसीलिए उसके संस्कृति और साहित्य में सामाजिक भावों की प्रतिष्ठा सदा रही है। विज्ञान और मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण आधुनिक युग के कला और साहित्य में प्रकृतिवाद की एक प्रबल धारा अवश्य उमड़ चली है, अन्यथा प्राचीन और मध्य युगों में तो सामाजिक भावना का ही मान अधिक रहा है।

संवेदना के स्वार्थमय प्राकृतिक सुख, सामाजिक बन्धन और सौहार्द की पारस्परिक भावना तथा आत्मभाव के आनन्द का कला और सौन्दर्य के साथ क्या सम्बन्ध है? कला और काव्य की व्यवस्था में उनका क्या स्थान है? सौन्दर्य की व्याख्या अनेक रूपों में हुई है। कला और काव्य में उन सभी रूपों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। रूप, अनुभूति और व्यंजना सौन्दर्य के तीन प्रमुख पक्ष हैं। कला और काव्य के इतिहास में तथा कला-शास्त्र में अनेक बार इनमें से किसी पक्ष को लेकर उसी को सौन्दर्य का सर्वस्व मान लेने वाले एकांगी मत भी मिलते हैं। सौन्दर्य को वस्तु का गुण तथा उसके अंगों की व्यवस्था का लक्षण मानने के प्रयास उसे रूप में ही सीमित रखना चाहते हैं। चित्रकला और मूर्तिकला से प्रभावित

प्राचीन ग्रीक सौन्दर्य शास्त्र में इस मत का प्रभाव बहुत रहा है। संवेदना को भी जीवन और कला का केन्द्र मानने वाले अंग्रेजी दर्शन के आधुनिक युग के आरम्भ में सुख की अनुभूति को सौन्दर्य का प्रमुख लक्षण माना। पहिला मत सौन्दर्य की वस्तु-परक व्याख्या है और दूसरा मत उसकी आत्म परक धारणा है। यह स्पष्ट है कि दोनों ही मत एकांगी हैं। अनुभव के अनुपग के बिना हम वस्तुगत सौन्दर्य की चर्चा नहीं कर सकते। इसीलिए वस्तुगत सौन्दर्य अनुभूति के सुख में फलित होता है। इस सुख को कुछ कला शास्त्री सौन्दर्य का स्वरूप और कुछ उसे सौन्दर्य का आवश्यक अंग अथवा सौन्दर्य की अनुभूति का आवश्यक फल मानते रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि सौन्दर्य और सुख का कोई सम्बन्ध अवश्य है। यदि हम सैद्धान्तिक विवेचन को छोड़ दें तो सामान्यतः जिन वस्तुओं को सुन्दर माना जाता है उनसे प्रायः सुख प्राप्त होता है। फूल, चाँदनी, संध्या, उषा, इन्द्रधनुष, सुन्दर बालक, सुन्दर स्त्री आदि को देखकर प्रायः सबके हृदय में हर्ष होता है। जहाँ एक ओर अनुभूति में इस सौन्दर्य का सुख अधिक होता है, वहाँ दूसरी ओर इन वस्तुओं की रूप-गत सुन्दरता को सभी स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि जिन वस्तुओं की सुन्दरता सामान्यतः सर्वमान्य है उनके रूप की व्याख्या में कोई ऐसी व्यवस्था है जो संवेदना के द्वारा हमें सुख देती है। यह सौन्दर्य उसकी वर्ण-योजना, अंग-व्यवस्था, रेखा भंगिमा आदि के कारण सुख का कारण बनता है। अतः यह मानना उचित है कि संवेदना इस सौन्दर्य का विधान नहीं करती, वह केवल इसका ग्रहण करती है। अनुभूति वस्तुगत व्यवस्था पर और सुख सौन्दर्य पर निर्भर करता है। इसके विपरीत जब हमारी मन स्थिति अनुकूल नहीं होती तब हमें इन्हीं वस्तुओं में सुख और सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता। इससे निश्चित है कि किसी सीमा तक सौन्दर्य की भावना सुख की अनुभूति पर निर्भर है। किन्तु यदि यह सौन्दर्य वस्तुगत व्यवस्था का रूप है, तो किसी व्यक्ति की अनुभूति की प्रतिकूलता से उसमें अन्तर नहीं आना चाहिए। अन्य मनुष्यों के तत्काल के अनुभव तथा उसी के अन्य काल के अनुभव इस धारणा का समर्थन करते हैं। एक और तर्क यह है कि इन सुन्दर रूप-व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं से हमें सुखद संवेदना प्राप्त होती है यदि सुख ही सौन्दर्य है तो इन वस्तुओं की संवेदना में भी हमें सौन्दर्य का अनुभव होना चाहिए। किन्तु प्रायः हम ऐसा नहीं मानते। भोजन गन्ध आदि के सुख को हम सौन्दर्य नहीं कहते।

सामान्यतः हम रूप को ही सौन्दर्य का आकार मानते हैं। गन्ध, रस, स्पर्श आदि की संवेदनाओं में सुख का अनुभव होते हुए भी हम सौन्दर्य का व्यवहार नहीं करते। संगीत की शब्द योजना में भी हम सौन्दर्य का प्रयोग गंध, स्पर्श और रस की सम्वेदनाओं के समान अनुकूल वेदनीयता के माधुर्य के अर्थ में ही प्रायः करते हैं।

रूप की संवेदना की एक विशेषता यह है कि वह अनायास होती है। दूसरी विशेषता यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि हमारा रूप-दर्शन रूपवान् वस्तुओं को प्रभावित करे। दर्शन वस्तुओं की स्वतन्त्रता पर कोई आघात नहीं पहुँचाता। तीसरी विशेषता यह है कि हम रूप को वस्तुओं के अन्य गुणों की भाँति आत्मसात् नहीं कर सकते। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि रूप की संवेदना में स्वार्थ का लक्षण सबसे कम रहता है। रूप-दर्शन का हर्ष भी अन्य संवेदनाओं के सुख से भिन्न होता है। स्वार्थ सीमित न होने के कारण वह एक आन्तरिक आह्लाद के रूप में उल्लसित हो उठता है। हम दूसरों के साथ उसे बाँटने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। रूप-दर्शन के आह्लाद के विभाजन और उसकी अभिव्यक्ति में आत्मभाव का उदय होता है। यही संवेदना की भूमि पर सौन्दर्य और आनन्द का वास्तविक स्रोत है। रूप की इसी स्वतन्त्रता तथा साकारता के कारण वह सौन्दर्य का समानार्थक बन गया। रूप-दर्शन की उदारता और निःस्वार्थता (विभाजन और अपरिग्रह) के कारण 'दर्शन' जीवन की सत्य और शुद्ध दृष्टि का वाचक बना। इसके अतिरिक्त दोनों में साक्षात्कार का भी गुण है। रूप दर्शन में सौन्दर्य का और दर्शन में सत्य का साक्षात्कार होता है।

सौन्दर्य की अनुभूति में रूप-दर्शन के तथा कला के दृश्य रूप के महत्व से एक उपयोगी निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि 'सौन्दर्य' सुख का समानार्थक नहीं है। वरन् वह एक वस्तुगत गुण है। क्रोचे के बाद अनुभूति और व्यंजना की कला के क्षेत्र में इतनी व्यापक प्रभुता होगई कि लोग सौन्दर्य के इस स्वतन्त्र और वास्तविक रूप को भूल से गये। यह सत्य है कि स्वतन्त्र और वस्तुगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी अनुभूति में ही होती है। अध्यात्मवादी तर्क के अनुसार यह सौन्दर्य के विषय में ही नहीं सत्य के विषय में भी सत्य है। किन्तु सौन्दर्य अथवा सत्य के इस अनुभूतिमय अनुषंग के कारण दोनों की स्वतंत्र और वास्तविक सत्ता निर्मूल नहीं हो जाती। अध्यात्मवादी दर्शनों में सत्य की आत्म-रूपता का अनुरोध अधिक रहा है। अनुभूति सभी सत्यों का सामान्य सत्य है। इस दृष्टि से हम अनुभूति को सत्य का

अन्तर्तम रूप मान सकते हैं। किन्तु साथ ही सत्य की बाह्य सत्ता की धारणा भी पूर्णतः मिथ्या नहीं है। उसमे सत्य का एक महत्वपूर्ण तत्व निहित है जो हमारे सामान्य विचार और व्यवहार का आधार है। अनुभूति की सुन्दरता का अनुभव हमें बहुत कम होता है। क्रोचे के रहस्योद्घाटन के बाद भी साधारणतः लोग सौन्दर्य का अनुभव एक बाह्य सत्ता के रूप मे करते हैं। हमारे व्यवहार का यह रूप जीवन का एक साधारण सत्य है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बौद्धो की अनादिवासना तथा शंकराचार्य की माया जीवन के साधारण सत्य की सतोष-जनक व्याख्याएं नहीं हैं। बौद्धो की वासना का तर्क तो अनवस्था के दोष से ग्रस्त है। माया की विक्षेप-शक्ति इस साधारण सत्य के एक महत्वपूर्ण मर्म का उद्घाटन अवश्य करती है। माया ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म चिन्मय, प्रज्ञानघन और आत्म स्वरूप है। माया की विक्षेप शक्ति के द्वारा इस चिन्मय ब्रह्म का बाह्य जगत् के रूप मे विवर्त्त होता है। अद्वैत वेदान्त मे विक्षेप की इस सृष्टि को मिथ्या माना गया है। वैष्णव वेदान्तो मे इसे मिथ्या नही मानते। माया ब्रह्म की विभूति है, इसी गौरव के द्वारा वह सगुण परमेश्वर की चिरसंगिनी के पद पर आरूढ हुई। लक्ष्मी, सीता, राधा और रुक्मिणी उसी माया शक्ति की सुन्दर और साकार मूर्तियाँ हैं। शक्ति तत्रो मे शक्ति को शिव से अभिन्न माना है। 'शक्ति' शिव का स्वरूप और उसका स्वभाव है। विश्व का विक्षेप इस स्वभाव का ही विलास है। स्वभाव से प्रसूत होने के कारण जगत् मिथ्या नही है। जगत् के रूप मे शिव के स्वभाव का अन्तर्गत सत्य ही साकार होता है। अद्वैत वेदान्त मे भी सम्भवतः प्रचलित अर्थ में जगत् के मिथ्यात्व की धारणा उत्तरकाल में ही आरूढ हुई है। गौडपाद की कारिका मे शाक्त सम्प्रदाय के अनुरूप ब्रह्म के स्वभाव का सकेत मिलता है (देवस्यैप स्वभावोय आप्तकामस्य का स्पृहा)। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म की अविकार्यता ही मूल सिद्धान्त है। परिणामवाद के दोष से बचने के लिए ही विवर्त-वाद का विकास हुआ और इसी दोष की आशकाओं से जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त मे रूढ हुआ। ब्रह्म की अविकार्यता वेदान्त और शैव मत का समान सिद्धान्त है। शंकराचार्य की 'सौन्दर्य लहरी' और उसमें सुन्दरी का 'परम ब्रह्म महिषी' पद इस समानता का समर्थन करता है। उपनिषदों में 'पराचि खानि' के द्वारा हमारे ज्ञान और दृष्टि की बहिर्मुखता की व्याख्या यद्यपि इन्द्रियों के स्वभाव के आधार पर की गई है, किन्तु 'व्यतृणत स्वयम्भू' में इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति का मूल स्वयम्भू ब्रह्म के स्वभाव और कर्तृत्व में मिलता है।

इन दार्शनिक व्याख्याओं का आशय यही है, कि एक ओर जहाँ आत्मा की मूल वृत्ति अन्तर्मुखी है, वहाँ दूसरी ओर बहिर्मुखी वृत्ति भी इसके स्वभाव के विपरीत नहीं है। बाह्य जगत् में तथा बहिर्मुखी सत्ताओं के अनुभव में चेतना का बहिर्मुख विक्षेप होता है। यह स्वाभाविक है, अतः आत्मा के प्रतिकूल नहीं। इसी बहिर्मुख विक्षेप के स्वभाव के कारण हम सौन्दर्य और सत्य की बाह्य सत्ता का व्यवहार करते हैं। इस विक्षेप के आधार पर ही व्यवहार में साधारणता की संगति सम्भव होती है। यह संगति केवल प्राकृतिक जीवन अथवा व्यापार में ही अपेक्षित नहीं है, विचार और कलानुभूति के सांस्कृतिक क्षेत्र में भी इसकी अपेक्षा होती है। सत्य और सौन्दर्य की स्वतन्त्र सत्ता होने के कारण ही साधारणता का व्यवहार सम्भव होता है। पदार्थों और सिद्धान्तों का यह स्वतन्त्र और साधारण रूप ही कला के साथ विज्ञान और दर्शन की सन्धि का सूत्र है। इस दार्शनिक आधार के अतिरिक्त सौन्दर्य और सत्य की स्वतन्त्र और बाह्य सत्ता का आधार हमारे लौकिक जीवन का एक साधारण सत्य है। सामान्य व्यवहार में हम बाह्य विषयों में ही सौन्दर्य का व्यवहार अधिक करते हैं। यह वस्तुओं पर भावना अथवा अनुभूति का आरोपण नहीं है। इतना अवश्य है कि भावना अथवा अनुभूति के साथ संगति में ही यह सौन्दर्य स्फुटित होता है। किन्तु अनुभूति से अभिन्न होते हुए भी इस सौन्दर्य की एक स्वतन्त्र सत्ता है। अनुभूति के पक्ष का समर्थन करने वाले लैला मजनू तथा माता पिता के उदाहरणों से यह संकेत करते हैं कि सौन्दर्य वस्तु का गुण नहीं वरन् भावना का लक्षण है। इसी भावना को कल्पना का नाम देकर कौलिंगवुड ने यह प्रमाणित किया है कि हम कल्पना के द्वारा किसी भी वस्तु में सौन्दर्य देख सकते हैं और देखते हैं। कल्पना पूर्वक जिस वस्तु की ओर भी हम देखते हैं, वही हमें सुन्दर प्रतीत होती है। इस तर्क का मुख्य उद्देश्य तो सौन्दर्य की चेतना-मूलकता सिद्ध करना ही है। किन्तु क्या इसके साथ ही यह सौन्दर्य की वस्तु मूलकता भी सिद्ध नहीं करता ? यदि कल्पना पूर्वक देखने से प्रत्येक वस्तु सुन्दर दिखाई देती है तो यही मानना होगा कि प्रत्येक वस्तु के रूप में सौन्दर्य अन्तर्निहित है। सौन्दर्याभिमुखी कल्पना के द्वारा उस सौन्दर्य का उद्घाटन और अनुभावन होता है। एक विचारणीय बात यह है कि जहाँ वस्तुओं के सभी रूप सौन्दर्य-प्रदर्शन में समर्थ हैं, वहाँ चेतना के सब रूप सौन्दर्य के उद्घाटन में समर्थ नहीं। चेतना के वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टिकोण सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं करते। कलाभिमुख चेतना ही

सौन्दर्य का उद्घाटन करती है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह वस्तुओं पर सौन्दर्य का आरोपण करती है। यदि सौन्दर्य अनुभूति का ही स्वरूप है तो वस्तुओं के अभाव में निर्विकल्प चेतना में भी सम्भव हो सकता है। एक तो यह निर्विकल्प चेतना ही बहुत दुर्लभ है दूसरे सम्भव होने पर भी इसमें सौन्दर्य की अनुभूति होगी यह असंदिग्ध है। दर्शनों में प्राय निर्विकल्प चेतना की अवस्था में आनन्द का ही उद्रेक माना जाता है। शैवतन्त्रों में ही चिदशक्ति को सुन्दरी भी माना है। शक्ति का विमर्श होने के कारण सम्पूर्ण जगत सौन्दर्य का ही विलास है। इस दृष्टि से भी सौन्दर्य समस्त वस्तुओं में व्याप्त है। कलात्मक कल्पना इसी का उद्घाटन करती है।

जहाँ निर्विकल्प चेतना का सौन्दर्य दुर्लभ है वहाँ वस्तुओं में सौन्दर्य की धारणा अत्यन्त साधारण है। जगत की अनेक वस्तुएँ (जिनमें प्राकृतिक वस्तुओं की प्रधानता है) अनादि काल से सुन्दर मानी जाती रही हैं। सभी उनमें सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। आकाश, निर्झर पुष्प, सूर्य चन्द्र उषा, सन्ध्या, इन्द्रधनुष अनेक पशु अनेक पक्षी, अनेक फल आदि में समाज सदा से सौन्दर्य देखता आया है। इनकी सुन्दरता के विषय में अधिक मत-भेद भी नहीं है। इनका सौन्दर्य साधारण मत से स्वीकृत सौन्दर्य है। वह व्यक्ति की भावना पर निर्भर नहीं करता। दुःखी वियोगियों को भी चन्द्रमा सुन्दर ही प्रतीत होता है। वियोगिनी का रक्त पीकर रक्त मुख प्रतीत होने वाली प्राची कवियों की उत्प्रेक्षा है। वस्तुतः वियोगियों के लिए भी उषा का सौन्दर्य कम न होता होगा। दुःख में भी वस्तुओं के सौन्दर्य का अक्षुण्ण बना रहना सौन्दर्य की वस्तुगत और स्वतन्त्र सत्ता का समर्थ प्रमाण है। यह स्थिति इस मत का भी बड़ी तीव्रता से खण्डन करती है कि सुख सौन्दर्य का स्वरूप है। अनुभूति का सौन्दर्य से सम्बन्ध अवश्य है किन्तु उस अनुभूति को भावना अथवा वेदना की अपेक्षा अवगति के निकट मानना अधिक उचित है। अवगति चेतना का ग्रहणात्मक रूप है। बाह्य सौन्दर्य के दर्शन में अवगति की ही क्रिया प्रमुख रहती है। अवगति आलोक के समान विधान की अपेक्षा उद्घाटन अधिक करती है। इस अवगति में स्फुटित होने वाला सौन्दर्य वास्तविक और स्वतन्त्र सौन्दर्य ही है। हम इसे सत्य के समकक्ष मान सकते हैं। ज्ञात नहीं कि अंग्रेजी कवि कीट्स ने किस अर्थ में सौन्दर्य को सत्य कहा था किन्तु कवि के इस कथन में सौन्दर्य की स्वतन्त्र और वस्तुगत सत्ता का एक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है।

कौलिंगवुड की कल्पना भावनात्मक अनुभूति की अपेक्षा अवगति के अधिक निकट है। केवल एक महत्वपूर्ण अन्तर है कि जहाँ वस्तुगत सौन्दर्य के दर्शन मे अवगति सक्रिय नहीं तो परतन्त्र अवश्य प्रतीत होती है, वहाँ कौलिंगवुड की कलात्मक कल्पना स्वच्छन्द है। इसीलिए वस्तुओ की सत्ता के अनुपग को सत्य असत्य की कोटि से उठा कर उसे आत्मसात् कर लेना आवश्यक है।

क्रोचे के मत मे भी कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप पूर्णत आत्मगत है। सौन्दर्य की अनुभूति मे चेतना स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विषयो का सृजन करती है। यह स्पष्ट है कि यह सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति है जिसम वाह्य विषयो की परतन्त्रता का प्रसग नही है। इसे चेतना की निर्विकल्प अवस्था कह सकते हैं। क्रोचे इसे सौन्दर्यानुभूति और कलात्मक चेतना का मौलिक रूप मानते हैं। आदिम जातियो और बालको के जीवन मे कला का उदय इसी रूप म होता है। इस कलात्मक अनुभूति को क्रोचे ने अभिव्यक्ति के साथ एकाकार माना है। किन्तु यह केवल आन्तरिक अभिव्यक्ति है, वाह्य उपकरणो के माध्यम मे साकार होने वाली वाह्य अभिव्यक्ति नही। क्रोचे के मत मे सौन्दर्य की कलात्मक कल्पना अपने आन्तरिक रूप मे ही पूर्ण है। वाह्य अभिव्यक्ति एक उपचार मात्र है। वह न आन्तरिक अनुभूति को आकार देने मे समर्थ है और न कलाकार के सृजनात्मक कृतित्व की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

कला और सौन्दर्य के इस आत्मगत मत मे वाह्य विषयो, व्यक्तियो, माध्यमो और कला की वाह्य अभिव्यक्तियो का महत्व कुछ भी नही रहता। इनके साथ इस आत्मगत मत की समुचित सगति भी नही है। जीवन का व्यवहार और कलाओं का मूर्त्त रूप इनके महत्व को प्रमाणित करता है। यदि आन्तरिक अनुभूति मे ही कला का सौन्दर्य पूर्ण है तो असख्य कलाकारो ने वाह्य माध्यमो के द्वारा उसे रूप देने का प्रयत्न क्यों किया है ? हम अपनी सौन्दर्यानुभूति को दूसरो को बाँटने के लिए क्यो उत्सुक रहते हैं ? कलाकृतियो की वाह्य अभिव्यक्तियाँ हमारी रुचि का आधार कैसे बनती हैं ? कौलिंगवुड का यह कथन कि वाह्य अभिव्यक्ति कलाकार के लिए उपचार मात्र है, सतोपजनक नहीं है। स्वय कलाकार अपनी कृतियो को उपचार से अधिक महत्व देते हैं। उनका विश्वास होता है कि वे कृतियाँ यथा सम्भव उनकी कलानुभूति को साकार बनाती हैं। यह सत्य है कि वाह्य आकार

आन्तरिक अनुभूति का निमित्त मात्र है। यह निमित्त कलात्मक अनुभूति के जागरण का आधार बनता है। किसी सीमा तक कौलिगवुड की यह धारणा सत्य है। किन्तु माध्यम और अनुभूति की संगति तथा माध्यम की सामर्थ्य के बिना यह कैसे सम्भव है ? यदि बाह्य माध्यम और अभिव्यक्ति का कोई महत्व है तो कला व्यक्ति की एकान्तिक अनुभूति का विषय नहीं वरन् मनुष्य के सामाजिक व्यवहार की विभूति है। एकान्तिक और व्यक्तिगत अनुभूति मे जिस कलात्मक सौन्दर्य का सृजन होता है उसका प्रमाण तो केवल व्यक्ति ही है। किन्तु सामान्यत सौन्दर्य और कला दोनो हमारे सामाजिक व्यवहार की विभूतियाँ हैं। जिस एकान्त मे हम प्राय कला और सौन्दर्य का आनन्द लेते हैं उसमे बाह्य दृष्टि से अकेले होते हुए भी हम मन से अकेले नही होते। कल्पना के द्वारा हम अन्य वस्तुओ और व्यक्तियो के साथ साहचर्य स्थापित करते हैं। काव्य और कला की असख्य कृतियाँ कलाकारो के इस कल्पनात्मक साहचर्य और समात्मभाव को प्रमाणित करती हैं। बालकों और उससे भी अधिक स्पष्टत आदिम जातियो, के जीवन मे कला का यही सामाजिक रूप अधिक मिलता है। सामाजिक सम्पर्क में समात्मभाव की स्थापना होने पर सौन्दर्य का भाव उदित होता है। यह समात्मभाव ही सौन्दर्य और कला का आन्तरिक स्रोत है।

समात्मभाव मूलतः चेतना का आन्तरिक भाव है, किन्तु बाह्यता, अनेकता आदि से उसकी समुचित संगति है। वस्तुतः इनकी भूमिका में ही समात्मभाव उदित होता है। समात्मभाव मे उदित होने वाला सौन्दर्य ही जीवन के व्यवहार, कला की बाह्य अभिव्यक्ति और सौन्दर्य की साधारण धारणा के साथ सगत है। क्रोचे की आन्तरिक अनुभूति एक ऐसी असाधारण अवस्था है जो विरले ही कला-साधको को अल्पकाल के लिए प्राप्त हो सकती है। किन्तु कला और सौन्दर्य जीवन की कही अधिक व्यापक और साधारण स्थितियाँ हैं। साथ ही सौन्दर्य की अनुभूति ऐसी क्षणिक नही है जैसी कि क्रोचे के मत मे होगी। यह अनुचित नहीं है कि हम वस्तुओ और भावो मे एक स्थायी रूप मे सौन्दर्य का अनुभावन करते हैं। बाह्यता और अनेकता की भूमिका मे ही सौन्दर्य की सृजनात्मक वृत्ति व्याप्त होती है। कला और सौन्दर्य का स्वरूप सृजनात्मक है, अनुकरणात्मक नहीं। अनुकरण भी सृजन का ही एक रूप है। यह सृजन चेतना का स्वतन्त्र रूप-विधान है। कलात्मक चेतना के सृजनात्मक रूप का उद्घाटन क्रोचे की एक महत्वपूर्ण देन है। किन्तु इस सृजन

को पूर्णत स्वतन्त्र बनाने के लिए नीचे ने कला को पूर्णत आत्मगत बना दिया। कलात्मक अनुभूति म चेतना स्वतन्त्र रूप से अपने विषयो का सृजन करती है। वाह्य विषयो को स्वीकार करने पर चेतना की सृजनात्मक स्वतन्त्रता मे वाधा पडती है। यह वाधा सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता न मानने पर कठिन प्रतीत होती है। वस्तुत सौन्दर्य चेतना का भाव होते हुए भी एक वस्तुगत रूप है। वस्तुओ मे हम सौन्दर्य का विक्षेप करत है वह मिथ्या नही है। वस्तुओ, विषयो, माध्यमो आदि के उप-करणो से ही चतना वाह्य और व्यवहार्य रूप मे सौन्दर्य के भाव को साकार वनाती है। सौन्दर्य के इस रूप विधान मे ही चेतना का सृजनात्मक धर्म कृतार्थ होता है। वाह्य उपकरणो के साथ चेतना की सृजनात्मक वृत्ति का कोई मौलिक विरोध नही है। प्रकृति म हम सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। चित्र, मूर्ति, काव्य, गीत आदि मे हम सौन्दर्य को साकार करते हैं। ये सब सौन्दर्य के दर्शन सृजन और व्यवहार की वे परिस्थितियाँ हैं जो वाह्य उपकरणो के अनुपग मे ही सम्भव हैं तथा सामाजिक समात्मभाव मे ही सार्थक हैं। जिन उपकरणो के रूप म वस्तुगत सौन्दर्य अधिक होता है उनमे चेतना की सृजनात्मक क्रिया कम अपेक्षित होती है। प्रकृति का सौन्दर्य तथा अन्य वस्तुओ और व्यक्तियो का सौन्दर्य इसी श्रेणी म है। कलाओ में सौन्दर्य का अधिक सक्रिय रूप साकार होता है। चित्रकला, काव्य, सगीत आदि मे चतना सौन्दर्य का अधिक सक्रिय सृजन करती है। किन्तु इन कलाओ का सौन्दर्य एकान्त और आत्मगत नहीं है एकाधिक व्यक्तियो के साहचर्य सम्प्रेषण और समात्मभाव में ही जीवन की यह सजीव और स्थायी सौन्दर्य साधना सम्भव होती है तथा वाह्य माध्यमो के उपकरणो में ही वह साकार होती है।

चेतना की सृजनात्मक वृत्ति समात्मभाव मे ही सक्रिय तथा वाह्य उपकरणों के माध्यमो मे ही सफल होती है। माध्यमो के भेद से कलाओ के अनेक भेद हैं। कला के माध्यमो का रूप विशेषत ऐन्द्रिक है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ के उपकरणों मे ही कला का सौन्दर्य साकार होता है। मनुष्य की इन्द्रियो मे आँख और कान दो का ही अधिक विकास हुआ है। इन दोनो की वनावट भी जटिल है। ये दोनों दूरस्थ और साकार रूपो का ग्रहण करती हैं। इनम आँख द्वारा ग्राह्य रूप का आकार अधिक स्पष्ट है। दृश्य रूपो म रगो के उद्भव के कारण ये और भी अधिक रमणीय वन गये हैं। इन रगो के अनेक सूक्ष्म भेदो को आँख वडी वारीकी के साथ ग्रहण करती है। दृश्य रूप की तुलना मे शब्द को नीरूप कहा जाता है।

शब्द मे दृश्य रूप तो नही है, किन्तु एक व्यापक अर्थ मे स्वर-योजना के आधार को शब्द का 'रूप' कह सकते हैं। दृश्य रूप के रगों की भाँति शब्द के भी बहुत सूक्ष्म भेद होते हैं। हमारे कान इन भेदो को बडी बारीकी के साथ ग्रहण करने में समर्थ हैं। अन्य इन्द्रियो की सम्वेदना मे अनुकूल वेदनीयता की प्रियता अवश्य है, किन्तु उनमे कलात्मक सौन्दर्य के रूप का विकास नही है। घ्राण की इन्द्रिय अत्यन्त प्राचीन और सूक्ष्म है, किन्तु वह शीघ्र थक जाती है। उसकी ग्रहण-शक्ति सूक्ष्म और दूरग्राही होने पर भी उसकी धारण शक्ति मन्द है। सभ्यता के विकास के साथ इसकी घ्राण शक्ति भी मन्द होती गई है। स्वाद और स्पर्श की इन्द्रियाँ निकट-ग्राहिणी हैं तथा उनका सम्बन्ध मुख्यत अनुकूल-वेदनीयता से ही है। इनमे न कलात्मक सौन्दर्य की भावना के लिए अपेक्षित दूरी है और न धारणा है तथा न इनके विशेष विषयो मे कलात्मक सौन्दर्य का रूप ही विकसित हुआ है। अस्तु आँख और कान इन्ही दो इन्द्रियों के विषयो म कला के अनुभावन के लिए अपेक्षित दूरी तथा रूपवत्ता है और इन्ही दो इन्द्रियो मे सौन्दर्य की रूप योजना के ग्रहण तथा धारण की क्षमता विकसित हुई है। इन्ही दो इन्द्रियो के विषय म सौन्दर्य की समृद्ध रूप-योजनाओ के योग्य सम्पन्न विविधता है। यही कारण है कि इन्ही दो इन्द्रियो के आधार पर मुख्यत कलाओ का विकास हुआ है।

चित्रकला और मूर्तिकला उन कलाओ मे मुख्य हैं जिनका विषय दृश्य रूप है। सगीत का विषय शब्द है। दृश्य रूप और शब्द के माध्यमो म कुछ स्वाभाविक भेद है। दृश्य रूप दिङ्मय विस्तार है, शब्द एक काल-क्रम-गत परम्परा है। दृश्य रूप साक्षात्, स्पष्ट और स्थिर होता है। हम कितने ही काल तक उसे देख सकते हैं, क्योकि काल से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नही है। चाहे चेतना की प्रकाश-रूपता के कारण हो और चाहे मस्तिष्क के सत्व-प्रधान तत्व के प्रकाशानुरूप होने के कारण हो, आँख इन्द्रियो म विशेष महत्वपूर्ण है। इसीलिए अक्ष पद इन्द्रिय का समानार्थक है। वस्तुत दृश्य रूप ही विश्व का रूप है। नयनो के दर्शन द्वारा ही यह विश्व के रूप कृतार्थ होते हैं तथा विश्व के साथ मनुष्य का सम्पर्क स्थापित होता है। "आँख हैं तो जहान है" की कहावत जीवन के एक महान सत्य का सकेत करती है। विश्व के दृश्य रूपो की भाँति विश्व के शब्द-रूपो मे सामान्यत कोई विशेष आकर्षण नही है। कोयल बुलबुल आदि थोडे से ही पक्षियों का शब्द श्रवण-मधुर होता है। उस शब्द मे भी केवल माधुर्य है, कोई कलात्मक योजना नही है।

सगीत की दृष्टि से कुछ पक्षी एक ही स्वर बोलते हैं, जो एक स्वरता के कारण अधिक कलात्मक नही कहा जा सकता। कलात्मक दृष्टि से जो सौन्दर्यमयी स्वर-योजनाएँ कही जाती हैं, वे मुख्यत मनुष्य की रचनाएँ हैं। इस दृष्टि से सगीत का सौन्दर्य प्रधानत मनुष्य की सृष्टि है, शब्द और स्वर के क्षत्र म प्राकृतिक सौन्दर्य नाम की वस्तु बहुत कम है। **यदि कला सृजनात्मक सौन्दर्य है तो सगीत पूर्णत सृजनात्मक है।** इसकी रूप योजना का कोई आधार प्रकृति मे नही है। केवल स्वर की इकाइयो की सम्भावना मुक्त आकाश मे है, किन्तु सौन्दर्यमयी रूप-योजनाओ की रचना मनुष्य अपनी सृजनात्मक कला-वृत्ति के द्वारा करता है। इसके विपरीत चित्रकला की रूप योजनाओ का बहुत कुछ आधार प्रकृति मे है। प्रकृति के रूपो के तद्रूप अकन का चित्रकला मे बहुत महत्व है। सम्भवत इसी आधार पर कुछ विचारक अनुकरण को कला की परिभाषा मानते रहे। इसमे सदेह नही कि कला का स्वरूप अनुकरण नही, रचना है। कला सृजन है और इस दृष्टि से चित्रकला भी सृजनात्मक है। चित्र के रूपो का कुछ प्रकृति मे आधार मिल सकता है, किन्तु चित्र की योजना रचना ही है। भावचित्रो मे यह रचनात्मकता अधिक होती है। **सगीत पूर्णत रचनात्मक ही है, उसकी स्वर योजनाओ का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है।** कला को अनुकरण मानने वाली परिभाषाएँ सगीत की कसौटी पर आकर ही खण्डित होती हैं। यहा यह उल्लेखनीय है कि चित्रकला मे वाह्य और प्राकृतिक रूपो का आधार तथा यथार्थ अकन का महत्व कला के वस्तु-गत आधार के पक्ष को प्रमाणित करता है तथा कला की पूर्णत आत्मगत परिभाषाओ की एकागिकता को उद्घाटित करता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि चित्रकला की रूप-योजना एक दिङ्मय विस्तार है तथा सगीत की स्वर योजना एक कालक्रमगत परम्परा है। काल से सम्बद्ध न होने के कारण चित्र की रूप-योजना मे एक स्थिरता है। इस स्थिरता के कारण अथवा मस्तिष्क के साथ रूप की सहज सगति होने के कारण मस्तिष्क मे चित्र की धारणा अधिक स्थायी होती है तथा उसका स्मरण भी अधिक सरलता और सजीवता पूर्वक सम्भव है। इसके विपरीत काल क्रम गत होने के कारण शब्द नश्वर है। चाहे सगीत का तात्कालिक प्रभाव कितना ही तीव्र हो, किन्तु उसकी धारणा मे स्थिरता नही होती और सगीत के स्वर तथा उसकी स्वर योजना का स्मरण अत्यन्त कठिन है। एक ओर शब्द दृश्य रूप की अपेक्षा सूक्ष्म, सम्पन्न, स्वतन्त्र और मर्मस्पर्शी

माध्यम है, दूसरी ओर वह नश्वर और दु स्मरणीय है ।– जहाँ साधारण जनता मे रूप-योजना का सहज बोध अत्यन्त सीमित है तथा लोक जीवन मे चित्रकला का विकास बहुत कम हुआ है, वहाँ सगीत का सहज बोध साधारण जनो मे बहुत है और लोक-जीवन मे सगीत का विकास बहुत हुआ है। नश्वर होते हुए भी लोक-जीवन की परम्परा मे सगीत की अपार निधियां सुरक्षित हैं। इसका कारण सगीत की स्वर योजना मे भाव का सयोग है। सगीत का शुद्ध स्वरूप केवल रूपात्मक स्वर-योजना है, जो वाद्य सगीत तथा उस्तादो के आलापो मे ही मिलती हैं। किन्तु सगीत का यह शुद्ध रूप न अधिक समृद्ध हो सका और न अधिक लोकप्रिय हो सका। शास्त्रीय सगीत में जहाँ यह समृद्ध हुआ, वहाँ भी शब्द म भाव और अर्थ का सहयोग उसका आधार है। अर्थ से सयुक्त होकर स्वरो का शब्द-रूप तत्व पूर्ण हो जाता है। शब्दो का यह अर्थ चिन्मय तत्व है। चिन्मय तत्व होने के कारण चेतना के साथ उसकी एकात्मता है। इस एकात्मता के कारण ही अर्थ की धारणा मस्तिष्क मे रूप से भी अधिक स्थायी होती है। काल से सम्बद्ध न होने के कारण चित्र का रूप जीवन के एक क्षण को अकित करता है। अनेक चित्रो मे अकित अनेक क्षणो मे कोई क्रम-सगति न होने क कारण इन क्षणो की इकाइयो की कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं बन पाती। इसके विपरीत शब्द के कालक्रमगत होने के कारण शब्द परम्परा मे अर्थ तत्व की एक परम्परा मस्तिष्क मे अकित होती है। अर्थ की धारणा के स्थायित्व के कारण यह परम्परा निरन्तर सम्पन्न होती रहती है। आगामी परम्पराएँ पूर्व परम्पराओ से मिलकर उन्हे समृद्ध बनाती हैं। अर्थ परम्परा की यह समृद्धि स्थायित्व को और बढाती है। सम्भवत अर्थ की यह चिन्मय परम्परा चेतना के पूर्वापर स्वरूप के अधिक अनुरूप है। इसीलिए चेतना में इसका ग्रहण और धारण सहज होता है। चेतना का यौगपद्य इस धारणा के स्थायित्व को और स्थिर करता है। अर्थ-परम्पराओ से सयुक्त होकर 'शब्द' कला का अधिक समर्थ और समृद्ध माध्यम बन गया है। अर्थ की इसी महिमा के कारण सगीत की शुद्ध स्वर-योजना मे प्राय सार्थक शब्दो का सगम है। शास्त्रीय सगीत मे शब्द अल्प और स्वर योजना अधिक है, किन्तु लोक-सगीत मे दोनो का सतुलन और सामजस्य है।

लोक-सगीत का यह रूप काव्य के अत्यन्त निकट है। काव्य का प्राचीन रूप लोक-सगीत ही है। वेदों के मत्र कुल-परम्पराओं में सुरक्षित हमारे प्राचीन लोक

गीत ही हैं। नृत्य में संगीत की लय चित्रकला की रूप-वत्ता और मूर्तिकला की साकारता का समन्वय है। जिस प्रकार संगीत का शुद्ध रूप शुद्ध स्वर-योजना है, उसी प्रकार नृत्य का शुद्ध रूप अंगों की गति की लय है। शुद्ध संगीत की भांति शुद्ध नृत्य का विकास भी केवल शास्त्रीय और स्वल्प है। सामान्यतः गति और लय के रूपों मे भाव-तत्व के समन्वय पूर्वक ही संगीत और नृत्य का विकास हुआ है। प्राचीन लोक-पर्वो मे रूप मे चित्रकला, संगीत, नृत्य और काव्य का संगम मिलता है।

लोक-कलाओं और लोक-पर्वों मे विविध कलाओ का संगम होने के साथ-साथ सामाजिक भावना ओतप्रोत है। उनका रूप ही सामूहिक है। समात्मभाव और सम्प्रेषण उनकी प्रेरणा और स्थिति है। सार्थक शब्द इन समात्मभाव और सम्प्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम है। इसीलिए सम्भवत मनुष्य के विकास मे चेतना के उत्कर्ष के साथ भाषा का भी उद्‌भव हुआ। भाषा पूर्णत सामाजिक यंत्र है। एकान्त में पलने वाले को भाषा का ज्ञान अन्य सहज वृत्तियों की भांति स्वभावत विकसित नहीं होता। समाज मे ही और समाज के अनुरूप ही बालक भाषा सीखते हैं। समाज मे ही भाषा की उत्पत्ति और उसका उपयोग है। सामाजिक जीवन का स्वरूप समात्मभाव और सम्प्रेषण है। वस्तुत यही मनुष्यता का भी स्वरूप है। समाज से अलग पलने वाले बालक में भाषा ही नहीं अन्य मानवीय वृत्तियां भी विकसित नहीं होती। वस्तुतः मानवीय सस्कृति का समस्त रूप सामाजिक स्थिति के समात्मभाव और सम्प्रेषण से प्रेरित तथा पोषित है। सार्थक शब्द समात्मभाव और सम्प्रेषण का समर्थ और सम्पन्न माध्यम है। समात्मभाव चेतना की वह स्थिति है जिसमे दो या अधिक चेतना के बिन्दु एक ही भाव से स्पन्दित होते हैं तथा अपने व्यक्तित्व के केन्द्र मे रहते हुए भी भावना की परिधियों के द्वारा एक दूसरे को आलिंगन करने का प्रयास करते हैं। चेतनाओं के सम-भाव और सामजस्य के कारण समात्मभाव की स्थिति मे एकात्मभाव भी उत्पन्न होता है, यदि हम एकात्मभाव का अर्थ व्यक्तियों का विलय नही समझें। सम्प्रेषण इस समात्मभाव का सूत्र है। वस्तुत. सम्प्रेषण के ही द्वारा समात्मभाव स्थापित होता है। सम्भवत. चेतना की मूल एकात्मता के कारण चेतना के शुद्ध भावों में भी सम्प्रेषण की क्षमता है। किन्तु सामान्यत यह सम्प्रेषण किसी न किसी माध्यम के द्वारा ही होता है। आँख और मुख मे भावो के सम्प्रेषण की अपूर्व क्षमता है। शब्द की शक्ति तो इस

दिशा में अद्भुत है। आँख, मुख और अंगों की मुद्राओं और भंगिमाओं के सम्प्रेषण में सजीवता अधिक है, किन्तु शब्द के सम्प्रेषण में सम्पन्नता और व्यापकता की सामर्थ्य अधिक है। मस्तिष्क की धारणाओं में अर्थपरम्पराओं के और लिपि के रूप में संस्कृति की परम्पराओं के स्थायित्व का आधार बनकर शब्द मानवीय जीवन की अद्भुत विभूति बन गया है।

मुखर माध्यम के रूप में शब्द भी एक ऐन्द्रिक सम्वेदना है। किन्तु भाषा के विकास की परम्परा में शब्द अर्थों के निमित्त बन गये हैं। उनका मुखर अथवा ऐन्द्रिक रूप एक संकेत मात्र है जो अर्थों और भावों के अभिप्राय को व्यंजित करता है। इस अर्थ व्यंजना के द्वारा ही शब्द सम्प्रेषण का सूत्र तथा समात्मभाव का आधार है। आदिम काल से ही सामाजिक सम्प्रेषण के प्रसंग में ही सार्थक शब्द की भाषा का विकास हुआ है। सम्प्रेषण की सम्भावना और स्थिति में ही सार्थक शब्द का अस्तित्व और उसकी सार्थकता है। अन्य कला के माध्यमों के एकाकी प्रयोग की कल्पना भी की जा सकती है किन्तु शब्द के एकाकी प्रयोग की कल्पना ही असंगत है। चित्रकला, मूर्तिकला और नृत्य कला के माध्यमों का एकाकी प्रयोग संभव है। मन और कल्पना से भी एकाकी होने पर कला की संभावना हो सकती है या नहीं यह एक दूसरा प्रश्न है। संगीत में शब्द का एकाकी प्रयोग प्रायः दिखाई देता है। यह भी कह सकते हैं कि अकेले होने पर लोग प्रायः गुनगुनाने लगते हैं। किन्तु इसका कारण यह नहीं कि अकेले में भाव की तन्मयता सुगम होने पर कला का उदय हो जाता है। सम्भावना यह दिखाई देती है कि अकेला होने पर मनुष्य एकान्त की शून्यता को भावों के साहचर्य से पूर्ण करने के लिए ही गा उठता है। प्रायः इन एकान्त-संगीतों में काल्पनिक साहचर्य की भावना रहती है। भाषा के सार्थक शब्द के एकाकी प्रयोग की तो कल्पना भी असंगत जान पड़ती है, जो अकेले ही बात करते हैं, उनको दुनियाँ पागल कहती है। स्वस्थ और साधारण जन प्रायः भावों के सम्प्रेषण और चेतनाओं के संवाद के प्रसंग में ही सार्थक शब्द का प्रयोग करते हैं। वैसे तो सभी कलाओं के सम्बन्ध में यह ठीक है कि समात्मभाव की भूमिका में ही सौन्दर्य का उदय होता है, किन्तु काव्य के सम्बन्ध में सार्थक शब्द के माध्यम के कारण सबसे अधिक स्पष्ट है कि समात्मभाव ही कला का मूल स्रोत है। शब्द का सूक्ष्म और सम्पन्न माध्यम समात्मभाव में ही उदित होकर उसे व्यक्त और समृद्ध बनाता है।

'अर्थ' चिन्मय तत्व है। 'समात्मभाव' चेतनाओं का संवाद और विस्तार है। अतः विस्तार के अनुरूप होने पर ही अर्थ का चिन्मय तत्व समात्मभाव के अनुकूल होता है। इसी बिन्दु पर समात्मभाव में कला के सौन्दर्य का रहस्य और विज्ञान, दर्शन आदि से कला का भेद स्पष्ट होता है। विज्ञानों और दर्शनों का प्रयोजन बुद्धि के विश्लेषण और प्रत्ययों के परिच्छेद के द्वारा अर्थों के निश्चित रूप का निर्धारण है। इस निर्धारण की सूक्ष्मता और कठोरता विज्ञानों और दर्शनों का गुण है। ज्ञान की ये शाखायें प्रत्ययों और व्यक्तियों को अपने निश्चित रूपों में परिच्छिन्न बनाती हैं। इनका यह रूप व्यक्तित्व और भाव (अर्थ) के विस्तार के विपरीत है। सत्य इनका विषय अथवा लक्ष्य है। किन्तु काव्य में शब्दों का प्रयोग उनके अर्थ के निश्चित परिच्छेद की सीमाओं में नहीं होता। समात्मभाव की स्थिति में जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है, वे विस्तार शील और समृद्धशील होने हैं। अर्थ के इस अनिश्चित विस्तार को *व्यंजना* कह सकते हैं। *व्यंजना एक व्यापार और शक्ति है। 'वक्रोक्ति' वचन की शैली और व्यंजना का रूप है।* विस्तार शील अर्थ-तत्वों को 'आकृति' कहना उचित है। इनके विपरीत निश्चित अर्थ तत्व का 'अर्थ' और उसकी अभिव्यक्ति को 'अभिधान' कह सकते हैं। विज्ञान, दर्शन आदि में अर्थ का अभिधान होता है। कला और काव्य में आकृति की व्यंजना होती है। विस्तार-शील भाव होने के कारण यह समात्मभाव के अनुकूल है। 'समात्मभाव' चेतनाओं के सम्वाद में उनके भाव समृद्धि है। समात्मभाव चेतना की कलात्मक स्थिति का आन्तरिक आकार है। आकृति की व्यंजना उसका समृद्धिशील भाव-तत्व है। विज्ञान, दर्शन आदि के निश्चित अर्थ विधान के विपरीत समात्मभाव में आकृति की व्यापक और विस्तार-शील व्यंजना में ही कलात्मक सौन्दर्य का स्रोत है। सभी कलाओं में अपने अपने माध्यमों द्वारा आकृति का आधान और उसकी व्यंजना होती है। सभी कलाओं के माध्यमों की अपनी विशेषता और विलक्षण शक्ति है। सूक्ष्मता, विपुलता और स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शब्द में अन्य कलाओं के धर्मों के निर्वाह की भी सामर्थ्य है। वक्ता द्वारा उत्पाद्य होने के कारण शब्द का माध्यम भी *सृजनात्मक है। अर्थ के चिन्मय तत्व से सम्पन्न होने के कारण शब्द* कला के माध्यमों में सबसे अधिक आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक होने के कारण वह समात्मभाव के अधिक अनुरूप है। अतः काव्य कला का सबसे अधिक समृद्ध रूप है। काव्य के माध्यम में भावों की निधियाँ संस्कृति की स्थायी परम्परा बनती हैं।

अध्याय ५०

सौन्दर्य का रूप, भाव और तत्व

सामान्य व्यवहार और साहित्य दोनों मे सौन्दर्य का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ मे होता है। सौन्दर्य को हम वस्तुओं का गुण मानते हैं और उन्हे सुन्दर कहते हैं। वस्तुओं को ही नही हम व्यवहार और व्यजना के रूपो को भी सुन्दर कहते हैं। भावो के लिए भी सुन्दर का प्रयोग होता है। कला और काव्य की कृतियों को तो सुन्दर कहा ही जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य वस्तु का गुण है, मन का भाव है अथवा व्यजना का रूप है? यदि तीनो के ही सम्बन्ध मे सौन्दर्य का प्रयोग उचित है तो यह विचार करना होगा कि सौन्दर्य की कल्पना में इनका क्या स्थान है? वस्तुओं का सौन्दर्य इतना प्रसिद्ध तथ्य है कि उसका खडन करना मनुष्य की सामान्य धारणा के विपरीत चलना है। मनुष्य की सामान्य धारणाएँ सामान्य होने के कारण ही सत्य नही हैं। सामान्य होते हुए भी वे गलत हो सकती हैं। ऐसी स्थिति मे इस तथ्य की व्याख्या करनी होगी कि गलत होते हुए भी वे धारणाएँ इतनी मान्य और प्रसिद्ध कैसे हो जाती हैं? एक प्रचलित भ्रान्ति की व्याख्या उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक सत्य की स्थापना।

सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास मे भाव, रूप और तत्व तीनो मे ही सौन्दर्य का अनुसधान हुआ है। ग्रीक विचारकों ने वस्तुओं के बाह्य रूपो में सौन्दर्य का अन्वेषण किया। सामान्यत वे अनेकता में एकता को सौन्दर्य का मूल स्रोत मानते रहे। अनेकता मे एकता की व्यवस्था सामजस्य, सन्तुलन, लय आदि के अनुसार होती है। अत ये सौन्दर्य के वस्तुगत लक्षण हैं। कला के सम्बन्ध म इन रूपो की चर्चा प्राय की जाती है और उन्हे महत्व दिया जाता है। चित्रकला, मूर्तिकला, सगीत आदि के शिक्षण और आलोचन मे इन रूपो का प्रयोग सौन्दर्य के मानदड के रूप मे होता है। चित्रकला मे रेखाओं और रगो की योजना मे तथा सगीत मे स्वरो की योजना मे सामजस्य, सन्तुलन, लय आदि की विशेषताओं का निर्देशन करके सौन्दर्य की व्याख्या की जाती है। यदि इन सब लक्षणो से सौन्दर्य का कोई सम्बध नही है तब तो कला के अधिकाश आलोचक भ्रान्ति म हैं। ऐसा कहना

दुस्साहस प्रतीत होता है, यद्यपि कुछ विद्वानो के मत मे ऐसी धारणायें भ्रात ही है। अनुभूतिवादी मत सौन्दर्य को चेतना का भाव मानते हैं। कोई भी वस्तुगत रूप उसका विधायक नही है। चेतना का सौन्दर्य-भाव किसी भी वस्तु को सुन्दर बना देता है। उनके मत मे सौन्दर्य चेतना का भाव है वस्तुओ का गुण नही। इस अनुभूतिवादी मत मे भी कुछ सत्य हो सकता है किन्तु वस्तुओ के रूप मे सौन्दर्य की सामान्य धारणा पूर्णत भ्रान्तिमय हो, यह बडे आश्चर्य की बात है। वस्तुओ के कुछ गुणो मे, रेखाओ, रगो और स्वरो की कुछ योजनाओ मे कुछ विशेषताएँ अवश्य होती हैं जिनके कारण वे सामान्यत सभी को सुन्दर प्रतीत होती हैं। चन्द्रमा, पुष्प, सूर्योदय, इन्द्रधनुष आदि सभी को सुन्दर लगते हैं। सगीत की राग रागनियाँ स्वरो की वस्तुगत और सामान्य योजना के आधार पर बनी हैं। वस्तुओं के दृश्य गुणो मे कान्ति, रग समानुपात आदि प्राय सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। स्वरो के आरोह और अवरोह की लय सगीत मे सौन्दर्य का विधान करती हैं। प्राचीन ग्रीक विचारको की भाँति आधुनिक युग मे फेक्नर ने सौन्दर्य के वस्तुगत गुणो और नियमो का अनुसन्धान किया है।

सौन्दर्य के वस्तुगत आधार के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि सौन्दर्य केवल आत्मगत और आन्तरिक भाव है अथवा बाह्य विषयो का अनुषग उसके लिए आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि क्या इन वस्तुगत आधारो मे कुछ ऐसा गुण अथवा विशेषतायें होती हैं जिनका सौन्दर्य मे विशेष सहयोग है। पहली बात का विचारणीय प्रसग वे अनुभूतिवादी मत हैं जो सौन्दर्य के विषयो को भी चेतना की सृष्टि मानते हैं, अत जिनकी दृष्टि मे यह विषय आन्तरिक है। एक समाधि की अवस्था ही ऐसी है जिसमें बाह्य विषयों का विलय हो जाता है किन्तु वह एक दुर्लभ और असाधारण अवस्था है। स्वप्न के विषय आन्तरिक कहे जाते हैं किन्तु स्वप्न काल मे वे बाह्य और यथार्थ ही प्रतीत होते हैं। दूसरे स्वप्न की अवस्था समाधि के समान ही असाधारण और अल्पस्थायी है। कलाकार की सौन्दर्य भावना स्वप्न अथवा समाधि के समान होती है यह मानना कठिन है, क्यो कि समाधि के विपरीत कलाकार को बाह्य वस्तुओ का बोध रहता है। सभी कलाकृतियो मे बाह्य विषयो का प्रसग मिलता है। कला की बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति को पूर्णत व्यक्त न करती हो यह सम्भव है, किन्तु दोनो के तत्व और रूप पूर्णत भिन्न हैं, यह मानना कठिन है। कलाकृतियो और जीवन के सामान्य

व्यवहार म सौन्दर्य का जो प्रयोग होता है उसमे बाह्य विषयो का अनुषग सदा रहता है। चाहे वस्तुओ के गुण सौन्दर्य की पूर्ण सन्तोषजनक व्याख्या न हो किन्तु इसमे सन्देह नही कि वस्तुओ मे सौन्दर्य का व्यवहार भ्रान्ति नही है। बाह्य वस्तुओ के प्रसग में ही सौन्दर्य का अनुभव होता है। सौन्दर्य की आन्तरिक चेतना भी बाह्य विषयों के रूप में साकार होती है।

वाह्य वस्तुओ और विषयो के कुछ रूप और गुण हमे अधिक प्रभावित करते हैं। सामान्यत व सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि वस्तुओ के रूपो और गुणो मे कुछ रूप और गुण विशेषत सौन्दर्य के अनुभव मे योग देते हैं। कान्ति आलोक तथा रग और रेखाओ की कुछ व्यवस्थायें सभी को सुन्दर मालूम होती हैं। शरीर के सौन्दर्य के विषय म भी हमारी धारणाय बहुत कुछ समान हैं। सौन्दर्य का यह 'रूप' वस्तु-तत्व का आकार है। इस आकार में तत्वो के अगो की योजना 'रूप' का निर्माण करती है। वस्तु का आकार वाह्य और सामान्य होने के नाते सौन्दर्य का 'रूप' भी बाह्य और वस्तुगत है। चित्रकला और सगीत म यह रूप पूर्णत एक वाह्य व्यवस्था है। तत्व और रूप के अभिन्न होने के कारण हम रूप को भी वस्तु के समान ही सौन्दर्य का आधार मान सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि ये सौन्दर्य के विधायक हैं अथवा केवल उसके उपकरण हैं। जहाँ तक वस्तु तत्व का प्रसग है उसके सम्बन्ध मे यह स्पष्ट है कि वह सौन्दर्य का उपादान मात्र है। बाह्य तत्व के उपादान के बिना सौन्दर्य की कल्पना कठिन है। सामान्यत वाह्य तत्व के रूप मे अथवा उसके निमित्त से भाव म सौन्दर्य साकार होता है। जीवन के व्यवहार और विज्ञान के अन्य रूपो म इन्ही वस्तु तत्वो का उपयोग होता है और इस उपयोग मे सौन्दर्य का कोई प्रसग नही है। रूप का सौन्दर्य से अधिक निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। 'रूप' तत्व के आकार की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। अत 'रूप' मे सौन्दर्य की भावना स्वाभाविक है। किन्तु कलाकृतियो के रूपो मे वस्तु रूपो से कुछ अन्तर है। वस्तु रूप वाह्य तत्व के आकार होते हैं। कलाकृतियाँ कलाकारो की सृष्टि है। उनका रूप वस्तु तत्वो का आकार ही नहीं, चिन्मय भावो की अभिव्यक्ति भी है। भावो की अभि-व्यक्ति होने पर 'रूप' केवल बाह्य सत्ता का आकार नही रह जाता, वह आन्तरिक चेतना के भावो की अभिव्यक्ति का प्रकार भी बन जाता है। वाह्य वस्तुओ का रूप उनके आकार की अभिव्यक्ति है किन्तु काव्य अथवा कला का उपादान बनकर वह रूप

भी तत्व बन जाता है। काव्य और कला मे वस्तु तत्व के सनिधान के साथ साथ उनके रूप का सौन्दर्य भी सन्निहित होता है, किन्तु केवल तत्व के रूप में सन्निहित होने पर यह रूप आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। सुन्दर वस्तुओ और रूपो का चित्रण अथवा वर्णन भी सुन्दर हो यह आवश्यक नही। उपादानों का सौन्दर्य आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। कला उस रूप की अभिव्यक्ति अथवा व्यजना है। अत कला का सौन्दर्य मुख्यत अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। कला सृष्टि है इसलिए कला का सौन्दर्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। दृश्य रूपो और उनके चित्रण म रूप के सौन्दर्य का महत्व अधिक है, किन्तु कला के अन्य रूपो मे अभिव्यक्ति का सौन्दर्य प्रधान है। सगीत और काव्य मे इस अभिव्यक्ति का रूप सूक्ष्म होता है और यह अभिव्यक्ति व्यक्त होने वाले भाव तत्व से एकाकार होती है। जीवन के बाह्य तथ्य और तत्व भाव की अभिव्यक्ति के उपकरण और माध्यम ही होते हैं। कलाओं का आन्तरिक तत्व मुख्यत चिन्मय भाव होता है इसे हम 'आकृति' कह सकते है। अभिव्यक्ति बाह्य उपकरणो और शब्द आदि के माध्यम से इस आकृति की व्यापक व्यजना है। आकृति के भाव और रूप एक दूसरे से अभिन्न हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन ने दोनों के लिए समान पद का प्रयोग किया है। उनके मत म ध्वनि' का अर्थ व्यजित होने वाला भाव, तत्व व्यजना की शक्ति और व्यजना का रूप तीनो ही है। कुछ विद्वानो के मत मे 'सौन्दर्य' रूप और तत्व का समन्वय है। बोसानक्वेट के अनुसार शेक्सपियर और दान्ते की महिमा का रहस्य यही समन्वय है।[६७] कालिदास और तुलसीदास की महिमा का रहस्य भी सभवत यही समन्वय है। कला का रूप एक आरोपण नहीं है, वह भाव तत्व की सजनात्मक अभिव्यक्ति है। इसी सृजनात्मक अभिव्यक्ति मे रूप और तत्व के समन्वय को मौरिस ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है।[६८]

किन्तु रूप की जिस सृजनात्मक अभिव्यक्ति को कुछ विद्वानो ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है वह कलात्मक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का स्वरूप सूक्ष्म और आन्तरिक है। किन्तु वह बाह्य उपकरणों में ही साकार होती है। अत अभिव्यक्ति का यह रूप क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति से भिन्न है जिसका बाह्य उपकरणो और माध्यमों से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। क्रोचे की अभिव्यक्ति कलात्मक सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति का आन्तरिक प्रकाशन ही है। इसीलिए क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्तिको एकाकार माना है। क्रोचे ने

अभिव्यक्तिवाद, के नाम से कलात्मक सौन्दर्य की पूर्णत आन्तरिक और अनुभावात्मक धारणा को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित किया। क्रोचे और उनके अनुयायी कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णत आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत मानते हैं। इसमे सन्देह नही कि सौन्दर्य का मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है। उस चिन्मय भाव की स्थिति और अभिव्यक्ति दोनो व्यक्ति मे होती है। इस आधार पर, जैसा कि लिस्टोवेल का विश्वास है, सौन्दर्य की व्यक्ति-मूलक तथा अनुभूति-मूलक व्याख्यायें समीचीन ही हैं।[६९] चेतना मे सौन्दर्य की यह अनुभूति दृष्टि और सृष्टि दोनो ही है। एक ओर इसमे दर्शन की तटस्थता और निरीहता है। कैरिट का विश्वास है कि सौन्दर्य केवल दर्शन अथवा ध्यान से ही आह्लादित करता है।[७०] स्टेस ने सौन्दर्य की इस तटस्थ दृष्टि को स्पष्ट किया है। इसके लिए लिस्टोवैल ने स्टेस के मत का विशेष महत्व माना है।[७१] किन्तु दृष्टि होने के साथ-साथ सौन्दर्य की अनुभूति सृजनात्मकता भी है। आधुनिक युग मे सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप विशेष गौरव के साथ स्पष्ट हुआ है। अनेक विद्वानो ने सौन्दर्य की चेतना की क्रियात्मकता पर जोर दिया है। क्रोचे तो सौन्दर्य की चेतना को पूर्णत सृजनात्मक और क्रियात्मक मानते हैं। यह अपनी अभिव्यक्ति के रूप और तत्व दोनो की रचना अपनी स्वतन्त्र क्रिया के द्वारा करती है। क्रोचे के अनुयायियो ने सौन्दर्य की चेतना की सृजनात्मक सक्रियता का अधिक विवरण किया है। अर्वाचीन विद्वानो मे इसके समर्थको मे फील्डर का नाम उल्लेखनीय है।[७२]

इसमे सन्देह नही कि सौन्दर्य का वास्तविक और मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है। इस भाव को अनुभूति भी कह सकते हैं क्यो कि यह आत्मा की सचेतन वृत्ति है। कलात्मक सौन्दर्य इस भाव की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति भाव मे आकृति की व्यजना है। इस अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य का चिन्मय भाव साकार होता है। किन्तु क्रोचे का यह मत यथार्थ नहीं कि सौन्दर्य की अनुभूति पूर्णतः एकान्त और आत्मगत है तथा उसकी अभिव्यक्ति पूर्णतः आन्तरिक है। एकान्त चेतना पूर्णत. उदासीन होती है इसीलिए सांख्य के कैवल्य की चेतना को आनन्द रहित माना गया है। आत्मानुभव की जिस अवस्था को वेदान्त मे आनन्दमय माना गया है वह व्यक्तिगत अनुभूति नही है। वेदान्त की आनन्दमय मुक्ति सर्वात्मभाव की स्थिति है। वह आत्मा और अनुभूति का व्यापक रूप है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। इस समात्मभाव में ही आकृति की व्यंजना सौन्दर्य का स्वरूप है। आकृति

का चिन्मय भाव सौन्दर्य का तत्व है। व्यंजना या आकार उनका रूप है। वस्तुत दोनो अभिन्न हैं, किन्तु उनकी घनिष्ठ आत्मीयता कला और काव्य के व्यक्त रूप में ही स्पष्ट होती है। वस्तुओ के बाह्य रूप और तत्व सौन्दर्य के अन्तरग नहीं किन्तु उनके आवश्यक उपकरण हैं जिनमे सौन्दर्य का चिन्मय भाव और व्यजना का सूक्ष्म रूप साकार होता है। जिन सामान्य भाव-तत्वो मे हम सौन्दर्य मानते हैं वह समान्य-भाव की स्थिति मे आकृति की व्यजना के ही कारण है। प्रेम करुणा, शौर्य, ओज, साहस और सहानुभूति के सौन्दर्य का यही रूप है। बाह्य वस्तुओ के जिन विशेष रूपों मे सामान्यत सौन्दर्य की सत्ता मानी जाती है उनका सौन्दर्य अधिक वस्तुगत प्रतीत होता है। किन्तु इस सौन्दर्य की भावना कुछ वस्तुगत गुणो और व्यवस्थाओं के अनुरूप इन रूपों की प्रियता के कारण भी है। बाह्य वस्तु तत्वों मे कोई स्वरूप-गत सौन्दर्य नही है। वे अपने वस्तुगत रूप तथा चिन्मय भाव के सयोग से ही सौन्दर्य के अधिकारी बनते हैं। चिन्मय भाव ही सौन्दर्य का मूल स्रोत है। इसका प्रमाण यह है कि उनके सयोग से बाह्य तत्वो के सुन्दर रूप और अधिक सुन्दर बन जाते हैं। भाव का सौन्दर्य अपनी विभूति से ही रूप के सौन्दर्य को समृद्ध बनाता है। किन्तु भाव का यह सौन्दर्य एकान्त और आन्तरिक अनुभूति में ही पूर्ण नहीं है। बाह्य रूपों और तत्वों के उपकरणों और माध्यमों में ही वह साकार होता है।

सौन्दर्य का प्रयोग प्राय एक वस्तुनिष्ठ सत्ता के लिये होता है। हम प्राकृतिक वस्तुओ तथा मनुष्यो को सुन्दर कहते हैं जिनकी सत्ता बहार होती है। यद्यपि आदर्शवाद के तर्क के अनुसार इनकी सत्ता की कल्पना भी एक चेतन दृष्टा के अनुपग के बिना नही की जा सकती। फिर भी यदि हम इन वस्तुओ और व्यक्तियों की सत्ता को स्वतत्र और अपने स्वरूप में निष्ठ मानें तो सौन्दर्य को एक वस्तुगत सत्य मानना होगा। सौन्दर्य के इस वस्तुगत प्रयोग में केवल रूप अथवा रूप का अतिशय ही सौन्दर्य का विधायक बनता है। यह रूप तत्व के आधार के बिना सम्भव नही हो सकता। इस दृष्टि से भौतिक तत्व को इस रूप का आवश्यक आश्रय मानना होगा। किन्तु ऐसी स्थिति में यह तत्व रूप का आश्रय मात्र है। उसका आवश्यक अथवा विधायक उपकरण नही है। भाव तो चेतना का प्रत्यय है अत सौन्दर्य की इस वस्तुगत धारणा मे भाव का कोई प्रसग नही है। प्राकृतिक सत्ता के अतिरिक्त मनुष्य की रचनाओ मे भी यह केवल रूप का सौन्दर्य खोजा जा सकता

है। सार्थक शब्दों से रहित आलाप और तान के अनुरूप शुद्ध स्वर लय का संगीत अथवा वाद्य संगीत सौन्दर्य के भाव और तत्व से रहित रूप के उदाहरण हैं। भाव और तत्व के सहयोग से साकार होने वाले कलात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी हम उसके केवल रूप का प्रत्याहार कर सकते हैं। इन सब कल्पनाओं और विश्लेषणों से यह विदित होता है कि सौन्दर्य का मूल मर्म रूप में ही निहित है। इसी कारण संस्कृत भाषा में रूप शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना।

यद्यपि इस रूप की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना करना कठिन है फिर भी यह सत्य है कि सौन्दर्य का रहस्य रूप में ही निहित है। सौन्दर्य के इस रहस्य के उद्घाटन और आस्वादन के लिये चेतना का प्रसंग आवश्यक हो सकता है। किन्तु जहाँ तक सौन्दर्य के वस्तुगत रूप का विश्लेषण और प्रत्याहार किया जा सकता है वहाँ तक वह रूप में ही मिलता है। यह रूप किसी तत्व का आकार होता है इस नाते तत्व के साथ रूप का आवश्यक सम्बन्ध हो सकता है। रूप को हम अभिव्यक्ति का माध्यम कह सकते हैं। रूप के द्वारा मानो तत्व अपनी सत्ता और अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। यदि अभिव्यक्ति की कल्पना किसी सचेतन ग्राहक के बिना नहीं की जा सकती तो चेतना और उसके भाव का अनुषंग रूप की अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के लिए आवश्यक हो जाता है। रूप की इस अभिव्यक्ति और उसके ग्रहण का सामान्य भाव तो वही होगा जिसकी हमने समात्मभाव के रूप में पिछले अध्यायों में व्याख्या की है। सौन्दर्य के विशेष रूपों का सम्बन्ध विशेष भावों से हो सकता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के ग्रहण और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन एवं ग्रहण के लिए समात्मभाव का मौलिक आधार अपेक्षित है। यह समात्मभाव आत्माओं के साम्य का भाव है। इसी भाव की स्थिति में प्रकृति के अनिवार्यता और उपयोगिता से भिन्न उस रूप के अतिशय के आस्वादन और सृजन की कल्पना की जा सकती है जो सौन्दर्य का वास्तविक रहस्य है। रूप के अतिशय के अनेक प्रकार हैं। परिमाण का अतिशय उसका व्यक्तिगत रूप है। किन्तु कदाचित् चेतना के प्रसंग के बिना परिमाण के अतिशय की भी कल्पना नहीं की जा सकती। परिमाण के अतिशय का निर्णय भी उपयोगिता के मानवीय आधार पर ही होता है। प्राकृतिक उपयोगिता के आधार पर रूप के विधान में व्यक्त होने वाले अन्य अतिशयों का निर्धारण होता है। प्रकृति के सौन्दर्य का रहस्य इसी निरुपयोगिता मूलक रूप के अतिशय में मिल सकेगा। निरुपयोगी दृष्टिकोण से प्रकृति के

सहज और साधारण रूप अतिशय बन जाते हैं और उनमे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। संगीत की कला म रूप का यह अतिशय परिमाण की अभिवृद्धि के रूप मे दिखाई देती है। किन्तु इसके साथ-साथ उसमे स्वरो की योजना के आकार तथा स्वर के विस्तार की निरुपयोगिता मे भी यह रूप का अतिशय प्रकट होता है तथा संगीत के सौन्दर्य को समृद्ध बनाता है। चित्रकला मे वह वर्णो के आह्वान तथा चित्र की व्यवस्था म व्यक्त होता है। नृत्य की भगिमाओ मे भी इन भगिमाओ की व्यवस्था और लय तथा निरुपयोगिता मे रूप का अतिशय प्रकट होता है। इस प्रकार रूप का अतिशय इस अतिशय की निरुपयोगिता जन्य धारणा, इसकी सश्लिष्ट रचना तथा इसकी अनुभावना के द्वारा सामान्य रूप मे निहित सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।

समात्मभाव इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का सामान्य भाव है। समात्मभाव के अभाव मे प्राकृतिक एकान्त की एकान्त और स्वार्थमय स्थिति म सौन्दर्य की कल्पना सम्भव नही है। एकान्त भाव मे प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन भी सम्भव नही होगा। आदिम काल मे समात्मभाव की स्थिति मे ही प्राचीन मानव ने प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभावन किया होगा। वेदो के मन्त्रो मे इस समात्मभाव की स्थिति मे प्राकृतिक सौन्दर्य के अनुभावन अभिव्यक्ति मिलती है। इन मन्त्रो मे सर्वनामो के बहुवचन का प्रयोग एक समात्मभाव के भाषागत प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त वेदो के सम्मिलित पाठ, सम्मिलित वैदिक यज्ञ आदि मे इस सामात्मभाव के सामाजिक एव वास्तविक प्रमाण मिलते हैं। कला के सृजनात्मक सौन्दर्य का उद्गम कलाकार की एकान्त साधना अथवा रचना मे दिखाई देता है। किन्तु यह एकान्त रचना कला का मौलिक और सम्पूर्ण रूप नही है। कला का प्राचीनतम रूप लोक कला है। यह लोक कला समात्मभाव की स्थिति मे ही उदित और विकसित हुई है। एकान्तभाव मे इसकी रचना की कल्पना नही की जा सकती। यही लोक कला एकान्त साधना की कलाओ की जननी है। अभिजात कला की एकान्त साधना भी वस्तुत इतनी एकान्त नही है जितनी एकान्त कि वह प्रतीत होती है। बाह्य दृष्टि से अकेला होते हुए भी कलाकार भाव से अकेला नही होता। सामाजिक जीवन मे किसी न किसी परिमाण और रूप मे मिलने वाला समात्मभाव ही कला का आदि स्रोत है। आत्मा का भाव होने के कारण यह समात्मभाव एक वर्द्धनशील भाव है। यह वृद्धि ही आत्मा का ब्रह्म भाव है। समृद्धि इसका सहज

रूप है। अत समात्मभाव के इस सागर मे सदा समृद्धि के ज्वार उठते हैं। *कलात्मक साधना की पूर्णिमाओ मे सामात्मभाव की समृद्धि के ये ज्वार अधिक तीव्रता से उठते हैं।* सौन्दर्य के कलाधर का आकर्षण इन्हे उत्कर्ष देता है। कलाकार की सौन्दर्य साधना वह मूलत इस समात्मभाव को समृद्ध बनाने का ही साधन है। इसी समृद्धि के लिये वह कला की साधना करता है। यह समृद्धि ही कला का स्वरूप है। *समात्मभाव और कला की यह एकात्मता ही कला का साधन पद से बचाती है।* कलाकार की सौन्दर्य साधना में यह समात्मभाव समृद्ध होता है। कलात्मक रचनाओ मे स्वरूप और भाव दोनो ही प्रकार से कलाकार का समृद्ध समात्मभाव साकार होता है। कलात्मक रचना के पात्रो और विषयो के अतिरिक्त रचना के उपकरणो से भी कलाकार का सामात्मभाव होता है। वृक्षों, बादलो, पक्षियो, पशुओं आदि के अतिरिक्त शब्द, स्वर, यत्र, तूलि, वर्ण, आदि भी कलाकारो के आत्मीय बधु बन जाते हैं। समात्मभाव की सामान्य स्थिति और उसकी समृद्धि की आकाक्षा ही कला का आधार और उसकी प्रेरणा है। *समात्मभाव की भूमिका* मे ही जीवन के अन्य विशेषभाव कला एव काव्य के उद्गम एव उपादान बनते हैं।

प्राकृतिक सौन्दर्य तथा वाद्य सगीत आदि के कुछ शुद्ध रूपों को छोड़कर कलात्मक रचनाओ का सौन्दर्य सामान्यत भाव और तत्व के उपकरणो मे ही साकार होता है। यद्यपि सौन्दर्य का स्वरूप रूप अथवा रूप के अतिशय में ही व्यक्त होता है किन्तु वह समात्मभाव की सामान्य स्थिति में भावो और तत्वा के उपादानो म मूर्त होता है। कला की अधिकाश रचनाओ मे यही मूर्त सौन्दर्य मिलता है। *रूप के अतिशय का सौन्दर्य भाव और तत्व मे साकार होता है। तत्व प्रकृति और जीवन* का यथार्थ है। जीवन की सारी व्यवस्था का तत्व प्राकृतिक एव भौतिक है। व्यवस्था उसकी योजना है। इसके अतिरिक्त सामाजिक सम्बन्धो तथा जीवन की क्रिया कलापो का तत्व भी कला और काव्य का उपादान बनता है। अभिव्यक्ति का रूप जितना अनिश्चित और अनिर्वचनीय है जीवन का तत्व उतना ही अधिक अभिधेय है। सामान्य व्यवहार तथा विज्ञानो म इस तत्व का विधान होना है। अभिधान भी अभिव्यक्ति का रूप है। अत कदाचित उसे भी सौन्दर्य से रहित नहीं कहा जा सकता। किन्तु रूप के अतिशय में सौन्दर्य का रूप निखरता है। *काव्य* की व्यजना मे यह रूप का अतिशय काव्य को सुन्दर बनाता है। आकृति का विस्तार तत्व मे भी अतिशय के क्षितिज खोलता है। व्यजना, रूप और तत्व दोनो

के अतिशय की नयुक्त प्रणाली है। दोनों प्रकार के अतिशयों का साम्य और समन्वय होने पर व्यंजना सफल होती है तथा काव्य सुन्दर बनता है। अन्य कलाओं में भी रूप और तत्व की स्थिति काव्य के अनुरूप है। उनमें भी रूप और तत्व के अतिशय का समन्वय सौन्दर्य को सम्पन्न बनाता है। भाव चेतना की सम्पत्ति है। अत चेतना के अनुरूप ही वह अनिश्चित और समृद्धिशील है। कला और काव्य के उपादान की दृष्टि से हम भाव को भी तत्व मान सकते हैं। किन्तु वह भौतिक, लौकिक अथवा प्राकृतिक और बौद्धिक तत्व की भांति यथार्थ और अनिर्देय नहीं है। तत्वो की भांति भावो की इकाइयाँ स्थिर करना कठिन है। वे आकाश के बादलो की भांति वायवीय और विस्तारशील होते हैं। समात्मभाव की स्थिति में कला की तूलिका से सन्ध्या के रंगीन बादलो की भांति उनका अनिर्वचनीय रूप खिलता है। तत्व की धरती और रूप के आकाश के बीच बादलों और इन्द्रधनुष के समान भावो के वक्ष विचरते हैं। भावो का यह स्वरूप अतिशय से युक्त होने के कारण सौन्दर्य के रूप के अनुरूप है। इसीलिए कला और काव्य में भावों का सन्निधान बहुत मिलता है। तत्व के साथ रूप का समन्वय अधिक कठिन है। किन्तु भाव और तत्व के व्यापक समन्वय के द्वारा ही कलात्मक रूप का सौन्दर्य मूर्त और समृद्ध बनता है।

सभी कलाओ मे सौन्दर्य का यह समृद्ध, सम्पन्न और मूर्त रूप मिलता है, किन्तु काव्य मे सौन्दर्य के इन विभिन्न अगो का समन्वय सबसे अधिक स्पष्ट है। केवल तत्व की सत्ता तो एक प्रत्याहार मात्र है। तत्व सदा रूप से अभिन्न होता है। तत्व के आकार मे ही रूप की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुओं के सभी रूप अपने आप मे सुन्दर होते हैं, ऐसा कहना तो कठिन है, क्यों कि सभी वस्तु-रूप हमें अपनी सुन्दरता स्वीकार करने के लिए बाध्य नही करते। जिन वस्तु-रूपों को सामान्यत सुन्दर माना जाता है उनमे अन्य रूपो की अपेक्षा कुछ विशेषतायें होती हैं। कला और काव्य मे वस्तु और वस्तु-रूप उपादान के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। कला का रूप उसकी अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना मे है। इस व्यंजना में ही उसका सौन्दर्य है। इसीलिये वह व्यंजना असुन्दर उपादानो को सुन्दर और सुन्दर को असुन्दर बना देती है। चित्रकला और संगीत मे जीवन के भाव-तत्व से रहित केवल रूपात्मक योजना सम्भव है। यदि वर्ण (रंग) और शब्द को भी हम भौतिक वस्तु तत्व मानें तो दूसरी बात है अन्यथा इन कलाओं के शुद्ध रूपो मे स्थूल

भौतिक तत्व का आधान आवश्यक नही है। इन कलाओ के ये शुद्ध रूप संवेदना की प्रियता, और अभिव्यक्ति (जिसका रूप यहाँ केवल रूप-रचना है) के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। इन कलाओं के शुद्ध रूपो मे जगत के वस्तु तत्व और जीवन के भाव-तत्व का आधान आवश्यक नही है। चित्रकला की अल्पनाओ (डिजाइनों) और वाद्य संगीत मे इन कलाओं का शुद्ध रूप मिलता है। किन्तु इसके अतिरिक्त इन कलाओ का अधिक प्रचलित और लोक प्रिय रूप वह है जिसमे जगत के वस्तु-तत्व और जीवन के भाव-तत्व दोनों का समाहार होता है। कलाओं के इतिहास मे कला का यही समन्वित रूप अधिक प्रसिद्ध और मान्य है। आधुनिक युग मे पिकासो की चित्रकला और प्रयोगवादी काव्य म वस्तु एव वस्तु-रूप दोनो की उपेक्षा करके अभिव्यक्ति का एकागी महत्व एक अद्भुत रूप मे व्यक्त हुआ है। इसके पूर्व भी कला और काव्य के इतिहास में विशेषत शास्त्रीय संगीत और आलंकारिक काव्य मे अभिव्यक्ति की महिमा अधिक बढी थी। किन्तु उसमे वस्तु और वस्तु-रूप की ऐसी उपेक्षा नही थी।

अस्तु, सामान्यत. कला और काव्य में वस्तु-तत्व, वस्तु-रूप और भाव का समन्वय मिलता है। चित्रकला और संगीत मे भी यह समन्वय बहुत समृद्ध रूप मे मिलता है। किन्तु इसका सबसे सम्पन्न रूप काव्य में मिलता है। इसका कारण काव्य के माध्यम शब्द की विशेषता है। शब्द एक ओर वस्तु-तत्वो और वस्तु-रूपो के प्रतीक हैं। दूसरी ओर वे जीवन के भाव तत्वो के व्यंजक हैं। चित्रकला और संगीत की अभिव्यक्ति मे भी अपनी विशेष मार्मिकताएँ हैं। भाव और रूप के क्षणों को जितने तीव्र रूप मे व्यक्त करने की क्षमता चित्रकला और संगीत मे है उतनी काव्य में नहीं है। रूप के साक्षात् माध्यम मे ये भाव सबसे अधिक तीव्र रूप मे चित्रकला में व्यक्त होते हैं। चित्रकला के दृश्य रूप पर आश्रित होने के कारण कला की अभिव्यक्ति के रूप मे ही भाव-सम्पत्ति के आधार का सन्निधान होता है। शब्द के भाव-तत्व के मानसिक होने के कारण भाव व्यजना या चेतना मे अपार विस्तार होता है। इस दृष्टि से जहाँ चित्रकला की रूपगत अभिव्यक्ति मे भाव का आधान अधिक है वहाँ संगीत की सार्थक स्वर-योजना मे भाव-व्यंजना की शक्ति अधिक है। इसी कारण चित्रकला अधिक कठिन है और कठिन होने के कारण कम प्रचलित है। चित्रकला सृजन और अवलोकन दोनों की दृष्टि से अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक एकाकी है। दूसरे उसके सृजन और प्रदर्शन की क्रियाएँ अलग-

अलग है। उनमे सगीत की भाँति यौगपद्य नही है। वैसे तो वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी न किसी रूप में समात्मभाव सभी कलात्मक सौन्दर्य के मूल में निहित है, किन्तु संगीत में सृजन और प्रदर्शन के यौगपद्य के कारण यह सबसे अधिक साक्षात् रूप में वर्तमान रहता है। साक्षात् समात्मभाव मे आवृति की व्यजना सबसे अधिक समर्थ होती है। व्यजना के ग्राहको का सहयोग इसे अधिक समृद्ध बनाता है। इस साक्षात् समात्ममाव के कारण ही क्षण क्षण के जीवन मे सौन्दर्य की इतनी सम्भावना है कि उसे कोई कला पर्याप्त रूप मे व्यक्त नही कर सकती। इस साक्षात् समात्मभाव के कारण ही सगीत के साधारण शब्दो मे व्यक्त साधारण भाव भी बडे मर्मस्पर्शी बन जाते हैं। काव्य मे यह समात्मभाव साक्षात् न होने के कारण यह सहयोग कम मात्रा मे मिलता है यद्यपि इस सहयोग के बिना कोई कलात्मक अभिव्यक्ति सफल नही हो सकती। अत चित्रकला की भाँति काव्य मे भी अभिव्यक्ति का रूप अपने स्वरूप मे ही अधिक सम्पन्न और समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त काव्य मे जीवन का भाव-तत्व एक व्यापक परम्परा के रूप मे सन्निहित होता है। आवृति का विस्तार व्यजना की महिमा को बढा देता है। आवृति के इस विस्तार और व्यजना की इस व्यापकता के कारण काव्य मे जगत के वस्तु तत्वो और वस्तु-रूपो तथा जीवन के भाव-तत्वो के सन्निधान की सम्भावना सबसे अधिक है। कलात्मक समन्वय से युक्त होकर यह सन्निधान काव्य को कला का सबसे अधिक सम्पन्न रूप बनाता है।

इस समन्वय की सर्वाधिक व्यापकता के कारण महाभारत पचम वेद माना जाता है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास की महिमा का भी यही रहस्य है। इनमे जीवन के भाव-तत्व और उनकी अभिव्यक्ति के रूप का ही समन्वय नही है, इसके साथ-साथ एक विशाल परिमाण मे जगत के वस्तु-तत्वो और वस्तु-रूपो का भी सन्निधान है। जीवन का भाव-तत्व काव्य को मर्मस्पर्शी बनाता है। अभिव्यक्ति उसे सुन्दर बनाती है। किन्तु जगत के वस्तु-तत्व और वस्तु-रूपो का सन्निधान उसे यथार्थ का बल देता है। इस यथार्थ की भूमिका मे ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य सत्य बनाता है और भाव की गरिमा शिव बनती है। हिन्दी के भक्ति-काव्य मे भाव अधिक है, किन्तु जीवन के यथार्थ का सबल कम है। रीतिकाव्य मे अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है किन्तु उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित है, जगत के रूप और तत्व का सन्निधान और भी कम है। इसीलिए जीवन और जगत के

यथार्थ के प्रति अधिक सचेतनता उत्पन्न होने पर भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की लोक-प्रियता कम हो रही है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक और भाव तत्व सीमित तथा जगत के यथार्थ का सन्निधान स्वल्प होने के कारण हिन्दी का छायावादी काव्य भी लोक मन को स्पर्श न कर सका। रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है। उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित न होते हुए भी एकांगी नहीं तो उतनी व्यापक नहीं है जितनी कि ऐसे विशाल काव्य के लिए होनी चाहिए। जीवन और जगत के यथार्थ का सन्निधान भी उसमें आकार के अनुरूप नहीं है इसका कारण यही है कि रवीन्द्रनाथ के राजसी जीवन में जीवन और जगत की व्यापक यथार्थता का पर्याप्त स्पर्श सम्भव न था। यथार्थ की अनुभूति ही हो सकती है, उसकी कल्पना कल्पना ही है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ और छायावादी कवियों का काव्य कल्पनाशील किशोर-किशोरियों का ही अधिक अनुरंजित कर सका। आज जबकि लोक की चेतना जीवन की भाव-सम्पत्ति की विशालता तथा जीवन और जगत् की यथार्थताओं के प्रति अधिक जागरूक हो रही है, भक्ति-काव्य और रीति काव्य की भांति ही रवीन्द्र के रहस्यवादी और हिन्दी के छायावादी की लोकप्रियता भी कम हो रही है। कल्पना के व्योम-कुंजों का विहार जीवन की विषम यथार्थताओं का समाधान नहीं बन सकता। इसीलिए वर्त्तमान युग के मानव को जीवन और जगत की यथार्थताओं तथा जीवन की विशाल भाव-सम्पत्ति की महिमा से पूर्ण सुन्दर और ओजमयी अभिव्यक्ति से युक्त काव्य की अपेक्षा है। संतोष की बात है कि छायावादी युग के बाद के काव्य में इस यथार्थ और भाव-सम्पत्ति के प्रति अधिक जागरूकता दिखाई दी। इस परिवर्तन का सबसे अधिक श्रेय 'दिनकर' को है। इस दृष्टि से दिनकर आधुनिक हिन्दी काव्य के नव प्रभात के तेजस्वी सूर्य हैं। इस नव प्रभात में अभिनव हिन्दी काव्य के अनेक आभामय नीरज खिल रहे हैं।

अध्याय ५१

सौन्दर्य, सुख और आनन्द

सौन्दर्य का अनुभव सुखद होता है, यह रसात्मक अनुभूति का एक साधारण तत्व है। प्रकृति और कला में हम जहां कहीं भी सौन्दर्य देखते हैं वह हमें आह्लादित करता है। चन्द्रमा, पुष्प, सूर्योदय, निर्झर आदि को देखकर सभी प्रसन्न होते हैं। कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी प्राय सभी को आनन्द देती है। सुख और आनन्द के साथ सौन्दर्य का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्राय सुख और सौन्दर्य को एक मान लिया जाता है। कुछ विद्वान सुख को सौन्दर्य का आवश्यक अंग और कुछ उसको सौन्दर्य का स्वाभाविक फल मानते हैं। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र और योरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र दोनों में कला और काव्य के स्वरूप में सुख अथवा आनन्द का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। प्लेटो यह मानते थे कि सौन्दर्य में सुख ही एक महत्वपूर्ण तत्व है।[53] जर्मन विद्वान श्लैगेल का मत था कि सौन्दर्य श्रेय की प्रिय अवगति है। कान्ट जैसा बुद्धिवादी विचारक भी यह मानता था कि सौन्दर्य अपने रूप के द्वारा सुखप्रद है।[54] आधुनिक विचारकों में भी अधिकांश सुख को सौन्दर्य का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। मार्शल का मत है कि सौन्दर्य वस्तुगत मूल्य के रूप में मन को सुख देता है।[55] सान्तायन के मत में सौन्दर्य का सुख अन्य सुखों से भिन्न है, किन्तु सुख सौन्दर्य का आवश्यक अंग है।[56] ग्वाइयों सुख और सौन्दर्य में कोई भेद नहीं मानते, उनके मत में दोनों एक ही हैं।[57] ऐलिन सुख को सौन्दर्य का सहगामी[58] और ग्रोस सुख को कला का फल मानते हैं।[59] वैरिट के मत में सौन्दर्य वह वस्तु है जो केवल ध्यान से ही सुख देती है।[60] इन सभी मतों में किसी न किसी रूप में सौन्दर्य की कल्पना में सुख का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय काव्य शास्त्र में भी काव्य को रसमय अथवा आनन्दमय माना गया है। सभी रसों में नहीं किन्तु शृंगार, वात्सल्य आदि में सुखमय संवेदनाओं का स्थान है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के इस आनन्द को लोकोत्तर माना गया है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का सहोदर है। तात्पर्य यह है कि काव्य का आनन्द एक अतीन्द्रिय, अलौकिक और आध्यात्मिक आनन्द है।

कला और काव्य के साथ सुख और आनन्द के सबन्ध की सही विवेचना के लिए इन सबके स्वरूप का निर्धारण अपेक्षित है। कला की साधना और आराधना, तथा सौन्दर्य के दर्शन और प्रदर्शन सभी मे कुछ ऐसी सवेदना अथवा अनुभूति होती है जिसे सुख अथवा आनन्द कहना उचित ही प्रतीत होता है। किन्तु इस सवेदना अथवा अनुभूति का रूप तभी स्पष्ट किया जा सकता है जब कि कला और काव्य के स्वरूप, उसके दर्शन, सृजन और प्रदर्शन की स्थितियो का भेद तथा उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के उपकरणो और माध्यमो के पारस्परिक सबन्ध और महत्व का निर्धारण होगा। क्रोचे से प्रभावित अनुभूतिवादी विचारक कला का स्वरूप पूर्णत आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत मानते हैं। बाह्य उपकरणो और माध्यमो मे कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इनके लिए एक गौण उपचार मात्र है। दर्शको और पाठको के लिए कलात्मक अनुभूति के उद्भावन का वह निमित्त मात्र है। इन निमित्तो से उद्भावित विभिन्न व्यक्तियो की कलानुभूतियाँ विभिन्न होती हैं। इस प्रकार अन्तत कला का स्वरूप पूर्णत आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत प्रतीत होता है। सौन्दर्य का यह आन्तरिक और आत्मगत रूप भी आनन्दमय होता है। इसकी आन्तरिक तन्मयता आनन्द मे ही सभव होती है। कलाकार और अनुभावक आन्तरिक सौन्दर्य के इसी आनन्द मे विभोर हो जाते हैं। आनन्द की कुछ ऐसी ही कल्पना भारतीय काव्य शास्त्र के रसवाद की है। विभाव, अनुभाव आदि रस-निष्पत्ति के सहकारी अवश्य हैं, किन्तु रस अथवा आनन्द की अनुभूति व्यक्ति के आश्रय मे ही होती है। यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है कि आन्तरिक अनुभूति के पूर्णत निर्विकल्प होने पर उसके व्यक्तित्व का अवच्छेदक क्या होगा? इसी कठिनाई के कारण वेदान्त मे आत्मा को अनन्त, अपरिच्छिन्न और उसके आनन्द को अनिर्वचनीय माना गया है। यह स्पष्ट है कि इस आनन्द को सामान्य अर्थ मे व्यक्तिगत कहना कठिन है।

इसके विपरीत जो बाह्य उपकरणो और माध्यमो मे कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को कला के स्वरूप का महत्वपूर्ण अग मानते हैं, उनके लिए कलात्मक सौन्दर्य का ऐन्द्रिक सुख आवश्यक अग है। अनेक पश्चिमी विद्वान् ऐन्द्रिक रूप मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। हीगल जैसे अध्यात्मवादी ने भी सौन्दर्य को बौद्धिक प्रत्यय की ऐन्द्रिक रूप मे अभिव्यक्ति माना है।[९१] क्रोचे के पूर्व (और उसके बाद उसका अनुकरण न करने वाले अनेक विद्वान्) ऐन्द्रिक रूपो मे सौन्दर्य

की अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। यदि चित्रकला, सगीत, काव्य आदि की कृतियाँ कलात्मक सौन्दर्य की निधियाँ हैं तो यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य की कल्पना म माध्यमों का ऐन्द्रिक रूप महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य की इन अभिव्यक्तियो की सवेदना प्राय सुखद होती हैं यह भी सामान्यत सत्य है। चित्र का दर्शन दृष्टि को सुखद प्रतीत होता है। सगीत का माधुर्य हमारे कानों मे अमृत घोलता है। काव्य के श्रवण मे सगीत का माधुर्य स्पष्टत ऐन्द्रिक है। काव्य के तत्व के ऐन्द्रिक उपकरण स्मृति और कल्पना म ऐन्द्रिक सवेदनाओं का सुख जागरित करत हैं। यदि काव्य का अथवा इन सभी कलाओं का कोई मानसिक आध्यात्मिक अथवा अतीन्द्रीय भाव-तत्व है तो उसक अनुभावन का सुख ऐन्द्रिक सवदनाओ मे भिन्न अतीन्द्रिय और आत्मिक आनद कहा जा सकता है।

सुख और आनद क साथ कलात्मक सौन्दर्य क सबध का स्पष्ट विवेचन तभी सम्भव है जब कि हम सौन्दर्य और सुख दोनो के अतीन्द्रिय और ऐन्द्रिक रूपो क भेद को स्पष्ट समझ सकें। ऐन्द्रिक सवेदनाय आत्मिक आनद का उपकरण हो सकती हैं किन्तु दोनो के स्वरूप म एक मौलिक और महत्वपूर्ण भेद है। यद्यपि सुख और आनद के प्रयोग म सर्वदा भेद नही किया गया है, फिर भी अनुकूल और प्रिय अनुभव के रूपो म स्पष्टत भेद है। सुख इन्द्रियो की अनुकूल-वेदनीयता का गुण है। वह व्यक्तिगत ऐन्द्रिक और प्राकृतिक है। सुख के प्रसग मे इन्द्रियाँ बाह्य सवेदनाओं का ग्रहण करती हैं। सुख इन्द्रियो के इस ग्रहणात्मक धर्म की अनुकूल-वेदनीयता है। सुख शारीरिक और प्राकृतिक है और वह व्यक्ति मे ही सीमित रहता है। हम दूसरे के सुख मे भाग नही ले सकते और न हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। प्रकृति के नियमो के अनुकूल होने के कारण सुख को प्राकृतिक कहा है। दिक्, काल और व्यक्तिसत्ता अथवा विशेषता प्रकृति के सामान्य नियम हैं। दिक् मे वस्तुओ की स्थिति युगपद् किन्तु पृथक् पृथक् होती है। यह पृथक्त्व व्यक्तियो और विशेष पदार्थों की स्थिति का विशेष गुण है। हमारे शरीर और इन्द्रियाँ अन्य भौतिक पदार्थों की भाँति एक दूसरे से पृथक् पृथक् अपने रूप और धर्मो मे सीमित हैं। परिच्छेद की ये विशेषता शरीर, इन्द्रियो और पदार्थों की स्थिति का निर्धारण करती है। प्रकृति की इस विशेषता के बिना प्रकृति के जीवन का व्यवहार ही असभव हो जाता है। दूसरी ओर काल प्रकृति का रूप है। काल का रूप अयौगपद्य और अनिवार्य क्रम है। दिक् स्थिति का रूप है। काल गति का रूप है।

गति और स्थिति दोनो मिलकर जीवन के रूप और व्यवहार का विधान करती हैं। प्रकृति का अग होने के कारण शरीर और इन्द्रियो की स्थिति तथा उसकी सम्वेदनाय प्रकृति के नियमो के अनुकूल हैं। एक व्यक्ति की सवेदना दूसरे व्यक्ति की सवेदना नहीं बन सकती। यह दिक् कृत पार्थक्य का परिणाम है। काल से नियमित होने के कारण ऐन्द्रिक सुख की सवेदना तत्काल में ही होती हैं। अन्य काल म उसी सवेदाना सुख का ऐन्द्रिक सुख नही है, वरन् कल्पना का मानसिक सुख है। परिमाण सबधी गणित का नियम भी सवेदना को शासित करता है। व्यक्ति की इकाई म सीमित रहने के अतिरिक्त सुख का परिमाण भी सवदना के अनुरूप होता है। एक सीमा के बाद तो अधिकस्य अधिकम् फलम् का नियम गलत हो जाता है, किन्तु एक माध्यमिक सीमा के अन्तर्गत वस्तु और सवेदना दोनो के परिमाण एव कालावधि की दृष्टि से उत्तरोत्तर अधिक सुख होता है। सुख का ह्रास और उसकी वृद्धि वस्तु और सवेदना के परिमाण तथा कालावधि के अनुरूप ही होती है।

इसके विपरीत आत्मिक आनन्द के लक्षण प्रकृति के इन नियमो से शासित नहीं। आनन्द इन्द्रियो की सवेदना का सुख नहीं वरन् आत्मा का आन्तरिक उल्लास है। आत्मा चिन्मय है। वह प्रकृति के नियमो से शासित नहीं है। प्रकृति की देह मे ही आत्मा का अवतार होता है किन्तु आत्मा का स्वरूप और धर्म प्रकृति से भिन्न है। दोनो म कोई आवश्यक विरोध नही है। अत उनका सामजस्य सम्भव है। मनुष्य का रूप इस सामजस्य का साक्षात् आधार है। किन्तु प्रकृति के शरीर मे निवास करने वाले आत्मा का स्वरूप और धर्म प्रकृति के नियमो के विपरीत है। व्यक्तित्व, पृथक भाव, गणित के परिमाण का नियम आदि प्रकृति के सिद्धान्त आत्मा के स्वरूप, धर्म और फलो के साथ लागू नहीं होते। व्यक्तित्व मे सीमित होते हुए भी आत्मा पूर्णत उसके नियमो से शासित नहीं है। शरीर के समान व्यक्तित्व का चिन्मय आधार पूर्णत परिच्छिन्न नहीं है। उसकी वृत्ति विस्तारशील है। एक व्यक्तित्व के चिद्बिन्दु के क्षितिजो का विस्तार दूसरे व्यक्तित्वो के आकाश मे होता है। व्यक्तित्व की चेतनाओ म ऐसा कठोर भेद नहीं है जैसा कि प्राकृतिक शरीरो मे है। देश काल के नियम भी चेतना के साथ लागू नहीं होते। जैन दर्शन मे प्रकाश की भाँति वस्तुओ के साथ आत्मा का योगपद्य माना जाता है। इसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाकर कई प्रकाशों के योगपद्यों के समान

अनेक चेतनाओं के यौगपद्य को सम्भव मान सकते हैं। वस्तुत सभी परिच्छेदों का ज्ञाता होने के कारण आत्मा में कोई परिच्छेद नहीं माना जा सकता। इसीलिए वेदान्त में उसे अनन्त माना है। भेद प्रकृति के पदार्थों का धर्म है। इसीलिए आत्मा का स्वरूप अद्वैत है। उसे 'एक' कहना भी प्रकृति की इकाई का प्रयोग करना है। 'एक' अनेक से सापेक्ष है। आत्मा का अद्वैतभाव अनेकों का आन्तरिक अभेद है। व्यक्तित्वों की सापेक्षता की दृष्टि से आत्मा के इसी अद्वैतभाव को हमने चेतना का समात्मभाव कहा है और उसे कलात्मक सौन्दर्य का मूल माना है। हमारे शारीरिक धर्म प्राकृतिक होने के कारण अलग अलग रहते हैं, किन्तु चेतना के विस्तार के द्वारा हम एक दूसरे के अनुभव में भाग ले सकते हैं और योग दे सकते हैं। चेतना की गति सर्वत्र और सर्वदा है। दिक् काल के नियम उसके प्रतिबन्ध नहीं हैं। भूत, वर्त्तमान, भविष्य तीनों में उसकी गति है। प्रकृति की सत्ता वर्त्तमान में ही सीमित है। उसका अतीत वर्त्तमान में आत्मसात हो जाता है और भविष्य सदा अभूत रहकर वर्त्तमान में ही अन्तर्हित रहता है। कान्ट ने दिक् को बाह्य सत्ता का और काल को आन्तरिक अनुभव का रूप माना है, यह समीचीन ही प्रतीत होता है। चेतना का विस्तार काल की तीनों दिशाओं में होता है। इसके साथ साथ वह कालातीत भी है, क्योंकि काल उसका विषय है। काल का परिमाणगत नियम भी गणित के अनुसार चेतना पर लागू नहीं होता। हर्ष और मिलन में युग पल से बीत जाते हैं जैसे पर्णकुटी में आलाप करते हुए राम-सीता की रात भी अनजाने बीत गई।[२] वियोग और विपत्ति में पल भी युग बन जाते हैं। इतना ही नहीं चेतना की भाव-विभोर स्थितियाँ काल के क्रम और विकार से अतीत अमृतभाव का स्पर्श भी करती हैं। इसीलिए वेदान्त में आत्मा को नित्य माना है। आत्मा के आनन्द की सबसे बड़ी विशेषता गणित के परिमाण के नियम का अतिक्रमण है। इन्द्रियों के सुख की भाँति आत्मा का आनन्द व्यक्ति और क्षण की इकाई में सीमित नहीं है। समात्म-भाव के विस्तार में ही आनन्द का उदय होता है। जहाँ हम समान क्रिया और अनुभूति में आत्मा के समभाव से भाग लेते हैं, वहाँ अवगति की चेतना में भी आनन्द का अविर्भाव होता है। आश्चर्य की बात यह है कि विभाजन से यहाँ आनन्द घटता नहीं वरन् बढ़ता है। सरस्वती के कोष के समान आनन्द की विभूति भी अद्भुत है। वस्तुत यह आनन्द ही सरस्वती के कोष की निधि है। आनन्द के इस विलक्षण गणित में सुख और आनन्द का भेद स्पष्ट होता है। सुख इन्द्रियों

और शरीर की प्राकृतिक सम्वेदना है। सुख की इकाइयों में अनेक व्यक्तियों के संभात्म-भाव से जो वृद्धि होती है, वही आनन्द का स्वरूप है। सहभोज का आनन्द, प्रकृति के सह दर्शन का आनन्द, सामूहिक नृत्य और संगीत का आनन्द आदि आनन्द की इस अनियमित समृद्धि के उदाहरण हैं।

इस प्रकार सुख और आनन्द का भेद स्पष्ट होने पर यह विचार करना उचित है कि इनका कला और काव्य में क्या स्थान है। ऊपर कुछ पश्चिमी विद्वानों के मत दिये गये हैं जो सुख को कला का लक्षण मानते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में आनन्द को काव्य का फल माना जाता है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने कला के संबन्ध में सुखवाद का खण्डन किया है। इस खण्डन का सबसे स्पष्ट रूप सौन्दर्य और सुख के एकीकरण का विरोध है। खण्डन का दूसरा रूप यह है कि 'सुख' कला और काव्य का 'उद्देश्य' नहीं है। सुख कला का सहज फल हो सकता है किन्तु कला सुख की साधना नहीं है। खण्डन का एक पक्ष यह भी है कि यदि सुख और कला का सौन्दर्य समानार्थक है तो सभी सुखद वस्तुओं को सुन्दर होना चाहिये। वस्तुतः ऐसा नहीं होता। सभी सुख सुन्दर नहीं होते। दूसरी ओर श्रेष्ठतम सौन्दर्य सदा सुखदायक नहीं होते। यदि सुख ही सौन्दर्य है तो दुखान्त नाटकों के सौन्दर्य की व्याख्या क्या होगी? श्लैगेल ने सामान्य सुख और कलात्मक सुख में भेद करने का प्रयत्न किया है। कैरिट ने सौन्दर्य को ध्यान का सुख माना है जिसे मार्शल के शब्दों में सुख का वस्तुगत रूप कह सकते हैं। कैरिट भी कलात्मक सौन्दर्य के सुख के भेद को स्पष्ट नहीं कर सके। हीगल के समान बुद्धिवादी और टालस्टाय के समान नैतिकतावादी विचारकों ने कला में सुखवाद का खण्डन अवश्य किया है। सुख की धारणा बुद्धि और नैतिकता के विपरीत है, यही इस खण्डन का आधार है। कैरिट ने कलात्मक सौन्दर्य के सुख की विशेषता के निरूपण के सम्बन्ध में निस्सन्देह कुछ महत्वपूर्ण संकेत दिये हैं। कैरिट का कथन है कि कलाकार का लक्ष्य सौन्दर्य है सुख नहीं, अभिव्यक्ति है, सम्वेदना नहीं।[८६] सुख उसकी सौन्दर्य साधना का अनुद्दिष्ट फल है। कलात्मक सौन्दर्य का सुख सर्वमान्य होता है।[८८] इसके विपरीत संवेदना का सुख व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करता है। सम्वेदना का सुख तत्काल में ही रहता है, वह वर्त्तमान का सुख है। इसके विपरीत कलात्मक सौन्दर्य का सुख सर्वकालीन सुख है।[८९] यहाँ कैरिट आनन्द की कल्पना को स्पर्श करते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु उन्होंने साधारण सुख और कलात्मक सुख की मीमांसा अधिक

विस्तार के साथ नही की है। व्यक्तिवादी मन के कारण वे आनन्द के उस वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन नही कर सके जो समात्मभाव की विलक्षण स्थिति मे उदित होता है। हर्बार्ट ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति मे आत्म-विस्तार को कारण बताया है।[८६] किन्तु व्यक्तित्व के इस विस्तार में समात्मभाव का महत्त्व उन्होंने भी प्रकाशित नही किया। कारण यह है कि कलाओ के बाह्य माध्यम संवेदना के विषय होते हैं। सुख अनुकूल सम्वेदना का लक्षण है। कला के बाह्य माध्यम पर दृष्टि रखने के कारण अधिकाश विद्वान कलात्मक सौन्दर्य मे सम्वेदनात्मक सुख को महत्व देते रहे। क्रोचे के समान पूर्णत अनुभूतिवादी मतो मे सुख का कोई महत्व न रहा। ये दोनो ही एकागी सीमाएँ हैं। सम्वेदना का सुख न कलात्मक सौन्दर्य का सर्वस्व है और न नगण्य है। बाह्य उपकरण और माध्यम कलात्मक अभिव्यक्ति के आवश्यक निमित्त हैं। उसी प्रकार उन माध्यमो की सम्वेदना का सुख भी कलात्मक सौन्दर्य और आनन्द का आवश्यक उपकरण है। जो सुख को कला का अनायास फल मानते हैं वे एक सीमा तक सत्य हैं। किन्तु इस समस्या का मर्म उस स्थल पर है जहाँ कलात्मक सुख के साधारण सुख से भेद करने की आवश्यकता होती है। यह भेद केवल गुण का भेद नही है। सवेदना का सुख, चाहे वह कलात्मक कोटि का ही हो सौन्दर्य का न सम्पूर्ण स्वरूप है और न उसका सम्पूर्ण फल है। बाह्य उपकरण केवल आकृति की व्यजना के माध्यम हैं। सवेदनाओ का सुख माध्यमो का ही सुख है। जिस प्रकार बाह्य उपकरण आकृति की व्यजना के निमित्त हैं उसी प्रकार सम्वेदना के सुख समात्मभाव की स्थिति मे आकृति की व्यजना के निमित्त हैं। यह समात्मभाव चेतना का समृद्धिशील भाव है। आनन्द उसका स्वरूप है। अभिव्यक्ति के सापेक्ष दृष्टिकोण से हम उसे आह्लाद कह सकते हैं। आकृति की व्यजना का आनन्द सवेदना के सुख के प्राकृतिक नियमों के विपरीत है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। *भारतीय काव्य-शास्त्र ने आनन्द को* काव्य का फल मानकर कलात्मक अनुभूति के स्वरूप का सही सकेत किया है। रति आदि से अवच्छिन्न मानकर सवेदनात्मक सुख के साथ इस आनन्द के सबन्ध को भी उन्होंने स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि इस सबन्ध में हमें आनन्द की भावना के साथ सम्वेदना के सुख को समन्वित करना होगा। इस समन्वय मे वे सुख कला के माध्यमो की भाँति प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होते हुए भी समात्मभाव की आध्यात्मिक विभूति के सस्कारो से आनन्द के अनुरूप बन जाते हैं।

कला और सौन्दर्य के प्रसग मे सुख एव आनन्द के विवेचन के लिये कला एवं सौन्दर्य के स्वरूप, माध्यम तथा उनके उपकरणों का पृथक-पृथक विचार करना होगा। सुख और आनन्द के स्वरूप एव अन्तर का विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं। इस विवेचन के अनुसार *अनुकूल और प्रिय अनुभव का वह रूप सुख कहा जा सकता है जो ऐन्द्रिक, प्राकृतिक और व्यक्तिगत है।* इसके विपरीत आनन्द आत्मिक सुख है। आनन्द वह अनुकूल और प्रिय अनुभव है जो इन्द्रियो तथा प्रकृति और स्वार्थ की सीमाओ को पारकर आत्मा के स्वर्लोक मे उल्लसित होता है। आनन्द के इस लोक मे स्वार्थ, अहकार और व्यक्तित्व की सीमाएँ अतिक्रात हो जाती हैं। *व्यक्तित्व के केन्द्र मे सम्पन्न होते हुए भी आनन्द का भाव आत्मा के अतीन्द्रिय और अलौकिक* क्षेत्र मे ही प्रकाशित होता है। इन्द्रियाँ अहकार, स्वार्थ तथा अन्य प्राकृतिक उपकरण इसके अवलम्ब बन सकते हैं। किन्तु अनुरोध और अतिरजना की स्थिति मे वे आनन्द के विरोधी बन जाते हैं। अपनी सहज सीमा मे आत्मा के अनुशासन का आदर करके ये प्राकृतिक उपकरण आनन्द मे अन्वित होते हैं और उसके उपकारक बनते हैं। *आनन्द का पूर्णत आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया लौकिक और अनिर्वचनीय* है। इसके विषय मे कुछ भी कहना उचित नही है। किन्तु लोक के व्यवहारो और *सम्बन्धो मे जो आनन्द विभासित होता है उसका लौकिक उपकरणों से कोई मौलिक* विरोध नही है। वे लौकिक उपकरण अलौकिक आनन्द के निमित्त बन जाते हैं। व्यक्तित्व के विन्दु मे आनन्द का सिन्धु उमडता है। उसके ज्वार क्षितिज की ओर उठकर स्वर्ग के चन्द्रमा को अर्घ्यदान करते हैं। आनन्द की इस स्थिति मे व्यक्तित्व के केन्द्रो का जो साम्य, सामजस्य और सतुलन सम्पन्न होता है उसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। यह समात्मभाव विषयो, इन्द्रियों, स्वार्थ, अहकार आदि के विरोध से परे आत्मा के साम्य का भाव है।

सुख और आनन्द के इन रूपो का सौन्दर्य और कला के साथ क्या सम्बन्ध है और इनके क्षेत्र मे सुख और आनन्द का क्या स्थान है यह विचारणीय है। यह स्पष्ट है कि कला और सौन्दर्य के प्राकृतिक उपकरणों के साथ ही सुख का सम्बन्ध खोजा जा सकता है क्योंकि सुख प्राकृतिक अनुभव हैं तथा कला एव सौन्दर्य के ये उपकरण भी बहुत कुछ प्राकृतिक होते हैं। अधिकाश सुख का लक्षण ऐन्द्रिक सम्वेदना मे मिलता है। ऐन्द्रिक उपकरणों को सौन्दर्य और कला का माध्यम मानें तो *कला और सौन्दर्य मे सुख का अनुभव भी खोजा जा सकता है।* सगीत,

चित्रकला, मूर्तिकला आदि कलाओ के उपकरण और माध्यम प्राकृतिक एव ऐन्द्रिक होते हैं। इस दृष्टि से कला के इन माध्यमो की सम्वेदना सुखकर होती है। चित्रो के वर्ण हमारी आंखो को सुख देते हैं। सगीत के स्वर हमारे कानो को सुखद होते हैं। काव्य के शब्द भी सगीत के स्वरो के समान प्रिय और सुखद होते हैं, यद्यपि इसके अतिरिक्त इनमे अर्थ का अन्तर्भाव भी होता है। कला के सम्बन्ध में हीगल की यह परिभाषा बहुत कुछ उपयुक्त है कि कला ऐन्द्रिक रूप म भाव की अभिव्यक्ति है। किन्तु इस परिभाषा म इतना सशोधन अपेक्षित है कि कला म व्यक्त होने वाला यह भाव केवल बौद्धिक नही होता, जैसा समझने की आशका हीगल क बुद्धि-वादी दर्शन म हो सकती है। कला क रूप म व्यक्त और साकार होने वाले भाव लौकिक, प्राकृतिक ऐन्द्रिक, बौद्धिक और आत्मिक सभी प्रकार के हो सकते हैं। इनम आत्मिक भाव कला के स्वरूप और सौन्दर्य क सबसे अधिक निकट होते हैं। अन्य भाव भी कला के उपादान बनकर अपने स्वरूप म सीमित नही रहते वरन कला के मौलिक आत्मिक भाव म अन्वित हो जात हैं। इस अन्वय के द्वारा हो वे कला के उपादान बनते हैं। हीगल की परिभाषा में अपेक्षित दूसरा सशोधन यह है कि कला की अभिव्यक्ति का रूप केवल ऐन्द्रिक नहीं होता। ऐन्द्रिकता कला के रूप का केवल बाहरी पक्ष है। इसके अतिरिक्त कला के इस रूप का एक आन्तरिक पक्ष होता है जिसे आत्मिक कहना उचित होगा। काव्य की अर्थवती कला म रूप का यह आन्तरिक पक्ष अधिक स्पष्ट होता है। यहां यह सकेत कर देना भी आवश्यक है कि कला की अभिव्यक्ति का यह रूप साधारण 'रूप' न होकर 'रूप का अतिशय' होता है। रूप के इस अतिशय मे ही कला का सौन्दर्य प्रकाशित होता है। रूप के इस अतिशय मे, विशेषत काव्य मे, अभिव्यक्ति का आन्तरिक रूप अधिक निखरता है।

कला और सौन्दर्य का यह आन्तरिक और आत्मिक पक्ष आनन्द को प्रमुख बना देता है। जब हम कला के ऐन्द्रिक माध्यमो के ऐन्द्रिक सुख से ही प्रभावित होते हैं तब वस्तुत हम इन ऐन्द्रिक माध्यमो, ऐन्द्रिक एव व्यक्तिगत सुख मे ही अनुरक्त हो जाते हैं और कलात्मक सौन्दर्य के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श नही कर पाते। यह कला के स्वरूप का नही वरन् केवल उसके उपकरण और माध्यमो का आस्वादन है। इन उपकरणो और माध्यमो का आस्वादन कलात्मक रचनाओ के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक स्थितियो मे भी किया जा सकता है। प्रकृति के सौन्दर्य मे भी सौन्दर्य के स्वरूप को छोड कर इन माध्यमो की सुखद सम्वेदना हमे प्रभावित

कर सकती है। प्रकृति और मनुष्यों के रूप रंग में प्रायः हम सौन्दर्य के स्थान पर माध्यम के प्राकृतिक गुण से प्रभावित होते हैं। सौन्दर्य केवल माध्यम का प्राकृतिक गुण नहीं है वरन् उसके अतिरिक्त रूप का एक अतिशय है, जिसके क्षितिजों का विस्तार अभिव्यक्ति की व्यवस्थाओं और उसके आकारों में होता है। यह आकार एक योजना और समष्टि है। सम्वेदना का सुख इस योजना को भंग कर माध्यम के खंडों का आस्वादन करता है। सुख के प्राकृतिक माध्यम के आस्वादन के प्रसंग में माध्यम का यह खंडन विचारणीय है तथा कलात्मक सौन्दर्य के आस्वादन में माध्यम के रूप के अतिशय और उसकी योजना की अखंडता अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुख के साथ उपयोगिता का भाव भी लगा रहता है। उपयोगी तत्व और रूप उपभोग में सुखकर बन जाते हैं। उपयोगिता का अर्थ एक प्रकार से उनको सुख देने की योग्यता ही है। इसीलिए इंग्लैंड के सुखवादी नीति दर्शन को उपयोगितावाद का नाम दिया गया। यह उपयोगितावादी दर्शन वस्तु के रूप और तत्व के महत्व को खंडित करता है। वस्तु के ये तत्व और रूप सुख के साधन बन जाते हैं। तत्व के प्रति तो मनुष्य का दृष्टिकोण प्रायः उपयोगितावादी होता है। केवल वैज्ञानिक तत्व के स्वरूप को अपने आप में महत्व देते हैं और उसका अनुसंधान करते हैं। उनका दृष्टिकोण तात्विक और वस्तुवादी होता है। किन्तु सामान्य जन तत्व को उपयोग की दृष्टि से ही देखते हैं। उपयोगितावादी दृष्टिकोण में प्रायः रूप का महत्व नहीं होता, यदि वस्तु का रूप ही किसी प्रयोजन के लिए उपयोगी हो तो दूसरी बात है। ऐसी स्थिति में तत्व की भाँति रूप भी उपयोग का साधन बन जाता है। यह दृष्टिकोण सौन्दर्य की भावना के विपरीत है। सौन्दर्य की धारणा में हम रूप को अपने आप में महत्व देते हैं। इसी कारण 'रूप' शब्द 'सौन्दर्य' का पर्याय बना। रूप ही सौन्दर्य है। रूप के अतिशय में वह सौन्दर्य निखरता है। सौन्दर्य के आस्वादन में निस्सन्देह एक सुखद अथवा आनन्दमय अनुभव होता है। किन्तु इस अनुभव के होते हुए भी हम सौन्दर्य को अपने आप में महत्व देते हैं। सौन्दर्य की सराहना में हम सौन्दर्य को ही महत्व देते हैं। किसी भी सुन्दर वस्तु, दृश्य अथवा रचना को देखकर हमारे मुख से यही निकलता है कि यह कितनी सुन्दर है। हम यह नहीं कहते कि यह कितनी सुखदायक है। सुख का अनुभव स्वार्थमय होता है तथा उसका अन्वय व्यक्ति के अहंकार में होता है। सौन्दर्य की दिशा

वस्तु की ओर है और सुख की दिशा व्यक्ति की ओर होती है। सुख और सौन्दर्य की ये विपरीत दिशाएँ इनके सम्बन्ध को विचारणीय बना देती हैं।

किसी भी रूप में सुख के साथ सौन्दर्य का सम्बन्ध मानते हुए भी यह निश्चित है कि सौन्दर्य सुख का साधन नहीं है और न कला का लक्ष्य सुख है। कला और सौन्दर्य अपने आप में साध्य हैं। समात्मभाव के आधार तथा रूप के अतिशय और सृजनात्मकता की दृष्टि से आनन्द को सौन्दर्य का फल मान सकते हैं। आत्मा के साम्य में उदित होने के कारण आनन्द व्यक्तिगत नहीं है। अत वह सौन्दर्य के स्वरूप के अधिक निकट है। आनन्द भी सुख के समान एक आन्तरिक अनुभव है। किन्तु वह सुख के समान केवल भोग म नहीं है। भोग सुख का सर्वस्व है। भोग एक ग्रहणात्मक वृत्ति है। वह केवल आदान है। इस दृष्टि से वह पूर्णत प्राकृतिक धर्म है। किन्तु आनन्द प्राकृतिक धर्म नहीं है। वह आत्मा का भाव है। अत वह व्यक्तिगत अथवा स्वार्थमय नहीं है। इसके अतिरिक्त वह केवल ग्रहणात्मक नहीं है। आदान आनन्द का सर्वस्व नहीं है। आन्तरिक अनुभव होते हुए भी आनद अभिव्यक्ति की ओर उल्लसित होता है। सुख का अनुभव सुख और कांति की आँखो मे आलोकित नहीं होता। प्राकृतिक होते हुए भी सुख का अनुभव पूर्णत अन्तर्मुख है। बहिर्मुख विमर्श और उसकी वृत्ति नहीं होती। आनन्द का अनुभव भी आन्तरिक और अन्तर्मुख होता है। किन्तु इसके साथ-साथ व्यक्तिगत न होने के कारण उसमें बहिर्मुख अभिव्यक्ति का विमर्श प्रकट होता है। आनन्द के आन्तरिक अनुभव का प्रकाश अभिव्यक्ति और वितरण के विमर्श मे सहज भाव से स्फुटित होता है। शिव मे शक्ति के अन्तर्भाव की भाँति आनन्द के प्रकाश मे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य अथवा विमर्श का समवाय रहता है। अत स्वरूप से ही आनन्द सौन्दर्य के निकट है। सुख और आनन्द का यह रहस्य कला और सौन्दर्य के प्रसग मे सूक्ष्मता पूर्वक विचारणीय है।

जिस प्रकार प्राकृतिक और बाह्य माध्यमो का सौन्दर्य से कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार सुख का भी सौन्दर्य और आनन्द से कोई आवश्यक विरोध नहीं है। अधिक स्वार्थमय और अपने मे अधिक विलीन होने पर सुख सौन्दर्य तथा आनन्द का उपेक्षक अथवा विरोधी बन सकता है। किन्तु अपने स्वरूप की सामान्य सीमा मे दोनो के साथ उसकी सगति भी सम्भव है। विरोध और सगति की परि-स्थितियो पर अलग विचार करना होगा। किन्तु सगति की अवस्था मे भी सुख,

सौन्दर्य और आनन्द के स्वरूप एव लक्षणो मे विवेक करना होगा। ऊपर हमने इसी विवेचन का कुछ प्रयत्न किया है। कला और सौन्दर्य के प्राकृतिक, भौतिक और बाह्य उपकरणो, उपादानो तथा माध्यमो को प्राय सुखकर भी माना जा सकता है। किन्तु कला के सहयोगी बनकर वे केवल प्राकृतिक नहीं रहते। इनका प्राकृतिक स्वरूप समात्मभाव रूप के अतिशय तथा सौन्दर्य के सृजन के आत्मिक भावो में समाहित हो जाता है। ये आत्मिक भाव आनन्द के स्रोत हैं। इन्ही के द्वारा कला का सौन्दर्य आनन्द का निर्झर बनता है। इस आनन्द को कलात्मक सौन्दर्य का फल कहना भी कठिन है क्योंकि मूल रूप मे कला समात्मभाव के आनन्द की सहज अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य और कला के आस्वादन में जो आनन्द मिलता है उस भी आस्वादकों के समात्मभाव के मूल आनन्द से पृथक करना कठिन है। विश्व म ब्रह्म की भाँति कला और सौन्दर्य मे आनन्द आद्यन्त ओत-प्रोत रहता है। अत सौन्दर्य में रूप के अतिशय तथा कला मे समात्मभाव और सृजन का विवक करत हुए भी सौन्दर्य और आनन्द को शक्ति और शिव की भाँति अभिन्न मानना ही उचित है। 'शिव' शक्ति का प्रकाश है। 'शक्ति' शिव के प्रकाश का विमर्श है। इसी प्रकार 'सौन्दर्य' आनन्द की अभिव्यक्ति अथवा उसका विमर्श है। 'आनन्द' सौन्दर्य का प्रकाश है। सुख कला और सौन्दर्य के प्राकृतिक, भौतिक एव ऐन्द्रिक उपकरणो एव माध्यमो के आस्वादन का अनुभव अथवा फल है। कला और सौन्दर्य के प्रसग मे सुख के अनुभव की प्रधानता व्यक्तिगत तथा प्राकृतिक दृष्टिकोण की प्रधानता होने पर और इसके फल-स्वरूप कला एव सौन्दर्य के विशेष लक्षणो की उपेक्षा होने पर ही सम्भव हो सकती है। चित्रो के अकन, काव्यो के वर्णन आदि म विषय, उपादान, उपकरण और माध्यम से प्राप्त होने वाला सुख लौकिक जीवन के उस सुख के ही समान है जिसमे हमारा दृष्टिकोण व्यक्तिगत, स्वार्थमय तथा उपयोगितावादी होता है और जिसम हम सौन्दर्य के रूप और कला के सौन्दर्य को ध्यान अथवा महत्त्व नहीं देते। ऐसा दृष्टिकोण कला और सौन्दर्य के स्वरूप की उपेक्षा करता है। रूप के सौन्दर्य और कला के सृजन तथा दोनो के आधारभूत समात्मभाव मे समाहित होने पर सुख का यह अनुभव सौन्दर्य एव आनन्द मे उसी प्रकार समन्वित हो जाता है जिस प्रकार सुख के निमित्त सौन्दर्य एव कला के उपादान, उपकरण, एव माध्यम बन जाते हैं।

अध्याय ५२

सौन्दर्य, संवेग और रस

कलात्मक सौन्दर्य के साथ सुख और आनन्द के सबन्ध के विवेचन के प्रसग मे सौन्दर्य और सवेग के सम्बन्ध का विचार करना भी उचित है। सवेग भावना की ऐसी परिपक्व अवस्था है जिसमे हमारे शरीर और मन की स्थिति असाधारण होती है। मनोविज्ञान के अनुसार सवेग शरीर और मन की एक उत्तेजित अवस्था है। सवेग के मानसिक पक्ष मे एक तीव्र अनुभूति का मर्म रहता है जिसे वुडवर्थ ने सवेग की स्थिति का केन्द्रीय तत्व माना है।[८७] इसके आगिक पक्ष में शरीर और इन्द्रियाँ बडी तीव्रता से उत्तेजित होते हैं। हृदय और श्वास की गति तीव्र हो जाती है। चेहरा और आँखे हर्ष मे चमक उठते हैं और क्रोध मे लाल हो जाते हैं। **इस प्रकार मानसिक और आंगिक दोनों ही दृष्टियों से संवेग एक असाधारण अवस्था है।** असाधारण होते हुए भी यह जीवन मे इस दृष्टि से साधारण भी है कि व्यवहार की परिस्थितियो मे प्राय पैदा हो जाती है। कला और काव्य मे इस सवेग का क्या स्थान है? कलात्मक सौन्दर्य से सवेग का क्या सम्बन्ध है? यह विचारणीय है। कैरिट के समान कुछ लोग सवेग को सौन्दर्य का आवश्यक अग मानते हैं। कैरिट ने अपने ग्रन्थ के अन्त मे यह विश्वास प्रकट किया है कि अधिकाश विचारको का मत इस ओर है कि सौन्दर्य सवेग की अभिव्यक्ति है। सवेग अथवा भावना की अभिव्यक्ति सर्वदा सुन्दर होती है। सौन्दर्य की अनुभूति क्रियात्मक होती है किन्तु कैरिट की दृष्टि मे यह क्रिया भावना अथवा सवेग के अनुभावन की क्रिया है।[८८] **संक्षेप में कैरिट संवेग को सौन्दर्य का आवश्यक अंग मानते हैं; उनकी दृष्टि में सौन्दर्य संवेग की स्थिति है। इसी प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र में रस की कल्पना भी संवेग के बहुत निकट है।** डा० राकेश गुप्त ने रस के मनोवैज्ञानिक विश्लेपण मे अन्तत: यही प्रतिपादित किया है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस की कल्पना सवेग के सबसे अधिक निकट है।[८९] भरत की प्रसिद्ध परिभापा के अनुसार विभाव, अनुभाव आदि के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अनुभाव सवेग की आगिक अभिव्यक्ति के उपकरण हैं। रस का आतरिक रूप सवेग की अनुभूति का वह आन्तरिक मर्म है

जिसे वुडवर्थ ने सवेग का केन्द्रीय तत्व माना है।[६०] रस का वास्तविक रूप सभी आन्तरिक अनुभूतियों की भाँति चिन्मय है। सामान्यत रसवादियों के अनुसार वह चेतना का शुद्ध और निर्विकल्प रूप नहीं है जिसे वेदान्त मे ब्रह्मानन्द कहा जाता है किन्तु वह इसके अत्यन्त निकट है। इसीलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर माना जाता है। काव्य के रस म रति आदि का अवच्छेद ब्रह्मानन्द की शुद्ध चेतना का व्यावर्तक होने के साथ साथ काव्यानन्द का उससे विभाजक भी है। पश्चिमी कला-शास्त्र मे अनेक विद्वान् कला और सौन्दर्य को भावना की अभिव्यक्ति मानते हैं। भावना सवेग का ही सरल रूप है। सवेग में सुख और दु ख दोनो की भावनाओ का सम्मिश्रण सम्भव है यद्यपि उसमे भावना की अपेक्षा उत्तजना अधिक होती है। हिन्दी मे भावना का अर्थ कुछ व्यापक और अनिश्चित सा है किन्तु अग्रजी के 'फीलिंग' मे सुख दु ख की सरल सवेदनाएँ ही मानी जाती हैं। हिन्दी की भावना के व्यापक अर्थ म सवेग का भी समाहार है। व्यापक अर्थ म भावना अग्रजी के अफेक्शन का समानार्थक है जिसमे मनुष्य के मन की व प्रतिक्रियायें सम्मिलित हैं जिनका सबध ज्ञान को तटस्थ दृष्टि और शरीर की बाह्य क्रियाओ की अपक्षा मन की अनुभावात्मक प्रियता और प्रसन्नता से अधिक है।

कला और सौन्दर्य से भावना अथवा सवेग का क्या सवन्ध है? भावना कला की वृत्ति है, इसमे किसी अश तक सत्य है क्योकि कला बुद्धि का तटस्थ दृष्टिकोण नही है। ज्ञान के विषय और क्रियाएँ कला के उपादान बन सकते हैं किन्तु भावना कला का स्वरूप ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे रागात्मिका वृत्ति कहकर काव्य का लक्षण बताया है। राग एक आत्मीयता का सम्बन्ध है जो बुद्धि के तटस्थ भाव से भिन्न है। बुद्धि का धर्म केवल अवगति है। वह किसी तथ्य की सत्ता का उदासीन स्वीकृति मात्र है। उस तथ्य के मूल्य और महत्त्व से बुद्धि का सीधा सरोकार नही है। उसके मूल्य और महत्त्व का ध्यान करते ही बुद्धि का उदासीन दृष्टिकोण रागात्मक वृत्ति बन जाता है। जिस राग मे अपने महत्व और मूल्य का आग्रह अधिक होता है उसे 'मोह' कहना अधिक उचित है। राग के वास्तविक रूप में जिस वस्तु के प्रति राग होता है उसका मूल्य और महत्व अधिक होना है। इस दृष्टि से यह राग प्रेम का समानार्थक है। इसीलिए भाषा के प्रयोग मे 'अनुराग' प्रेम का वाचक बना। कला और काव्य की यह रागात्मिका वृत्ति उस आत्मानुराग की समानार्थक नही है जो मनोवैज्ञानिक भावना और सवेग का सामान्य अभिप्राय

है। मनोविज्ञान संवेदना और अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता पर अधिक जोर देता है। इसमे सन्देह नही कि व्यक्ति ही समस्त अनुभूतियों का केन्द्र है, किन्तु चेतना की समस्त विभूति इस केन्द्र म ही सीमित नही है। उसका विस्तार जीवन के व्यापक क्षितिजो पर होता है। इन क्षितिजो के आलोकमय अन्तरिक्षो में जीवन की चेतनायें व्यक्तित्वो की सीमित परिधि से निकलकर एक दूसरे का आलिङ्गन करती हैं। राग यदि पूर्णत परार्थ नही है तो वह पूर्णत स्वार्थ भी नही है। हम उसे पारस्परिक भाव कह सकते हैं। वस्तुत उसमे परार्थभाव अधिक है क्योकि दूसरे के व्यक्तित्व का मूल्य और महत्व उसका स्वरूप है। इस राग मे चेतना के बिन्दु का विस्तार और उसकी समृद्धि होती है। इस दृष्टि से हम इसे स्वार्थ भी कह सकते हैं, किन्तु वह संवेदना की आत्म सीमित अनुकूल-वेदनीयता से अत्यन्त भिन्न है। एक अर्थ मे इस राग मे तादात्म्य भी होता है। इस तादात्म्य मे एक तन्मयता होती है जिसका संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् में पति पत्नी के प्रेम विभोर आलिंगन की उपमा के द्वारा किया गया है। हमने चेतना की इस स्थिति को समात्मभाव का नाम दिया है तथा उसे कला और सौन्दर्य का स्रोत माना है। इस समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यजना कलात्मक सौन्दर्य को आकार देती है। कला की इस स्थिति और सौन्दर्य के इस स्वरूप म भावना और संवेग के व्यक्तिगत तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यो का क्या स्थान है, यह विचारणीय है। तत्व की दृष्टि से जीवन के अन्य तथ्यो की भाँति ये भी कला और काव्य के उपादान बन सकते हैं। समस्या का मर्म यह है कि काव्य के स्वरूप में इनका क्या स्थान है।

भावना का सरलतम रूप सुख-दु ख की संवेदनायें हैं, जिन्हें अंग्रेजी मे फीलिंग कहते हैं। व्यक्तिगत सम्वेदना की सीमा मे ही सुख दु ख के इस प्राकृतिक भेद की विभाजक रेखाएँ स्पष्ट हैं। समात्मभाव के क्षेत्र मे उठते ही ये विभाजक रेखाएँ धुँधली होने लगती हैं। प्राकृतिक सुख-दु ख की भूमि पर समात्मभाव के क्षितिजों पर आनन्द के रंजित और सरस मेघ झुकने लगते हैं। इस प्रकार सुख-दु ख आनन्द के निमित्त बन जाते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र मे आनन्द को काव्य का फल माना जाता है। उसका समाधान यही है कि समात्मभाव की स्थिति मे जीवन के सभी निमित्त सौन्दर्य और आनन्द के स्रोत बन जाते हैं, चाहे यह दृष्टिकोण काव्य शास्त्र की परिभाषाओ मे स्पष्ट न हो। इसका निष्कर्ष यह है कि सुख-दु ख की संवेदनाएँ

कला और काव्य का स्वरूप नही हैं, वे काव्य की निमित्त और उपादान बन सकते हैं। सुख और सौन्दर्य के विवेचन मे इसके पूर्व यह स्पष्ट किया गया है कि सुखमय सम्वेदनाओ की अनुकूल-वेदनीयता और प्रियता कलात्मक सौन्दर्य का आवश्यक अग नही हैं। रूपात्मक कलाओ के माध्यम मे रूप की चारुता और प्रियता सौन्दर्य की सहयोगी हो सकती है। यह ध्यान रखना होगा कि समात्मभाव के सस्कार से युक्त होने पर ही सुख की अनुकूल-वेदनीयता कलात्मक सौन्दर्य का निमित्त बनती है, अन्यथा वह सम्वेदना की प्राकृतिक और व्यक्तिगत सीमा में ही रहती है।

संवेग की स्थिति शरीर और मन की एक असाधारण और उत्तजित व्यवस्था है। उत्तेजना के कारण सवेग मे यह भाव तीव्र और उग्र होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से कुछ सवेगो मे दर्प और कुछ मे भय होता है। एक अतिरजित आत्म-गौरव का और दूसरा अतिरजित हीनता का भाव है। दोनो ही स्थितियो की तीव्र अनुभूति सीमित अर्थ मे व्यक्तिगत होती हैं। असाधारण होने के अतिरिक्त सवेग उग्र रूप से स्वार्थमय होते हैं। केवल रति और वात्सल्य के भावो म कुछ परार्थ का भाव प्रतीत होता है। ऐसा होने पर हमे इनको अन्य सवेगो से पृथक मानना होगा। इसके अतिरिक्त इन सवेगो की स्थिति मे अपने शरीर में होने वाले विकारो का सामजस्य परार्थ से करना होगा। यह कठिन है, क्योकि शारीरिक विकारो का स्वरूप स्वार्थमय होता है। इस सामजस्य के लिए इन विकारो को परार्थ का निमित्त सिद्ध करना होगा। प्रेम और वात्सल्य मे यह सभव है, किन्तु इसके लिए चेतना को व्यक्तित्व और अहकार की परिधि से ऊपर उठाकर समात्मभाव के क्षितिजो पर विस्तृत करना होगा। सामान्यत यह स्थिति सवेग की अपेक्षा शान्तभाव मे अधिक सभव है। शान्त भाव मे चेतना निर्वात जल के पटल के समान प्रसन्न होती है। इस प्रसन्न स्थिति मे ही उसके स्वरूप का आलोक और सौन्दर्य विभासित होता है। सवेग की अवस्था विक्षुब्ध सरोवर के तरगित जल-पटल के समान है। सवेग की असाधारण स्थिति समात्मभाव के सौन्दर्य के कितनी अनुकूल है, यह कहना कठिन है। यदि सवेग को हम कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप अथवा आवश्यक अग मानें तो उसमें सबसे बडी कठिनाई यह है कि सवेग की असाधारण स्थिति के अनुरूप कलात्मक सौन्दर्य को असाधारण मानना होगा तथा जीवन की साधारण स्थितियों को कला के लिए अनुपयुक्त मानना होगा। स्वय कला और काव्य का इतिहास इस धारणा को अप्रमाणित करता है। समस्त कला और काव्य सवेग को

असाधारण अवस्था का ही अकन नही है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे शान्तरस को सम्मिलित करके इस स्थापना को व्यापक अवश्य बना लिया है, किन्तु वस्तुत शान्त रस की प्रशान्त स्थिति अन्य सवेगो की आवेगमय स्थिति से पूर्णत भिन्न है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद कोई भाव नही है। वह समस्त भावो का अभाव है, वह राग नही वीतराग है। रागात्मक सम्बन्ध के विपरीत होने के कारण वह किस प्रकार कला और काव्य का आधार बन सकता है, यह समझना कठिन है। निर्वेद की शान्ति एक निषेधात्मक शान्ति है। उसे हम इस श्मशान की शान्ति कह सक्ते हैं। जीवन और जगत की शान्ति भावात्मक है। वह पूर्णता, सामजस्य और प्रसन्नता का भाव है। *यह शान्ति चेतना का आन्तरिक भाव है, अत बाह्य* स्थितियो के उद्वेलन मे भी मणिप्रदीप की भाँति उसका आलोकित रहना सम्भव है। अन्तत इस आन्तरिक सामजस्य और शाति का बाह्य स्थिति के सामजस्य मे साकार होना सभव ही नही, स्वाभाविक है। किन्तु आगिक उद्वेग के साथ आन्तरिक शाति की सगति कठिन है। दूसरी ओर अनुभाव के रूप मे आगिक आवेग-रस के आवश्यक अग हैं। *शात रस को सम्मिलित करके रस की कल्पना मे कुछ विषमता* उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् इसीलिए रस की मौलिक व्यवस्था मे शात रस को सम्मिलित नही किया गया था।

शृंगार आदि शेष रसो की व्यवस्था भी एक-सी नहीं है। शृगार, करुणा और वात्सल्य मे आश्रय का आलबन के साथ अनुकूलता का सबन्ध होता है। उसके विपरीत वीर, वीभत्स, रौद्र, भयानक और अद्‌भुत मे आश्रय का आलम्बन के साथ प्रतिकूलता का सम्बन्ध होता है। अनुकूलता मे भाव के सामजस्य की सम्भावना रहती है। प्रतिकूलता मे विषमता, विरोध और सघर्ष स्वाभाविक होते हैं। अनुकूलता और सामजस्य मे आश्रय और आलबन दोनो के व्यक्तित्व के गौरव और उनकी भाव सम्पत्ति की समृद्धि होती है। इसके विपरीत प्रतिकूलता के सबन्ध में एक व्यक्तित्व का उत्कर्ष दूसरे व्यक्तित्व की हीनता पर पलता है। इस विषमता के कारण प्रतिकूलता की परिस्थिति मे समात्मभाव सभव नही है। अनुकूलता की स्थितियो मे समात्मभाव सभव ही नही स्वाभाविक है। अत शृगार, करुण और वात्सल्य मे सौन्दर्य की सभावना सहज होती है। **इन रसों में सौन्दर्य की संभावना अधिक होने के कारण अधिकांश काव्य में इनकी ही प्रधानता है।** इन रसो मे भी अनुभाव के रूप मे आगिक विकार और उद्वेग रहते हैं किन्तु उनमे अधिकाश ऐसे होते

हैं जिनका शान्ति और समात्मभाव से आवश्यक विरोध नहीं होता। यह भी कह सकते हैं कि उनमें से अधिकाश समात्मभाव के सम्वर्धक हैं। इसके विपरीत वीर, वीभत्स आदि के अनुभाव समात्मभाव के घातक हैं। उनके आश्रय और आलंबन में ही नहीं, उनके आश्रय और दर्शकों में भी समात्मभाव सम्भव नहीं है। इसी कारण जीवन की वास्तविक स्थितियों में इन रसों में सौन्दर्य का उदय नहीं होता। वीर के अतिरिक्त काव्य में अन्य चार रसों का वर्णन बहुत कम है। जीवन और सभ्यता में भी हम इन रसों की स्थितियों को दूर ही करना चाहते हैं। किन्तु काव्य-शास्त्र सभी रसों में समान रूप से सौन्दर्य और आनन्द की सम्भावना मानता है। जीवन में ये सभी रस समान रूप से सौन्दर्य और आनन्द की उत्पत्ति नहीं करते यह स्पष्ट है। काव्य में इन रसों के वर्णन में जो सौन्दर्य और आनन्द उत्पन्न होता है वह जीवन का सौन्दर्य और आनन्द ही नहीं वरन् कलात्मक अभिव्यक्ति का रूपात्मक सौन्दर्य और आनन्द भी है। कला की केवल रूपात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य तत्व-निरपेक्ष है। तत्व-निरपेक्ष होने के कारण अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के लिए उसके जीवन-गत आधार में सौन्दर्य होना आवश्यक नहीं। एक कुरूप स्त्री का चित्र तत्व की दृष्टि से नहीं वरन् अभिव्यक्ति की दृष्टि से ही सुन्दर माना जाता है। तत्व में सौन्दर्य का अभाव होने के कारण यह केवल रूप का सौन्दर्य हमें अधिक आकर्षित भी नहीं करता। इसीलिए अभिव्यक्ति की दृष्टि से सुन्दर होते हुए भी रौद्र, वीभत्स आदि के चित्रण हमें प्रिय नहीं लगते। नाटक और सिनेमा में दुष्ट और घृणित पात्रों को देखकर हमें आनद का अनुभव नहीं होता। काव्य की अभिव्यक्ति के समान तत्व से दृष्टि हटाकर केवल अभिनय में हम सौन्दर्य देख सकते हैं। शृंगार, करुण और वात्सल्य में समात्मभाव की सम्भावना होने के कारण विषय और चेतना दोनों की दृष्टि से भाव-तत्व का सौन्दर्य स्वाभाविक होता है। वीर रस की स्थिति कुछ विचित्र है। वीर रस का स्थायी भाव ओज मनुष्य का एक वांछनीय गुण है। वीरत्व का उचित क्षेत्र अनीति का विरोध तथा सज्जनों और दुर्बलों की रक्षा है। वीरत्व मन का ओज और कृतित्व का साहस है। अनीति और दुष्टों के विरोध के साथ-साथ उसमें सज्जनों और दुर्बलों के साथ समात्मभाव भी होना है। दर्शकों और पाठकों का समात्मभाव वीरों और उनके रक्षणीयों दोनों के साथ होना है। इस समात्मभाव में ही वीर-रस में सौन्दर्य का उदय होता है। वीर रस के आलम्बन विरोध के कारण शृंगार, वात्सल्य आदि की भाँति समात्मभाव के अधिकारी नहीं

बन पाते। उनकी अनीति विरोध की भावना उत्पन्न करके असमात्मभाव का ही कारण बनती है। यह विरोध समात्मभाव को सकीर्ण किन्तु तीव्र बनाता है। वीरत्व का यही रूप उचित है। अनीति के विरोध और सज्जनों की रक्षा के बिना वीरत्व की कल्पना असगत और अतिशयोक्ति पूर्ण है।

किन्तु विरोध के कारण वीर रस मे भी उत्तजना होती है। इसीलिए सैनिकों को उत्तजित करने के लिए भारतीय सेना मे महाभारत और आल्हा के पाठ का प्रबध था। रौद्र बीभत्स, भयानक आदि में भी आलम्बन तीव्र विरोध उत्पन्न करता है। इस विरोध के कारण उत्तजना के साथ उग्र आगिक विकार पैदा होते हैं। *ये आगिक विकार भी आलम्बन के समान ही समात्मभाव के विरोधी होते हैं।* इसके विपरीत शृगार और वात्सल्य की स्थिति म आलबन और अनुभाव दोनो समात्मभाव के अनुकूल होते हैं। शृगार और वात्सल्य म भी कुछ विशेष परिस्थितियो मे तीव्र अनुभावो की सम्भावना रहती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन तीव्र अनुभावो की स्थिति मे ही रसानुभूति भी तीव्र हो। मन्द अनुभावो की स्थिति मे भी तीव्र रसानभूति सम्भव है। वस्तुत समात्मभाव के अनुकूल होने के कारण इन रसो का अनुभव जीवन का सामान्य धर्म भी बन सकता है। इसके विपरीत वीर, बीभत्स आदि आगन्तुक और उत्पाद्य हैं। वे विरोध की स्थिति के प्रत्यक्ष होने पर जागरित होते हैं। विरोध चेतना की प्रतिकूल वृत्ति है, वह उसका *स्वभाव नहीं है। इसीलिए विरोध की परिस्थितियो के परोक्ष होने पर विरोध मन्द* हो जाता है। एक दीर्घकाल का परोक्ष होने पर शत्रुता के भाव अत्यन्त मन्द हो जाते हैं और समात्मभाव उदित होने लगता है। मनुष्य की चेतना का स्वभाव होने के कारण यह समात्मभाव स्थायी रूप म रहता है। आगिक अनुभावो पर इसकी अनिवार्य निर्भरता नहीं है। मन्द और तीव्र दोनो प्रकार के अनुभाव इसके निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उद्वेगहीन तथा शात स्थितियो और व्यवहारो मे भी शृगार और वात्सल्य की रसानुभूति सम्भव है। सम्भव ही नहीं सामान्य जीवन और व्यवहार म वह इसी रूप मे होती है। शृगार को काम के सम्बद्ध होने के कारण जीवन, व्यवहार और काव्य मे उसके शारीरिक अनुभावो को बहुत महत्व दिया जाता है। शारीरिक काम शरीर की उत्तेजना पर निर्भर है। *किन्तु काम, रति और शृगार* का मानसिक भाव इससे अधिक व्यापक है। वस्तुत उसका शुद्ध और श्रेष्ठ रूप तो व्यवहार की शात परिस्थितियो म ही विदित होता है। वात्सल्य मे शारीरिक

सम्बन्ध की अपेक्षा मानसिक भाव का अधिक महत्व है। माँ की गोद में शांति पूर्वक लेटे हुए शिशु और प्रशान्त हर्ष से निहारती हुई माँ के पारस्परिक भाव में वात्सल्य का शुद्धतम रूप साकार होता है। इसी प्रकार दिलीप और सुदक्षिणा की भाँति वन यात्रा करते हुए अथवा जयशंकरप्रसाद की चित्रकूट विषयक कविता के अनुरूप साथ साथ बैठे हुए राम-सीता के समान प्रशान्त भाव से पारस्परिक समात्म-भाव में विभोर दम्पत्ति शृंगार के शुद्ध रूप का अनुभव करते हैं। शारीरिक दृष्टि से आंगिक अनुभावों की उत्तेजित अवस्था में सम्वेदना तीव्र होती है। इन अनुभावों के प्रभाव से संवेग का मानसिक मर्म भी तीव्र हो जाता है। संवेग के मानसिक पक्ष की तीव्रता में ही प्राय लोग रसानुभूति की भी तीव्रता मानते हैं। किन्तु हमारा विश्वास है कि आंगिक अनुभावों और मानसिक संवेगों की तीव्रता को रस-निष्पत्ति का कारण बनाना रस के वास्तविक और आन्तरिक स्वरूप को भ्रान्त करना है। रस चेतना का जाग्रत भाव है, यह सभी मानते हैं। रति आदि के भाव उसके अवच्छेदक हो सकते हैं किन्तु वे उसके उत्पादक कारण नहीं हैं। जिन अनुभावों और स्थितियों के साथ समात्मभाव की संगति है उनकी रस के साथ भी पूर्ण संगति सम्भव है, क्योंकि समात्मभाव ही रस का स्वरूप है। किन्तु रस का स्वरूप इन सबसे स्वतंत्र है। सभ्यता के विकास में जीवन का सामान्य व्यवहार और सम्बंधों में समात्मभाव के मन्दतर होने के कारण असाधारण अनुभावों की उत्तेजना के द्वारा रसानुभूति को तीव्र बनाने की आवश्यकता हुई, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वस्थ काम और स्वस्थ भूख के मंद होने पर सभ्य समाज में दोनों की उत्तेजना के साधन अपनाये गये हैं।

सत्य यह है कि रस और सौन्दर्य जीवन की असाधारण अवस्थायें नहीं हैं और न वे असाधारण उत्तेजना की परिस्थितियों में ही जागरित होते हैं। शान्त, मन्द और उत्तेजित तीनों ही प्रकार की उन स्थितियों में रस और सौन्दर्य की भावना सम्भव है, जो समात्मभाव के अनुकूल है। विरोध और विषमता उत्पन्न करने वाली स्थितियाँ अपने आप में रस और सौन्दर्य का कारण नहीं हैं। विरोध के द्वारा वे समात्मभाव को संकुचित और तीव्र बना सकते हैं। अस्तु वे कुरूपता और जुगुप्सा के आलम्बनों की भाँति रस और सौन्दर्य के प्रतियोगी हैं। रस और सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप समात्मभाव है। इस स्वरूप की आभा शांत स्थिति और साधारण अनुभावों तथा व्यवहारों में अपने शुद्ध और श्रेष्ठ रूप में उदित होती

है। जिन्होने शात रस को ही भवभूति के करुण के समान एक मात्र रस माना है उनका मत एक दृष्टि से अत्यन्त समीचीन है। निर्वेदमूलक शान्त रस की कल्पना निषेधात्मक है किन्तु समात्मभाव-मूलक भावात्मक शान्त रस नि सदेह समस्त रसो का मूल है। समात्मभाव ही रस का स्थायीभाव है। यह सत्य है कि एक ही रस निमित्त भेद से जीवन के व्यवहार मे कई रूपो मे फलित हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत इस रस के रूप नहीं हैं। वस्तुत वे जीवन की रसमय स्थितियां नहीं हैं। काव्य म उनके आलम्बनो का विरोधात्मक तत्व अवास्तविक हो जाता है अत आलम्बन की अवास्तविकता अभिव्यक्ति के रूपात्मक सौन्दर्य की विवृति को अवकाश देती है। तत्व की दृष्टि से ये रस के आलवन नही हैं और वास्तविक जीवन मे नही होते। इनकी विरोधात्मक स्थिति मे उत्पन्न होने वाली असाधारण उत्तेजना अन्य रसो के समात्मभाव की पृष्ठभूमि बन सकती है। शृगार, वीर और वात्सल्य जो वस्तुत रस हैं उनमे भी उत्तेजना से अधिक शान्त स्थितियो मे रस का वास्तविक स्वरूप अधिक निखरता है, यद्यपि समात्मभाव के अनुकूल मन्द और तीव्र अनुभावो की स्थिति मे भी रस सम्भव है। सत्य यह है कि जिस प्रकार क्रोचे की निर्विकल्पक अनुभूति ने कलात्मक सौन्दर्य को साधारण कहते हुए भी एक अत्यन्त असाधारण स्थिति *बना दिया, उसी प्रकार भारतीय रस-सिद्धान्त ने अनुभाव और सवेग की* उत्तेजित अवस्थाओ को रस का आवश्यक अग बनाकर रसानुभूति को एक असाधारण स्थिति बना दिया। वस्तुत रस और सौन्दर्य मनुष्य की चेतना के स्वरूप हैं, तथा निर्विकल्पक अनुभूति अथवा सवेग की उत्तेजना की अपेक्षा अधिक व्यापक और साधारण हैं। इसी व्यापकता और साधारणता के आधार पर हम साधारण जीवन के व्यवहार मे तथा कला और काव्य के प्रसग मे रस और सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। निर्विकल्पक अनुभूति और सवेग की उत्तेजना दोनो असाधारण होने के साथ-साथ अल्पस्थायी हैं। रस और सौन्दर्य की वृत्ति न असाधारण है और न अल्पस्थायी। समात्मभाव में उदित होने के कारण वह जीवन की एक साधारण और स्थायी वृत्ति है। जीवन के जो भी उपकरण समात्मभाव के अनुकूल हैं वे सब रस और सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति के निमित्त बन सकते हैं।

हमारे मत में समात्मभाव ही सौन्दर्य, कला और रस का मूल स्रोत है।

समात्मभाव के आधार पर ही रूप के अतिशय मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। कला सौन्दर्य का सृजन है। वह समात्मभाव के आधार पर रूप के अतिशय की रचना है। यह समात्मभाव ही हमारे मत मे कला और काव्य के रस का स्रोत है। सौन्दर्य समात्मभाव की अभिव्यक्ति का रूप है। वह रूप के अतिशय से सम्पन्न होता है। रस उस समात्मभाव के स्वरूप तथा उसकी भूमिका में अन्य भावों की विभूति की आन्तरिक अनुभूति है। इस दृष्टि से सौन्दर्य और रस शैव-तन्त्र के शक्ति और शिव के समान अभिन्न हैं। प्राकृतिक, भौतिक तथा जीवन के अन्य तत्वो के भिन्न-भिन्न रूपो को उपादान बनाकर सौन्दर्य का रूप अनेक रूपों में खिलता है। किन्तु सौन्दर्य के इन सभी रूपो मे रूप का अतिशय ही सौन्दर्य का विधान करता है और इन सभी रूपों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अथवा रचना मे समात्मभाव की स्थिति अक्षुण्ण बनी रहती है। सौन्दर्य के विविध रूप और उपकरण समात्मभाव के सामान्य भाव को सम्पन्न बनाते हैं। इसी प्रकार रसात्मक अनुभूति भी मन के विविध भावों से सम्पन्न होती है। जीवन के विविध भाव समात्मभाव को अधिक प्रकट और प्रखर बनाते हैं।

यह समात्मभाव इस रूप मे एक सामान्य भाव है कि सौन्दर्य की अनुभूति और कला मे सौन्दर्य की रचना इसके सामान्य आधार पर ही होती है। इनमें समात्मभाव का सामान्य आधार वर्तमान रहता है। यह समात्मभाव सवेग की भाँति शरीर और मन की असाधारण और उत्तेजित अवस्था नही है। स्वार्थ और एकान्त की उदासीनता की तुलना मे ही इसे असाधारण माना जा सकता है। इस उदासीनता की तुलना मे यह इस रूप मे असाधारण है कि यह उदासीनता एक प्रकार की भाव-शून्य अवस्था है तथा इसके विपरीत समात्मभाव मे आन्तरिक भाव का आलोक और स्पदन रहता है। समात्मभाव आत्मा और मन की उदासीन अवस्था नहीं है वरन् इसके विपरीत वह मन की एक अत्यन्त सजग और सचेतन अवस्था है। समात्मभाव की स्थिति मे मन मे उदित होने वाली चेतना की स्फूर्ति का प्रसार शरीर मे भी होता है। किन्तु समात्मभाव का यह व्यापक उल्लास सम्वेग की असाधारण और स्थायी उत्तेजना से कई दृष्टियो से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी सम्वेदनाएँ स्वार्थमय होती हैं और सम्वेगो की उत्तेजना का केन्द्र भी व्यक्ति ही होता है। सम्वेदना और सम्वेग दोनों के उत्तेजक कारण बाहरी विषय होते हैं। किन्तु ये सम्वेदना और सम्वेग के निमित्त मात्र होते हैं। इनके प्रति मनुष्य का साम्यपूर्ण

भाव नहीं होता। सम्वेदना और सम्वेग दोनों में कुछ उपयोगिता का भाव रहता है। ये विषय उस उपयोगिता के साधन बनते हैं। साधन से अधिक इनका मूल्य और महत्व नहीं होता। इनके मूल्य और महत्व का अन्वय उस व्यक्ति की सत्ता मे होता है जो सम्वेदना और सम्वेग का आश्रय होता है। प्राकृतिक होने के कारण सम्वेदना और सम्वेग व्यक्ति के अहकार मे केन्द्रित रहते हैं। सम्वेदना तो पूर्ण रूप से अन्तर्मुख आदान है, उसमे प्रदान का पक्ष नहीं होता। इसका सकेत हम सुख के प्रसग में पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। सम्वेदना और सुख के बाहरी उत्तेजक केवल निमित्त और साधन होते हैं। सम्वेग की कुछ प्रतिक्रिया बाहर भी दिखाई देती है। क्रोध आदि के सम्वेग बाहरी आश्रयो पर भी व्यक्त होते हैं। किन्तु सम्वेग की यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के बिल्कुल विपरीत है। सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति मे उपादानो, उपकरणों और माध्यमों को आदर मिलता है। कला की रचना और आस्वादन करने वाले दोनो इनके साथ साम्य का अनुभव करते हैं। इनके विपरीत सम्वेद की अवस्था में इनके साथ प्राय वैषम्य का सम्बन्ध रहता है। जिन सम्वेगो मे प्रियता होने के कारण अनुकूलता दिखाई देती है उनमें भी स्वार्थ का भाव प्रमुख रहता है। सौन्दर्य और सम्वेग में एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि सौन्दर्य चेतना की स्वतत्रता की अभिव्यक्ति है तथा वह एक स्वतत्र अनुभूति अथवा रचना है, इसके विपरीत सम्वेदना एव सम्वेग की अनुभूति और क्रिया प्राकृतिक होने के कारण पराधीन होती है। सौन्दर्य की अनुभूति और रचना आत्मा की स्वतत्रता का विलास है। उपादानो, उपकरणो और माध्यमों को आदर देते हुए भी सौन्दर्य विवश और पराधीन नहीं है। अनुभव और सृजन की स्वतत्रता सौन्दर्य का मर्म है। इसके विपरीत सम्वेदना और सम्वेग प्राकृतिक एवं पराधीन अनुभव हैं। ये बाह्य विषयों के प्रभाव से शासित होते हैं।

मनोविज्ञान की 'भावना' भी सम्वेग की सहोदरा है। उसमें कुछ सम्वेदना का भी आश्रय रहता है तथा सवेग के समान कुछ उत्तेजना भी रहती है। यह उत्तेजना सुख में प्राय मृदुल होती है। किन्तु दुख मे प्राय सम्वेग के समान तीव्र होती है। मनोविज्ञान की यह भावना व्यक्तिगत और स्वार्थमय होती है। इसमें साम्य के लिये स्थान नहीं होता। जिस भावना को प्राय कला और काव्य का आधार माना जाता है, वह मनोविज्ञान की इस भावना से कुछ भिन्न है। कला और काव्य की यह भावना कुछ उदार होती है। इस भावना की उदारता का अभिप्राय

यह है कि यह केवल व्यक्ति के आश्रय मे केन्द्रित नही रहती वरन् अन्य व्यक्तियो और विषयो के प्रति साम्य की ओर अभिमुख होती है। मनोविज्ञान और कला दोनो की भावना मे एक इतना साम्य अवश्य है कि बुद्धि और मस्तिष्क के स्थान पर इन दोनो का आश्रय हृदय माना जा सकता है। मस्तिष्क की भांति हृदय चेतना का केन्द्र नही है। किन्तु सम्वेग और भावना की अवस्था मे सम्बन्धित नाडी-सस्थान की उत्तेजना के कारण हृदय की गति तथा रक्त की गति कुछ तीव्र हो जाती है। इसी से शरीर मे भी उत्तेजना उत्पन्न होती है। बुद्धि और ज्ञान उदासीन होते हैं। ये वीतराग भाव से वस्तु अथवा तत्व का अनुसधान करते हैं। इनमे न आश्रय के प्रति राग होता है और न विषय के प्रति। मनोविज्ञान की 'भावना' राग से रजित होती है। प्राय मनोविज्ञान की भावना और सम्वेग का राग स्वार्थमय होता है। इनमें दूसरो के प्रति जो राग होता है वह भी प्राय प्राकृतिक और पराधीन होता है। इसके विपरीत कला और सौन्दर्य का राग स्वार्थपूर्ण न होकर साम्य से युक्त होता है तथा एक स्वतत्र स्फूर्ति से प्रेरित होता है।

अस्तु, कला और सौन्दर्य का भाव सम्वेदना और सवेग की मनोवैज्ञानिक स्थितियो से अनेक प्रकार से भिन्न है। जिस साम्य और समात्म की स्थिति मे कलाओ मे सौन्दर्य की रचना होती है उसकी स्वतत्र और रचनात्मक चेतना मनोविज्ञान के सवेग और भावना की स्वार्थमयता और पराधीनता से भिन्न है। किन्तु स्वरूप से भिन्न होते हुए भी सवेग कलात्मक सौन्दर्य के उपकरण बन सकते हैं। कला कृतियो मे ये उपादान के रूप मे मिलते हैं। काव्य मे विभिन्न रसो के रूप मे ये सवेग रस के विधायक माने जाते हैं। कलात्मक सौन्दर्य के साथ इनका सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा कि जीवन और जगत के अन्य उपादानो का है। सवेगो का मानवीय सम्बन्धो मे कुछ विशेष स्थान है। इस नाते सवेग कला मे भी विशेष स्थान पाते रहे हैं। सौन्दर्य के उपकरण होने के साथ-साथ ये सवेग रस के सहयोगी भी बन सकते हैं। सवेग और रस मे जो भिन्नता है उसका कुछ विवेचन हमने ऊपर किया है। यहा विशेष रूप से विचारणीय बात यह है कि कलाकार, सामाजिक, और पात्रो के साथ सवेगो का सम्बन्ध किन दृष्टियो से समान होता है। सामान्य रूप से कलाकार और सामाजिक दोनो की दृष्टि मे कला का सौन्दर्य ही प्रधान होता है। अत उनके लिए सौन्दर्य के निमित्त अभीष्ट साम्य और समात्मभाव ही प्रधान होगा। सामाजिको के लिए यह सम्भव है कि वे कला का उपादान बनने वाले

संवेग अथवा भावना से अधिक प्रभावित हो। ऐसा प्राय होता भी है। कला के सौन्दर्य से अधिक अभिज्ञ न होने के कारण वे कला के उपादानो से प्राय अधिक प्रभावित होते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में वे कला के अनुभावक नहीं रहते। कला का सौन्दर्य उनके लिए गौण हो जाता है। कलात्मक सौन्दर्य को गौण मानकर जब वे संवेगो से प्रभावित होते हैं तो उनकी स्थिति कला और काव्य का उपादान बनने वाले पात्रो के समान होती है। यद्यपि उन दोनों के संवेगो में भिन्नता हो सकती है, किन्तु वे दोनो ही व्यक्तिगत और प्राकृतिक रूप मे संवेगों से प्रभावित होते हैं। ये संवेग प्राकृतिक और लौकिक भाव हैं। कलाकार उन्हें रचना का उपादान बना सकता है किन्तु इनसे प्रभावित होकर वह स्वय कलाकार नहीं बन सकता। सौन्दर्य का सृजन और आस्वादन दोनों ही इस दृष्टि से अलौकिक हैं कि वे स्वार्थ तथा संवेगात्मक उत्तेजना की लौकिक एव प्राकृतिक स्थिति में सीमित रहते हुए सम्भव नहीं हो सकते। समात्मभाव की उदार और साम्यपूर्ण स्थिति में ही सौन्दर्य का सृजन और आस्वादन सम्भव हो सकता है। यही कला के रस के सम्बन्ध में भी सत्य है। रस सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति है। सौन्दर्य की प्रधानता न होने पर मानवीय सम्बधों के आत्मिक भाव में भी रस के निर्झर उमडते हैं। किन्तु रस का उदय भी साम्य और समात्मभाव की स्थिति में ही होता है। रसात्मक अनुभव के आह्लाद में चेतना का उल्लास अवश्य होता है। किन्तु यह उल्लास संवेग के समान विवश उत्तेजना नहीं है। यह चेतना का स्वच्छंद उद्रेक है। प्राकृतिक सम्वेदना और संवेग कला और काव्य के उपादान बन सकते हैं और पात्रो को प्रभावित कर सकते हैं। किन्तु कलाकार और कला के अनुभावक के वे प्रमुख प्रेरक नहीं बन सकते हैं। संवेग कला के उपादान बन सकते हैं, किन्तु वे संवेग के रूप में कलाकार को अथवा कला के अनुभावक को प्रेरित नहीं कर सकते। *संवेगों के प्रति इनकी प्रतिक्रिया संवेगात्मक नहीं हो सकती।* संवेगों से उत्तेजित होने पर कला के सौन्दर्य रचना और उसके आस्वादन में सम्भव नहीं है। कलाकार मनुष्य अवश्य है किन्तु प्राकृत पुरुषों की भांति संवेगों से प्रेरित होने पर वह मनुष्य मात्र रह जाता है और कलाकार नहीं बन सकता। इस दृष्टि से कला एक दिव्य और अलौकिक विभूति है। संवेगों की स्वार्थमयता विवशता, पराधीनता, और असाधारण उत्तेजना के वैषम्य के विपरीत समात्मभाव के साम्य में ही कला की साधना सफल होती है। कलाकार की श्रेष्ठता और

सफलता समात्मभाव के उत्कर्ष मे प्राकृतिक संवेगों की अतिक्रान्ति पर निर्भर करती है। कलाकार के मन मे एक अलौकिक स्फूर्ति का स्वतन्त्र उल्लास होता है, जो ज्ञान और बुद्धि की उदासीनता तथा संवेग के विवश आवेश से भिन्न होता है। यह उल्लास कलाकार की सामान्य वृत्ति है। रचना की पूर्णिमा मे उसके मनोवारिधि मे इसके ज्वार अधिक ऊँचे उठते हैं। किन्तु उसकी चेतना मे इस उल्लास का स्पंदन सदा रहता है। संवेगों के प्रति उसका दृष्टिकोण यदि पूर्णतः बौद्धिक और उदासीन नहीं हो सकता तो अधिक प्राकृत एवं संवेगात्मक होने पर भी वह कलाकार नहीं बन सकता। इन दोनो स्थितियों के बीच म कौन सी माध्यमिक स्थिति कलाकार को कलाकार बनाती है, यह मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र का एक सूक्ष्म एवं कठिन प्रश्न है। इस प्रश्न का विवेचन भी कठिन है। कलाकार की साधना और सामान्य जीवन के विषय में हमारा केवल इतना अनुरोध है कि मनुष्य होने के नाते वह भी प्राकृतिक संवेगों से प्रभावित हो सकता है किन्तु ऐसी स्थिति म वह मनुष्य ही रह जाता है, कलाकार नहीं रहता। संवेगों के प्रभाव म रहते हुए भी दूसरी ओर साम्य और समात्मभाव की जितनी प्रचुरता उसके भाव में रहेगी उतना ही उसकी साधना और उसके जीवन मे कलात्मक सौन्दर्य का उत्कर्ष अधिक होगा। साम्य और समात्मभाव की पूर्णता अध्यात्म की परिणति है। संवेगों की विवशता और उत्तेजना तथा स्वार्थमयता जीवन का प्राकृतिक धरातल है। प्रकृति की भूमि और अध्यात्म के आकाश के विशाल अन्तराल म अंतरिक्ष के उदार पटल पर ही कला और सौन्दर्य के सरस मेघ और रंजित इन्द्रधनुष खिलते हैं। इसी अंतरिक्ष म सौन्दर्य साधना की यामिनी म कलाकृतियों के अगणित नक्षत्र प्रकाशित होते हैं।

अध्याय ५३

सौन्दर्य और श्रेय

सौन्दर्य का श्रेय से क्या सबन्ध है तथा कला और काव्य मे नैतिकता का क्या स्थान है, यह एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है। कुछ लोग कला और काव्य का लक्ष्य केवल सौन्दर्य नही मानते, उनकी दृष्टि में जीवन, कला और काव्य का आधार तत्व है। अत ये जीवन के हिताहित मे अनिवार्य रूप मे अनुबद्ध हैं। चाहे इसका अभिप्राय यह न हो कि कला और काव्य जीवन के श्रेय के साधन हैं, फिर भी यह स्पष्ट है कि जीवन के श्रेय का कला और काव्य मे महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरे कुछ लोग कला को एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मानते हैं, जिसका स्वरूप सौन्दर्य है तथा जिसका नैतिकता अथवा श्रेय से कोई आवश्यक सबध नही है। कला का गौरव अपने स्वरूपगत सौन्दर्य पर निर्भर है। इसी मे कला की पूर्णता है। कला का सौन्दर्य अथवा महत्व उसके नैतिक तत्व के आधार पर घटता या बढता नही है। इन दोनो ही मार्गो मे दो प्रकार की विचार धाराएँ हैं। एक ओर तो वे माध्यमिक विचारक हैं जो श्रेय और सौन्दर्य में दोनो को ही समान महत्व देना चाहते हैं। कुछ श्रेय को जीवन का लक्ष्य मानते हुए भी सौन्दर्य को कला और काव्य का स्वरूप मानते हैं तथा उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य मे श्रेय का समन्वय अभीष्ट है। कुछ सौन्दर्य को कला का स्वरूप मानते हुए उसमें श्रेय के समन्वय को अभीष्ट और सम्भव मानते हैं। दूसरी ओर दोनो ही पक्षो में वे एकागी मत हैं जो श्रेय और सौन्दर्य मे एक को मुख्य मानकर दूसरे को गौण बनाते हैं। वे श्रेय को जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानते हैं उनकी दृष्टि मे कला और काव्य उसके साधन हैं। कला और काव्य का प्रयोजन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में ही पूर्ण नही है वरन् श्रेय की साधना मे पूर्ण होता है। जो कला के सौन्दर्य को प्रधान मानते हैं उनकी दृष्टि मे श्रेय और नैतिकता का कोई महत्व नही है। कला स्वतन्त्र है और अपने सौन्दर्य मे पूर्ण है। श्रेय और नैतिकता से उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है।

ये चारो ही दृष्टिकोण कला और काव्य के इतिहास में मिलते हैं। पहला

दृष्टिकोण भारतीय काव्य शास्त्र मे अधिक प्रसिद्ध है। मम्मटाचार्य ने 'काव्य प्रकाश के आरम्भ में ही काव्य के प्रयोजन का निरूपण करते हुए उपदेश और नि श्रेयम को काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है। काव्य का उपदेश शिक्षा नही है वरन् कान्ता के मधुर और प्रिय परामर्श की भाँति सन्मार्ग का प्रकाशन है। नि श्रेयस को काव्य प्रकाशकार ने परनिर्वृति की सज्ञा दी है। यह जीवन का अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य है। उपदेश और नि श्रेयस को काव्य का प्रयोजन मानते हुए भी भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्य काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य के महत्व की अवहेलना नही करते। यह भी कहना उचित नही है कि वे काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य को गौण और नि श्रेयस को प्रधान मानते हैं। जिस विशदता और विस्तार के साथ उन्होंने काव्य सौन्दर्य के विधायक तत्वो का निरूपण किया है तथा जिस तत्परता से उन्होंने रस, रीति, शक्ति, गुण अलकार आदि का विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट है कि वे काव्य के स्वरूपगत सौन्दर्य को किसी प्रकार भी कम महत्व नही देते। दूसरे दृष्टिकोण के प्रतिनिधि हार्टमान, बोसान्क्वेट आदि हैं जो सौन्दर्य और श्रेय को समकक्ष मानते हैं। उनकी दृष्टि मे दोनो ही जीवन के स्वतन्त्र और मुख्य लक्ष्य हैं। दोनो मे कोई भी एक दूसरे पर आश्रित, निर्भर अथवा उसका साधन नही है। फिर भी वे कला के उस रूप को नही मानते जिसके अनुसार केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उसका लक्ष्य है तथा श्रेय और नैतिकता से जो अपना कोई आवश्यक सबन्ध नही मानता। सभवत उनका यही दृष्टिकोण है कि यद्यपि कला सौन्दर्य की स्वतन्त्र साधना है, फिर भी उसके सौन्दर्य मे श्रेय का समन्वय अभीष्ट तथा सम्भव है।

तीसरा पक्ष उन नैतिकतावादियो का है जो श्रेय को जीवन का लक्ष्य मानते हैं तथा जिनकी दृष्टि मे कला और काव्य श्रेय के साधन हैं। प्राचीन ग्रीक दार्शनिको मे इस मत की प्रधानता पाई जाती है। प्लेटो के मत मे कला अनुकरण है। अनुकरण सत्य की प्रतिलिपियो का अकन है। प्लेटो के दर्शन मे विज्ञान को सत्य माना है। बाह्य जगत इन आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक विज्ञानो का प्रतिबिंब अथवा उनकी प्रतिलिपि है।[६१] कला इन प्रतिलिपियो की भी प्रतिलिपि है। प्लेटो के मत मे श्रेय विज्ञानो मे सर्वश्रेष्ठ है। अत अन्तत समस्त कला का उद्देश्य श्रेय के परम विज्ञान का अनुकरण है। प्लेटो की दृष्टि मे नैतिक उद्देश्य कला का अत्यन्त महत्वपूर्ण अग है।[६२] एरिस्टोटिल के मत मे भी नैतिकता

प्रधान है।[६३] उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य श्रेय का प्रिय रूप है। एरिस्टोटिल के काव्य शास्त्र मे आत्मशुद्धि को दुःखान्त नाटको का मुख्य ध्येय माना गया है। एरिस्टोटिल कला और सौन्दर्य का नैतिक और शिक्षणात्मक प्रयोजन मानते थे। इन्ही प्रयोजनो के कारण उनकी कला और सौन्दर्य मे रुचि थी। आधुनिक दर्शन मे अध्यात्मवाद के महान प्रवर्त्तक कान्ट भी सौन्दर्य को नैतिक व्यवस्था का प्रतीक मानते थे।[६४] सौन्दर्य का विवेचन करते हुए कान्ट ने उसे श्रेय का प्रतीक बना दिया है।[६५] कान्ट का बुद्धिवादी दर्शन रूपात्मक है। तर्क, नीति, सौन्दर्य आदि सभी क्षेत्रो मे उन्होंने सिद्धान्तो के शुद्ध और सामान्य रूपो की खोज की है। सौन्दर्य को अभिव्यक्ति मानते हुए भी उन्होने उसे नैतिकता की अभिव्यक्ति माना है।[६६] आधुनिक युग मे गेटे, रस्किन और टालसटाय ने श्रेय को कला का मुख्य लक्षण माना है।[६७] गेटे के अनुसार सौन्दर्य, कला की विभूतियों मे से केवल एक है। सत्य और श्रेय को हम उसकी अन्य विभूतियाँ कह सकते हैं। गेटे का मत हार्टमान के अधिक निकट है जो सौन्दर्य और श्रेय को समकक्ष मानते थे। फिर भी गेटे के मत मे श्रेय और नैतिकता की प्रधानता है। उनका फाउस्ट उनके मत का जीवन्त उदाहरण है। रस्किन और टालसटाय के मत मे नैतिकता की प्रधानता और भी अधिक स्पष्ट है। कैरिट का मत है कि रस्किन ने कला का विवेचन नैतिक दृष्टिकोण से किया है।[६८] बोसान्क्वेट का मत है कि रस्किन ने सौन्दर्य शास्त्र को नैतिक शास्त्र मे परिणत कर दिया। टालसटाय के कला-विवेचन मे नैतिकता का प्रभुत्व स्पष्ट है। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र मे अनेक विचारक नैतिक श्रेय की प्रधानता को मानते हैं। नैतिक श्रेय की साधना ही उनकी दृष्टि मे कला और सौन्दर्य का लक्ष्य है।

चौथे मत के समर्थक वे आधुनिक विचारक हैं, जिनकी दृष्टि मे रूप, अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति ही कला और सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप है। तत्व अथवा सत्य और श्रेय दोनो का कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप मे कोई महत्वपूर्ण स्थान नही है। कला और सौन्दर्य का दृष्टिकोण सत्य और श्रेय की ओर से उदासीन है। कला का स्वरूप, रूप अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य मे पूर्ण है। इसके अतिरिक्त उसका कोई बाह्य और व्यवहारिक प्रयोजन नही है। इस मत का सबसे सबल आधार क्रोचे के अभिव्यजनावाद मे मिलता है। क्रोचे के अनुसार आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति, जिसे बाह्य विषयो के बन्धन के मुक्त होने के कारण चेतना का स्वतन्त्र अथवा निर्विकल्पक रूप कह सकते हैं, कलात्मक सौन्दर्य का मूल स्वरूप है। कला

का सौन्दर्य अपने इस स्वरूप म ही पूर्ण है। रूपात्मक होने के कारण ग्राच इस अनुभूति को अभिव्यक्ति से एकाकार मानते हैं। किन्तु यह अभिव्यक्ति अपने आन्तरिक और आत्मगत रूप म ही पूर्ण है। कलात्मक अनुभूति और सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति पूर्णत गौण और उपचार मान है। जगत के यथार्थ और जीवन के व्यवहारिक प्रयोजन से कलात्मक सौन्दर्य का यह आ तरिक रूप पूर्णत निरपेक्ष है। क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड ने कलात्मक सौ दय की इस आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति को कल्पना' का नाम दिया है। यह कलात्मक कल्पना उस सामान्य कल्पना से भिन्न है जो सत्य क विपरीत और मिथ्या के निकट मालूम होती है। यह कलात्मक कल्पना सत्य और असत्य दोनों की ओर से पूर्णत निरपेक्ष है। श्रय और नैतिकता से भी इसका कोई प्रयोजन नहीं है। सौन्दर्य का मूल्य और प्रयोजन अपने आप मे पूण है। इस प्रसग मे कौलिंगवुड ने एक उदाहरण दिया है कि अपने अवैध शिशु को तालाब म डुबाती हुई ग्राम-बाला कम सुन्दर नहीं हो जाती। तात्पर्य यह है कि कलात्मक सौ दय श्रय पर निर्भर नहीं है और न शुद्ध सौन्दर्य के अतिरिक्त कला का कोई अ य प्रयोजन है। उक्त ग्राम-बाला का दृश्य रूप अथवा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उसकी अनैतिकता क कारण कम नहीं हो जाता। कला कला के लिए है' के कुछ आधुनिक सम्प्रदाय तथा हिन्दी के प्रयोगवाद की भाँति रूप प्रधान सम्प्रदाय क्रोचे के कला सिद्धान्त की अतिरंजना पूर्ण विकृतियाँ हैं।

इन चार मतो के अतिरिक्त एक पाँचवा सम्प्रदाय भी सम्भव है जो न सौन्दर्य को श्रेय का साधन मानता है और न सौन्दर्य को श्रेय से निरपक्ष मानता है। इस दृष्टि से यह मत पहले दो मतो के अधिक अनुकूल है, उनमे भी सभवत यह दूसरे मत के अधिक निकट है। इस मत के अनुसार कला का मुख्य स्वरूप सौन्दर्य ही है, किन्तु इस सौन्दर्य की एक विशेषता है कि वह हमारी वासनाओ को अनायास शान्त करता है। वासनाओ का यह शमन श्रेय और नैतिकता के अनुकूल है। श्रेय सौन्दर्य का आवश्यक आधार अथवा लक्ष्य नहीं है। तत्व रूप म उसका आधान न करने पर भी सौन्दर्य का स्वरूप वासनाओ के शमन द्वारा श्रेय से सम्पन्न होता है। इस प्रकार श्रेय कलात्मक सौन्दर्य का अलक्षित फल है। टौमस एक्वीनास का मत ऐसा ही था।[९९] कुमारसम्भव मे कालिदास ने सौन्दर्य के इसी पवित्र सस्कार का सकेत किया है।[१००] इस सकेत के अतिरिक्त भी कालिदास ने सौन्दर्य के इस

पवित्र रूप का अकन अनेक स्थलो पर किया है। अभिज्ञान शाकुन्तल मे इस सौन्दर्य की पवित्र आभा प्रकाशित है। दिलीप और सुदक्षिणा की वनयात्रा मे भी इसका परिचय मिलता है। मेघदूत की अलका-वासिनी यक्षिणी भी इस सौन्दर्य की मूर्ति रूप है। बाण की महाश्वेता भी पार्वती के समान पवित्र साधना मे सौन्दर्य को साकार बनाती है। नारी के रूप मे ही नही भारतीय कला और काव्य के शृगारमय रूप मे भी (गीत गोविन्द का काव्य और खुजराहो की चित्रकला इसके उदाहरण हैं) सौन्दर्य के इस श्रेयोमय सस्कार का सकेत किया जाता है। आधुनिक युग मे लिस्टोवेल ने कला के इस सस्कार का प्रबल समर्थन किया है। लिस्टोवेल का यह मत कैम्ब्रिज स्कूल के तीन प्रधान नेताओ के अनुकूल है।[101] इस मत का आधार यह है कि कला का सौन्दर्य निर्वैयक्तिक है और निर्वैयक्तिक होने के कारण वह वासनाओ के उपशम मे सफल होता है। डा० हजारीलाल शर्मा ने सामजस्य, सतुलन और समता को सौन्दर्य का लक्षण माना है। सामाजिक अमगलो के मूल म इनका अभाव ही अनीति का कारण है। विषमता और सघर्ष अशिव ही नही असुन्दर भी हैं। उनके मत मे अन्ततोगत्वा सौन्दर्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त सन्तुलन में आकर परिसमाप्त होत हैं। यह सन्तुलन ही सत्य है, यही शिव है, यही स्वास्थ्य है और यही न्याय भी है। इस सिद्धान्त की अवहेलना से कला मे असुन्दर का अविर्भाव होता है विज्ञान मे असत्य, समाज मे अकल्याण तथा जाति और व्यक्ति के जीवन मे अस्वास्थ्य उत्पन्न होने हैं। हम जिसे अन्याय कहते हैं वह सन्तुलन का अभाव है। सौन्दर्य की अवहलना न केवल पाप है, भयावह भी है, क्योकि समता और सन्तुलन के अभाव से समाज मे जो असन्तोष फैलता है उसका एकमात्र उपचार क्रान्ति है। विद्रोह, महायुद्ध आदि सौन्दर्य के सिद्धान्तो के अपमान के फल हैं। केवल व्यापक क्रान्ति ही जीवन मे सौन्दर्य की पुन प्रतिष्ठा कर सकती है।[102] टोमस एक्विनास के मत मे श्रेय सौन्दर्य का सहज फल है। कैम्ब्रिज स्कूल के नेता और लिस्टोवेल कलात्मक सौन्दर्य के इस फल को उसके निर्वैयक्तिक स्वरूप की विभूति मानते हैं। कालिदास के मत मे श्रेयोमय सस्कार सौन्दर्य की दिव्य शक्ति की प्रतिभा है। डा० हरद्वारीलाल शर्मा के मत मे सौन्दर्य अपने स्वरूपगत सामजस्य और सतुलन के कारण श्रेय की साधना के अनुरूप है। श्रेय और सौन्दर्य की साधना की दिशा भिन्न होते हुए भी दोनो की साधना का मूल सूत्र सामजस्य अथवा सतुलन है। यों उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य की आराधना श्रेय की साधना भी है। जीवन के क्षेत्र मे सतुलन भग

होने पर अशिवता ही नही असुन्दरता भी पैदा होती है। सौन्दर्य की साधना से श्रेय भी सम्पन्न होता है। किन्तु यह श्रेय सौन्दर्य का केवल सहज फल नही है। कला के क्षेत्र म जिस सतुलन का निर्वाह सौन्दर्य की सृष्टि करता है जीवन और व्यवहार मे उसी सतुलन का निर्वाह श्रेय का भी साधक है। व्यवहार म भिन्न होते हुए भी सौन्दर्य और श्रेय मूल सिद्धान्त और अन्तिम फल की दृष्टि से एक नही तो समान अवश्य है।

उक्त पाँचो पक्षो के प्रतिपादको की अपनी धारणाये है और अपने तर्क है। इनका विवेचन करने से पूर्व ध्यान मे रखना आवश्यक है कि कला और सौन्दय क साथ श्रेय का सम्बन्ध न मानने वालो का अभिप्राय यह कदापि नही है कि श्रेय जीवन का मौलिक मूल्य नही है तथा जीवन मे उसका महत्वपूर्ण स्थान नही है। उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जीवन मे श्रेय का जो कुछ भी मूल्य और महत्व हो, कला और सौन्दर्य के साथ उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नही। कला और सौन्दर्य श्रेय से निरपेक्ष तथा अपने स्वरूप मे पूर्ण और स्वतन्त्र है। इसी प्रकार जो श्रेय का कला के साथ आवश्यक सम्बन्ध मानते हैं उनमे जो श्रेय को सौन्दर्य का लक्ष्य भी मानते हैं वे भी कला और काव्य के सौन्दर्य को किसी प्रकार भी कम महत्व नही देते। उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि सौन्दर्य की केवल रूपात्मक अभिव्यक्ति ही कला की कृतार्थता नही है। सौन्दर्य मे शील का आधान होने पर अथवा कला के श्रेय-साधन मे समर्थ होने पर कला सफल होती है। कला केवल सौन्दर्य का विलास नही है, वह सस्कृति के निर्माण, विकास और पोषण का तन्त्र है। किन्तु इन सभी मतो की दृष्टि मे सौन्दर्य और श्रेय का स्वरूप अलग अलग है। कुछ मतो के अनुसार एक दूसरे के साथ समन्वय अभीष्ट है तथा कुछ के अनुसार यह समन्वय न आवश्यक है और न सम्भव है। डॉ० हजारीलाल के मत मे सत्य, सौन्दर्य और श्रेय की एक सूत्रता का सकेत अवश्य मिलता है। उनके अनुसार सन्तुलन अथवा सामजस्य सौन्दर्य का लक्षण है। पुष्प उसका सर्वोत्तम उदाहरण है, इसीलिए पुष्प सौन्दर्य का प्रतीक है। 'यह सन्तुलन और सामजस्य ही शिव तथा सुन्दर भी है।' इसके साथ साथ डॉ० हजारीलाल ने सौन्दर्य की एक परिभाषा दी है जिसके अनुसार सौन्दर्य 'अनुभूति या आनन्द है।'[१०३] अनुभूति को सामान्यत व्यक्तिगत मानते हैं। व्यक्तिगत अनुभूति मे व्यक्तिगत और आन्तरिक सामजस्य सम्भव है। यह ठीक है कि सभवत आन्तरिक

और व्यक्तिगत सामजस्य पूर्ण होने पर अनुभूति की इस व्यक्तिगत स्थिति मे सामाजिक विषमताओ के कोई कारण नही रहेंगे। फिर भी यह स्पष्ट है कि सामाजिक सामजस्य सौन्दर्य की इस अनुभूति का आवश्यक अग नही है, वह इसके स्वरूप का विधायक भी नही है। पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र मे सन्तुलन और सामजस्य का निरूपण सौन्दर्य के वस्तुगत लक्षणो के रूप मे होता रहा है। सतुलन वस्तु रूप के आकार और परिमाण की एक ज्यामितीय व्यवस्था है। सामजस्य एक सश्लिष्ट रूप योजना के अगो की परस्पर अनुकूलता, उनका अविरोध तथा अन्तत एक समग्र योजना मे उनका समन्वय है। व्यक्ति के आन्तरिक भावो और उसकी प्रवृत्तियो का भी सतुलन और सामजस्य कल्पनीय है। यह उनका आन्तरिक रूप है। इसी प्रकार व्यक्तियो के बाह्य व्यवहारो तथा चेतनाओ के आन्तरिक भावो के परस्पर सतुलन और सामजस्य की भी कल्पना की जा सकती है। यह सामजस्य का अधिक सम्पन्न और सामाजिक रूप है।

सामजस्य के इस रूप मे भी अनुभूति का आनन्द सम्भव है। सम्भव ही नही इस रूप मे वह और अधिक समृद्ध होता है। डॉ० हरद्वारीलाल ने जहाँ सौन्दर्य और श्रेय के स्वरूप को एक माना है वहाँ उन्होंने मूलत वह सामजस्य सौन्दर्य का ही लक्षण माना है, यद्यपि सामाजिक व्यवहार मे उसका निर्वाह कल्याण का भी साधक होता है। समाज मे सामजस्य न होने से अशिव ही नही असुन्दर का भी आविर्भाव होता है किन्तु कला मे स्वतन्त्र रूप से सामजस्य सौन्दर्य का विधायक है। कला के इस स्वरूप का अनुगम सस्कृति के सभी रूपो को सौन्दर्य और सरसता प्रदान करता है। किन्तु सम्भवत डॉ० हरद्वारीलाल के मत में भी न कलात्मक अनुभूति अपने स्वरूप मे सामाजिक है और न श्रेय का आवश्यक रूप मे सौन्दर्य मे अन्तर्भाव है। हमारे मत मे कला और सौन्दर्य की अनुभूति इस अर्थ में व्यक्तिगत नहीं है कि वह व्यक्ति के एकाकीपन मे सम्भव हो सकती है। हमारे मत में एकान्त कला और सौन्दर्य की अभूमि है। एकान्त मे अवगति सम्भव है किन्तु सौन्दर्य अथवा आनन्द की अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति सम्भव नही है। एकान्त की अवगति मे प्राकृतिक सवेदनाएँ भी सम्मिलित हैं। किन्तु सौन्दर्य के आनन्द का उदय वस्तुत एकान्त की अनुभूति मे नही वरन् समात्मभाव की सम्भूति मे होता है, जिसे हम चेतनाओ का सामजस्य कह सकते हैं। समात्मभाव की यह सम्भूति सौन्दर्य का ही नही श्रेय का भी स्वरूप है। यह सौन्दर्य का ऐसा लक्षण नहीं है जो श्रेय की

भावना के बिना अपने आप मे पूर्ण हो, तथा इसके उपयोग अथवा अनुयोग से जीवन की साधना सभव है। यह सौन्दर्य का ऐसा स्वरूप है जिसमे श्रेय का सहज अन्तर्भाव है तथा श्रेय की भूमि मे ही सौन्दर्य का बीज अकुरित होता है। ब्रह्म के स्वरूप की भाँति समात्मभाव के अद्वैत म सुन्दरम् और शिवम् का एकत्र सन्निधान है। हमारे इस मत मे कला और काव्य के पूर्ण और सम्पन्न रूप मे सौन्दर्य के साथ श्रेय भी समवेत है। सास्कृतिक क्रम मे समात्मभाव के अनुरूप यदि हम श्रेय को प्रधानता दें तो विवेक की दृष्टि से अनुचित न होगा। वस्तुत शिवम् ही समात्मभाव का मर्म है। यही मर्म चेतनाओ की आन्तरिक अभिव्यक्ति और कलाओ की बाह्य अभिव्यक्ति मे सुन्दरम् मे साकार होता है। शिवम् की आत्मा मे सुन्दरम् के रूप का स्फोट होता है। **अत हमारे मत में शिवम् और सुन्दरम् एक दूसरे से अभिन्न है।** एक सीमित अर्थ मे कला के एकागी रूपो मे श्रेय की उपेक्षा करके अथवा श्रेय को गौण बनाकर कला मे सुन्दरम् की अभिव्यक्ति सभव हो सकती है। किन्तु वस्तुत सुन्दरम् का यह रूप अपूर्ण ही है। कला और सौन्दर्य के पूर्ण रूप मे सुन्दरम मे शिव समवेत रहता है। **यदि अन्तत शिवम् और सुन्दरम् का भेद आवश्यक है तो वह यही हो सकता है कि जहाँ कला का 'सौन्दर्य एक सृष्टि है वहाँ 'शिवम्' सौन्दर्य और श्रेय दोनों की एक सृजनात्मक परम्परा है।** हमारी दृष्टि म यह भेद भी सापेक्ष ही है। जीवन और कला दोनो म सृजनात्मक परम्परा का सन्निधान जहाँ शिवम् की कल्पना को पूर्ण बनाता है, वहाँ सौन्दर्य की भावना को भी अधिक सफल और समृद्ध बनाता है।

श्रेय और सौन्दर्य के सम्बन्ध के विषय मे ऊपर जिन मतो का उल्लेख किया गया है उनमे सभी श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप को पृथक मानते हैं। इनमे अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ श्रेय और सौन्दर्य के समन्वय को आवश्यक तथा सम्भव मानते हैं। दूसरे न इस समन्वय की आवश्यकता देखते हैं और न सम्भावना। श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप के पूर्णत विविक्त होने पर तो पिछले मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। जैसा कि अधिकाश आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र तथा आधुनिक मूल्य-दर्शन का मत है, यदि सौन्दर्य और श्रेय पूर्णत विविक्त और स्वतन्त्र तथा अपने मे पूर्ण मूल्य है तो एक से दूसरे का समन्वय सभव होने पर भी आवश्यक नही है। कला का स्वरूप अपने विविक्त सौन्दर्य में पूर्ण है। दो चरम और अन्तिम मूल्यो मे एक को दूसरे का साध्य अथवा साधन नहीं बनाया जा सकता।

वे दानो स्वय अपने साध्य हैं जैसा कि हार्टमान और बोसान्क्वेट का मत है। यदि सौन्दर्य और श्रेय दोनो समकक्ष हैं तो उनमे कोई भी एक दूसरे का साध्य अथवा साधन नहीं हो सकता। यदि गेटे के समान सौन्दर्य को कला की विभूति का केवल एक अग मानें तो इसका अभिप्राय यही है कि कला और सौन्दर्य समानार्थक नहीं हैं। कला केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहो है उसका स्वरूप सत्य और *श्रय के आधान से पूर्ण होता है। जो एक्यूनास और लिस्टोवेल के समान प्रवृत्तियों* के सामजस्य और वासनाओ के शमन को सौन्दर्य का सहज फल मानते हैं उनकी दृष्टि मे भी सौन्दर्य ही प्रधान है और कला उसकी अभिव्यक्ति है। श्रय केवल कला का अलक्षित, अयाचित, अवाच्छित और अनायास फल है। कला स्वय अपना लक्ष्य है। श्रय उसका लक्ष्य नहीं है। अधिक से अधिक वह उसका आगन्तुक और गौण फल है। **अस्तु श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप को विविक्त और अपने आप में पूर्ण मानने पर एक को दूसरे की तुलना में गौण अथवा उसका साधन बनाना उचित नहीं है।** ऐसी स्थिति मे यही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि *कला का सौन्दर्य और स्वरूप अपने आप मे पूर्ण है, श्रय और नैतिकता से* उसका कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं। श्रेय और सौन्दर्य का स्वरूप पृथक मानने पर एक मे दूसरे का समन्वय गौण प्रधान-विधि से ही हो सकता है। एक का बन्धन दूसरे की पूर्णता मे बाधक होगा। लिस्टोवेल का मत है कि नैतिकता का बन्धन कलाकार की स्वतन्त्रता को सीमित कर देता है।[१०४] यह सत्य है कि नैतिक काव्यो मे इतना सौन्दर्य नहीं है, जितना उन काव्यो मे है जो श्रेय की ओर से उदासीन हैं। श्रेय को काव्य का लक्ष्य मानकर चलने से कलात्मक सौन्दर्य गौण हो जाता है। सौन्दर्य को प्रधान मानने पर उसमे श्रेय का समाधान और समन्वय कठिन ही है। अभिव्यक्तिवादी मत के पूर्णत आन्तरिक और आत्मगत सौन्दर्य मे श्रेय और नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं है। फिर भी हम देखते है कि **वाल्मीकि, तुलसीदास, शेक्सपीयर, गेटे, रवीन्द्र, प्रसाद आदि महान् कवियो की रचनाओ में श्रेय और सौन्दर्य का परिपूर्ण समन्वय है।** चेतनाओ के *समात्मभाव* के रूप मे ही हम इन महान् कृतियो मे श्रेय और सौन्दर्य के सामजस्य को समझ सकते हैं। इन महान् कृतियो की चिन्मय भूमिका का विस्तार और उसकी गम्भीरता इसका समर्थन करती है कि **समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृतियो की व्यापक व्यजना जहा एक ओर कलात्मक सौन्दर्य की विधायक है, वहाँ**

उसके साथ ही साथ वह कला और सौन्दर्य में श्रेय के समन्वय का सहज स्रोत भी है। श्रेष्ठ और पूर्ण कला में श्रेय और सौन्दर्य एक दूसरे में समवेत रहकर ही एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं।

कलात्मक सौन्दर्य के साथ श्रेय के सम्बन्ध का सही निरूपण कला के मौलिक स्वरूप एवं महत्व को गौण बनाकर नहीं हो सकता। रस्किन और टाल्सटाय के समान जो विचारक श्रेय को कला का लक्ष्य मानते हैं तथा श्रेय की साधना को कला का उद्देश्य मानते हैं। वे कला के महत्व को कम करते हैं। उनके अनुसार 'कला' श्रेय का साधन बन जाती है। कला के माध्यम से सम्पन्न होते हुए भी साध्य के रूप में ऐसे मत में श्रेय ही प्रधान रहता है। कलात्मक सौन्दर्य को पूर्ण महत्व देते हुए भी यदि कोई विचारक श्रेय के सन्निधान को कलात्मक रचना के लिये आवश्यक मानता है तब भी वह सौन्दर्य की रचना में एक बन्धन उपस्थित करता है जो कला के सौन्दर्य को मंद बना सकता है। प्लेटो के समान जो दार्शनिक श्रेय की साधना में ही सौन्दर्य देखते हैं वे सौन्दर्य और श्रेय के मौलिक एवं स्वरूपगत भेद की ही उपेक्षा करते हैं। सौन्दर्य और श्रेय के सम्बन्ध के सही निर्धारण के लिये दोनों के मौलिक स्वरूप में भेद करना होगा तथा उनकी समानता एवं भिन्नता के आधार पर उनके सम्बन्ध को समझना होगा। विभिन्न कलाओं के रूपों की भिन्नता के आधार पर भी उनमें श्रेय के स्थान का उचित विवेचन करना होगा। साधना की दृष्टि से व्यक्तिगत प्रतीत होते हुए भी अभिव्यक्ति और आस्वादन में कला सामाजिक बन जाती है और इस प्रसंग में श्रेय का प्रश्न खड़ा होता है। अनेक कलाकृतियाँ सामाजिक श्रेय को सुन्दर और प्रभावशाली बनाती हैं किन्तु दूसरी ओर अनेक कलाकृतियाँ सामाजिक शील की मर्यादाओं का उल्लंघन भी करती हैं। श्रेय के प्रति कलाकारों की विरोधी मान्यताएँ सौन्दर्य और श्रेय के प्रश्न को विवादास्पद बना देती हैं।

सौन्दर्य और श्रेय के स्वरूप को भिन्न मानने पर सौन्दर्य पर श्रेय का कोई आवश्यक अनुबन्ध नहीं रह जाता। यदि सौन्दर्य रूप का अतिशय है तो वह इस रूप में ही साकार होता है। कला सौन्दर्य की साधना है। वह रूप के अतिशय की रचना है। सौन्दर्य और कला के इस स्वरूप में श्रेय का कोई आवश्यक प्रसंग उपस्थित नहीं होता। सौन्दर्य और कला का यह रूप अपने आप में पूर्ण और पर्याप्त है। यदि सौन्दर्य को साकार बनाने के लिये कला के विशेष माध्यम के

अनुरूप किसी भौतिक उपादान तथा किसी मानसिक भाव-तत्व का ग्रहण आवश्यक हो सकता है। इसी तत्व के प्रसंग मे श्रेय का प्रश्न खड़ा होता है। रूप मात्र में श्रेय का कोई प्रसंग नहीं है। सौन्दर्य और श्रेय दो मौलिक मूल्य हैं। उनका स्वरूप एक दूसरे से पृथक है यद्यपि उनके स्वरूपो म कुछ समानता भी हो सकती है। सत्य और श्रेय दोनो से सौन्दर्य का भेद कुछ ऐसा ही है जैसा कि तत्व मे रूप का। सत्य और श्रेय दोनो तत्व हैं। सौन्दर्य केवल अभिव्यक्ति का रूप है। इस रूप मे श्रेय का कोई प्रसंग नहीं उठता। श्रेय का प्रश्न ही सौन्दर्य की महिमा को कम कर देता है। कला के प्रसंग में श्रेय के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठते हैं वे कला के दृष्टिकोण से नहीं वरन् जीवन के तात्विक दृष्टिकोण से उठते हैं। कला की दृष्टि मे तो केवल सौन्दर्य के रूप का विवेचन किया जा सकता है जो रूप की जटिलता एवं अनिर्वचनीयता के कारण अत्यन्त कठिन है।

स्वरूप की दृष्टि से जिस रूप के अतिशय में सौन्दर्य व्यक्त होता है उसमें श्रेय के विरोधी कोई तत्व नहीं होते। इस दृष्टि से उसे श्रेय के अनुकूल ही मान सकते हैं। किन्तु सौन्दर्य के इस स्वरूप में श्रेय का विधायक कोई तत्व नहीं होता। श्रेय के प्रति सौन्दर्य का ऐसा तटस्थ दृष्टिकोण होने के कारण ही श्रेय की विरोधी दिशा मे भी सौन्दर्य का उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रायण के समान कटु और विषमय फल भी रूप में सुन्दर हो सकते हैं। विष के वृक्ष तथा विषमय फलो और फूलो मे भी रूप के अतिशय का सौन्दर्य होता है। कलात्मक रचनाओं मे भी श्रेय के विरोधी तत्वो को आकार दिया जा सकता है। समाज के इतिहास में प्राय ऐसा होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य में नारी का सौन्दर्य एक ऐसा उदाहरण है जो प्राय अमंगलकारी अनर्थों का निमित्त बनता है। किन्तु इस प्रसंग मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी स्थितियो मे जहाँ सौन्दर्य अमंगल का हेतु बनता है, वहाँ इसमे सौन्दर्य का कोई दोष नहीं है। सौन्दर्य श्रेय की ओर से तटस्थ रहता है। उसे श्रेय और अश्रेय दोनों का निमित्त बनाया जा सकता है। सौन्दर्य के इस उपयोग का उत्तरदायित्व उपयोग करने वाले मनुष्यो पर ही है तथा इस उपयोग के लिये वे ही दोष अथवा श्रेय के भागी हैं। अपने आप में सौन्दर्य दोष और श्रेय दोनों से मुक्त है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अमंगल के लिये सौन्दर्य का उपयोग सौन्दर्य का अपमान है। सौन्दर्य के ऐसे उपयोग मे उपयोगकर्ता सौन्दर्य को अत्यन्त तुच्छ समझता है और उसे अपने

अमंगलमय लक्ष्य का साधन बनाता है। जहाँ उपयोगकर्ता का ऐसा दूषित दृष्टि-कोण नहीं होता वहा सौन्दर्य अमगल का निमित्त नहीं बन सकता। इस दृष्टि से वह श्रेय के पूर्णतया अनुकूल है। सौन्दर्य का स्वरूप जिस पवित्रता और प्रसन्नता को प्रसारित करता है वह श्रेयोमय तत्वो की साधना के लिये एक उत्तम वातावरण बनाती है। भारतीय संस्कृति के रूपो में जीवन की परम्परा म मगल के भाव को स्थिर करने के लिये विपुल सौन्दर्य का सन्निवेश किया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि श्रेय की सुरक्षा के लिए कला म श्रेय का समन्वय होना चाहिये। किन्तु उक्त दोनो बातें श्रेय के दृष्टिकोण से ही की जा सकती हैं। कला और सौन्दर्य की दृष्टि से यह दोनों अवान्तर हैं।

अपने स्वरूप मे सौन्दर्य का दृष्टिकोण श्रेय के प्रति कितना तटस्थ है इसका अनुमान प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर लगाया जा सकता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दृश्य अपने सौन्दर्य मे ही सुन्दर होते हैं। जब उनके सौन्दर्य का दर्शन किया जाता है तब उनके साथ श्रेय अथवा अश्रेय का कोई विचार नहीं किया जाता। श्रेय और अश्रेय का विचार आते ही उसमे उपयोगिता का भाव आ जाता है और सौन्दर्य का रूप मन्द होने लगता है। हम ऊषा, इन्द्रधनुष, बादल, चांदनी, पर्वत, आदि के सौन्दर्य को निहारते हैं तो उस समय श्रेय के प्रसग को भूल जाते हैं। हम उनके उपयोग पर विचार नहीं करते। तात्विक होने के कारण श्रेय का दृष्टिकोण कुछ उपयोगितावादी ही है। सौन्दर्य के बारे मे हम पहिले अनेक बार कह चुके हैं कि वह एक निरुपयोगी दृष्टिकोण है। निरुपयोगिता का भाव होने पर ही रूप मे सौन्दर्य उदित होता है। रूप के विशेषत निरुपयोगी होने के कारण ही रूप मे सौन्दर्य का उदय होता है। रूप का भी उपयोग हो सकता है। अनेक उपयोगी रचनाओं मे आकार का भी उपयोग होता है। किन्तु उसमे उपयोग को छोडकर निरुपयोगी भाव से रूप को देखने पर ही हमे सौन्दर्य दिखाई देता है अथवा स्पष्टतः निरुपयोगी रूप में हम सौन्दर्य देखते हैं। प्रकृति की सुन्दरता का एक रहस्य यह भी है कि उसके 'रूपो' का उपयोग बहुत कम है। यदि है भी तो हम उस उपयोग को ध्यान नहीं देते। प्रकृति के 'तत्व' के उपयोग की ओर ही मनुष्य ने अधिक ध्यान दिया है। मनुष्य के रूप के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है। मनुष्य के शरीर के सबसे अधिक निरुपयोगी भागों को ही सौन्दर्य का आश्रय माना जाता है। मुख,

नासिका, कपोल, अधर, चिबुक, भ्रूनेत्र आदि के जो अंग सौन्दर्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं वे सबसे अधिक निरुपयोगी हैं।

आधार की दृष्टि से सौन्दर्य में श्रेय का भी बीज मिलता है। जो समात्म-भाव सौन्दर्य का आधार है वही श्रेय का भी आधार है। इस दृष्टि से सौन्दर्य अपने मूल स्वरूप में श्रेय के अधिक अनुकूल है। अमंगल के लिये उसका उपयोग वे ही कर सकते हैं जो कला और सौन्दर्य का मान नही करते वरन् उनका दुरुपयोग करने में संकोच नही करते। श्रेय के साथ सौन्दर्य के सम्बन्ध का विचार कलाकार के दृष्टिकोण (भाव) और कला के तत्व की दृष्टि से ही करना उचित है। कलाकार के रूप में कलाकार के भाव में अश्रेय की कल्पना नहीं की जा सकती। अमंगल के तत्व कलाकार के व्यक्तित्व में मनुष्य की दृष्टि से पाये जा सकते हैं। ये तत्व कलात्मक रचना के सौन्दर्य को मन्द बनाते हैं। इस दृष्टि से कलाकार के व्यक्तित्व में श्रेय के भाव की विपुलता सौन्दर्य की उपकारक है। वह सौन्दर्य को श्रेष्ठ बनाती है। संसार के महान् कलाकार इसे प्रमाणित करते हैं। अध्ययन के द्वारा इस तथ्य का निर्धारण किया जा सकता है कि कलाकार के व्यक्तित्व में मिलने वाली अमंगलता, अमंगल के प्रति तटस्थता, मंगल के प्रति उदासीनता मंगल के प्रति सक्रिय रुचि आदि का कला के सौन्दर्य और उसकी श्रेष्ठता पर क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसा अध्ययन बड़ा मनोरंजक और महत्वपूर्ण होगा। इस अध्ययन से विदित होगा कि कलाकार के भाव की मांगलिकता अपनी उत्कृष्टता के अनुपात में कलात्मक सौन्दर्य की उत्कृष्टता को प्रेरित करती है। विश्व के महान् कलाकारों और कवियों के जीवन और व्यक्तित्व के विश्लेषण द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है। प्रकृति के सौन्दर्य में भी जो रूप अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ दिखाई देते हैं उनके सौन्दर्य के पीछे श्रेष्ठ तत्वों का अनुयोग मिलता है। सुवर्ण, रत्न, पुष्प, फल, आदि के सौन्दर्य में यह तथ्य प्रमाणित होता है। इनके सौन्दर्य में विभासित होने वाला कांति और तेज का तत्व ही महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक तत्व मिलते हैं।

अस्तु, स्वरूप से सौन्दर्य श्रेय का साधन नहीं है और न श्रेय का विरोधी है। सौन्दर्य की सराहना और रचना के आधार के रूप में समात्म-भाव श्रेय का बीज है। कलाकार का मांगलिक भाव कला के सौन्दर्य को उत्कृष्ठ बनाता है। इसके अतिरिक्त अपने माध्यम के अनुरूप कलाओं में श्रेय

के तत्व का ग्रहण होता है। सार्थक शब्द के माध्यम के कारण साहित्य अथवा काव्य एक अधिक अर्थवती कला है। उसमे श्रेय का ग्रहण अधिक होता रहा है, यद्यपि उसके साथ-साथ कला मे श्रेय के स्थान का विवाद भी निरन्तर चलता रहा है। विवाद के दोनो पक्षो मे क्रमश श्रेय और अश्रेय का आग्रह कुछ अधिक रहता है। जिन कलाकारो ने अश्रेय तत्वो का ग्रहण किया है उनकी कला का गौरव और सौन्दर्य भी सन्दिग्ध है। कदाचित् व्यक्तित्व के विकार इसके लिये उत्तरदायी हैं। कला और श्रेय के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न सौन्दर्य के रूप तथा श्रेय के तत्व के समन्वय का है।

अध्याय ५४

सौन्दर्य और सत्य

सौन्दर्य का सत्य से क्या सम्बन्ध है इसका उत्तर सौन्दर्य की कल्पना और सत्य के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। वस्तु के गुण, रूप की योजना, अनुभूति और अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की स्थापनायें की गई हैं। जगत, जीवन और चेतना की वास्तविकताओं की दृष्टि से यह सभी सत्य है। इस प्रकार सौन्दर्य सत्य का स्वरूप ही है। सत्य का प्रयोग वस्तुगत तथ्यों और सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त जीवन के चरम तत्व के अर्थ में भी होता है। यह चरम सत्य जिज्ञासा का अन्तिम समाधान है। इस दृष्टि से इसे सत्य भी कह सकते हैं। किन्तु अनेक तत्व-विचारकों के मत में इस सत्य में जीवन की समस्त आकांक्षाओं का समाधान है। वह सत्य होने के साथ साथ शिव और सुन्दर भी है। जगत का वस्तुगत तथ्य कला और काव्य का उपादान बन सकता है। वस्तुओं के गुण और उनकी रूप-योजनाओं को संवेदना की अनुकूलता की दृष्टि से प्रिय कहा जा सकता है। चेतना की ही अभिव्यक्ति में वस्तु, गुण और रूप सुन्दर बनते हैं। संवेदना की प्रियता के कारण हम इसे 'सुन्दर' कहते हैं, किन्तु वस्तुतः सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति है। क्रोचे ने इसे अनुभूति और कौलिंगवुड ने इसे 'कल्पना' कहा है। भारतीय काव्य शास्त्र में इसकी 'रस' संज्ञा है। ये मत इसे व्यक्तिगत अनुभूति मानते हैं। क्रोचे और कौलिंगवुड के अनुसार यह चेतना की सक्रिय और सृजनात्मक स्थिति है, जिसमें वह अपने विषयों का सृजन करती है। कलानुभूति की यह स्थिति पूर्णतः आन्तरिक और आत्मिक है। बाह्य वस्तु के सत्य का इसमें कोई प्रश्न नहीं है। सत्य और असत्य के भेद से यह अनुभूति परे है। व्यक्तिगत होने के कारण यह सत्य के सामान्य सिद्धान्त के विपरीत है। अतः बाह्य सत्ता और सिद्धान्त दोनों ही रूपों में सत्य का सौन्दर्य में कोई स्थान नहीं है। अनुभूति और कल्पना का सौन्दर्य सभी रूपों में सत्य से निरपेक्ष है। भारतीय काव्य शास्त्र में कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप 'रस' है। रस भी व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति है, यद्यपि कुछ कठिनाइयों के कारण भारतीय आचार्यों ने उसके साधारणीकरण का प्रयत्न किया है। किन्तु

यह साधारणीकरण भी एक व्यापार है। वस्तुत रस का आश्रय व्यक्ति ही है। रति आदि से अविच्छिन्न व्यक्ति चैतन्य मे रस की निष्पत्ति होती है। बाह्य विषय इस रस के उद्दीपन हो सकते हैं। इस प्रकार आन्तरिक अनुभूति होते हुए भी रस सिद्धान्त क्रोचे के अनुभूतिवाद की भाँति पूर्णत आत्मगत नही है। किन्तु आश्रय की व्यक्तिगत चेतना मे निष्पन्न होने के कारण रस भी व्यक्तिगत अनुभूति है।

अस्तु अनत भिन्न होते हुए भी दोनो सिद्धान्तो मे एक समानता है कि दोनो के अनुसार कला और काव्य का सौन्दर्य व्यक्तिगत अनुभूति मे है। व्यक्तिगत होने के कारण हम इसे मनोवैज्ञानिक सत्य कह सकते हैं। सत्य का बाह्य और वस्तुगत रूप भारतीय काव्य शास्त्र के रस का उद्दीपन अवश्य है किन्तु क्रोचे के सिद्धान्त मे उसके लिये कोई स्थान नही है। दोनो ही सिद्धान्तो मे सत्य के उस तात्त्विक और दार्शनिक रूप के लिये स्थान नही है, जिससे हम सामान्यत परिचित हैं। भारतीय रस सिद्धान्त का एक ऐसा आध्यात्मिक रूप अवश्य है जिसमे रस का आधार दर्शन का तत्व है। यह उपनिषदो का आध्यात्मिक रसवाद है, जिसके अनुसार रस आत्मा का स्वरूप है। आत्मा जीवन का चरम आध्यात्मिक सत्य है। यह रस आनन्दमय है। शैव दर्शन मे जीवन के इस अध्यात्मतत्व को 'सुन्दर' भी माना है। शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी, जयशकर 'प्रसाद' की कामायनी आदि कुछ काव्यो मे सत्य के इस सुन्दर रूप का काव्य मे आधान अवश्य किया गया है, किन्तु काव्य को सत्य के इस स्वरूप के साथ एकाकार नही माना गया है। यह सत्य भी काव्य का उपादान बन सकता है, किन्तु सत्य काव्य का स्वरूप नही है। काव्य आवश्यक रूप मे उसकी अभिव्यक्ति नही है। ब्रैडले आदि जिन पश्चिमी अध्यात्मवादियो ने सत्य के जिस पूर्ण रूप को मनुष्य की समस्त आकाक्षाओ का समाधान माना है, उस स्वरूप का काव्य के साथ सम्बन्ध किसी भी पश्चिमी सम्प्रदाय का अवलम्ब न बना। बोसान्क्वेट का सिद्धान्त सत्य अथवा तत्व के सौन्दर्य की अपेक्षा रूप और अभिव्यक्ति को अधिक महत्व देता है। हीगल के अध्यात्मवाद से प्रभावित होते हुये भी क्रोचे और कौलिंगवुड कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति को व्यक्तिगत मानते हैं। बोसान्क्वेट ने भी कला के प्रसग मे 'व्यक्ति' पद का प्रयोग किया है किन्तु उनकी 'व्यक्ति' की कल्पना व्यक्तित्व की सामान्य और मनोवैज्ञानिक कल्पना से पूर्णत भिन्न है। भारतीय काव्य शास्त्र और क्रोचे के समान व्यक्तिवादी सिद्धान्तो मे किसी व्यापक और सामान्य सत्य के लिये स्थान नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से

नहीं तो भी तत्व की दृष्टि से भारतीय काव्य-शास्त्र सत्य के सभी रूपों को काव्य का विषय मानता रहा। किन्तु रोचे का कलात्मक सौन्दर्य व्यक्तिगत ही नहीं आत्मगत भी है। अत उसमे किसी भी रूप मे सामान्य सत्य के लिये स्थान नहीं है। भारतीय रस-सिद्धान्त के भी व्यक्तिगत होने के कारण सामान्य सत्य का काव्य के स्वरूप मे अन्वय कठिन है।

इन व्यक्तिवादी और आत्मगत मतो के विपरीत पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र के कुछ वे सिद्धान्त हैं जो किसी न किसी रूप मे सौन्दर्य को सत्य की अभिव्यक्ति मानते हैं। इन मतो के अनुसार सत्य की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। इस प्रकार सत्य के अतिरिक्त सौन्दर्य की सत्ता नहीं है। सत्य सौन्दर्य का वैकल्पिक आधार नहीं है वरन् उसका अनिवार्य आधार है, सत्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त सौन्दर्य का स्वतत्र अस्तित्व नहीं है। सौन्दर्य की ये दार्शनिक धारणाये अग्रेजी कवि कीट्स की प्रसिद्ध उद्गार की भाँति सत्य और सौन्दर्य का अनिश्चित और भावुकता-मय एकीकरण नहीं है। ये सभी मत पश्चिम के प्रसिद्ध और दिग्गज दार्शनिको के हैं, जिन्होने अपने दर्शनो मे सत्य की महान स्थापनायें की हैं। सत्य का स्वरूप सौन्दर्य से स्वतत्र है। ब्रैडले के चरम सत्य तथा शैव दर्शन के शिव की भाँति उस तात्विक सत्य के स्वरूप मे सौन्दर्य का अन्वय नहीं है। सौन्दर्य किसी रूप मे उस तात्विक सत्य की अभिव्यक्ति अवश्य है। इस प्रकार सत्य सौन्दर्य का आधार अवश्य है, किन्तु सौन्दर्य सत्य के स्वरूप का आवश्यक तत्व नहीं। यदि यह कहा जाय कि इन दार्शनिको के मत मे सत्य ही प्रधान है और सौन्दर्य गौण है तो अनुचित न होगा। सत्य अपने तात्विक स्वरूप मे पूर्ण है, सौन्दर्य उसे अधिक पूर्ण नहीं बनाता, वह केवल सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु सत्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का आवश्यक आधार है। यह स्पष्ट है कि इन मतो के अनुसार सत्य और सौन्दर्य का स्वरूप अलग अलग है। कीट्स के मन्तव्य की भाँति वे एक नहीं हैं।

इन मतो मे प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का मत सबसे प्राचीन है। प्लेटो एक अध्यात्मवादी दार्शनिक था। सभी अध्यात्मवादी भौतिक और बाह्य जगत को सदेह की दृष्टि से देखते आये हैं। उन्हे इसमे सत्य की अपेक्षा असत्य ही अधिक मिला है। वे इस भौतिक जगत से परे किसी अतीन्द्रिय और आध्यात्मिक तत्व मे सत्य का चरम स्वरूप खोजते रहे हैं। प्लेटो के अनुसार भी यह भौतिक जगत सत्य नहीं है। सत्य का स्वरूप आध्यात्मिक और अतीन्द्रिय है जिसे प्लेटो ने 'विज्ञानों'

का नाम दिया है। ये विज्ञान दृश्य वस्तुओं के चरम और अतीन्द्रिय आधार हैं जो बहुत कुछ वैशेषिक के सामान्यों के समान हैं। प्लेटो एक अतीन्द्रिय आध्यात्मिक लोक में इन सामान्यों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। सम्भवतः यह बुद्धि के विषय हैं। उनके संवादों के एक पात्र ने एक व्यक्ति के यह आपत्ति करने पर कि "मैं अश्व तो देखता हूँ किन्तु मुझे अश्वत्व कहीं दिखाई नहीं देता।' यह व्यंगपूर्ण उत्तर दिया था "क्योंकि तुम्हारे पास बुद्धि नहीं है।" यह स्वतन्त्र सामान्य विज्ञान ही प्लेटो के अनुसार चरम सत्य है। भौतिक जगत और उसके पदार्थ इस चरम सत्य के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। प्लेटो ने इस सत्य को स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त का प्रयोग किया है जो उनकी रचनाओं में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसे गुफा का दृष्टान्त कहते हैं। अँधेरी गुफा में एक द्वार से कुछ प्रकाश आ रहा है। उस प्रकाश के सहारे गुफा के बाहर के मार्गों पर आते जाते लोगों के प्रतिबिम्ब गुफा की दीवार पर पड़ते हैं। अँधेरी गुफा के निवासी उन प्रतिबिम्बों को भी देखते हैं। उनके आधारों का नहीं जानते। यह संसार उस गुफा के समान ही है। इसके निवासी सामान्यतः उस विज्ञान-रूप सत्य को नहीं जानते जो अतीन्द्रिय लोक में स्थित है। वे इन भौतिक पदार्थों को ही देखते हैं जो उनके प्रतिबिम्ब हैं। प्लेटो के अनुसार कला अनुकरण है। वह ऐन्द्रिक माध्यमों में इन भौतिक वस्तुओं की प्रतिलिपियों का अंकन है जो स्वयं विज्ञान रूप सत्य की प्रतिलिपियाँ हैं। इस प्रकार कलाकृति एक प्रतिलिपि की प्रतिलिपि है।

अस्तु प्लेटो के मत में सौन्दर्य सत्य नहीं वरन् सत्य की अनुकृति की अनुकृति है। प्लेटो के दर्शन में व्यवहार जगत की स्थिति अद्वैत वेदान्त की माया के समान ही है। कलात्मक सौन्दर्य उस माया की भी माया है। यह सौन्दर्य का कोई गौरवपूर्ण दृष्टिकोण नहीं है। नाटक के प्रति प्लेटो का दृष्टिकोण और अपने आदर्श नगर से नाटककार का निष्कासन प्लेटो के दृष्टिकोण के प्रमाण हैं। प्लेटो के मत में न तो सौन्दर्य का कोई स्वरूपगत मूल्य अथवा महत्व है और न सौन्दर्य सत्य के स्वरूप की वास्तविक अभिव्यक्ति में समर्थ है। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र में भी कुछ विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्य के रूप और उसकी रचना में भ्रम का अंश योजने का प्रयत्न किया।[१०४] भ्रम का रूप वास्तविक स्थितियों की अन्यथा प्रतीति है। कला के क्षेत्र में ही वस्तुओं, विषयों तथा कर्ता और कला के अनुरागियों को अपने स्वरूप के विषय में भ्रान्तिमय प्रतीति होती है।

इस आधुनिक मत के अनुसार कला किसी आध्यात्मिक अथवा तात्विक सत्य की नहीं वरन् लौकिक और व्यावहारिक सत्य की ही भ्रातिमय अभिव्यक्ति है। यही भ्रान्ति कला का सौन्दर्य और उसका आकर्षण है।

कला और सौन्दर्य के सम्बन्ध में ऐसे दृष्टिकोणो का मूल्य तात्विक सत्य के बौद्धिक रूप की ही प्रधानता है। बौद्धिक सत्य का तात्विक रूप अपनी सत्ता और स्थिति में पूर्ण है। वह अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं करता और न अभिव्यक्ति से पूर्णतर हो सकता है। सौन्दर्य रूप की अभिव्यक्ति है। अत सौन्दर्य के साथ इस सत्य का आन्तरिक और आवश्यक सम्बन्ध नहीं। इसलिये जिन बुद्धिवादी विचारकों ने सौन्दर्य को ऐन्द्रिय 'रूप' में सत्य की अभिव्यक्ति माना है उनकी दृष्टि में भी सत्य अपनी सत्ता और अपने स्वरूप में पूर्ण है। अभिव्यक्ति इस सत्य के स्वरूप का आवश्यक अग न होने के कारण असत्य ही है। इसीलिये अद्वैत वेदान्त, प्लेटो आदि के जैसे आध्यात्मिक दर्शनों मे भौतिक और व्यावहारिक जगत मिथ्या है। सत्य के बौद्धिक रूप को मानने के कारण वे विचारक सौन्दर्य के स्वतन्त्र रूप को न पहचान सके और न सत्य के साथ उसके घनिष्ट सम्बन्ध को मान सके। सौन्दर्य को ये अधिक से अधिक आदर इस रूप मे दे सके हैं कि वह बौद्धिक सत्य की अभिव्यक्ति है।[१०६] जर्मन दार्शनिक हीगल भी सौन्दर्य को ऐन्द्रिय आकार में आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति मानता था।[१०७] प्लोटीनस के अनुसार सौन्दर्य बौद्धिक सत्य की अभिव्यक्ति है। प्लोटीनस के मत में सौन्दर्य का स्वतन्त्र रूप प्लेटो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हुआ है। वे कलाकृति को सत्य का अनुकरण नहीं वरन् उसका प्रतीक मानते हैं।[१०८] प्लोटीनस का सत्य आध्यात्मिक होने के साथ-साथ सृजनात्मक भी है। कला भौतिक प्रतीक में आध्यात्मिक सत्य का प्रतिनिधित्व है। कला की सृजनात्मक क्रिया में कलाकार सत्य का ध्यान करता है। और इस ध्यान में वह सत्य के साथ तन्मय हो जाता है। प्लोटीनस के मत में सौन्दर्य श्रेय अथवा नैतिकता का साधन नहीं है, वह स्वतन्त्र और इसके समकक्ष है। सत्य के साथ भी सौन्दर्य का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है। सौन्दर्य के ध्यान में आत्मा अपने सृजनात्मक रूप से एकाकार हो जाती है।[१०९] एक दृष्टि से कलात्मक अनुभव आत्मा के स्वरूप की स्मृति है। यह स्मृति का सिद्धान्त हमें प्लेटो का स्मरण दिलाता है। और प्लेटो के साथ प्लोटीनस के सम्बन्ध का स्मरण दिलाता है। प्लोटीनस के आध्यात्मिक अनुभूतिवाद में क्रोचे के मत के

कुछ सकेत अन्तर्निहित हैं। सौन्दर्य की आध्यात्मिकता, अनुभूतिमूलकता और ध्यान की तन्मयता क्रोचे की कलानुभूति के अत्यन्त निकट है। दूसरी ओर प्लेटो का प्रभाव भी स्पष्ट है। लौकिक और भौतिक प्रतीको मे आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति अपूर्ण ही है। इतना अवश्य है कि प्लोटीनस इसे मिथ्या अथवा भ्रान्ति नही मानते। सत्य और सौन्दर्य दोनो के स्वरूप की आध्यात्मिकता उनकी समानता का आधार है। अनुभूतिवादी होने के नाते प्लोटीनस का मत क्रोचे के बहुत कुछ समान है।

हीगल के मत मे भी यद्यपि सत्य का आध्यात्मिक रूप ही प्रधान है, फिर भी सौन्दर्य के साथ उसकी घनिष्ठता है। हीगल का आध्यात्मिक सत्य पूर्ण और शाश्वत होते हुए भी गत्यात्मक है। वह कालक्रम की लौकिक व्यवस्था मे अपने को अभिव्यक्त करता है। स्थापना विरोध और समन्वय के क्रम से आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति की गति अनन्त है। हीगल के मत म इस आध्यात्मिक सत्य का रूप प्रधानत बौद्धिक ही है। हीगल ने इस बौद्धिक सत्य को पूर्ण आध्यात्मिक प्रत्यय का नाम दिया है जो प्लेटो के चरम प्रत्ययो से भिन्न है। यह निरपक्ष और गतिशील है। विश्व और जीवन उसी की अभिव्यक्ति है। 'कला' इस बौद्धिक *और आध्यात्मिक सत्य की ऐन्द्रिक रूप मे अभिव्यक्ति है।*[११०] *हीगल के मत मे* कला इस सत्य की सबसे आरम्भिक और निम्न अभिव्यक्ति है। जीवन की प्रगति की त्रिपुटी मे उसे स्थापना कह सकते हैं। धर्म उसका विरोध करता है। दर्शन मे दोनो का समन्वय सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति है। हीगल के अनुसार कला का रूप आध्यात्मिक सत्य को ऐन्द्रिक आकार मे अभिव्यक्ति है। ऐन्द्रिक आकार सम्वेदना का निश्चित आधार है। हीगल के मत मे दार्शनिक बुद्धि मे सौन्दर्य की सवेदना का समाहार होता है। भिन्न प्रतीत होते हुये भी सौन्दर्य की समन्वित सत्य *के साथ सगति है।*

क्रोचे ने अपने अनुभूतिवाद मे हीगल के अध्यात्मवाद का आश्रय लेते हुये भी उसका खण्डन किया है। बुद्धि सामान्य प्रत्ययो के रूप में साकार होती है। इसलिए बौद्धिक सत्य का व्यक्तिगत रूपो और सत्ताओ से विरोध है। हीगल ने अपने सत्य को सामान्य मानते हुए भी प्लेटो के सामान्यो की भाँति स्थिर और पारलौकिक नही माना है। हीगल का सामान्य सत्य आध्यात्मिक होने के साथ मूर्त है। वह लौकिक और कालगत अभिव्यक्ति मे साकार होता है। अत हीगल के अनुसार

बौद्धिक सामान्य की ऐन्द्रिक अभिव्यक्तियों के साथ सगति है, केवल यह अभिव्यक्ति सत्य के जीवन का प्रथम चरण है। क्रोचे के अनुसार कला की अनुभूति व्यक्तिगत और आन्तरिक है। बाह्य अभिव्यक्ति और बौद्धिक सामान्य दोनों से उसकी कोई सगति नहीं है। कला और सौन्दर्य अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही पूर्ण है। बौद्धिक सामान्य इस व्यक्तिगत अनुभूति का विरोधी है, अत वह उनका समन्वय नहीं कर सकता।[१११] सौन्दर्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति ही उसका प्राथमिक और पूर्ण रूप है ऐन्द्रिक निश्चयता नहीं जैसा कि हीगल मानते थे। 'बौद्धिक विचार' विषय और विधेय का सम्बन्ध है। कलानुभूति पूर्णत आत्मगत है, उसमे विषय और बुद्धि के सत्व के लिए स्थान नहीं है। 'कला बौद्धिक और सामान्य सत्य की ऐन्द्रिक माध्यम मे अभिव्यक्ति नही है जैसा कि हीगल मानते थे वरन् बाह्यता, बुद्धि, काल, आदि के अनुषगो से रहित पूर्णत आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति है। इन सभी अनुषगों से रहित होने के कारण कलानुभूति अपने स्वरूप में पूर्ण है। सत्य और असत्य का प्रसग पूर्णत इसके बहिर्गत है।[११२]

इस प्रकार एक ओर सत्य के बौद्धिक रूप में विश्वास करने वाले दार्शनिक सौन्दर्य को सत्य की मिथ्या अथवा वास्तविक अभिव्यक्ति मानते हैं, दूसरी ओर अनुभूतिवादियो के मत में सत्य के बौद्धिक अथवा बाह्य रूप से सौन्दर्य की अनुभूति का कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। प्लौटिनस ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति को मिथ्या तो नहीं किन्तु अपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार कलात्मक क्रिया मे आत्मा अपने स्वरूप का अनुसधान करती है। किन्तु क्रोचे के मत में कलात्मक सौन्दर्य का रूप पूर्णत व्यक्तिगत और आन्तरिक है। बाह्य अभिव्यक्ति और बौद्धिक सामान्य दोनों उसके विरोधी हैं। सत्य के दो ही मुख्य रूप हैं—एक ऐन्द्रिक विषयों की सत्ता और दूसरे बौद्धिक सामान्य। इन दोनो के साथ सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है? व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति को सौन्दर्य का स्वरूप मानने पर दोनो के साथ ही सौन्दर्य की सगति नहीं है, जैसा कि क्रोचे के मत से स्पष्ट है। सौन्दर्य को चेतनाओ का समात्मभाव मानने पर ही बाह्य सत्ता के साथ उसकी सगति सभव हो सकती है। बाह्यता और अनेकता की स्थितियां समात्मभाव की स्थिति में बाह्य सत्ता की सौन्दर्य के साथ सहज सगति है। समात्मभाव के निमित्त बनकर बाह्य और ऐन्द्रिक विषय सौन्दर्य से अचित होते हैं। बौद्धिक विचार की दो विशेषतायें

मुख्य हैं—एक विषय और विधेय का सम्बन्ध और भेद, दूसरा सामान्य का रूप। समात्मभाव न पूर्ण एकता की स्थिति है और न अत्यन्त भेद की स्थिति है। वह एक समता का भाव है जिसमे भेद मे भी एकता है और एकता म भी भेद है। कठोर रूप मे भेद और अभेद बौद्धिक प्रत्याहार हैं और उनकी एकत्र सगति सम्भव नही हो सकती। उनके रूपो को पूर्णत विपरीत मानकर उनका समन्वय कैसे हो सकता है ? सामान्य को प्लेटो के सामान्य की भांति अलौकिक और अतीन्द्रिय मान लेने पर अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह सामान्य भी एक प्रत्याहार है। हीगल का मूर्त सामान्य, जो विशेष रूपो मे अभिव्यक्त होता है, सत्य के अधिक निकट है। जीवन और जगत मे सामान्य का यही रूप सत्य है। यह सामान्य व्यवहार और अनुभव मे समता तथा सामजस्य का सूत्र है। इसी के आधार पर व्यवहार मे सम्प्रेषण सभव होता है। सौन्दर्य और श्रेय के समात्मभाव मे भी सामान्य का अन्तर्निहित आधार रहता है। अत समात्मभाव के साथ सामान्य की भी सगति है। सम्प्रेषण समात्मभाव का महत्वपूर्ण लक्षण है।

बौद्धिक सत्य का आधान दर्शनो मे होता है। लिस्टोवेल ने बौद्धिक और ऐन्द्रिक तत्वो के समन्वय के उद्घाटन का श्रेय स्टेस को दिया है। आध्यात्मिक अर्थ मे काव्य इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य है।[113] आयरलैंड के कवि यीट्स के मत मे दर्शन के अन्तर्गत जो कुछ महत्वपूर्ण है वह काव्य मे आत्मसात् हो जाता है। सत्य का मूल स्वरूप आलोक और प्रसार है। इस आलोक और प्रसार के विस्तार और वितरण में सत्य में सौन्दर्य की छवि उदित होती है। इस विस्तार और वितरण मे सत्य की आत्मगत जिज्ञासा का समाधान समात्मभाव के श्रेय और सौन्दर्य की ओर अभिमुख होता है। यदि विश्व के महान् कवियो की कृतियो मे से बौद्धिक और दार्शनिक तत्व निकाल दिया जावे तो उनका सौन्दर्य तत्व हीन ही नही आत्म-विहीन हो जायगा। सत्य का तत्व सौन्दर्य के रूप मे समन्वित होकर ही श्रेष्ठ कला और काव्य की सृष्टि करता है। यह समन्वय ही सत्य और सौन्दर्य दोनो की पूर्णता है।

सत्य की एक व्यापक धारणा मे ही सत्य के अन्तर्गत श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार होता है। ऐसा व्यापक सत्य केवल बौद्धिक नही होता। उसमे मनुष्य की अन्य निगूढ आकाक्षाओं का भी सतोष होता है। ऐसा व्यापक सत्य परमार्थ का पर्याय बन जाता है जो सत्य होने के साथ शिव और सुन्दर भी है। तत्रों

के शिव और भक्ति दर्शनो के ईश्वर इस व्यापक सत्य के उदाहरण हैं। इस व्यापक सत्य मे सत्य की चरमता होने के साथ-साथ सौन्दर्य के लक्षण भी खोजे जा सकते हैं। सौन्दर्य का मूल लक्षण 'अभिव्यक्ति' है जो 'रूप के अतिशय' में साकार होती है। परम सत्य के वे ही रूप सुन्दर माने जा सकते हैं जो अभिव्यक्ति के अनुकूल होते हैं अर्थात् जो अभिव्यक्ति को अपने स्वरूपगत लक्षण के रूप मे स्वीकार करते हैं। तन्त्रो के शिव और भक्ति सम्प्रदायो के ईश्वर ऐसे ही सत्य हैं। सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति शिव के स्वरूप से अभिन्न है। भक्ति दर्शनो की माया, लक्ष्मी आदि भी शिव की शक्ति के समान ही परमेश्वर से अभिन्न हैं। अभिव्यक्ति का सृजनात्मक धर्म ही शिव और परमेश्वर के सौन्दर्य का मर्म है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से युक्त होने के कारण ही शिव और ईश्वर की कल्पना सुन्दर रूप में की गई हैं। शैवो के शिव और वैष्णवो के ईश्वर सौन्दर्य की सीमा को अंकित करते हैं। कालिदास ने कुमारसम्भव मे विवाह के प्रसग मे शिव के सौन्दर्य का वर्णन किया है। वैष्णव परम्परा मे ईश्वर की उपासना सुन्दर रूप मे की जाती है। विष्णु का रूप परम सुन्दर है। विष्णु के अवतार राम और कृष्ण भी अत्यन्त सुन्दर माने गये हैं। राम को तुलसीदास ने 'कोटि मनोज लजावन हारे' बताया है और श्रीकृष्ण को भागवत मे 'स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान' कहा गया है। शिव की शक्ति 'सुन्दरी' कहलाती है। वह सृजनात्मिका है। शक्ति की सुन्दरी सज्ञा इस रहस्य का सकेत करती है कि इस सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। यह सौन्दर्य शिव के स्वरूप मे समाहित है। वेदान्त के ब्रह्म में सौन्दर्य का समाहार नहीं है इसका कारण यही है कि वेदान्त में सृजनात्मक अभिव्यक्ति को ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं माना गया है। अद्वैत वेदान्त के मत मे सृष्टि मिथ्या है। इस मत के अनुसार माया का अर्थ ही मिथ्या है। रज्जु से सर्प की भाँति ब्रह्म से विश्व का मिथ्या विवर्त होता है। सृजनात्मक अभिव्यक्ति ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है इसीलिये ब्रह्म सुन्दर नही है। वह सत्य है, चिन्मय है, शान्त, शिव, आनन्दमय आदि है। अनिर्वचनीय होते हुए भी उपनिषदो मे ब्रह्म के उक्त लक्षण मिलते हैं। किन्तु प्राचीन उपनिषदो में कहीं भी ब्रह्म को सुन्दर नहीं बताया गया है। प्राचीन उपनिषदो में ब्रह्म के लिये 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है और कहीं भी सौन्दर्य के भाव की ब्रह्म के लिये कल्पना की गई है। ब्रह्म आनन्दमय अवश्य है। आनन्द आन्तरिक अनुभूति है। सौन्दर्य अभिव्यक्ति है जो आनन्दमय होती

है। सौन्दर्य आनन्द से अभिन्न है किन्तु आनन्द की अनुभूति आवश्यक रूप से सौन्दर्य में अभिव्यक्त नहीं होती। उपनिषदों के वेदान्त में आनन्द की कल्पना केवल एक आन्तरिक अनुभूति के रूप में की गई है।

परम और आध्यात्मिक सत्य के अतिरिक्त सत्य के अन्य अनेक रूप हैं। सत्य को अवगति का विषय मानकर उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं। प्राकृतिक सत्य, सामाजिक सत्य आदि उसके ऐसे रूप हैं जो सामान्यत कला और काव्य के उपादान बनते हैं। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। पिछले विवेचन में हमने सौन्दर्य की यही परिभाषा निर्धारित की है। कला इस रूप के अतिशय की रचना है। प्रकृति के दृश्यों में जहाँ हम रूप के अतिशय की कल्पना करते हैं वहाँ हमें सौन्दर्य भी दिखाई देता है। रूप का उत्कर्ष विन्यास की लय, सन्तुलन, सामंजस्य, निरुपयोगिता आदि उन लक्षणों में प्रमुख हैं जो प्राकृतिक दृश्यों के रूपों को अतिशय बना कर उनमें सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। रूप के इस अतिशय का तत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति का सौन्दर्य भौतिक तत्वों में ही साकार होता है। तत्व के आधार के बिना रूप की स्थिति और कल्पना सम्भव नहीं है। तत्व के आधार में ही रूप की अभिव्यक्ति होती है और रूप साकार होता है। केवल रूप का अस्तित्व सम्भव नहीं है। प्रकृति के रूप जिस भौतिक तथ्य के आधार में साकार होते हैं जो भौतिक सत्य कहा जा सकता है। यदि यह भौतिक तत्व प्रकृति के रूप से अभिन्न है तो प्राकृतिक 'सत्य' को प्राकृतिक 'रूप' से अभिन्न मानना होगा। प्रकृति की सत्ता में तत्व का रूप से समवाय रहता है। यह समवाय प्रकृति का सहज रूप है। रूप और तत्व का यह सहज समवाय प्रकृति का धर्म भी है। प्राकृतिक सत्ता के अनन्त रूपों को देखकर विदित होता है कि प्रकृति इस समवाय को कितने सरल और समृद्ध रूप में सम्पन्न करती है। प्रकृति के रूपों की अनेकता प्रकृति के सौन्दर्य की समृद्धि को सूचित करती है। प्रकृति की इस रचना में रूप और तत्व का ऐसा घनिष्ठ समवाय है कि दोनों के पृथक्त्व का हमें आभास भी नहीं होता। किसी उपयोगिता के लिये अपेक्षित होने पर ही हम प्रकृति के तत्व को ध्यान देते हैं तथा उसके रूप को नष्ट कर तत्व का उपयोग करते हैं। उपयोगिता के अतिरिक्त जब हमारा दृष्टिकोण निरुपयोगी होता है तो हम प्रकृति के तत्व को ध्यान नहीं देते। हमारी दृष्टि प्रकृति के रूप पर ही रहती है। इसीलिये हमें प्रकृति में सौन्दर्य दिखाई देता है। रूप की प्रधानता ही प्रकृति के सौन्दर्य का रहस्य है। प्रकृति के रूपों में

भौतिक तत्व एक अलक्ष्य भाव से समवेत रहता है। मानो वह तत्व रूप के प्रति अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। प्रकृति की प्रक्रिया निरन्तर रूपो की अभिव्यक्ति की ओर दिखाई देती है। इस दृष्टि से प्रकृति तत्वो की शक्ति सुन्दरी का साक्षात् रूप जान पडती है। अपने समर्पण म प्रकृति का भौतिक तत्व इतना मृदुल है और अपनी रचनात्मक प्रक्रिया मे प्रकृति इतनी प्रवन है कि प्रकृति के क्रम मे सौन्दर्य की विपुल अभिव्यक्ति दिखाई देती है। प्रकृति मे सौन्दर्य की इस अभिव्यक्ति का क्रम अनत है। अत प्रकृति अनत सुन्दरी है।

प्रकृति के रूपो मे भौतिक तत्व का सहज और पूर्ण समवाय विश्व का एक नैसर्गिक क्रम है। निसर्ग की सहज गति म सौन्दर्य के रूप सहज भाव से सम्पन्न होते हैं किन्तु मनुष्य के जीवन और उसकी सभ्यता मे इन रूपो का विकास मनुष्य की रचनात्मक वृत्ति के द्वारा ही होता है। मनुष्य के जीवन मे उपयोगिता बढती जाती है, अत सौन्दर्य का क्षेत्र सकुचित होता जाता है। रूप को सौन्दर्य का पर्याय अवश्य मान सकते हैं किन्तु अतिशय के भाव के बिना रूप मे सौन्दर्य अभिव्यक्त नही होता। रूप का उत्कर्ष, सतुलन, विन्यास की लय आदि रूप के अतिशय के वस्तुगत लक्षण अवश्य हैं किन्तु उनमे भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति रूपाभिमुख दृष्टिकोण पर ही निर्भर होती है। तात्वाभिमुख दृष्टिकोण मे उपयोगिता प्रधान होती है और रूप का सौन्दर्य गौण हो जाता है। अस्तु मनुष्य की रचनाओ मे निरुपयोगिता का भाव रहने पर ही उनके रूप मे सौन्दर्य प्रकट होता है। किन्तु रूप प्रधान सौन्दर्य की रचना मे भी तत्व का आश्रय तथा रूप मे तत्व का समवाय अपेक्षित होता है। प्रकृति की रचनाओ मे प्रकृति के तत्व रूप के प्रति अपना समर्पण कर देते हैं और सहज भाव से रूप के अनुचर बन जाते हैं। किन्तु मनुष्य की रचनाओ मे तत्व का ऐसा सहज सहयोग नही मिलता। प्रकृति के विधान मे प्राप्त इस सहयोग का उपयोग कर मनुष्य को अपनी क्रिया के द्वारा रूप और तत्व का समवाय करना पडता है। यही क्रिया मनुष्य की कला है। मनुष्य का कर्तृत्व और इस कला की सफलता इसी समवाय पर निर्भर करती है। एक प्रकार से जितना अधिक कर्तृत्व इस समवाय के लिये अपेक्षित होता है उतनी ही वह कला अथवा कलाकृति श्रेष्ठ बनती है। मूर्तिकला के तत्व अथवा माध्यम की कठोरता के कारण मूर्तिकला की श्रेष्ठता का एक मुख्य कारण मिलता है। अजन्ता और एलोरा की गुफाओ का सौन्दर्य उनके रूप अथवा आकार की अपेक्षा उनकी रचना के कर्तृत्व मे अधिक है। प्राकृतिक

माध्यमो की कलाओ म मनुष्य रूप यह रचना करता है। वह प्राकृतिक तत्व की रचना नही कर सकता। तत्व की स्वतत्र सत्ता के कारण उसमे रूप का समवाय कलाकार का एक उद्योग बन जाता है जिसकी सफलता पर उसकी रचना का सौंदय निभर करता है। सगीत काव्य आदि की शब्दमयी कलाओ म मनुष्य रूप क साथ साथ तत्व की भी रचना करता है। कर्तृत्व की यह अधिकता इन कलाओ को अधिक सु दर बनाती है। सभी कलाओ म भौतिक तत्व के साथ साथ मानसिक तत्व का भी सनिधान होता है। चित्रकला मूर्तिकला काव्य आदि की रचनाओ मे जीवन के भाव और विचार भी साकार होते हैं। यह कला के तत्व हैं। इन्ह जीवन के सत्य कह सकते हैं। भौतिक तत्व म रूप का सहज समवाय रहता है। उसे कला का माध्यम बनाने पर भी उसमे रूप के अतिशय का सौंदय सरलता से समवेत हो जाता है। स्थूल माध्यमो की कलाओ मे सबसे अधिक कठिनाई मानसिक तत्व भाव और रूप के सनिधान में होती है। यह जड और चेतन के सगम की कठिनाई है। इस सगम को सम्भव बनाकर कलाकार विधाता का अवतार बन जाता है। शब्दमयी कलाओ मे मानसिक तत्व के सन्निधान की कठिनाई एक दूसरे प्रकार की है। मानसिक तत्व के रूप मे प्राय अतिशय नही होता। बहुत कुछ बौद्धिक होने के कारण उसका रूप सीमित और दीन होता है। स्थूल तत्व सदा रूप का प्रधानता देता है। अत कठिन होते हुए भी स्थूल माध्यम की कलाओ म एक सरलता रहती है। इसके विपरीत मानसिक तत्व अपनी गुरुता म महत्व का अभिलाषी होता है। शाब्दिक माध्यमो की कलाओ का रूप विशेषत रूप का मानसिक पक्ष सहज आकषण से युक्त नही होता। उसका आस्वादन भी कलात्मक चेतना की अपेक्षा करता है। अत सूक्ष्म माध्यम और मानसिक रूप की कलाओ म तत्व अथवा सत्य का समवाय कठिन होता है। अनेक कलाकार इस समवाय का सफल नही बना पाते। आलोचना की तत्वमुखी दृष्टि भी तत्व की महिमा म अभिभूत होकर रूप के सौंदय को गौण बनाती रही है। सभ्यता की बढती हुई बौद्धिकता और उपयोगिता के कारण भी कला का गौरव और आस्वादन कम होता गया है।

अध्याय ५५

कला और मनोविश्लेषण

सामान्यत कला को एक गौरवपूर्ण साधना माना जाता है। सौन्दर्य की प्रवृत्ति जीवन की एक श्रेष्ठ प्रवृत्ति है। कला-कृतियो को समाज और सस्कृति मे आदर का स्थान दिया जाता है। नैतिक दृष्टि से कला के तत्व मे कोई दोष हो तो दूसरी वात है, अन्यथा जिन कृतियो मे कोई स्पष्ट दोष नहीं होता वे सस्कृति में गौरव की वस्तु समझी जाती है। कलाकार एक विशेष प्रतिभावान व्यक्ति माना जाता है और उसको हम आदर एव विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। कलाकारो की कृतियाँ सस्कृति की अनमोल विभूति हैं। युग-युग से मानव-समाज कला के प्रति एक श्रद्धा की भावना रखता रहा है।

यह कला का सामान्य दृष्टिकोण है, जो आदिकाल से लेकर आधुनिक युग तक मान्य रहा है। किन्तु आधुनिक युग मे फ्रायड के मनोविश्लेपणवाद ने जहाँ हमारे मानसिक और सामाजिक जीवन मे एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है, वहाँ कला के सम्बन्ध में भी एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण हमारे सामने रखा है। मनोविश्लेपणवाद ने मन के अन्तर्लोको का उद्घाटन किया जिसे अचेतन अथवा अवचेतन का नाम दिया जाता है। यह मन का वह तमोलोक है जो बहुत कम प्रकाश मे आता है और जिसके सम्बन्ध मे सामान्यत हम बहुत कम जानते हैं। मनुष्य का प्राकृतिक' जीवन कुछ प्रवृत्तियो का समुदाय है। 'ये प्रवृत्तियाँ स्वाभावत अपना सतोष खोजती हैं। सामान्यत मनोविज्ञान मे ये प्रवृत्तियाँ अनेक मानी जाती हैं। किन्तु डा० फ्रायड ने एक ही प्रधान प्रवृत्ति मानी है जिसे वह कामवासना कहते हैं। उनकी दृष्टि मे मनुष्य के समस्त व्यवहारो के मूल मे इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा रहती है। जिन प्रवृत्तियो मे हम कामवासना के सश्लेष की कल्पना भी नही करते उनमे भी मनोविश्लेपण के अनुसार काम का मर्म छिपा रहता है। काम की प्रबलता को सामान्यत सभी मानते हैं। किन्तु उसकी सार्वभौमता सबको मान्य नहीं है। काम के अतिरिक्त मनुष्य की और भी स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं जिनका जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान है। कामवासना को सार्वभौम प्रवृत्ति न मानने से फ्रायड के

सिद्धान्त की व्यापकता अवश्य खडित होती है किन्तु उनके सिद्धान्त की नवीनता और उसके महत्व मे कमी नही आती। कामवासना को यदि हम सार्वभौम प्रवृत्ति न भी मानें तो भी फ्रायड के सिद्धान्त की एक देन को कुछ अप्रिय होते हुए भी हमे स्वीकार करना पडेगा। फ्रायड ने जीवन के अनेक क्षेत्रो के गर्भ मे छिपी हुई काम वासना का सकेत किया जहां हम उसके होने की कल्पना भी नही करते। बाल्य जीवन और कला ऐसे ही क्षेत्र हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार बाल्यकाल जीवन का सबसे महत्वपूर्ण समय है। आश्चर्य की बात यह है कि मनोविश्लेषण के अनुसार बाल्यकाल के व्यवहारो मे भी कामवृत्ति की प्रेरणा रहती है। जिस बाल्यकाल को हम नितान्त अबोध मानते हैं उसमें कामवृत्ति की स्थापना हमें कुछ विस्मित करती है। किन्तु यदि हम विचार पूर्वक देखें तो विदित होगा कि फ्रायड का यह मत नितान्त निस्सार नही है। फ्रायड ने काम का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थ मे ही किया है फिर भी यह शब्द अपने मूल अर्थ से दूर नही हुआ है। सस्कृत म काम का मूल अर्थ इच्छा अथवा कामना है, जो फ्रायड के अर्थ से कही अधिक व्यापक है। समस्त कामनाओ म प्रबल होने के कारण काम का रूढ अर्थ प्रचलित हुआ। इस रूढ अर्थ में काम का आशय स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण है। फ्रायड का भी मुख्य अर्थ इसी प्रकार का आकर्षण है।

समाज की व्यवस्था का विकास कुछ नैतिक मान्यताओ के आधार पर हुआ है। ये नैतिक मान्यताये कामवृत्ति को नियन्त्रित करती हैं। यह नियन्त्रण सदा सचेतन और यत्नपूर्वक नही होता। समाज की मान्यतायें एक अचेतन और अनजान रूप मे हमे प्रभावित करती हैं। बाल्यकाल से ही इन मान्यताओ का प्रतिबन्ध और प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि काम के सम्बन्ध मे कोई प्राकृतिक मर्यादा नही है। "एडीपस कोम्प्लेक्स" की स्थापना द्वारा फ्रायड ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है। भारतीय नीतिकार भी काम की इस मर्यादाहीनता को मानते हैं। काम की प्रवृत्ति मे कोई प्राकृतिक मर्यादा न होने के कारण समाज की नैतिक मान्यताओ से उसका जाने अनजाने रूप मे नियन्त्रित होना स्वाभाविक है। इस नियन्त्रण का फल यह होना है कि काम की प्रवृत्तियां मन मे दब जाती हैं। इसको मनोविश्लेषण मे दमन करते हैं। दमन होने से काम की वृत्तियां उन्मूलित नही होती; वे केवल अचेतन मन के अन्तराल मे पडी रहती हैं। एक दृष्टि से वे अधिक उग्र और सक्रिय हो जाती हैं और

अनजाने रूप मे हमारे व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। उनका यह प्रभाव सीधा नही होता, एक तिरछे ढग से वे हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। व्यवहार के प्रतीत रूप मे वे प्रच्छन्न प्रेरणा के रूप मे छिपी रहती हैं। सोने के समय चेतन मन का नियन्त्रण कुछ शिथिल होने पर वे वृत्तियाँ स्वप्नो के रूप मे अपने को प्रकट करती हैं। तात्पर्य यह है कि लोक की मान्यताओ से मर्यादित और अवचेतन म दमित काम की वृत्तियाँ किसी न किसी रूप मे अपने को व्यक्त करने का मार्ग ढूँढती हैं। स्वप्न उनका एक अत्यन्त सरल मार्ग है, किन्तु वह पूर्णत सन्तोपजनक नही है। वास्तविक वासनाओ की पूर्ति स्वप्न मे नही हो सकती। इसलिये वास्तविक जीवन के व्यवहारो मे वे छिपकर अपने सतोष का मार्ग खोजती हैं। किन्तु उसकी यह खोज तभी सफल हो सकती है जबकि उसकी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप समाज द्वारा स्वीकृत हो। सामाजिक सम्बन्धो, धर्माचारो और कलाओ के कुछ रूप ऐसे हैं जो समाज द्वारा मान्य हैं और जिनमे इन दमित वृत्तियो के प्रच्छन्न परितोष की सभावना है। फ्रायड के अनुसार धर्म, सस्कृति और कला के अनेक रूप दमित काम के प्रच्छन्न परितोष के मार्ग हैं। दमित वृत्तियाँ मन म सघर्ष का कारण बनती हैं। धर्म, सस्कृति और कला के ये रूप इन सघर्षो के स्वीकार्य समाधान हैं। फ्रायड के मत मे कला समाज द्वारा स्वीकृत रूपो म दमित मनोवृत्तियो और मानसिक सघर्षो की अभिव्यक्ति है।[११४] मनोविश्लेषण के सिद्धान्त मे इसे 'उदात्तीकरण' कहा जाता है। कला और काव्य की रचना मनोरोगी के स्वप्न के ही समान है जिसमे वह अपनी अतृप्त और दमित काम वासना का सतोष तथा अपने मानसिक सघर्ष का समाधान खोजता है।[११५] मनोविश्लेषण के अनुसार कला जीवन की स्वस्थ और साधारण वृत्ति नहीं है। इसके अनुसार कलाकार की स्थिति स्वस्थ एव साधारण व्यक्ति तथा मनोरोगी के कहीं बीच में है। शेक्सपीयर ने पागल प्रेमी और कवि को एक कोटि मे रखने की कल्पना की थी। उसके अनुसार तीनो ही कल्पना लोक मे विहार करते हैं। मनोविश्लेषण ने पागल और कवि की समानता के मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट कर दिया। कला और काव्य की कल्पनायें मनोरोगी के स्वप्न के समान हैं। स्वप्नो की सामग्री भी मानसिक होती है और स्वप्न पूर्णत व्यक्तिगत होते हैं। कला और काव्य व्यक्तिगत मनोवृत्तियो के समाधान होते हुए भी व्यवहार में सामाजिक हैं। अत उनमे अभिव्यक्त होने वाली दमित वृत्तियो को सामाजिक

समर्थन का संतोष मिलता है। 'पागलपन' अनर्गल कल्पना की अवस्था है। सामाजिक व्यवहार जीवन की यथार्थता है। फ्रायड के अनुसार कला इस अनर्गल कल्पना के लोक से जीवन के यथार्थ लोक में लौटने का मार्ग है।[११६] इस प्रकार कला दमित वासनाओं, मनोविकृतियों और मानसिक संघर्षों की काल्पनिक एवं वास्तविक अभिव्यक्ति का लोक-स्वीकृत माध्यम है।[११७] मनोविश्लेषणवाद में इसे उदात्तीकरण कहा जाता है। उदात्तीकरण से सामान्यतः लोगों को यह भ्रम होता है कि कला के माध्यम से अभिव्यक्त होने पर दमित मनोवृत्तियाँ, जो कुत्सित समझी जाती थी, उदात्त बन जाती हैं। इस भ्रान्ति के लिए अंग्रेजी के 'सब्लीमेशन' पद में भी आधार है। सब्लाइम' को हिन्दी मे 'उदात्त' कहते हैं। इसी आधार पर सब्लीमेशन को सब्लाइमेशन समझकर उदात्तीकरण की संज्ञा दी गई। संभवतः फ्रायड के मनोविज्ञान में सब्लाइम अथवा उदात्त के लिये कोई स्थान नहीं है। उदात्त श्रद्धा भय और प्रीति तीनों का पात्र है। कला और काव्य में यह उदात्त अभिव्यक्ति का आधार कम बना है। अधिकांश अभिव्यक्ति जिसके आधार पर हुई है उसे हम प्रिय और सुन्दर कह सकते हैं। जिसे उदात्तीकरण कहते हैं वह तो अधिकांश प्रिय और सुन्दर के आधार पर ही हुआ है। यह स्वाभाविक है क्यों कि कला दमित काम की ही अभिव्यक्ति है, जो प्रिय और सुन्दर में अपना सन्तोष खोजती है, अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि सब्लीमेशन का अभिप्राय उदात्तीकरण से नहीं वरन् अवचेतन की आकांक्षाओं को चेतना की देहली तक लाकर समाज के यथार्थ के साथ प्रच्छन्न रूप से उसके सम्बन्ध का पुनः स्थापन है। उदात्तीकरण में कुछ ऐसी ध्वनि है कि मानो वे दमित वृत्तियाँ कला मे अभिव्यक्ति पाकर कुछ नैतिक उत्कृष्टता पा जाती हैं। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार यह असंगत है। उसमें नैतिक उत्कर्ष के लिये कोई स्थान नहीं है। उदात्तीकरण का सिद्धान्त दमित वृत्तियों को उत्कृष्ट नहीं बनाता। कला के मूल में दमित वृत्तियों की प्रेरणा की खोज कला के महत्व का अपकर्ष है। जिस प्रकार डार्विन के विकासवाद ने निम्नतर पशुओं से मनुष्य का विकास खोजकर मनुष्य के उत्कर्ष की मौलिकता का खंडन किया और निम्नतर सिद्धान्तों के आधार पर संस्कृति के उच्च प्रतीत होने वाले निर्माणों की व्याख्या का सूत्रपात किया उसी प्रकार फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने भी संस्कृति के उच्च प्रतीत होने वाले रूपों की मौलिकता का खंडन करके कामवृत्ति के आधार पर उनकी व्याख्या का प्रवर्तन किया। अतः यह स्पष्ट है कि उदात्तीकरण

का सिद्धान्त केवल एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का निदर्शन है। उसमे सांस्कृतिक भावों की मौलिकता और श्रेष्ठता के आदर का सकेत कहीं नही है।

विकासवाद के प्रसग मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या निम्न पाशविक स्थितियो से विकसित होने के कारण मनुष्य के जीवन का पशु जीवन के साथ पूर्ण समीकरण करना उचित है ? क्या मनुष्य के जीवन और चेतना में कुछ ऐसे तत्व नही हैं जो उसकी पूर्वतर स्थितियो की तुलना में मौलिक और श्रेष्ठ हैं ? मनोविश्लेषणवाद से उत्पन्न होने वाली समस्या का इस प्रश्न से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य की चेतना के श्रेष्ठ प्रतीत होने वाले सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों की मौलिकता और इनका महत्व खडित करने में विकासवाद और मनोविश्लेषणवाद दोनों समान और एकमत हैं। क्या काम के अतिरिक्त मनुष्य की प्रकृति मे और भी प्रवृत्तियाँ हैं ? यह एक प्रश्न है और इस प्रश्न की सीमा प्रकृति की ही परिधि है। इससे अधिक महत्वपूर्ण एक दूसरा प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य की चेतना में इन प्रवृत्तियों के सस्कार और उन्नयन के सूत्र निहित नही हैं ? क्या धर्म, कला और संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध हमारे समस्त निर्माण आडम्बरमात्र हैं और उनमें कोई मौलिक महिमा नही है ? क्या कला और संस्कृति की साधना केवल दमित वृत्तियो की आरात् अभिव्यक्ति का साधन मात्र हैं ? स्वतत्र साध्य के रूप में उसका कोई गौरव नहीं है ? इन प्रश्नो के उत्तर के लिये हमें एक ओर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों को निष्पक्षता और निर्भयता के साथ समझना होगा, दूसरी ओर जहाँ तक सम्भव है हमें मनोविश्लेषण के अनुसार कला की व्याख्या को नम्रतापूर्वक स्वीकार करना होगा। इतना करने के बाद ही यदि कला की साधना मे कोई मौलिक और सांस्कृतिक महत्व है तो उसका उद्घाटन कर सकेंगे, यदि मनोविश्लेषणवाद जीवन का सम्पूर्ण सत्य नहीं है तो यह भी निश्चित है कि जीवन के आधार, धर्म, संस्कृति और कला के सम्बन्ध में भी हमारी धारणायें बहुत कुछ भ्रान्त हैं। यदि हम यह कहना चाहें कि हमारी धारणाओ की अपेक्षा मनोविश्लेषणवाद अधिक सत्य है, तो इसे पक्षपात नहीं वरन् एक न्यायपूर्ण मत समझना चाहिये। मनोविश्लेषणवाद का सिद्धान्त पूर्णत सत्य है, केवल वह जीवन का पूर्ण सत्य नहीं। किन्तु उसकी तुलना में धर्म, कला, संस्कृति के सम्बन्ध हमारी धारणायें अधिक भ्रान्त हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि उनके अनेक रूपो मे दमित वासनाओ की प्रेरणा है जैसा कि मनोविश्लेषणवाद स्वय बताता है कि ये दमित वासनायें बडे छद्म रूप में अपने को व्यक्त करती हैं।

अत कला के कर्त्ताओ और अनुरागियो दोनो के लिये इस छद्म के भीतर छिपे हुये मर्म को समझना कठिन होता है। धर्म और कला की तथाकथित साधना कर्त्ताओ और अनुरागियो दोनो के लिये परितोष का साधन बनती है। अत पारस्परिकता का यह समर्थन कठिनाई को और बढा देता है। इसी कारण से कला और सस्कृति के मौलिक रूप को आच्छादित कर उनके छद्म रूप की साधना भी युग युगान्तर से चली आ रही है।

यदि हम कला, काव्य और सस्कृति के इतिहास को देखें तो उसमें इनके मौलिक रूप के साथ-साथ इनका छद्म रूप भी बहुत अधिक परिमाण में पलता रहा है। धर्म, कला, और सस्कृति के रूपो में शृगार की अधिकता फ्राइड के इस अनुरोध का बहुत कुछ समर्थन करती है कि कला और सस्कृति मे काम की दमित वासनाओ की अभिव्यक्ति अधिक होती है, भारतवर्ष मे एकागी अध्यात्म के अधिक प्रचार और विदेशी शासन से उत्पन्न सामाजिक परिस्थितियो के कारण काम का दमन पश्चिमी देशो की अपेक्षा अधिक हुआ। इसीलिये भारतवर्ष के धर्म, कला और काव्य मे विशेषत उत्तरकाल मे काम की छद्म अभिव्यक्ति पश्चिमी देशो की अपेक्षा अधिक हुई है। इसके अतिरिक्त यह भक्ति, धर्म और शृगार की कला के रूपो मे इस अभिव्यक्ति का रूप अधिक स्फुट है। यदि हम फ्रायड के काम के साथ-साथ आडलर की अहवृत्ति को भी मनुष्य की एक प्रधान प्रवृत्ति मान लें तो मनोविश्लेषणवाद के अनुसार कला की व्याख्या का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो जाता है। काव्य प्रकाश के अनुसार यह 'यश' काव्य का प्रथम प्रयोजन है। अन्य साधनो और सम्पत्तियो से प्राय रहित होने के कारण कलाकारो और कवियो मे दमित अहभाव की पूर्ति के लिये यश की कामना होना स्वाभाविक है। भारतीय काव्य परम्परा मे कवियो का अहकार गर्वोक्ति अथवा दर्प के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन भारत के स्वतत्र समाज मे यह दमन अधिक नही था। इसलिये प्राचीन कवियो और कलाकारो मे अहकार की अभिव्यक्ति नही मिलती, वेदो, पुराणो, और अनेक शास्त्रो के रचयिताओ के नाम और व्यक्तित्व भी इतिहास मे सुरक्षित नही हैं। अजन्ता तथा अन्य महान् कलाकृतियो के कर्त्ताओ का नाम भी नही हैं। उत्तरकाल म यह अहभाव की अभिव्यक्ति अधिक मिलती है। रघुवश के आरम्भ मे प्रकाशित कालिदास की नम्रता मे भी 'हेम्न सलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि श्यामिकापि वा' का आत्मविश्वासपूर्ण दर्प छिपा हुआ है। भवभूति के जिस आहत अहकार की अभिव्यक्ति 'उत्पत्स्यते

मम तु कोपि समान धर्मा मे हुई, वह उत्तर रामचरित की नान्दी के 'वागर्थ मनुधावते' में और भी निखर उठा है। नैषधीय चरित के निर्माता श्रीहर्ष का अहकार उनके महाकाव्य के सर्गो की पुष्पिका मे प्रकट हुआ है। महान् कवियो का अहकार उनकी महिमा म सन्तुष्ट हो जाता है, अत भारवि, सूर, तुलसी रवीन्द्र और प्रसाद म उसका प्रकट न होना सगत है। अन्य कवियो में इसके सकेत प्राय मिलते हैं। बिहारी की 'करि फुलेल को आचमन तथा 'चले जाउ यहँ को करै हाथिन को व्यापार' जैसी अन्योक्तियाँ, केशवदास की 'भाषा बोलि न जानही जिनक कुल के दास' की घोषणा, देव की 'बसन्त सोरही वर्ष' भाव विलास की रचना, सेनापति की कवावली आदि मध्ययुग के कवियों के उदाहरण इसका समर्थन करते हैं।

आधुनिक युग में गीत काव्य की व्यक्तिगत शैली ने अहकार की अभिव्यक्ति के लिये उन्मुक्त अवकाश दिया। कवि अपने व्यक्तित्व मे अनेक विभूतियो के आरोपण करके अपने अहकार की परितृप्ति करता है। किसी के मानस मे ज्योति का निर्भर फूट पडता है, किसी को अपने गान घर घर मे गूँजते सुनाई पडते हैं, कोई विश्व को नवयुग का सन्देश देता है तो कोई अपनी कल्पना के पीठ से ही क्राति का शखनाद करता है। "मेरे आगन म भीड लगी मैं किसको कितना प्यार करू" अथवा 'मुझे प्यार करती थी हिम की परिया' के निर्माताओ की भाँति कुछ कवियो की भावना मे अहकार और काम का एकत्र योग मिलता है। गीत शैली मे अहकार की अभिव्यक्ति के साथ-साथ काम की अभिव्यक्ति भी बहुत हुई है। छायावादी कवियो को वृक्ष की छाया मे परिहृत वसना और रतिश्रान्ता व्रज-वनितायें दिखाई देती हैं तथा ग्रीष्म की गगा मे तन्वगी तापसबाला के दर्शन होते हैं। उपन्यास और कहानियो मे लेखको के अवचेतन सस्कारो की अभिव्यक्ति और समाज के अवचेतन का विश्लेषण दोनो एक साथ हुये हैं। मनोविश्लेषण के अनुराग का वैज्ञानिक और निर्वैयक्तिक होना बहुत कठिन है। प्राय व्यक्तिगत कुण्ठाओ के समाधान के रूप मे ही इसका प्रचार साहित्य और समाज मे अधिक हुआ है। आधुनिक युग मे मनुष्य को अन्य समस्त आस्थाओ के उन्मूलित हो जाने के कारण काम और अहकार दोनो ही उनकी समस्त कुठाओ के परितोष के मार्ग रह गए हैं। इसलिए आधुनिक युग के साहित्य मे व्यक्तिवाद और काम के मनोविलास की बाढ आ रही है। आधुनिक युग मे सभ्यता की कृत्रिमताओ के कारण काम का स्वस्थ

सन्तोष मन्द हो जाने के कारण भी उसका मनोविलास बढ़ रहा है। मनोविश्लेषण के दमन के सामान्यतः परिचित क्षेत्र में दमन की इस नवीन दिशा को भी सम्मिलित करना उचित है।

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है कि कला और काव्य में दमित मनोभावों की अभिव्यक्ति बहुत अधिक परिमाण में हुई है, यद्यपि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समस्त कला और काव्य का यही रूप है। यह स्पष्ट है कि जिस काव्य में दमित मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति अधिक हुई है वह सांस्कृतिक की अपेक्षा प्राकृतिक अधिक है। प्राकृतिक काव्य की प्रबलता यह भी प्रमाणित करती है कि प्रकृति कितनी प्रबल है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य की चेतना में प्रकृति के संस्कार की शक्ति अथवा सम्भावना नहीं है। जहाँ कला और काव्य के रूप में मनोविश्लेषण का समर्थन बहुत मिलता है वहाँ उसके कुछ अंश में चेतना के सांस्कृतिक रूप की मौलिकता का परिचय मिलता है। अहंकार और काम की प्रतिरंजना अथवा छद्म अभिव्यक्ति के साथ सांस्कृतिक चेतना के कलात्मक रूप की संगति नहीं है। किन्तु स्वस्थ काम दूसरों की स्वतन्त्रता से संगत है। व्यक्ति के गौरव के साथ उसकी पूर्ण संगति है, फ्रायड और मार्क्स की आन्तरिक और बाह्य शक्तियों से लाभ उठाकर जब मानव-समाज अहंकार और काम की कुण्ठाओं की संभावना को सामाजिक व्यवस्था में से जितना मिटा सकेगा उतना ही प्रवृत्तियों के स्वस्थ रूप की स्थापना अधिक सम्भव होगी, दमन और प्रवृत्तियों के प्रतिघात के स्थान पर एक सचेतन और स्वस्थ साधना चेतना की सांस्कृतिक विभूतियों का उद्घाटन करेगी। यही साधना प्रकृति और संस्कृति के सामंजस्य का सूत्र तथा सेतु है। सांस्कृतिक मूल्यों के जिन रूपों की व्याख्या पीछे अनेक स्थलों पर की गई है, वे नैतिक आरोपण नहीं वरन् मनुष्य की चेतना की अन्तरतम आकांक्षायें हैं। प्रकृति की प्रबलता के साथ सांस्कृतिक चेतना सदा संघर्ष करती रही है। प्रकृति के स्वास्थ्य, सन्तोष और संस्कार के द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों में प्रकृति के समन्वय का विकास होने पर संघर्ष के स्थान पर सामंजस्य का उत्कर्ष होगा और इसी उत्कर्ष के साथ-साथ धर्म कला और संस्कृति का मौलिक और स्वस्थ रूप विकसित होगा।

मनोविज्ञान की भाँति मनोविश्लेषण भी एक प्रकार का प्राकृतिक नियतिवाद है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण दोनों ही मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव का अध्ययन करते हैं। इस स्वभाव की प्रक्रियाएँ सहज और अनिवार्य होती हैं।

उनका विधान मनुष्य के शारीरिक और मानसिक निर्माण म ही निहित है। मनुष्य के जीवन की प्रवृत्ति कार्य कारण सम्बन्ध के अनुसार इसी विधान के द्वारा होती है। परिवेश मे प्राप्त उत्तेजना और प्रभाव के साधन मनुष्य की प्रवृत्ति के उत्तेजक और विधायक कारण बनते हैं। इन कारणो से जो कार्य अथवा फल मनुष्य की प्रवृत्ति के रूप म उत्पन्न होते हैं उनमे मनोविज्ञान सामान्य नियमों की खोज करता है। इन नियमो की स्थापना ही मनोविज्ञान के वैज्ञानिक अनुसधान का लक्ष्य है। इन नियमो की स्थापना मनुष्य की प्रवृत्तियो म कार्य-कारण सम्बन्ध की नियमितता के आधार पर सम्भव होती हैं। यह नियमितता ही मनुष्य क विचार और विज्ञान का मूल सूत्र है। मनोविज्ञान म कुछ सहज प्रवृत्तिया मनुष्य के व्यवहार की मूल प्ररणाएँ मानी जाती हैं। मनोविश्लेषण इन प्रवृत्तियो मे काम और अहकार का मुख्य मानता है तथा इन्ही के अनुसार मनुष्य क समस्त अध्यवसायो की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इनम मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सास्कृतिक आदि सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं। मनोविश्लेषण के अनुसार मनुष्य के इन सभी कार्यों का स्रोत काम और अहकार की प्रवृत्तिया मे है तथा इन कार्यो म प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप म इन्ही प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति होती है। मनोविश्लेषण मुख्य रूप से धर्म, साहित्य, कला और सस्कृति में काम और अहकार की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति देखता है।

मनोविश्लेषण के इस मत से धर्म और सस्कृति के उदात्त मूल्यो को वहुत आघात पहुँचा। किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि मनोविश्लेषण की ये मान्यताएँ पूर्ण रूप से असत्य और अमान्य नही हैं। वस्तुत वे एक बहुत बडी सीमा तक सत्य और माननीय हैं। काम और अहकार की प्रवृत्तियो का प्रभाव मनुष्य के जीवन मे व्यापक और गम्भीर रूप में दिखाई देता है। इनका साम्राज्य प्रबल और विशाल है। जिस प्रकार पराजित देशो के उन्नयन और उपकार का छद्म बहुत दिनो तक योरोप के साम्राज्यवाद रखते रहे थे उसी प्रकार काम और अहकार का साम्राज्यवाद भी धर्म, कला, सस्कृति आदि के छद्म मे पलता रहा है। ऐसा नही कहा जा सकता कि धर्म, सस्कृति, कला आदि की रचनाओ मे इन प्रवृत्तियो का प्रकट और प्रच्छन्न प्रभाव नही है। वस्तुत यह प्रभाव आशा से अधिक दिखाई पडता है। अत मनोविश्लेषण के प्राकृतिक सत्य का खण्डन नहीं किया जा सकता। मनुष्य का जीवन बहुत कुछ प्राकृतिक है और मनोविज्ञान तथा

मनोविश्लपण के नियम उसके बहुत कुछ अश की व्याख्या करते हैं। प्रश्न केवल इतना ही है कि क्या मनुष्य का जीवन पूर्ण रूप से प्राकृतिक तथा प्राकृतिक नियमो से शासित है ? क्या मनुष्य के धर्म, सस्कृति और कला में कोई ऐसा अश नहीं है जो प्रकृति और उसके नियमो से पूर्ण रूप से शासित न हो तथा जिसके विधान की सम्पूर्ण व्याख्या मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण के नियमो के अनुसार न की जा सकती हो ? यदि मनुष्य के जीवन और उसकी सस्कृति मे कोई ऐसा अश है तो विज्ञान के सार्वभौम नियमो के द्वारा उसे पूर्ण रूप से प्रमाणित नही किया जा सकता। अनुभव, विश्वास और समात्मभाव के आधार पर ही जीवन के उस अश का उन्मीलन और आभास हो सकता है।

हमारा विश्वास है कि यदि एक ओर प्रकृति जीवन का विशाल और व्यापक सत्य है तथा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की मान्यताएँ बहुत सीमा तक धर्म, सस्कृति, कला आदि की व्याख्या करती हैं वहां दूसरी ओर मनुष्य के जीवन का एक ऐसा अश भी है जो प्रकृति और उसक नियमो स परे है तथा जिसके विधान प्रकृति के विधानो से भिन्न हैं। हम इसे अध्यात्म का क्षेत्र कह सकते हैं, क्योकि प्रकृति से अतीत आत्मा ही इस क्षत्र की मुख्य विभूति है। अध्यात्म के इस क्षेत्र कुछ स्वतन्त्रता की आशा की जा सकती है। इकाईयो का पृथक्त्व, उपयोगिता और स्वार्थ प्रकृति के मुख्य लक्षण हैं। इसके विपरीत अध्यात्म के क्षेत्र में समात्मभाव का साम्य प्राकृतिक निरुपयोगिता और स्वार्थ का अतिक्रमण मिलता है। अध्यात्म के इस क्षेत्र के अध्यवसाय और निर्माण आत्मिक सकल्प की स्वतन्त्रता से प्रेरित होते हैं। कला और सस्कृति में सौन्दर्य और भाव के अतिशय की सृष्टि का स्रोत इसी स्वतन्त्र आत्मिक अध्यवसाय में है। मनुष्य की लौकिक सत्ता शुद्ध रूप में आत्मिक नहीं है किन्तु वह पूर्णत प्राकृतिक भी नहीं है। मनुष्य का जीवन प्रकृति और आत्मा का अद्भुत सगम है। प्राकृतिक प्रवृत्तियां बडी प्रबलता से उसके जीवन को प्रेरित करती हैं किन्तु प्रकृति के इस प्रभाव में आत्मा की विभूति भी विभासित होती है। धर्म, सस्कृति, कला आदि की साधनाओ मे जहां बहुत कुछ प्रकृति का प्रभाव दिखाई देता है वहाँ उनमे आत्मा का आलोक भी विभासित होता है। धर्म, सस्कृति, कला आदि के विवेचनों मे इन प्राकृतिक और आत्मिक पक्षो का विश्लेषण अपेक्षित है। इसी विश्लेषण के द्वारा इनके स्वरुप और महत्व की वास्तविकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

'प्रकृति' जीवन का उपादान है। काम अहंकार आदि की वासनाएँ जीवन के उपकरण हैं। ये प्रवृत्तियां कला और संस्कृति की प्रेरणा भी बन सकती हैं। कला और संस्कृति के मार्ग से काम और अहंकार की दमित वासनाएँ उसी प्रकार अपना परितोष खोज सकती हैं जिस प्रकार वे सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में खोजती हैं। प्रकृति के उपादान कला और संस्कृति के भी अवलम्ब बन सकते हैं। किन्तु इनसे कला और संस्कृति की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं होती। कला सौन्दर्य की सृष्टि है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है। अतः कला रूप के अतिशय की रचना है। रूप के अतिशय का सौन्दर्य दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का एक सुन्दर आवरण बन सकता है। कुछ कलाकार इसी प्रयोजन से कला की साधना भी कर सकते हैं। किन्तु सभी साधकों की कला में तथा विशेषतः महान् साधकों की कला में यह छद्म नहीं दिखाई देता। उपयोगी होते हुए भी वासनाओं की अभिव्यक्ति के लिये यह छद्म आवश्यक नहीं है। सामान्य जनों की भाँति कलाकार भी वासनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अन्य सुगम मार्ग अपना सकते हैं। कला का अल्प सौन्दर्य भी उनकी वासनाओं के लिए पर्याप्त आवरण बन सकता है। इसके लिए सौन्दर्य की साधना को अपने आप में अतिशय महत्वपूर्ण मानना आवश्यक नहीं है। मनोविश्लेषण इसे भी छद्म का चरम रूप कह सकता है। किन्तु हमारा विश्वास है कि कलाकार रूप के सौन्दर्य को निरुपयोगी और निष्काम भाव से अपने आप में महत्वपूर्ण मानकर उसे अपनी साधना का लक्ष्य बनाते हैं। रूप के सौन्दर्य को स्वतन्त्र साध्य के पद का यह गौरव किसी अंश में प्रदान करते हैं। मनुष्य होने के नाते कलाकार भी प्राकृतिक वासनाओं से पीडित होते हैं और न्यूनाधिक मात्रा में इनका प्रभाव उनकी कला पर रहता है। किन्तु इसके अतिरिक्त सभी कलाकारों की साधना में रूप के सौन्दर्य की रचना के पक्ष में आत्मा के स्वतन्त्र संकल्प की प्रेरणा भी रहती है। मनुष्य की सत्ता की भाँति कला और प्रकृति और आत्मा का संगम है। किन्तु कला और संस्कृति में आत्मा के स्वतन्त्र संकल्प और समात्मभाव की प्रेरणा अधिक रहती है। जिस कलाकार की कृति में आत्मा के स्वतन्त्र संकल्प की प्रेरणा जितनी अधिक होती है वह उतना ही श्रेष्ठ कलाकार होता है। समात्मभाव की उदारता में अहंकार और काम बहुत कुछ मंद हो जाते हैं। इसीलिये महान् कलाकारों की रचनाओं में इनका अधिक प्रभुत्व नहीं है। प्रकृति की इस काजल की कोठरी में अछूता कोई नहीं रहता, इसे सामान्य रूप से स्वीकार

किया जा सकता है किन्तु प्रकृति की यह कालिमा कला के कलाधार का अल्प लाञ्छन मात्र है, वह उसकी सम्पूर्ण कलाओं का सर्वस्व नहीं है। कालिदास के अनुसार हम इस लाञ्छन को कला के कलाधार का अलंकार और उसकी शोभा का वर्द्धक भी मान सकते हैं। काम और अहंकार की वासनाएँ विकृत और वैषम्य पूर्ण होने पर ही सौन्दर्य की विघातक हो सकती हैं। दमित वासनाओं में इस विकृति और वैषम्य की संभावना अधिक रहती है। प्राचीन काव्य और कला में इनके दमित रूप की अपेक्षा इनका सहज रूप अधिक मिलता है जो कलात्मक सौन्दर्य के अधिक अनुरूप है। सभ्यता के विकास के साथ साथ दमन और उसकी प्रतिक्रिया अधिक बढ़ती गई है। किन्तु इसके साथ साथ कला में तत्व और रूप का साम्य भी मन्द होता गया है। मनोविश्लेषण ने प्राचीन साहित्य और कला की व्याख्या करने की अपेक्षा अर्वाचीन साहित्य और कला के निर्माण को अधिक प्रभावित किया है। किन्तु रूप के विधाता तथा सौन्दर्य के आराधक के रूप में कलाकार की साधना वासनाओं का छद्म नहीं वरन् एक स्वतन्त्र अध्यवसाय है। कला और काव्य के तत्व में भी प्राकृतिक तत्व के अतिरिक्त उदारभाव का तत्व भी रहता है। यही कला और काव्य को महान् बनाता है। रूप के सौन्दर्य, आत्मिकभाव तथा प्राकृतिक भाव का अधिकतम साम्य ही किसी कलाकृति को महान् सुन्दर और मूल्यवान बनाता है।

अध्याय ५६

सुन्दर और उदात्त

सौन्दर्य शास्त्र मे सुन्दर के साथ साथ प्राय उदात्त के रूप का भी विवेचन हुआ है। सुन्दर के सम्बन्ध मे भी विचारको मे मत भेद है। किन्तु विद्वान और सामान्य जन सभी सुन्दर को प्रिय और आकर्षक मानते हैं। इसी प्रकार उदात्त के सम्बन्ध मे भी मतभेद है, किन्तु सामान्यत उनमे गम्भीरता, महिमा, प्रभविष्णुता आदि की कल्पना की जाती है। प्रिय और आकर्षक होने की अपेक्षा वह श्रद्धा, भय, विस्मय, आदि का कारण समझा जाता है। कुछ अर्वाचीन लेखकों ने सुन्दर और उदात्त के महत्वपूर्ण भेद का सकेत किया है। सुन्दर के साथ हम आत्मीयता का अनुभव करते हैं। उदात्त अपनी महानता के कारण हमें अपने से भिन्न जान पडता है। इस भेद के कारण ही वह भय उत्पन्न करता है जो उदात्त के प्रति हमारी श्रद्धा का महत्वपूर्ण तत्व है। भेद से भय के सम्बन्ध की कल्पना उपनिषदों के प्राचीन चिन्तन में भी की गई थी। वृहदारण्यक उपनिषदों के आरम्भ में प्रजापति के उपाख्यान में कहा गया है कि प्रजापति को अकेले होने पर भय क्यो हुआ, भय तो द्वितीय (भिन्न) से ही होता है। अस्तु सामान्य प्रयोग और साहित्यशास्त्र दोनो मे ही सुन्दर और उदात्त कल्पना में भेद है। भारतीय काव्य शास्त्र मे काव्य और नाटक के प्रसग में उदात्त की चर्चा आती है। धीरोदात्त और धीरललित दो प्रकार के नायक महाकाव्य और नाटक के लिये श्रेष्ठ माने जाते। महाकाव्य के लिये तो धीरोदात्त नायक का ही विधान है। धीरता इन दोनों ही प्रकार के श्रेष्ठ नायकों का गुण है। उदात्त और ललित का भेद पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र के उदात्त और सुन्दर के ही भेद के समान है। 'ललित' का अर्थ 'सुन्दर' है। सुन्दर मे और जो भी अधिक गुण हो किन्तु वह प्रिय और आकर्षक होता है। हम उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करते हैं। उसे प्रेम करते हैं और उसके साथ सख्य तथा सान्निध्य की कामना करते हैं। इसके विपरीत उदात्त गम्भीर और महान होता है। वह अपनी महत्ता के कारण हमे प्रभावित ही नही करता वरन् एक प्रकार से अपनी महत्ता की तुलना मे हमारी तुच्छता को उद्घाटित करता है। इस भेद के कारण हम उदात्त को अपने सख्य अथवा साम्य के योग्य नहीं समझते।

भेद के कारण सहसा भय का ही भाव उत्पन्न होता है। किन्तु उदात्त केवल भयावह नहीं होता। उसमें शील और रूप का एक गम्भीर सौन्दर्य भी होता है। अत भय के साथ उदात्त के प्रति प्रीति भी होती है, यद्यपि यह प्रीति ललित के सम्य और सौहार्द से भिन्न होती है। तुलसीदासजी के शब्दो में हम इसे ऐसी प्रीति कह सकते हैं जो भय से समन्वित होती है (भय बिनु प्रीति न होई गोसाईं)। इस भय युक्त प्रीति को श्रद्धा का नाम दिया जाता है। हम उदात्त के सम्य की अपेक्षा उसकी सेवा की अभिलाषा अधिक करते हैं। उदात्त की सेवा ही में हमारी तुच्छता का औचित्य है। धीरोदात्त चरित्र मनुष्य जीवन का आदर्श माना जाता है। महाकाव्य में एक आदर्श की दृष्टि से ही उसे प्रस्तुत किया जाता है। अत सेव्य होने के साथ साथ वह अनुकरणीय भी है। श्रद्धा के साथ साथ वह नैतिक और सामाजिक जीवन की प्रेरणा का स्रोत भी है। भारतीय परम्परा में राम और कृष्ण क्रमश उदात्त और ललित के उत्तम उदाहरण हैं। श्रीकृष्ण अपने माधुर्य में ललित हैं। राम अपनी गम्भीरता में उदात्त हैं। उदात्त होने के कारण ही राम हमारी श्रद्धा के अवलम्ब बने। ललित (सुन्दर) होने के कारण श्रीकृष्ण गोपियों और ग्वालो के ही प्रिय सखा नहीं; असख्य भक्तों के प्रेमपात्र बने। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में उदात्त के इतिहास की एक दीर्घ परम्परा है। ग्रीक भाषा के दु खान्त नाटको के पात्रो में भी हम उदात्त की कल्पना कर सकते हैं। किन्तु ग्रीक विचारको ने स्पष्ट रूप से उदात्त का विवेचन नही किया है। उदात्त के शब्द और सिद्धान्त का सबसे पहला परिचय ईसा की तीसरी शताब्दी में लौन्जाइनस के ग्रन्थ में मिलता है जिसका नाम ही 'उदात्त' है। बोसान्क्वेट के मत में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में इतने प्राचीन काल में उदात्त शब्द का प्रयोग ही अपने आप में महत्वपूर्ण है।[११८] शब्द के अतिरिक्त उदात्त की मूल भावना का स्पर्श भी लौन्जाइनस म मिलता है। उनके अनुसार उदात्तता आत्मा की महत्ता का प्रतिबिम्ब है।[११९] किन्तु लौन्जाइनस के ग्रन्थ में उदात्त के वास्तविक रूप की स्पष्ट कल्पना नही मिलती। इसके विपरीत उदात्त की मिथ्या प्रतीतियों के गुणो के प्रति लौन्जाइनस में अधिक सचेतनता मिलती है। कठोरता, आत्मश्लाघा आदि की मनिरजना उदात्त में पाई जाती है। लौन्जाइनस के बाद अनेक शताब्दियों के अन्तराल में बर्क में उदात्त का अधिक विकसित विवेचन मिलता है। बर्क के ग्रन्थ का नाम "उदात्त और सुन्दर" है। बर्क की दृष्टि में उदात्त सुन्दर से अत्यन्त भिन्न है। सौन्दर्य का

सम्बन्ध प्रियता की भावना से है। इसके विपरीत उदात्त का सम्बन्ध दुख और भय से है।[120] बर्क कुरूप को सुन्दर का विरोधी मानते थे और उनके मत में कुरूप और उदात्त में बहुत कुछ समानता है। कुरूप भी प्रियता का विरोधी है। इसके अतिरिक्त रूप-हीनता, शक्ति, महदाकार आदि उदात्त के अन्य महत्वपूर्ण गुण हैं। लिस्टोवेल ने बर्क के उदात्त के एक और लक्षण की ओर संकेत किया है। उदात्त की उपस्थिति में जो भय और पीड़ा उत्पन्न होती है वह उसी स्थिति में उत्पन्न होती है जिसमें जीवन और शरीर के लिये कोई वास्तविक खतरा नहीं होता। बर्क के अनुसार उदात्त का सम्बन्ध आत्मरक्षा से अवश्य है किन्तु उदात्त की कलात्मक अनुभूति तभी होती है जब कि मृत्यु अथवा शारीरिक शक्ति का कोई वास्तविक खतरा नहीं होता।[121] महान् जर्मन दार्शनिक कान्ट की उदात्त की कल्पना बर्क के सिद्धान्त से प्रभावित है।[122] कान्ट के अनुसार भी सुन्दर और उदात्त में भेद अथवा विरोध है। *कान्ट की सौन्दर्य की कल्पना रूपात्मक है। सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप* से है। उदात्त को कान्ट भी बर्क के समान रूपहीन अथवा कुरूप मानते थे।[123] कान्ट के अनुसार उदात्त के दो भेद हैं। एक भेद गणित के अनुसार है जिसका मुख्य गुण आकार की महत्ता है। इन्द्रियाँ इस महदाकार की समग्रता को ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतः उदात्त हमारी इन्द्रियों की असमर्थता का उद्घाटन करता है। उदात्त का दूसरा रूप सक्रिय है इस रूप में शक्ति की महत्ता के विपरीत हमारी अशक्तता का उद्घाटन होता है।[124] इस प्रकार आकार की महत्ता अथवा शक्ति की महत्ता के द्वारा उदात्त हमें भयभीत और प्रभावित करता है।

हीगल के अनुसार उदात्त का स्थान सुन्दर की देहली पर है और वह कला के प्रतीकात्मक रूप के अन्तर्गत है। हीगल के अनुसार सौन्दर्य बुद्धि अथवा चेतना के प्रत्यय की ऐन्द्रिक रूप में अभिव्यक्ति है। किन्तु उदात्त का सन्निधान किसी ऐन्द्रिक आकार में नहीं हो सकता। हीगल के मत में उदात्त अनन्त की अभिव्यक्ति का प्रयास है। जिसका समुचित प्रतिनिधित्व करने में व्यवहार-जगत् का कोई भी रूप पर्याप्त नहीं है। हीगल की इस कल्पना का मूल कान्ट के बौद्धिक प्रत्ययों में है जिनके अनुसार दिक् और काल की समग्रतायें अनन्त होने के कारण अग्राह्य हैं। बर्क और कान्ट कुरूप के साथ उदात्त का स्पष्ट भेद नहीं कर सके थे, उन्हें उदात्त और कुरूप में बहुत समानता दिखाई देती थी। किन्तु हीगल के अनुसार दोनों में भेद है। विशाल कुरूपताओं में हम लौन्जाइनस के उदात्त की प्रतिध्वनि मान सकते हैं। किन्तु

वह केवल प्रतिध्वनि है। कुरूप की विद्रूपता अभिव्यक्ति के उचित रूप के अभाव के कारण है। इसके विपरीत उदात्त में अभिव्यक्ति का प्रयास स्पष्ट है। वास्तविक उदात्त के लिये अभिव्यक्ति की अनुपयुक्तता की तीव्र अनुभूति अपेक्षित है। उदात्त की इस चेतना का यह शुद्ध रूप यहूदी धर्म काव्य में मिलता है। कोई भी ऐन्द्रिक रूप उदात्त का प्रतिनिधि नहीं बन सकता, इसीलिए उदात्त रूपात्मक कला का विषय नहीं बन सकता। वह केवल काव्य का विषय बन सकता है। भारतीय कला में अनेक मुख, अनेक चरण और अनेक हाथों की कल्पना के द्वारा इस उदात्त की अनन्तता को रूप देने का प्रयत्न किया गया है। यह स्पष्ट है कि ये सब प्रयत्न असफल हैं। संख्या और आकार के द्वारा अनंत का प्रतिमान नहीं हो सकता। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का अर्थ तथा 'न प्रतीके न हि स' के ब्रह्मसूत्र वचन का अभिप्राय इसकी घोषणा करता है। कान्ट ने उक्त वचनों के अनुरूप ईसाई धर्मवचन में उदात्त के सर्वोत्तम रूप का उद्घाटन किया है। ऐन्द्रिक रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण ही भारतीय ईश्वर के अवतार उदात्त से अधिक सुन्दर बन गये। हीगल के अनुसार उदात्त की अनन्तता के कारण मनुष्य की लघुता की भावना उदात्त की भावना का आवश्यक तत्व है। इस लघुता के कारण मनुष्य को ईश्वर से अलंघ्य दूरत्व का अनुभव होता है। रस्किन को रूपात्मक कलाओं के साथ उदात्त का यह अत्यन्त विरोध तथा ईश्वर से मनुष्य का यह कठोर पार्थक्य स्वीकृत नहीं है। रस्किन की कल्पना कुछ भारतीय भावना के अनुरूप है। वे उदात्त की महत्ता से भयानक तत्व का पूर्णतः बहिष्कार करते हैं।[१८] उनके अनुसार भयानकता उदात्त के स्वरूप का अंग नहीं है वरन् मनुष्य की भावना पर उसकी महत्ता का प्रभाव होता है। यह महत्ता वस्तु आकार, शक्ति, शील और सौन्दर्य किसी की भी हो सकती है। इस प्रकार रस्किन का उदात्त सुन्दर के अधिक निकट आ जाता है। भारतीय कला और काव्य का उदात्त भी महान् होने के साथ-साथ सुन्दर भी है। भय के स्थान पर वह श्रद्धा अधिक उत्पन्न करता है। श्रद्धा' भय और आदर में युक्त प्रीति है। फिर भी यह स्पष्ट है कि तुलसी की दास्य भक्ति में वह उदात्त मनुष्य की लघुता का ही कारण है। सूर के कृष्ण में उदात्त की अपेक्षा सौन्दर्य की प्रधानता है। इसीलिए सूर की भक्ति सख्य भाव में मनुष्य के उन्नयन का कारण बनी और अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई।

जेम्स सली के अनुसार उदात्त की भावना विशालता के रूपात्मक ग्रहण अथवा

काल्पनिक अभिव्यंजन से प्रेरित होती है।[१२६] सम्भवत यह विशालता कुम्प की विशालता है। अत यह कान्ट के गणितीय उदात्त के अनुरूप है। कान्ट के गत्यात्मक उदात्त मे शक्ति की महत्ता है। लौन्जाइनस के अस्पष्ट उदात्त मे सम्भवत भाव और चरित्र की भी महत्ता है। भारतीय ईश्वर और अवतारो की कल्पना मे उदात्त के इन तीनो ही तत्वों का समन्वय सौन्दर्य के साथ है। ऐ० सी० ब्रैडले के अनुसार उदात्त का प्रमुख तत्व यह भाव की महत्ता है। इसके साथ साथ वे भौतिक महत्ता को भी मानते हैं।[१२७] भाव की महत्ता ईश्वर के अवतारो और महापुरुषों मे ही मिल सकती है। समुद्र, पहाड, आदि की भौतिक महत्ता का अन्तर्भाव उदात्त मे नहीं किया जा सकता, इसीलिए भाव की महत्ता के साथ साथ ब्रैडले भौतिक महत्ता को भी मानते हैं। ब्रैडले का विश्वास है कि कल्पनात्मक सहानुभूति के द्वारा हम इस उदात्त के साथ अपनी एकात्मता स्थापित करते हैं। ब्रैडले के अनुसार उदात्त की महत्ता हमें अभिभूत कर लेती है। ऐसी स्थिति मे उदात्त के साथ कल्पनात्मक सहानुभूति के द्वारा एकात्मता की धारणा कुछ अधिक सगत नही मालूम होती। हमारे अनुभव मे हमारी लघुता का भेद स्पष्ट है। ब्रैडले का उदात्त हीगल और क्रोचे के उदात्त की सन्धि है। एक ओर उदात्त की महत्ता अपने प्रभाव से हमे अभिभूत कर उसकी महत्ता से हमारी लघुता का भेद स्पष्ट करती है। दूसरी ओर ब्रैडले कल्पनात्मक सहानुभूति के द्वारा इस उदात्त के साथ हमारी एकात्मकता को भी मानते हैं। उदात्त के इन दोनो पक्षों की सगतिपूर्ण न होते हुए भी ब्रैडले की धारणा अभिव्यंजनावादियो के उस मत का पथ प्रशस्त करती है जिसके अनुसार उदात्त सुन्दर से एकाकार हो जाता है और हम उसके साथ पूर्ण एकात्मता प्राप्त कर सकते हैं।

कोहन के अनुसार भी महत्ता उदात्त का प्रमुख लक्षण है। इस महत्ता मे एक असगति का तत्व है। यह असगति महान् के तत्व की विशालता और शक्तिमत्ता की दृष्टि से उसके रूप का अनुपयुक्त होना है।[१२८] कोहन के इस मत में हमे कान्ट और हीगल के मत की प्रतिध्वनि सुनाई देती हैं। महान् के तत्व की विशालता और शक्ति कान्ट के उदात्त के दो रूपों का स्मरण दिलाती हैं और उसके रूप की अनुपयुक्तता हीगल के सिद्धान्त के अनुरूप है। इन दोनों मतो मे इतना ही अन्तर हो सकता है कि जहाँ हीगल वास्तविक उदात्त को रूपात्मक कला के अनुरूप ही नही मानते वहाँ कोहन रस्किन के समान रूप और उदात्त के विरोध को सम्भवत

इतना कठोर नही मानते। किन्तु यह स्पष्ट है कि इन मतो का भेद औपचारिक है। रस्किन और भारतीय कला की भाँति रूप के आकार मे उदात्त की अनन्तता अकित करने के प्रयास से उदात्त साकार नही होता। वस्तुत ये समस्त प्रयास प्रतीक मात्र हैं जो अपने रूप के द्वारा नही वरन् रूपात्मक अभिव्यक्ति की असफलता के द्वारा उदात्त का सकेत करते हैं। हीगल भी इस प्रयास और इसकी असफलता के बोध को उदात्त की भावना का आवश्यक अग मानते हैं। उदात्त के प्राय सभी मतो मे उसकी महत्ता तथा उसके प्रभाव को स्वीकार किया गया है। बूल्पे ने इन मतों की इस समानता का सकेत किया है। बूल्पे का मत है कि महत्ता मुख्यत उदात्त प्रतीत होने वाले विषय की ही विभूति है।[१२६] ब्रैडले ने जिस कलात्मक सहानुभूति के द्वारा उदात्त के साथ हमारी एकात्मता का सकेत किया है उसे वुल्पे एक अत्यन्त विरल अपवाद मानते हैं। उदात्त की महत्ता को अभिभवकारी मानने पर यह एकात्मता का आग्रह अधिक सगत नही दिखाई पडता। देसोइर और के० ग्रूस के मतो मे क्रमश ब्रैडले के उदात्त के दोनो पक्षो का पृथक पृथक समर्थन मिलता है। देसोइर के अनुसार उदात्त के बाह्य आकार अथवा आन्तरिक शक्ति और गौरव की महत्ता इतनी विशाल होनी चाहिये कि वह अनन्त के अनुरूप हो। तभी महत्ता उदात्त का प्रभाव उत्पन्न कर सकती है।[१३०] उदात्त की तुलना मे हमारी लघुता का स्पष्ट सकेत देसोइर ने नही किया है। किन्तु उदात्त की महत्ता को उन्होने जो विशेष महत्व दिया है उसमे सम्भवत इसका सकेत अन्तर्निहित है। दूसरी ओर के० ग्रूस ने उदात्त की महत्ता और प्रभविष्णुता को स्वीकार करते हुये रूप के महत्व और उदात्त के साथ हमारे एकात्मभाव का स्पष्ट सकेत किया है। उनके अनुसार एक स्पष्ट और सरल रूप में किसी शक्तिमान और महान् की अनुभूति उदात्त का लक्षण है।[१३१] उदात्त की शक्ति अनन्त और विशाल है, अत कोई स्पष्ट और सरल रूप उसका प्रतिनिधित्व नही कर सकता। सम्भवत ग्रूस इस रूप को उदात्त का प्रतीक मानते हैं। फिर भी ग्रूस के रूप को केवल प्रतीक मानना उचित नही है। रूप की सरलता विशालता के अनुरूप होती है और उसकी स्पष्टता उसे प्रभविष्णु बनाती है। आकाश, समुद्र आदि के स्पष्ट और सरल रूपो में हम इस अनुरूपता और प्रभविष्णुता का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। रूप के साथ उदात्त की अनन्तता के सम्बन्ध मे दो महत्वपूर्ण पक्षो का सकेत ग्रूस की मूल्यवान देन है। रूप की इस अनुरूपता के साथ-साथ वे इस उदात्त में आत्म-

भाव के विक्षेप को भी आवश्यक मानते हैं। यह उदात्त की भावना का वह दूसरा पक्ष है जिसका ब्रैडले ने समर्थन किया है और क्रूपे ने जिसे एक दुर्लभ अपवाद बताया है। हीगल और कान्ट में उदात्त की महत्ता और हमारी लघुता का भेद स्पष्ट है। ग्रूस में उदात्त की महत्ता के साथ रूप की अनुरूपता का संकेत इस भेद को कुछ कम अवश्य करता है। रूप बाह्य सत्ता और हमारी कल्पना की संधि है। एक ओर वह बाह्य सत्ता का प्रतिनिधि है, दूसरी ओर वह हमारी चेतना की अभिव्यक्ति भी है। रूप मानों बाह्य सत्ता और चेतना की अभिव्यक्ति दोनों का एकत्र संगम है। किन्तु सत्ता और चेतना की एकात्मता तभी संभव हो सकती है जब कि रूप चेतना की अभिव्यक्ति अथवा सृष्टि हो। कलात्मक रचनाओं के रूपों में यह अधिक संभव है। किन्तु इन रचनाओं के रूप उदात्त की अनन्तता और विशालता के अनुरूप नहीं होते, वे उसके प्रतीक ही हो सकते हैं; कलाकार समुद्र और आकाश की रचना नहीं कर सकता। वह उनका चित्रण ही कर सकता है। रूप की अपेक्षा भाव के क्षेत्र में यह एकात्मता अधिक संगत है। लिप्स ने इस एकात्मता के द्वारा अपनी महत्ता के अनुभव को उदात्त की अनुभूति का मुख्य लक्षण बताया है।[132] फौल्केल्ट ने उदात्त के बाह्य आकार और उसकी परिमाणगत विशालता को उदात्त की अनुभूति का आधार माना है। किन्तु इस परिणाम का अभिप्राय उनकी दृष्टि में दिक्गत विस्तार अथवा सन्ख्यागत विशालता से नहीं है। वे मानवीय विशालता को उदात्त का मुख्य लक्षण मानते हैं। संभवतः उनका अभिप्राय तत्व और रूप की तुलना में भाव की महत्ता से है।[133]

उदात्त के सम्बन्ध में उक्त अनेक मतों का उल्लेख करके लिस्टोवेल ने यह विश्वास प्रकट किया है कि अधिकांश विचारक इस सम्बन्ध में एक मत मालूम होते हैं कि उदात्त की भावना का मुख्य सम्बन्ध परिमाण की विशालता से है।[134] इस प्रसंग में कुछ विद्वानों ने उदात्त के वस्तुगत और कुछ विद्वानों ने भावना के आत्मगत पक्ष को महत्व दिया है। लिस्टोवेल के मत में उदात्त वस्तु के आकार की महत्ता मान्य है। किन्तु साथ ही वे भाव की महत्ता को भी मानते हैं। उन्होंने लिप्स फौल्केल्ट के मत का समर्थन किया है जिसके अनुसार उदात्त की महत्ता वस्तुतः मानवीय व्यक्तित्व की ही महत्ता है। उदात्त की वस्तुगत महत्ता को आवश्यक मानते हुए भी लिस्टोवेल ने यह अनुरोध किया है कि उदात्त के द्वारा आत्मा का जो उत्कर्ष और विस्तार होता है वह भी एक ऐसा महत्वपूर्ण पक्ष है,

जिसके बिना कला की महान् कृतियाँ तथा प्रकृति की महान् विभूतियाँ सदा के लिए मौन रहेगी।[125] ब्रेडले का समर्थन करते हुये कॅरिट ने उदात्त की भावना में अभिभव और उत्कर्ष के दो क्षण माने हैं। आरम्भ मे अभिभव की अनुभूति होने के बाद अन्त मे उदात्त के सम्पर्क मे हम आत्मा के उत्कर्ष और उसके विस्तार का अनुभव करते हैं।[126] बार्क के आरभिक दु ख और अनन्तर हर्ष म इन्ही दो क्षणो का निर्देश है।[127] कौलिगवुड ने उदात्त को सौन्दर्य का प्रथम रूप माना है और उनके मत में यह सभी सौन्दर्य का तत्व है।[128] किन्तु कौलिगवुड भी महत्ता और विशालता तथा अभिभव को उदात्त का प्रमुख लक्षण मानते हैं। यह सौन्दर्य का प्रथम क्षण है। दूसरे क्षण मे एकात्मभाव का उदय होने पर उदात्त सुन्दर बन जाता है। समुद्र और पर्वत के वासियो की लघुता और इस एकात्मभाव म विलीन हो जाता है। उदात्त के प्रभाव मे ही सौन्दर्य की नवीनता सुरक्षित रहती है। अत सौन्दर्य के गर्भ से, निरन्तर उमडते हुये उदात्त के स्रोत ही सौन्दर्य भावना को नव नव भावो मे निरन्तर बनाये रखते हैं।

हीगल का यह मत बहुत तथ्यपूर्ण है कि उदात्त का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओ की अपेक्षा प्रतीकात्मक कलाओ से अधिक है। रूपात्मक कलाओ मे सुन्दर का ही अकन अधिक हुआ है। निकोलस रोइरिख के हिमालय चित्रण की भाँति जहाँ रूपात्मक कलाओ मे उदात्त का अकन सम्भव हुआ है वहाँ भी वह प्रतीकात्मक योजना के ही कारण है। एक क्षण को अकित करने के कारण रूपात्मक कलायें प्रतीक योजना के द्वारा भी कान्ट के गणितीय उदात्त की ही अभिव्यक्ति कर सकती हैं। गत्यात्मक अथवा भावात्मक उदात्त की अभिव्यक्ति उनमे अत्यन्त कठिन है। इसीलिए गत्यात्मक और भावात्मक उदात्त की अभिव्यक्ति काव्य मे अधिक हुई है। प्राचीन महाकाव्यों में ही यह अधिक मिलती है। आधुनिक काव्य की रुचि सुन्दर के प्रति अधिक है। वाल्मीकि रामायण के बाद उदात्त का परिचय भारतीय काव्य मे कम मिलता है। कालिदास का समुद्र वर्णन तथा हिमालय वर्णन उदात्त की अपेक्षा सुन्दर अधिक है। शिव, राम और कृष्ण की कल्पना मे गत्यात्मक तथा भावात्मक उदात्त साकार हुआ है किन्तु काव्य मे उसकी समुचित प्रतिष्ठा न हो सकी। राम और कृष्ण के चरित्र उदात्त हैं, किन्तु कवि और भक्त उनके सौन्दर्य पर ही अधिक मुग्ध रहे। परशुराम के स्पष्टत उदात्त रूप को किसी ने काव्य का विषय नहीं बनाया। उदात्त की भावना का प्रथम क्षण दुर्लंघ्य होने के कारण

उदात्त का सौन्दर्य काव्य में समाहित न हो सका। सभ्यता मे नेतृत्व की परम्परा मे उदात्त के प्रथम क्षण का अधिक आग्रह होने के कारण उसके द्वितीय क्षण के समाधान मे बाधक रही। उदात्त के साथ निकटता तथा मनुष्य के उत्थान द्वारा ही सौन्दर्य के इस पक्ष का समाधान संस्कृति और काव्य मे हो सकता है।

हमारे मत में उदात्त और सुन्दर आवश्यक रूप से एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। यद्यपि उनमे कुछ भेद अवश्य है। वस्तुत दोनो मे कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है इसीलिये वे इतने भिन्न तथा प्राय विरोधी जान पडते हैं। कुछ विचारको ने भय को उदात्त का आवश्यक तत्व माना है। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह विचार करना आवश्यक है कि भयानकता उदात्त के स्वरूप का लक्षण है अथवा उसके स्वरूप का परिणाम है। यह निर्णय करना आवश्यक है कि उदात्त अपने आप मे भयानक है अथवा वह हमारे मन मे भय उत्पन्न करता है। इन दोनो स्थितियो मे एक सूक्ष्म अन्तर है जो अपने स्वरूप मे भयानक है। वह वीर और साहसी के मन मे भी भय उत्पन्न कर सकता है तथा जो उसके स्वरूप के प्रति अज्ञान है उसके मन मे भय उत्पन्न नही करेगा। इसका कारण यह है कि भय का मूल कारण भयानक वस्तु अथवा व्यक्ति के स्वरूप मे ही निहित है। इसके विपरीत जो वस्तु अथवा व्यक्ति किसी के मन मे भय उत्पन्न करता है वह अपने स्वरूप मे भयानक न हो वरन् उसके कुछ श्रेष्ठ गुणो के कारण दूसरो के मन मे भय उत्पन्न हो। ऐसी स्थिति मे भय का कारण ज्ञाता अथवा दर्शक के मन मे होगा। मनोगत होने के कारण यह भय ज्ञान पर अवलम्बित होगा। वस्तुत ये दोनो भय एक प्रकार के नही हैं। इन दोनों भयो की विभाजक रेखा प्राणो का सकट है। जो भय हमारे अस्तित्व को चुनौती देता है तथा प्राणो की आशका उत्पन्न करता है वह उस भय से भिन्न है जो ऐसा नही करता वरन् इसके विपरीत हमारी सत्ता को मद बनाता है। इन दोनों भयों के आश्रयों में विकृति और उत्कर्ष का भेद है। जो अपने आप में भयानक होता है उसके स्वरूप में विशालता, प्रबलता, तेजस्विता आदि के अतिरिक्त एक विकृति तथा कुरूपता होती है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के भय के आश्रय में आकार, गुण, तेज, प्रभाव, आदि का उत्कर्ष होता है। एक की विकृति हमारे मन मे घृणा उत्पन्न करती है तथा उसकी भीषणता से हमे आघात की आशका रहती है। दूसरे का उत्कर्ष हमे लघुता का भाव देता है, किन्तु किसी आघात की आशका उत्पन्न नही करता। यह आघात की सम्भावना दोनों प्रकार के भय और उनके

आश्रय का एक मौलिक भेद है। यही भेद भयानक और उदात्त को भिन्न बनाता है। भय के दो भिन्न आश्रयों के उदाहरण हमें रुद्र और शिव तथा गीता के ग्यारहवें अध्याय में श्री कृष्ण के विराट रूप और श्री कृष्ण के सारथी-रूप में मिलते हैं। राक्षसों के भीषण आकारों को विकृत रूप में चित्रित किया जाता है। यह विकृति उनके अंगों के विषम अनुपात में दिखाई देती है। आघात की आशंका उनके स्वभाव और चरित्र से विदित होती है। शिव का रुद्र रूप भी विनाशक होने के कारण भयानक बन जाता है। इसी प्रकार आदिम जातियों के देवता और नेता भी रूप की विकृति और आघात की आशंका के कारण भयानक बन जाते थे।

हमारे मत में इनको उदात्त कहना उचित नहीं है। कला का उदात्त भयानक और सुन्दर के बीच की स्थिति है। निस्सन्देह यह उदात्त सुन्दर के समान रमणीय नहीं होता किन्तु यह भयानक के समान विनाश अथवा आघात की आशंका भी उत्पन्न नहीं करता। भयानक विकर्षण उत्पन्न करता है और उसके प्रति हमें घृणा होती है। इसके विपरीत उदात्त में एक सूक्ष्म आकर्षण भी होता है। यद्यपि वह सुन्दर के समान रमणीय और मोहक नहीं होता। स्वरूप से 'भयानक' सुन्दर के विपरीत होता है किन्तु उदात्त सुन्दर के विपरीत नहीं होता। सुन्दर के अनुकूल होते हुए भी उदात्त में कुछ भेद के लक्षण होते हैं। अपने उत्कर्ष के कारण उदात्त हमें अपने से भिन्न और श्रेष्ठ प्रतीत होता है। भयंकर को भी हम अपने से भिन्न मानते हैं। उसमें कुछ उत्कर्ष भी होता है। किन्तु हम उसे श्रेष्ठता का गौरव नहीं देते। भयंकर और उदात्त दोनों के ही साथ हमारी आत्मीयता नहीं होती। इस दृष्टि से भिन्नता दोनों का सामान्य लक्षण है। किन्तु भयंकर के प्रति हमारा विरोध होता है। उदात्त के प्रति हमारा विरोध नहीं होता वरन् उदात्त के प्रति हमारा अनुकूलता का भाव होता है। उदात्त के प्रति हमारी यह अनुकूलता श्रद्धा का रूप लेती है। यह भयंकर के भय से भिन्न है। श्रद्धा का भय आघात की आशंका नहीं वरन् उत्कर्ष की अक्षमता है। वह उदात्त की महानता और हमारी लघुता का पारस्परिक फल है। श्रद्धा का यह भय सकोच है, आशंका नहीं। इसे विनय भी कह सकते हैं। विनय में अपनी लघुता का भान अधिक होता है। दूसरे की महानता का आभास होते ही यह विनय श्रद्धा का रूप ग्रहण करने लगती है। श्रद्धा का यह भय एक ओर हमारी लघुता का सकोच तथा दूसरी ओर उदात्त की महानता का आदर है। इसके साथ-साथ उदात्त हमारा स्पृहणीय आदर्श भी बन सकता है।

आदर्श की दूरी भेद उत्पन्न करती है तथा उसकी साधना की कठिनता भय और सकोच का कारण बनती है। तात्कालिक भेद के कारण उदात्त के साथ साम्य सम्भव नही होता। साम्य में परस्पर सम्भावन के साथ-साथ अन्तर्मुख और बहिर्मुख भावो का भी साम्य रहता है। उदात्त की स्थिति म पारस्परिकता सतुलित नही होती तथा उदात्त के प्रति हमारे बहिर्मुख भाव की प्रधानता रहती है। साम्य और समात्मभाव सम्भव होने पर यह उदात्त सुन्दर बन जाता है। शिव, राम, श्रीकृष्ण आदि के उदात्त रूप इसी सिद्धान्त के अनुसार सुन्दर बने हैं। सुन्दर बनने पर उदात्त के स्वरूप और भाव में कोई अन्तर नही होता, केवल उसके साथ हमारे सम्बन्ध की आत्मीयता और हमारे भिन्नता के भाव मे परिवर्तन हो जाता है। भयकर केवल हमारे भाव के परिवर्तन से सुन्दर नही बन सकता वह अपनी भीषणता और आघात की सम्भावना को त्याग कर हमारा आत्मीय बन सकता है। किन्तु उस स्थिति में वह भयकर नहीं रहता। उसके साथ हमारा भेद ही नहीं मिट जाता वरन् उसका स्वरूप भी बदल जाता है। फिर भी कुरूपता के रहते कदाचित वह सुन्दर न बन सके। सुन्दर और कुरूप के भेद का विवेचन हम अगले अध्याय मे करेंगे। इस परिवर्तन से कुरूप हमारा आत्मीय बन जाता है किन्तु उदात्त के प्रति हमारी आत्मीयता हमारे भाव-परिवर्तन तथा निकटता के बढने से होती है। आघात की आशका और कुरूपता की विकृति से रहित उदात्त मे सौन्दर्य की सम्भावनाएँ रहती हैं अत वह अपने स्वरूप मे भी सुन्दर बन जाता है। वस्तुतः भयकर विकृति के कारण अपने आप में असुन्दर होता है और उदात्त अपने स्वरूप में सुन्दर भी होता है। किन्तु हमारे साथ सम्बन्ध के भेद से सौन्दर्य से अधिक उसका उत्कर्ष प्रभावशाली होता है। इस उत्कर्ष का अन्तर कम होने पर सौन्दर्य के बाधक कारण भेद हो जाते हैं और उदात्त सुन्दर बन जाता है।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह सारा विवेचन उदात्त के स्वरूपगत सौन्दर्य से सम्बन्ध रखता है। यह सौन्दर्य के प्रसग मे उदात्त का विवेचन है, कला के प्रसग मे उदात्त का विवेचन नही। यह विवेचन जीवन के अनुभव मे उदात्त और सुन्दर की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। कला की स्थिति जीवन से कुछ भिन्न है। जीवन मे हम सत्ता के वस्तुगत रूप का ग्रहण और अनुभव करते हैं। कला सौन्दर्य की रचना है। जीवन मे भी हम जहाँ रचना करते हैं वहाँ जीवन भी कला ही बन जाता है। कला सौन्दर्य की रचना है। कला के प्रसग

में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उदात्त कला का उपादान बन सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि क्या उदात्त में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का सन्निधान किया जा सकता है? क्या उदात्त को सुन्दर रूप दिया जा सकता है? कुरूप और असुन्दर के सम्बन्ध में भी ये प्रश्न उठते हैं। इनका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ उदात्त के सम्बन्ध में इतना कहना होगा कि यदि सौन्दर्य केवल रूप का अतिशय है और वह अभिव्यक्ति के रूप में ही निहित है तो उदात्त और कुरूप भी कला के उपादान बन सकते हैं। उपादान भी सुन्दर हो सकते हैं किन्तु कला के लिये उपादानों का सुन्दर होना आवश्यक नहीं है। कला का स्वरूप अभिव्यक्ति के रूप और सौन्दर्य में निहित होता है। उदात्त के सम्बन्ध में कुछ विचारकों का मत है कि वह अनन्त होता है और उसे रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह अरूपणीयता ही उदात्त का मुख्य लक्षण है। ऐसी स्थिति में उदात्त की अभिव्यक्ति अकल्पनीय है और हम कला में उदात्त की चर्चा नहीं कर सकते। किन्तु कलाओं में उदात्त की अभिव्यक्ति देखी जाती है। केवल इतना कहना होगा कि कला में अंकित होकर वह उदात्त भी सुन्दर बन जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि उसका सौन्दर्य भी उदात्त होता है। उदात्त की अनन्तता, अरूपणीयता आदि के सम्बन्ध में इतना स्वीकार करना होगा कि कला में उसका पूर्णतः चित्रण नहीं किया जा सकता। उदात्त की समग्र विभूति को रूप का आकार नहीं दिया जा सकता। किन्तु इस दृष्टि से सभी अभिव्यक्ति अपूर्ण हैं। उदात्त के अतिरिक्त जीवन के अनेक तत्व अनिर्वचनीय हैं। वे आंशिक रूप में ही कला में अभिव्यक्त होते हैं। रूप का सौन्दर्य उदात्त तथा अन्य भावों को पूर्णतः साकार नहीं बनाता। वह आंशिक अभिव्यक्ति के द्वारा उनका संकेत करता है तथा ग्राहक की कल्पना में उसके समग्र रूप के अनन्त क्षितिज खोलता है। रूप और भाव के इन अनन्त क्षितिजों का उद्घाटन कला का निगूढ़ रहस्य है।

अध्याय ५७

सुन्दर और असुन्दर

सुन्दर के प्रतियोगी के रूप मे प्राय कुरूप की चर्चा होती है, जिसे हम सौन्दर्य के अभाव के कारण असुन्दर भी कह सकते हैं। सामान्य व्यवहार मे जिस प्रकार हम कुछ वस्तुओ को सुन्दर कहते हैं उसी प्रकार कुछ वस्तुएँ हमे कुरूप भी प्रतीत होती हैं। दोनो के प्रति हमारी प्रतिक्रिया सहज और स्वाभाविक होती है। किन्तु सामान्य व्यवहार मे अनेक मतभेद रहते हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी अवश्य हैं जिनको अधिकाश लोग समान रूप से सुन्दर अथवा कुरूप मानते हैं। चन्द्रमा, उषा, पुष्प, आदि कुछ वस्तुएँ सबको सुन्दर मालूम होती हैं। शूकर, कर्दम आदि के समान कुछ अशुचि वस्तुएँ सभी को कुरूप मालूम होती हैं। किन्तु ऐसी वस्तुएँ बहुत थोडी हैं जिनके विषय मे ऐसा सामान्य एक मत हो। इन वस्तुओ के अतिरिक्त ऐसी अनेक सामान्य वस्तुएँ हैं जिनके सम्बन्ध मे लोगो मे मतभेद रहता है। सुन्दर और कुरूप के अतिरिक्त एक मध्यवर्त्ती कोटि भी है जिसे हम सौन्दर्य की दृष्टि से उदासीन कह सकते हैं। सुन्दर वस्तुएँ प्रिय और आकर्षक लगती हैं, कुरूप वस्तुएँ घृणा उत्पन्न करती हैं। जो वस्तुएं न आकर्षक होती हैं और न घृणा उत्पन्न करती हैं उन्हे हम उदासीन कह सकते हैं। एक ही वस्तु मनुष्य को सुन्दर तथा दूसरे को असुन्दर लगती है और तीसरे को कुरूप मालूम होती है। दृष्टिकोणो की यह विषमता यही सकेत करती है कि सुन्दर और कुरूप केवल वस्तु के गुण नही हैं, मनुष्य की चेतना के भाव पर भी वे निर्भर हैं। वही वस्तु जो एक भाव स्थिति मे किसी को कुरूप अथवा उदासीन मालूम होती है, दूसरी भाव-स्थिति मे सुन्दर प्रतीत होने लगती है। अपनी जिस सूनी कुटिया के प्रति मनुष्य का भाव उदासीन होता है वही कुछ स्नेही सम्बन्धियो के आ जाने पर अभिनव सौन्दर्य से खिल उठती है। एकान्त और सूना होने पर सुसज्जित भवन का सौन्दर्य भी आभाहीन हो जाता है। दूसरो को कुरूप लगने वाला भी अपना बालक माता पिता को सुन्दर प्रतीत होता है।

अत सौन्दर्य की भाँति असुन्दर और कुरूप के सम्बन्ध मे भी एक विचारणीय

प्रश्न यह है कि इस कुरूपता का लक्षण क्या है, और वह कुरूपता वस्तुगत गुण है अथवा व्यवस्थागत रूप का दोष है अथवा केवल चेतना का भाव है ? जिस प्रकार सामान्त सौन्दर्य की भावना का विक्षेप वाह्य वस्तुओ मे होता है और हम उन्हे सुन्दर कहते हैं उसी प्रकार कुरूपता का आरोपण भी हम वस्तुओ मे करते हैं। जिन वस्तुओ को हम सुन्दर कहते हैं, वस्तुत उनकी ऐन्द्रिक सवेदना प्रिय होती है और उस प्रियता के भाव मे हम सौन्दर्य का आरोपण करते हैं। अपने कुरूप बालक से सम्वन्ध रखने वाली सवेदनाएँ और भावनाएँ आत्मीय सम्वन्ध के कारण प्रिय होती हैं और हम उनमे सौन्दर्य का आरोपण कर बालक को सुन्दर कहते हैं। सामान्यत जिन वस्तुओ को हम कुरूप कहते हैं उनकी ऐन्द्रिक सवेदना प्रिय नही होती और उनके साथ हमारा आत्मीयता का भाव भी नही होता। सम्भव है सूअर पालने वालो को सूअर भी सुन्दर प्रतीत होते हो। जो सौन्दर्य की दृष्टि से हमे उदासीन प्रतीत होता है उसकी ऐन्द्रिक सवेदना मे न कोई विशेष प्रियता होती है न विशेष अप्रियता। किसी भी प्रकार से आत्मीयता का भाव उदित होते ही ऐन्द्रिक सवेदना वही रहते हुए भी वही वस्तु हमे सुन्दर प्रतीत होने लगती है। सौन्दर्य का भाव उदित होने पर प्रियता का भाव भी उत्पन्न हो जाता है। सौन्दर्य और प्रियता का कुछ ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि एक में दूसरे का आरोपण अथवा एक से दूसरे का भाव उत्पन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक है। जहाँ ऐन्द्रिक सवेदना अथवा रूप-योजना प्रियता के अनुरूप होती है वहाँ यही प्रियता सौन्दर्य की भावना की जननी बन जाती है। हम प्रिय को सुन्दर कहने लगते हैं। वस्तुगत गुणो से उत्पन्न होने के कारण प्रियता की भावना मे सौन्दर्य का आरोपण उसे व्यक्तिगत होने के दोष से बचा लेता है। जिसे हम सुन्दर कहते हैं उसका सौन्दर्य वस्तु की विभूति बन जाता है। इसी प्रकार जिसे हम ऐन्द्रिक सवेदना की अप्रियता के कारण कुरूप कहते हैं, उसकी कुरूपता का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत होने के स्थान पर वस्तुगत हो जाता है। ऐन्द्रिक सवेदना प्राकृतिक होने के कारण सभी में समान होती है। इसीलिये सामान्य होने के कारण सुन्दर और कुरूप सामान्य व्यवहार और स्वीकृति के विषय वन जाते हैं किन्तु जहाँ मतभेद होता है वहाँ सवेदना समान होने के कारण हमारी दृष्टि के भेद का आधार मनोभाव ही हो सकता है। वास्तविक व्यवहार मे सुन्दर की तुलना में कुरूप का क्या स्थान, स्वरूप और सम्बन्ध है यह विचारणीय है। वस्तु की सत्ता उसके गुण अथवा रूप व्यवस्था का इन

धारणाओ मे कहाँ तक योग है यह विचारणीय है। उदासीन और कुरूप को सुन्दर बनाने मे मनोभाव का क्या महत्व है और उस मनोभाव का क्या स्वरूप है ?

यहां तक वास्तविक जीवन और व्यवहार के सम्बन्ध मे सुन्दर और कुरूप की बात है। किन्तु इससे आगे कला मे कुरूप के स्थान और सम्बन्ध का प्रश्न उठता है। एक प्रश्न तो यह है कि जो वस्तुगत और व्यवहार मे कुरूप माना जाता है उसका कला मे क्या स्थान है ? क्या कला कुरूप को सुन्दर बना सकती है ? यदि नही तो कला मे कुरूप का ग्रहण किस रूप मे होता है ? कुरूपता केवल वस्तु तत्वों का गुण है, अथवा वास्तविक सत्ता और कलात्मक रचनाओ में रूप-योजना से भी कुरूपता का कोई सम्बन्ध है ? क्या कला की रूप-योजना कुरूप तत्वों से सुन्दर का निर्माण कर सकती है ? वस्तुओ के प्रति हमारे दृष्टिकोण की भाँति कलात्मक रचनाओ के सम्बन्ध मे भी यह प्रश्न हो सकता है कि उनकी रूप-योजना मे कौन से कारण कुरूपता उत्पन्न करते हैं। भाव के सम्बन्ध मे कुरूपता का प्रश्न सबसे अधिक जटिल है। भाव का भी कोई रूप होता है ऐसा कहना कठिन है। सामान्यत रूप ऐन्द्रिक सवेदना का गुण है। वह आलोक अथवा कान्ति का आकार है। आलोक चक्षुओं को प्रिय है इसीलिये उज्ज्वल वर्ण वाले प्राय सुन्दर कहलाते हैं और भाषा के प्रयोग मे रूप सुन्दर का पर्याय बन गया है। भाव का कोई चिन्मय रूप माना जा सके तो दूसरी बात है। सामान्यत जिन भावो को हम कुरूप कहते हैं वे नैतिक मान्यताओ के अनुसार कुत्सित हैं। मगलमय भाव सुन्दर माने जाते हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि यदि सौन्दर्य कला का स्वरूप है तो कुरूप विषयो और कुत्सित भावो का उसमें क्या स्थान है ? क्या अभि-व्यक्ति का सौन्दर्य इन्हे भी सुन्दर बना सकता है अथवा कला मे केवल अभि-व्यक्ति का रूपात्मक सौन्दर्य है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अथवा भाव सुन्दर बन जाता है।

इन सब प्रश्नो का उत्तर सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास मे अनेक प्रकार से दिया गया है। कुछ विचारको ने कुरूप को सुन्दर का प्रतियोगी मानकर उसमें सौन्दर्य के लक्षणो के अभाव का सकेत किया है। प्राचीन ग्रीक विचार में एरिस्टौटिल के काव्य-शास्त्र मे कुरूप का उल्लेख मिलता है। एरिस्टौटिल के काव्य-शास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त दु खान्त नाटक से सम्बन्ध रखता है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में दु खान्त नाटक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दु खान्त नाटक का विरोधी अथवा

प्रतियोगी सुखान्त कहलाता है किन्तु उसमे सुख का रूप प्रधानत हास्य और विनोद रहता है। एरिस्टोटिल के मत मे हास्यास्पद को कुरूप का एक विभाग माना है।[139] दु खान्त के समान सुखान्त भी कला का एक रूप है और वह सुन्दर के अन्तर्गत है। इसका निष्कर्ष यही है कि कला मे कुरूप भी सुन्दर बन जाता है। यद्यपि एरिस्टोटिल के काव्य शास्त्र के एक अवतरण के आधार पर बोसान्क्वेट ने यह मत स्थापित किया है कि कला का सौन्दर्य वस्तु पर आश्रित नही वरन अभिव्यक्ति पर निर्भर है। इसी आधार पर दु ख पूर्ण घटनाओ के चित्रण मे प्राप्त होने वाले सुख की व्याख्या की जा सकती है। इसी आधार पर कुरूप के चित्रण के सौन्दर्य का समाधान भी सम्भव है। यदि एरिस्टोटिल के अनुसार हास्यास्पद वस्तु कुरूप का ही एक विभाग है तो बोसान्क्वेट ने यह स्पष्ट नही किया कि वह सुखद है अथवा दु खद। सुखान्त और दु खान्त के विरोध को देखते हुए सुखद का हास्यास्पद और सम्भवत कुरूप को दु खद होना चाहिये। यदि दु खद कला म सुन्दर बन सकता है तो सुखद का सुन्दर बनना और भी सहज है। यह स्पष्ट है कि यहाँ सौन्दर्य से अभिप्राय अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से है। प्लोटीनस के अनुसार सौन्दर्य पूर्णत. रूपात्मक है। वह रूप में ही निहित रहता है तत्व में नहीं। अत कुरूप वही है जो या तो बौद्धिक रूप ग्रहण करने के अयोग्य है अथवा योग्य होने पर उसे प्राप्त नही कर सका है। अत कुरूप एक प्रकार से रूपहीन तत्व है।[140] प्लूटार्क के अनुसार भी कुरूप का कला मे कोई स्थान नही है।[141] कुरूप सुन्दर नही बन सकता। ऑगस्टिन के हाथो कुरूपता को कला मे एक आदर का स्थान मिला। ऑगस्टिन मे हम सौन्दर्य के उस आधुनिक रूप की आशा नही करते जिसके अनुसार सृष्टि और कला मे कुछ भी असुन्दर नहीं। फिर भी ऑगस्टिन ने सगीत के सवादी और विसवादी स्वरो के समान सुन्दर और असुन्दर को दो विरोधी तत्व मान कर कलात्मक सामजस्य मे समन्वित किया। उनके अनुसार कुरूप सौन्दर्य की व्यवस्था मे एक हीनतर तत्व है विरोध के द्वारा वह सौन्दर्य को इसी प्रकार समृद्ध बनाता है जिस प्रकार अधकार प्रकाश की दीप्ति को आलोकित करता है। अतन इस विरोध का परिणाम भी सगीत की भाँति सामजस्य होता है।[142] एरीजेना ने विश्व की दिव्य व्यवस्था मे कुरूप कहलाने वाले तत्व को एक आदर का स्थान देकर सौन्दर्य की सम्भावनाओ से विभूषित किया।[143] जिसमे सौन्दर्य की सम्भावनायें नही हैं उसे कलात्मक अनुकरण अथवा अभिव्यक्ति भी सुन्दर नहीं बना सकती।

यदि अर्थ की व्यजना ही वस्तुओं को सुन्दर बनाती है तो ससार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें हम सौन्दर्य न खोज सकें। ऐरीजिना का यह मत सुन्दर और कुरूप के समन्वय के लिये नवीन सम्भावनाओ का द्वार खोलता है।

उदात्त और सुन्दर के समान सुन्दर और कुरूप का भेद बर्क मे स्पष्ट रूप से मिलता है। बर्क के अनुसार कुरूप सुन्दर का पूर्ण विरोधी है।[१४४] कुरूप के निकट होने के कारण ही बर्क के सिद्धान्त मे उदात्त भी सुन्दर का विरोधी बन जाता है। बर्क ने एरिस्टोटिल के अनुसार दु खद और कुरूप की भी कलात्मक अभिव्यक्ति को सुखद और सुन्दर माना है। किन्तु लैसिग ने इसे भी स्वीकार नहीं किया था। लैसिग ने रूपात्मक कलाओ मे तो कुरूप को कोई स्थान नहीं दिया है। किन्तु काव्य मे वह कुरूप को हास्य अथवा भय का साधन मानते हैं उनका विश्वास है कि भाषा मे अभिव्यक्त होकर कुरूप का प्रभाव मन्द हो जाता है। कुरूप का स्वरूपत कला और काव्य में कोई स्थान नही है और न अभिव्यक्ति के द्वारा वह सुन्दर बन जाता है। इसीलिये रूपात्मक कला मे उसका कोई स्थान नही है। वह अभिव्यक्ति और चित्रण मे सुन्दर और सुखद नहीं बन सकता जैसा कि ऐरिस्टोटिल और बर्क मानते हैं। जो रूप की दृष्टि से कुरूप है वह सत्ता और अभिव्यक्ति दानो ही स्थितियों मे अप्रिय प्रभाव उत्पन्न करता है।[१४५] **इलीगल के अनुसार सौन्दर्य श्रेय की सुखद अभिव्यक्ति है और कुरूपता अश्रेय की अप्रिय अभिव्यक्ति है।** हीगल के अनुसार सौन्दर्य चेतना अथवा बुद्धि के भाव अथवा प्रत्यय की ऐन्द्रिक माध्यम म अभिव्यक्ति है। चेतना का यह भाव बौद्धिक प्रत्याहार नही है वरन् व्यक्तिगत और विशेष रूपो में साकार होने वाला सजीव और सक्रिय भाव है। इसी सजीव रूप मे भाव की साकारता हीगल के अनुसार सौन्दर्य का रहस्य है। कुरूपता का कोई व्यवस्थित विवेचन हीगल मे नही मिलता किन्तु उनके सौन्दर्य सिद्धान्त से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। नकल उतारने के सम्बन्ध मे हीगल ने कहा है कि उसमे भाव की विकृति के कारण कुरूपता उत्पन्न होती है। अत हीगल के अनुसार व्यक्तिकरण की अयथार्थता अथवा असगति ही कुरूपता का मर्म है।[१४६] **शोपेनहावर के अनुसार सौन्दर्य विश्व प्रक्रिया में अन्तर्निहित क्रूर सकल्प के नियन्त्रण से मुक्त अभिव्यक्ति है।** ये ही उसके सौन्दर्य और आनन्द की महिमा का रहस्य है। इस दृष्टि से कुरूपता दोष पूर्ण तथा अपूर्ण अभिव्यक्ति है। वह सौन्दर्य की विरोधी नहीं है। कुरूपता को हम सौन्दर्य की सापेक्ष

कोटि कह सकते हैं। जौलगर के अनुसार कुरूपता सौन्दर्य की अत्यन्त विरोधी है और भावात्मक है।[१४७] *जिस प्रकार अश्रेय के विरोध में हम श्रेय को पहिचानते हैं।* वस्तुत वह सौन्दर्य का अभाव है। अत वह निषेधात्मक है। किन्तु वह एक ऐसा निषेध है जो भावात्मक रूप ग्रहण करके सौन्दर्य का स्थान ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। एक ओर कुरूपता को सौन्दर्य का विरोधी मानते हुये भी दूसरी ओर जौलगर यह मानते हैं कि वह सौन्दर्य का स्थान लेने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार वह सुन्दर के निकट आती है। फिर भी जौलगर का यह दृढ विश्वास है कि कुरूप 'कुरूप' कुरूप की हैसियत से कला के क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सकता। इसमे वह वाइसे के साथ एकमत और रोजेनक्रान्स के विरोधी हैं। रोजेनक्रान्स के अनुसार सौन्दर्य भावात्मक है और कुरूपता निषेधात्मक है।[१४८] अत एक ओर वे सुन्दर *और कुरूप को पृथक तथा कुरूप को सुन्दर के बाहर मानते हैं। किन्तु दूसरी ओर* वे उसे सौन्दर्य से सापेक्ष मानते हैं। अत कुरूप कला के अन्तर्गत है। किन्तु वह कुरूप को सुन्दर की विरोधी पृष्ठभूमि नही मानते। उनके अनुसार सौन्दर्य एक भावात्मक तत्व है। वह अपने स्वरूप मे विभासित होता है। सौन्दर्य को प्रकाशित न होने के लिये किसी विरोधी पृष्ठभूमि की आवश्यकता नही।[१४९] *हार्टमान के अनुसार सौन्दर्य कला का लक्ष्य नहीं वरन् सगत अभिव्यक्ति का सहज* परिणाम है।[१५०] प्रकृति का सौन्दर्य लक्ष्य नहीं किन्तु फल है। उनके अनुसार कुरूपता सौन्दर्य का अग और साधन है। कुरूपता की हैसियत से नही किन्तु सौन्दर्य के साधन की हैसियत से उसका कला मे स्थान है। वस्तुत कुरूपता सापेक्ष ही है। सौन्दर्य एक सगत अभिव्यक्ति है। कुरूपता एक असगत अभिव्यक्ति है। *कुरूपता* सौन्दर्य की साकारता का साधन है।[१५१] रस्किन ने एक बार कहा था कि कलात्मक कल्पना कुरूप तत्वो से सुन्दर व्यवस्थाओ का निर्माण करती है। किन्तु सम्भवत हार्टमान का यह मत अधिक सगत है कि कुरूप की हैसियत से नहीं वरन् सौन्दर्य का सापेक्ष बनकर ही कुरूप कला का अग बन सकता है।

अस्तु हम देखते हैं कि सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास मे कुरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं। जो लोग कुरूप का एक भावात्मक सत्ता मानते आये हैं उनमें जिन्होंने उसकी तात्विकता पर जोर दिया है वे प्लूटार्क, बर्क और जौलगर के समान कला मे उसके स्थान का निषेध करते आये हैं। जिन्होंने अभिव्यक्ति के रूप मे कला का सौन्दर्य माना है वे एरिस्टोटिल के अनुसार कुरूप की अभिव्यक्ति मे

भी सौन्दर्य देखते आये हैं। किन्तु इस प्रसंग में प्लूटार्क का यह तर्क कि कुरूप सुन्दर नहीं हो सकता एक कठिन समस्या पैदा कर देता है। इस समस्या का समाधान कुरूप का सौन्दर्य का सापेक्ष बनाकर उसके निकट ले आता है। ऐरीजोना की वह दिव्य दृष्टि कि वस्तुत ईश्वर की दृष्टि में कुछ भी असुन्दर नहीं है आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र में सफल होती है। कौलिंगवुड के अनुसार कलात्मक कल्पना प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाती है। 'कल्पना' चेतना का वह भाव है जो विषय की बाह्यता और भेद को मिटाकर उसे सत्य और असत्य की कोटि से ऊपर उठाकर कलाकार के साथ एकात्म बनाती है। कल्पना की इस एकात्मता में ही सौन्दर्य उदित होता है। कुरूपता न कोई भावात्मक तत्व है और न वह निषेधात्मक है। निस्टोवल के अनुसार सुन्दर का विरोधी कुरूप नहीं वरन् वह जो कला की दृष्टि से उदासीन है और जो इस उदासीनता के कारण हमारी कलात्मक शक्तियों को जाग्रत करने में समर्थ नहीं है।[१५८] इस आधुनिक मत में कुरूप का सौन्दर्य एरिस्टौटिल के समान कला की बाह्य अभिव्यक्ति के कौशल में नहीं है वरन् कलात्मक कल्पना अथवा अनुभूति में है। भारतीय काव्य शास्त्र का मत एरिस्टौटिल के प्राचीन मत और आधुनिक अभिव्यंजनावाद दोनों का समन्वय प्रतीत होता है। वीभत्स, रौद्र आदि के आलम्बन घृणा, भय आदि के उत्पादक होने हुये भी काव्य में स्थान पाते रहे हैं। उनके वर्णन में काव्य के आचार्य सौन्दर्य का दिग्दर्शन करते रहे हैं। सम्भवत यह कलात्मक अभिव्यक्ति का ही सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य आनन्दमय है। अतं यहाँ भी यह कठिनाई सामने आती है कि जो स्वरूपत कुरूप है वह सौन्दर्य और आनन्द का साधन कैसे बन सकता है? भारतीय वेदान्त और शैवमत में तो एरीजोना की दिव्य विश्व व्यवस्था की भांति सभी कुछ सौन्दर्य की सम्भावना से अनुप्राणित है। भारतीय काव्य शास्त्र का मूल उपनिषदों के आनन्द में होते हुये भी उसका अपने मूल के साथ समुचित समन्वय नहीं है। इसीलिये सम्भवत भारतीय काव्य शास्त्र का मत एरिस्टौटिल के अधिक निकट है। आधुनिक अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त उसमें स्पष्ट नहीं है। आनन्द वर्द्धन और अभिनव गुप्त के ध्वनि सम्प्रदाय में अभिव्यक्ति के कौशल के अतिरिक्त ध्वनि का जो रस-रूप तत्व है वह आधुनिक अभिव्यक्तिवाद के अत्यन्त निकट है। अनुभूति-रूप होने के कारण यह अभिव्यक्ति अभिनव गुप्त के रस और कौलिंगवुड की कल्पना की समानार्थक है। यहाँ केवल

एक ही प्रश्न हो सकता है कि जिन्हे समाज मे कुरूप समझा जाता है उन्हे कला और काव्य मे इतना कम स्थान क्यो मिला है ? रौद्र, वीभत्स आदि के वर्णन काव्य मे केवल उदाहरण के रूप मे ही क्यो मिलते हैं ? क्या कुरूप की तत्वगत और रूपगत वास्तविकता में ही ऐसा कोई दोष नही है जो उसे कला के अयोग्य बनाता है ? सत्य यह है कि कला के सौन्दर्य का स्वरूप वस्तुगत अथवा तत्वगत नही है वह अनुभूति, कल्पना, आदि चेतना के भावो मे ही निहित है चाहे यह चेतना व्यक्तिगत हो अथवा समात्मभाव की स्थिति हो। चेतना का यह भाव प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने मे समर्थ है। इस चेतना के जागरण के अभाव मे प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य की दृष्टि से उदासीन है। इस उदासीनता के विषयों मे जहाँ ऐन्द्रिक सम्वेदना की अप्रियता नही होती वहाँ हम भी उदासीन रहते हैं। जहाँ यह अप्रियता होती है वहाँ हमे कुरूपता दिखाई देती है। अत. स्वरूपत कुरूप हमारे सामान्य व्यवहार की कलाहीन स्थितियो में ही स्थान रखता है। जीवन के सामान्य व्यवहार और उसकी सम्वेदनाओ से कला के सामान्य रूप का एक घनिष्ट सम्बन्ध है। इसीलिये जो सामान्यत कुरूप है वह कला और काव्य मे ही कम स्थान पा सका है। अधिकाश कला और काव्य मे सामान्य व्यवहार के प्रिय उपादान ही ग्रहण किये गये हैं। आधुनिक युग मे कलात्मक चेतना, यदि कुरूप की ओर नही तो, उदासीन की ओर एक निश्चित उदारता से जागरित हो रही है।

सामान्य व्यवहार की दृष्टि से सुन्दर के समान असुन्दर अथवा कुरूप को भी एक वस्तुगत तथ्य मानना होगा। इतना अवश्य है कि साधारण जनो में इस सम्बन्ध मे प्राय मतभेद दिखाई देता है जो एक वस्तु को सुन्दर मानता है तथा जो वस्तु एक को सुन्दर मालूम होती है उसे दूसरा कुरूप मानता है। इस मत-भेद से यह स्पष्ट होता है कि जिसे कुछ लोग कुरूप अथवा असुन्दर मानते हैं उसमे भी दूसरे सौन्दर्य देख सकते हैं। ऐसा मतभेद व्यापक होने पर यह नही कहा जा सकता कि सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत भावना अथवा दृष्टि है। अनेक लोगो के इस मतभेद मे सम्मिलित होने पर यह प्रश्न व्यक्तिगत नही रह जाता। उदाहरण के लिये नीग्रो अथवा मंगोलियन जाति की स्त्रियाँ आर्य जाति के पुरुषों को सुन्दर नही जान पड़ती। उनके मोटे ओठ और पतली आखे आर्यो की दृष्टि मे कुरूपता के कारण हैं। किन्तु अपनी जाति के पुरुषो को वे सुन्दर लगती हैं। मतभेद होते हुए भी इस दृष्टिकोण को व्यक्तिगत नही कहा जा सकता। क्योंकि एक मत को अनेक लोगो के अभीमत

का समर्थन मिलता है। ऐसी स्थिति मे हमे इस मतभेद के मर्म का अधिक गम्भीरता से अनुसधान करना होगा। सौन्दर्य का कुछ वस्तुगत आधार अवश्य है तभी सुन्दर का विक्षेप एक वस्तुगत सत्ता और गुण के रूप मे किया जाता है। सौन्दर्य का यह वस्तुगत आधार वस्तु के रूप और लक्ष्य मे तथा गुणो मे खोजना होगा। हमारे मत मे सौन्दर्य का रहस्य रूप के अतिशय म मिलता है। अनेक रूपो में यह रूप का अतिशय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। वस्तु के विन्यास आदि के गुण भी इस रूप के अन्तर्गत आ सकते हैं और इस प्रकार 'रूप को 'सौन्दर्य' का पर्याय माना जा सकता है। किन्तु जब रूप प्रभावशाली होता है अथवा जब हम उसकी ओर अनुकूलता के भाव से अभिमुख होते हैं तभी वह हमे सुन्दर दिखाई देता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु का सुन्दर होना और सुन्दर होना और सुन्दर दिखाई देना दो अलग अलग बातें हैं। कला का सौन्दर्य मनुष्य की रचना कहा जा सकता है किन्तु सौन्दर्य की यह रचना भी पूर्णत मनुष्य की रचना नही है। सौन्दर्य के उपादानो और उपकरणो म भी सौन्दर्य की सम्भावनाएँ होती हैं। कलाकार अपने कर्तृत्व के द्वारा उन सम्भावनाओ को एक अनुकूल योजनाओ मे आविष्कृत करके सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। सौन्दर्य केवल सृष्टि नहीं है। वह बहुत कुछ परिमाण में अभिव्यक्ति भी है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह उपादान की वस्तुगत व्यवस्था का गुण है। इसी वस्तुगत आधार के कारण सौन्दर्य के सम्बन्ध मे अनेक लोगो का एक मत होता है। इस सम्बन्ध मे जो मत-भेद होता है उसका कुछ कारण वस्तुगत भी होता है किन्तु इसके साथ साथ इस मतभेद का कुछ आधार हमारी भावना मे भी रहता है। सौन्दर्य की धारणा मे भावना का प्रभाव हमे इन मतभेदो तथा अपने दृष्टिकोण के परिवर्तन मे दिखाई देता है। नवीनता और निरुपयोगिता का दृष्टिकोण होने पर जो प्रकृति सुन्दर दिखाई देती है वही प्रकृति परिचय और उपयोगिता का दृष्टिकोण होने पर सुन्दर नही दिखाई देती। ऐसी स्थिति मे वस्तु का रूप सौन्दर्य के अनुकूल होने पर भी वह सुन्दर नहीं दिखाई देती। इस सम्भावना के दृष्टिकोण से देखने पर कदाचित ही ससार की कोई ऐसी वस्तु हो जिसे सुन्दर न कहा जा सके अर्थात् अनुकूल भाव होने पर जिसमे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सम्भव न हो सकती हो ऐसी स्थिति मे ससार की प्रत्येक वस्तु को सुन्दर मानना होगा। यह दृष्टिकोण सामान्यत मान्य न होगा किन्तु विचार करने पर यह अधिक मान्य प्रतीत होगा। समात्मभाव और

निरुपयोगिता का दृष्टिकोण प्रत्येक रूप मे सौन्दर्य जगा देता है। परिचय और उपयोगिता के दृष्टिकोण के कारण रूप का यह व्यापक सौन्दर्य मद हो जाता है। मद होने के कारण वह प्रभावशाली नही रहता। इसी को हम प्राय असुन्दर अथवा कुरूप कहते हैं। असुन्दर की धारणा निषेधात्मक है। वह सौन्दर्य का विरोधी नही वरन् सौन्दर्य का उदासीन अभाव है। कुरूप उसको कहना होगा जिसमे सौन्दर्य के अभाव के साथ-साथ कुछ विकृतियाँ भी हैं। इन विकृतियो के कारण वह उपेक्षणीय ही नही वरन् घृणास्पद भी बन जाता है। हम जिसे कुरूप कहते हैं उसमें कुछ सौन्दर्य का अश भी हो सकता है जो अनुकूल भाव न होने के कारण अभिव्यक्त नही होता तथा कुछ विकृतियो के कारण भी हो सकते हैं जो उस वस्तु को अशत कुरूप बनाते हैं। **सौन्दर्य वस्तु की सम्पूर्ण योजना का गुण है। उस सम्पूर्ण योजना की दृष्टि से ही विकृति को सौन्दर्य का विघातक कहा जा सकता है।**

सुन्दर और असुन्दर अथवा कुरूप की ये धारणाएँ जीवन के व्यवहार तथा जीवन के वस्तुगत आश्रयो पर अवलम्बित हैं। व्यवहार के दृष्टिकोण से हम जगत के उपादानो मे सुन्दर और असुन्दर अथवा कुरूप का भेद कर सकते हैं। किन्तु कला के दृष्टिकोण से ऐसा भेद करना कठिन है। **कला सौन्दर्य की रचना है अतः कला की प्रत्येक रचना सुन्दर होती है। कला में असुन्दर और कुरूप का प्रश्न नहीं उठता। यदि सम्भव हो सके तो कला में सौन्दर्य की श्रेणियाँ की जा सकती हे तथा कलाकृतियों को न्यूनाधिक सुन्दर तथा सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठ अथवा हीन माना जा सकता है। किन्तु ये सब भेद सुन्दर के ही अन्तर्गत होंगे। कला के साथ असुन्दर अथवा कुरूप का सम्बन्ध उपादान के रूप में ही हो सकता है।** जिसे जीवन के व्यवहार मे किसी भी कारण से असुन्दर अथवा कुरूप कहा जाता है वह कला और काव्य का उपादान बन सकता है ऐसी स्थिति मे रचना का उपादान असुन्दर और रचना का रूप सुन्दर होगा। **कला का सौन्दर्य अपने आप में 'अभिव्यक्ति के रूप का सौन्दर्य' है। इस सौन्दर्य से अन्वित होने पर कोई भी उपादान सुन्दर बन** सकते हैं। ये उपादान अपने आप मे सुन्दर और असुन्दर दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं। कुरूप को भी सौन्दर्य का उपादान बनाया जा सकता है। किसी कुरूप वस्तु अथवा व्यक्ति का चित्र भी कला की दृष्टि से सुन्दर हो सकता है। उसकी सुन्दरता अभिव्यक्ति के सौन्दर्य पर निर्भर होगी। वह वस्तु के रूप का सौन्दर्य नही वरन् कला के रूप का सौन्दर्य होगा। ऐसी रचनाओं को जब हम कुरूप कहते

हैं तो हमारा मत उपादान पर निर्भर होता है। सुन्दर प्रतीत होने वाली रचनाओ को भी प्राय हम उपादान की दृष्टि से देखते हैं। उपादान का सौन्दर्य ही प्राय हमे आकर्षित करता है। कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप के सौन्दर्य की परख सामान्यत लोगो मे अधिक नही होती अत सुन्दर और असुन्दर की धारणाएँ प्राय उपादान पर आश्रित होती हैं किन्तु कला के सौन्दर्य का निर्धारण अभिव्यक्ति के रूप की दृष्टि से ही करना होगा। उपादान की सुन्दरता अथवा असुन्दरता कलात्मक रूप के सौन्दर्य को सामान्यत प्रभावित अवश्य करती है। उपादान का सौन्दर्य कलात्मक रूप के सौन्दर्य को बढाता है और उपादान की कुरूपता उसे घटाती है। इसीलिये कला और काव्य मे प्राय सुन्दर उपादानो का ग्रहण अधिक होता रहा है। सुन्दर उपादानो के वस्तुगत रूप-सौन्दर्य को कला और काव्य मे अंकित करना तथा उसे कलात्मक रूप के सौन्दर्य से समन्वित करना भी एक कठिन चमत्कार है। किन्तु कुरूप और असुन्दर प्रतीत होने वाले उपादानो को कलात्मक सौन्दर्य से अभिनंदित करना और भी कठिन है। आधुनिक कला और काव्य में साधारण उपादानों को कला में अधिक समाहित किया गया है। जिन उपादानों का स्वरूपगत सौन्दर्य अधिक प्रखर नहीं है उन्हें कला और काव्य में बहुत स्थान दिया गया है। आधुनिक कला और काव्य का यह कौशल अत्यन्त अभिनदनीय है। सुन्दर उपादानो के सुन्दर चित्रण की अपेक्षा यह अधिक रचनात्मक है। इसके साथ-साथ यह अधिक सास्कृतिक भी है। कृतित्व की विपुलता के साथ-साथ यह सृष्टि और जीवन के सौन्दर्य का वर्द्धक है। भारतीय सस्कृति की परम्परा मे सामान्य जीवन के सामान्य उपकरणो को सास्कृतिक समात्मभाव और कलात्मक रूप के अतिशय के सयोग से सामान्य लोक-जीवन को विपुल और व्यापक सौन्दर्य से अलकृत करके अधिक आनद-मय बनाने का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय ५८

सौन्दर्य और हास्य

जीवन और कला मे सौन्दर्य के साथ साथ हास्य का भी स्थान है। अधिकांश विचारक सौन्दर्य के साथ सुख, हर्ष अथवा प्रसन्नता का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। कुछ ने सुख को सौन्दर्य के स्वरूप का आवश्यक अग भी माना है। सौन्दर्य से हमे ऐन्द्रिक सम्वेदना का सुख अथवा चित्त की प्रसन्नता ही प्राप्त नही होती वरन् एक हार्दिक हर्ष और उल्लास भी प्राप्त होता है। हम इसे 'आह्लाद' कह सकते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र मे उपनिषदो की परम्परा के अनुसार काव्य के रस को 'आनन्द' कहा है। किन्तु आनन्द आत्मा का स्वरूप है आत्मा व्यक्तिगत नही है। अत व्यक्तित्व के अधिष्ठान म और अहकार म अन्वित होने वाले आन्तरिक हर्ष को आनन्द कहना उचित नही है। व्यवहारिक जीवन म हम समात्मभाव के सुख को ही आनन्द कह सकते हैं। व्यक्ति मे सीमित रहने वाले आन्तरिक सुख को 'हर्ष' कह सकते हैं। जब वह हर्ष हमारे हृदय मे उमड कर छलकने लगता है तो उसे 'उल्लास' कहना अधिक उचित है। जब हम अपने हर्ष और उल्लास को दूसरो मे बाँटना चाहते हैं और चाहते हैं कि दूसरे हमारे हर्ष और उल्लास मे भाग ल तो हर्ष की इस स्थिति को 'आह्लाद' कहना उपयुक्त जान पडता है। सौन्दर्य का स्वरूप भी भाव की अभिव्यक्ति है। आह्लाद भी भाव के साथ अनुभूत होने वाले हर्ष अथवा उल्लास की अभिव्यक्ति है। भारतीय काव्य शास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र दोनो में ही सामान्यत सौ दर्य म अभिव्यक्ति के महत्व को मानते हुए भी सम्प्रेषण और समात्मभाव के महत्व को ध्यान नहीं दिया गया है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र मे कुछ विद्वानो ने सौन्दर्य की सम्प्रेषणीयता को स्वीकार भी किया है, किन्तु उसकी अनुभूति को फिर भी व्यक्तिगत ही माना है। स्पष्ट रूप से समात्मभाव में सौन्दर्य का स्रोत किसी को दृष्टिगत नहीं हुआ है। अभि-व्यक्तिवादियों ने तथा समानुभूतिवादियो ने तद्रूपता-मूलक एकात्मभाव को तो कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप माना है। यह अभेदमूलक अनुभूति भी व्यक्तिगत ही है। अत पूर्व और पश्चिम दोनों के सिद्धान्तो में व्यक्तिगत अनुभूति ही कला

और काव्य के सौन्दर्य का मूल है। इसीलिए सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न होने वाले हर्ष, उल्लास आनन्द आदि को भी व्यक्तिगत ही माना है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र मे सौन्दर्य के साथ सुखमय सवेदना की जितनी अधिक चर्चा है उतनी चर्चा सौन्दर्य से प्राप्त होने वाले आन्तरिक हर्ष और उल्लास की नही है। कीट्स ने अपनी एक कविता मे यह अवश्य कहा है कि सुन्दर वस्तु चिरन्तन हर्ष का स्रोत है। किन्तु सौन्दर्य शास्त्र के विवेचनो मे इस हर्ष और उल्लास की चर्चा बहुत कम है। भारतीय काव्य शास्त्र का आनन्द भी रति आदि भावों से अवच्छिन्न होने के कारण व्यक्तिगत ही है।

किन्तु कला और काव्य के इस व्यक्तिवाद का खण्डन सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति से भी अधिक सौन्दर्य के रसास्वादन से उत्पन्न होने वाले हर्ष, उल्लास, आह्लाद अथवा आनन्द मे होता है। सौन्दर्य से प्राप्त होने वाली सुखमय सवेदना व्यक्तिगत भी हो सकती है। किन्तु हर्ष का उल्लास और आह्लाद एकान्त और व्यक्तिगत नही होता। ये समात्मभाव मे ही सम्पन्न होते हैं। वस्तुत हर्ष, आह्लाद और आनन्द इस समात्मभाव के लक्षण अथवा स्वरूप भी हैं। समात्मभाव का स्पर्श मिलते ही हमारा मन प्रभात सूर्य के स्पर्श से प्रफुल्लित होने वाले कमल के समान खिल उठता है। जीवन के पुष्प के सौन्दर्य के साथ आह्लाद आमोद की भाँति विकीर्ण होने लगता है। समात्मभाव के इस स्वरूपगत आह्लाद में किसी विषय विशेष का अनुषग आवश्यक नही है, यद्यपि कोई भी विषय उसका निमित्त बन सकता है। सभ्यता के विकास के साथ व्यक्तिवाद की भी वृद्धि हुई है। अत ग्रामीण सभ्यता के सहज समात्मभाव और उसके आह्लाद को हम भूल रहे हैं। इसीलिए समात्मभाव के अभाव में बाह्य सम्मिलन के अवसरो पर कृत्रिम और भाव शून्य मुस्कान और हास्य से हम उसकी पूर्ति कर रहे हैं। किन्तु सत्य यह है कि आह्लाद और आनन्द का वास्तविक स्रोत समात्मभाव मे ही है। समात्मभाव का स्पर्श पाते ही व्यक्तित्व के केन्द्रों का हर्ष आह्लाद के रूप में उल्लसित होकर आनन्द के सगम मे समजसित होता है। किसी भी आत्मीय को दूर से देखकर ही हमारे मुख पर मुस्कान खिल उठती है। कोई भी परिचित मिलने आता है तो हम मुस्कान के साथ उसका स्वागत करते हैं। मानो मुस्कान समात्मभाव में व्यक्तित्वो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली विद्युत्प्रभा है। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-साथ हर्ष, आह्लाद और विशेषतः हास्य की क्षमता मनुष्यों में ही विकसित

हुई है। इन दोनो की सगति का तात्पर्य यही है कि दोनो का मूल स्रोत चेतनाओं के समात्मभाव में है। रूप और सुख की संवेदना पशुओं में भी है। कदाचित् वे हर्ष और उल्लास का भी अनुभव करते हैं और अपनी गतिविधियों से उसे व्यक्त भी करते हैं। पालतू पशुओं में समात्मभाव की भी कुछ मन्द क्षमता होती है, किन्तु उनके समात्मभाव के सौन्दर्य को अर्थवती वाणी का वरदान और सावृत हास्य का सौभाग्य प्राप्त नही हो सका है। वाणी के समान हास्य भी प्राणियों में मनुष्य की ही विभूति है। आह्लाद से हास्य का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। 'हास्य' आह्लाद की अवाक् किन्तु आलोकमय अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य, आह्लाद और हास्य का सगम समात्मभाव के सत्य को प्रमाणित करता है। समात्मभाव के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति आह्लाद और हास्य में होती है। प्राय अकेला व्यक्ति उदासीन रहता है और एकान्त में उसकी सौन्दर्य भावना भी उदासीन रहती है। अकेले में उल्लसित और हर्षित होने वाले को पागल समझा जाता है। पागल का व्यक्तित्व कितना ही विशृंखल हो किन्तु उसकी सामाजिक सम्भावनाएं पूर्णत नष्ट हो जाती हैं और वह अपनी व्यक्तिगत चेतना में ही लीन रहता है। इसके विपरीत मनुष्य का हास्य सामाजिक स्थितियों और समात्मभाव की भूमिका मे ही खिलता है।

हास्य के अनेक रूप और उसकी अनेक स्थितियाँ हैं। उसके अनेक धरातल हैं। इन समस्त स्थितियों के अन्तर्भाव समान नही हैं। इसीलिए मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र मे हास्य के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। इस सम्बन्ध मे सबसे पहले एक बात का स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार समस्त सौन्दर्य सुखदायक है किन्तु सुख की समस्त संवेदनाएं सुन्दर नही होतीं उसी प्रकार समात्मभाव का सौन्दर्य और आह्लाद सर्वदा हास्य मे व्यक्त होता है किन्तु हास्य के सभी रूप सौन्दर्य के सवाही नही होते। तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य के अतिरिक्त भी सुख के रूप हो सकते हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य के अतिरिक्त हास्य के भी रूप हो सकते हैं। ये हास्य के वे रूप हैं, जो समात्मभाव के अनुरूप नही होते, जो एक अतिरंजित आत्मगौरव अथवा दूसरों की क्रूर अवमानना के कारण समात्मभाव और सौन्दर्य दोनों के विघातक होते हैं। हास्य के ये रूप सौन्दर्य की अपेक्षा कुरूप के अधिक निकट हैं अथवा एक दृष्टि मे वे कुरूप की अपेक्षा भी सौन्दर्य के अधिक घातक हैं। किसी के गिर जाने पर हमारा क्रूर हास्य अथवा असहायों के उत्पीड़न

मे निरत किसी अत्याचारी का अट्टहास इसी सौन्दर्य के विघातक हास्य की कोटि मे है। उपहास भी इसी कोटि मे है। दूसरे के व्यक्तित्व को उचित आदर देने वाले तथा समात्मभाव के साधक हास्य के रूप ही सौन्दर्य के संवाही हैं। हास्य के इस स्वस्थ रूप को जीवन और साहित्य मे समुचित महत्व नही दिया गया है। व्यक्तित्व के अहकार से पीडित होने के कारण सामाजिक व्यवहार मे प्राय हम समात्मभाव और सौन्दर्य के विघातक क्रूर हास्य मे तत्पर होते हैं। किन्तु यह सामाजिक सम्बधो मे भेद और दूरत्व की स्थितियो म ही अधिक होता है। आत्मीय सम्बधो मे समात्मभाव के सौन्दर्य से अचित हास्य का ही परिचय जीवन के सम्बधो मे प्राय मिलता है। किन्तु साहित्य मे इस स्वस्थ हास्य के उदाहरण यथेष्ट नही मिलते। भारतीय काव्य में हास्य के स्थान पर उपहास अधिक मिलता है। नाटको मे विदूषक की अवमानना और उसके मृदु निर्यातन के रूप मे ही हास्य अधिक है। अथवा विदूषक के द्वारा राजा के मनोरजन का कृत्रिम हास्य मिलता है। अग्रेजी साहित्य मे हास्य का दृष्टिकोण प्राय असगति-पूर्ण स्थितियो से उत्पन्न अतिरजित आत्मगौरव तथा दूसरे की अवमानना का समात्मभाव हीन, अत सौन्दर्य से रहित, हास्य मिलता है।

पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र मे कला और काव्य के सम्बन्ध मे हास्य के अनेक रूपो की मीमासा की गई है और उनमे प्राय सभी को कला के उपयुक्त स्थान के योग्य समझा गया है। जिसे शारीरिक दृष्टि से हास्य कहते हैं और जिसमे आवश्यक रूप से कोई मनोभाव नही होता उसे अवश्य मनोरजक हास्य से पृथक किया गया है।[५५३] कैरिट ने स्पष्ट रूप से हास्य को मानवीय और सामाजिक वृत्ति बताया है। पशु नही हँसते और मनुष्य भी प्राय समाज मे ही हँसते हैं। किन्तु इस सामाजिक हास्य के भी सभी रूप मनोरजक नही होते। सौन्दर्य की भाँति पश्चिमी विचारको ने हास्य मे भी गुण माना है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस मनोरजक और कलात्मक हास्य की धारणा भी सौन्दर्य की भाँति व्यक्तिगत है। हम किसी मनुष्य को किसी विषम स्थिति मे देखकर हँसते हैं। कैरिट ने बताया है कि हम वस्तुओ मे भी सौन्दर्य देखते हैं किन्तु हास्य का विषय मनुष्य ही हो सकता है। प्रकृति की विषम स्थितियो को देखकर हम नही हँसते।[५५४] कैरिट ने अपने विवेचन के अन्त मे एक और महत्वपूर्ण बात कही है कि हम सुन्दर का उपहास नही कर सकते।[५५५] जो उपहासास्पद है वह सुन्दर नही हो सकता।[५५६] फिर भी उपहासास्पद को कला

के अन्तर्गत माना गया है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कुरूप भी कला के अन्तर्गत है। सामान्यतः कुरूप की ऐन्द्रिक सम्वेदना भी अप्रिय होती है। अतः वह सौन्दर्य का विरोधी होता है। किन्तु उसमें सौन्दर्य का भाव समाहित होने पर वह सुन्दर बन जाता है। इसके विपरीत जो उपहासास्पद है वह सुन्दर नहीं बन सकता। फिर भी जिस प्रकार कुरूप हीगल के मत मे सुन्दर की देहली तक आ जाता है उसी प्रकार हास्यास्पद भी सुन्दर की देहली तक आ जाता है। किन्तु दोनो म एक अन्तर है कि सुन्दर मे समन्वित होने के लिए कुरूप के वस्तुगत गुणो मे कोई परिवर्त्तन नही होता केवल उसके प्रति हमारे भाव मे परिवर्त्तन होता है। सौन्दर्य वस्तुतः एक भाव ही है। किन्तु सौन्दर्य की स्थिति उत्पन्न होते ही उपहास का हास्य विलीन हो जाता है। व्यक्ति की दृष्टि से इसे भी हम चाहे तो द्रष्टा के भाव का परिवर्त्तन कह सकते हैं। यदि उपहासास्पद व्यक्ति की परिस्थितियाँ तथावत् रहते हुए हास्य के स्थान पर दया, सहानुभूति आदि के भाव उदित होते हैं तो स्पष्टतः यह भाव का परिवर्त्तन ही है। किन्तु क्या इस स्थिति के रहते हुए सौन्दर्य की भावना सभव है? ठीक यही मालूम होता है कि यह सभव नही है। कारण यह है कि सौन्दर्य का स्वरूप सामजस्य है। हास्यास्पद व्यक्ति की परिस्थितियो की विषमता ही नहीं वरन् उसके साथ द्रष्टा के सम्बध की विषमता भी उपहास का कारण है। कैरिट का कथन है कि प्लेटो से लेकर बर्गसो तक यह विषमता और विरोध हास्यास्पद का आवश्यक आधार माना गया है, इसमे कोई अर्थ अवश्य है।[१४७] सहानुभूति का भाव तो नही किन्तु कलात्मक सहानुभूति का भाव इसमे कैरिट भी मानते हैं।[१४८] प्लेटो के अनुसार दुर्भावना की पीडा और श्रेष्ठता के सुख के मिश्रण मे उपहासास्पद का निर्माण होता है।[१४९] ऐरिस्टौटिल ने पहिले तत्व को आवश्यक नहीं माना है उनके अनुसार जो दोष न दुखद होते हैं और न विनाशक वे ही हास्यास्पद की स्थिति बनाते हैं पिछले तत्व का समर्थन आगे चलकर कान्ट ने भी किया है। किसी भी खतरे की आशका का तत्काल मे न होना उपहास के लिए आवश्यक है।[१५०] कैरिट ने स्वीकार किया है कि विरोधहीनता और पृथकत्व का भाव उपहास की स्थितियो मे सामान्यतः पाया जाता है। इसी आधार पर होब्स का आकस्मिक गौरव का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। दूसरे की विषम स्थिति दुर्बलता अथवा असमर्थता की हीनता की तुलना मे हम अपने मे अचानक कुछ श्रेष्ठता देखते हैं और यह आत्म-गौरव का भाव हास्य में फूट पडता है।[१५१] लोक ने विषमता को उपहास का

आवश्यक आधार माना है। यद्यपि सभी विषमतायें हास्यास्पद नहीं होतीं किन्तु प्राय उपहास मनुष्यो की स्थिति मे विषमता देखकर ही पैदा होता है। कान्ट ने हास्य का सम्बन्ध हमारी आशा से किया है। जब हमारी आशा शून्यता मे विशीर्ण हो जाती है तो हास्य का उदय होता है।[५६२] कान्ट के विचार मे एक सत्य है जो हास्य की सभी स्थितियो को नही किन्तु अनेक स्थितियो की व्याख्या करता है। खिलाडियो अथवा अन्य अध्यवसायियो की असफलता पर भी हम हँस पडते हैं। इस हास्य मे उपहास भी है। किन्तु अनेक स्थितियो मे किसी अध्यवसाय का प्रयत्न नही होता। उनम हास्य मनुष्य की विषम परिस्थितियो से ही उत्पन्न होता है। हीगल ने इस सम्बन्ध मे एक नया प्रस्ताव प्रस्तुत किया है। हीगल अभिव्यक्ति की उपयुक्तता को सौन्दर्य का लक्षण मानते हैं। अत उनकी दृष्टि मे अभिव्यक्ति की असफलता हास्य का लक्षण है।[५६३] इस दृष्टि से हास्य कला की विफलता भी है। हीगल का नया प्रस्ताव यह है कि हास्य का सच्चा रूप वही है जिसमें हास्यास्पद व्यक्ति स्वय भी इस असफलता का अनुभव करता है। डौन क्विक्जोट में यह भावना न होने के कारण वे उसे श्रेष्ठ हास्य नही मानते।[५६४] काट के मत के समान हीगल के मत मे भी सत्य का अश है क्योकि प्राय हम जिन पर हँसते हैं व स्वय भी इस हास्य मे भाग लेते हैं। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि ऐसी स्थिति म दोनों के हास्य का रूप समान नही होता। द्रष्टा का हास्य आत्मगौरव से युक्त और भावात्मक होता है। इसके विपरीत हास्यास्पद व्यक्ति का हास्य निषेधात्मक तथा अपनी हीनता और विषमता के आवरण का यत्न होता है। सस्कृत नाटक के विदूषको का हास्य ऐसा ही है। समाज में भी हम इस हास्य का रूप प्राय देखते हैं।

वर्गसो ने सहानुभूति के अभाव को उपहास का आवश्यक अग माना है।[५६५] कैरिट के अनुसार हास्य की विरोधी सहानुभूति नही वरन् श्रद्धा है।[५६६] कलात्मक सहानुभूति के अतिरिक्त अन्य सहानुभूतियो को वे हास्य के साथ सगत मानते हैं। मन्द उपहास मे प्राय यह सत्य होता है। वर्गसो के अनुसार जीवन का अभाव हास्य का आधार है। जीवन का लक्षण स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत जब हम किसी मनुष्य को यन्त्र की भाँति व्यवहार करते हुए देखते हैं तो हमे हँसी आती है। इस दृष्टि से विषमता के समान विवशता की स्थिति हास्य का कारण है। समाचार पत्रो के कार्टूनो मे अनेक बार यह विवशता ही हास्य का कारण

रहती है। किन्तु यह एक सीमा तक ही सत्य है। जब यह विवशता सहानुभूति का कारण बन जाती है तो हास्य का अन्त हो जाता है। यह परिणाम बर्गसो के मत के अनुकूल है। हॉब्स और बेन ने भी अन्य किसी भावना के जागरण को हास्य के प्रतिकूल माना है।[१६८] सभवत उपहास अन्य तीव्र भावनाओ के साथ असगत है। किन्तु मृदुल सहानुभूति और हास्य की सगति सभव हो सकती है जैसा कि कैरिट मानते हैं। फिर भी बर्गसो के मत मे इतना सत्य अवश्य है कि सहानुभूति हास्य की तीव्रता को मन्द करती है। तीव्र उपहास मे सहानुभूति नही होती। मनुष्य की स्थिति की विषमता और विवशता के प्रति जिनकी जितनी कम सहानुभूति होती है उनका उपहास उतना ही तीव्र होता है। गिरने वाले व्यक्ति के साथ सहानुभूति न होने के कारण ही हम उसकी विवशता और विषमता पर हँसते हैं। सहानुभूति *का उदय होते ही हास्य का अन्त हो जाता है।* आधुनिक विचारको मे ग्रूस, हॉब्स के आकस्मिक आत्मगौरव के पक्षपाती हैं।[१६८] कोहन विषमता को मुख्य मानते हैं।[१६६] फाल्कैल्ट हास्य को दूसरे की हीनता और अपने महत्व का सगम मानते हैं।[१७०] दूसरे की इस हीनता से उत्पन्न हास्य उसके पूर्वगौरव की तुलना मे अधिक होता है। जो अपने को बडा समझते हैं उनकी हीनता पर हम अधिक हँसते हैं। लिस्टोवैल का मत है कि विचार की गम्भीरता और भावना की तीव्रता से मुक्त होना हास्य के लिए आवश्यक है।[१७१] क्रोचे ने हास्य को अनिर्वचनीय माना है।[१७२] किन्तु उनके अनुयायी कौलिगवुड ने सौन्दर्य की अनुभूति का दक्षिण ध्रुव बताया है। सौन्दर्य का उत्तर ध्रुव उदात्त है। अपने से भिन्न मानकर किसी बाह्य सत्ता की महत्ता मे हम उदात्त का अनुभव करते हैं। जब हम इस उदात्त को अपनी चेतना की ही सृष्टि के रूप मे देखते हैं तो हमे उदात्त की भ्रान्ति पर हँसी आती है। हास्य इस भ्राति के विलय की प्रतिक्रिया है। सौन्दर्य उदात्त और हास्य दोनो का समन्वय है। कौलिगवुड के मत मे विचारणीय प्रश्न यह है कि उदात्त की प्रतिक्रिया मे होने वाले हास्य मे हम किसी दूसरे मनुष्य के ऊपर नही हँसते। हमे उदात्त की महत्ता और उसके भय के विलय पर हँसी आती है। कैरिट के मत मे प्राकृतिक वस्तुएँ नही वरन् मनुष्य ही हास्यास्पद होते हैं। किसी गहरी प्रतीत होने वाली नदी को डरते-डरते पार करते हुए जब हम छिछली पाते हैं तो अचानक हँसी फूट पडती है। प्रश्न केवल यही है कि क्या एकान्त में यह सम्भव है? सौन्दर्य को व्यक्तिगत अनुभूति मानते हुए भी कैरिट ने हास्य को सामाजिक माना है।

हम दूसरे मनुष्य की विवशता और विषमता पर भी प्राय अकेले नही हँसते इसीलिए हास-उपहास प्राय तब ही सभव होता है जब उसमे कई व्यक्ति भाग ले सके।

यहाँ हास्य में समात्मभाव का सूत्र स्पष्ट हो जाता है। समात्मभाव ही नहीं उसके आधार में स्फुटित होने वाली आकृति की व्यंजना भी हास्य को कलात्मक सौन्दर्य के निकट ले आती है। किन्तु उपहास का यह समात्मभाव सीमित होता है। हास्यास्पद व्यक्ति उसका भागी नही बन पाता। ऐसा होने पर सौन्दर्य का उदय हो सकता है किन्तु उपहास अवश्य विलीन हो जायेगा। आकस्मिक आत्म-गौरव और दूसरे की हीनता उपहास के हास्य की सही व्याख्या हैं। उस व्यक्ति की विवशता और विषमता अथवा हमारी आशाओ को विफलता आदि इस हीनता के सहकारी हैं। यह स्पष्ट है कि इस हीनता के रहते हुए समात्मभाव सभव नही है। समात्मभाव का सामजस्य समता के आधार मे ही उदित होता है। इसीलिए उपहास के हास्य का सौन्दर्य हास्यास्पद व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य द्रष्टाओ के सीमित समात्मभाव मे निहित है। यह उपहास कलात्मक सामजस्य और सामाजिक शील दोनो की दृष्टि से भिन्न कोटि का है, यद्यपि यह सत्य है कि हास्य का यही रूप काव्य मे अधिक मिलता है। तीव्र सहानुभूति को भावना तथा स्वभाव की गम्भी-रता के कारण भारतीय काव्य मे हास्य के अवसर कम हैं। पश्चिमी सस्कृति में जहाँ हिंस्र पशुओ की सकटपूर्ण स्थिति मे मनुष्यो की करुण विवशता भी मनोरजन का साधन समझी जाती थी, दूसरे की अवमानना से युक्त उपहास बहुत है। इसीलिए वह पश्चिमी साहित्य मे भी अधिक मिलता है। 'व्यंग' उपहास का तीव्र रूप है। उसमें एक डंक होता है। किन्तु दूसरे के अवमान की भावना, जो क्रूरता की सीमा तक हास्य का कारण है, दोनो मे समान है। भारतीय चरित्र की मृदुल भावना के कारण उपहास और व्यग हमारे साहित्य में अधिक नही पनप सका। हास्य का एक अधिक स्वस्थ और सम्पन्न तथा अधिक सामंजस्य पूर्ण होने के कारण अधिक सुन्दर रूप भी है। यह हास्य का वह रूप है जो सहानुभूति के साथ नहीं (क्यो कि सहानुभूति में दूसरे के प्रति हीनता की भावना अन्तर्निहित होती है) वरन् अन्य समात्मभाव पूर्ण भावनाओ के साथ संगत है। हास्य का यह रूप इन भावनाओ को समृद्ध बनाता है और इनसे स्वय समृद्ध होता है। यह स्नेह, सद्भाव और समभाव के हर्ष, उल्लास और अह्लाद की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य के समान

समात्मभाव की व्यापकता और गम्भीरता इस श्रेष्ठ, स्वस्थ और सस्कृत हास्य का आधार है। शृंगार के सचारी के रूप में इस हास्य का आभास कहीं-कहीं भारतीय काव्य में मिलता है। 'उपहास' की तुलना में हम इसे 'परिहास' और 'व्यग' के विरुद्ध हम इसे 'विनोद' कह सकते हैं। परिहास का उपसर्ग उसकी व्यापकता का सूचक है। परिहास और विनोद मे गभीरता भी सभव है। मनहूस और मुहर्रमी गम्भीरता से उसका विरोध अवश्य है किन्तु भाव की गम्भीरता उसके साथ सगत ही नही वरन् उसे सम्पन्न और समृद्ध बनाती है। प्रमिया का मूक और मन्द हास्य भी भाव की दृष्टि से गभीर होता है। एक मन्द स्मिति भी उल्लास के सागर की एक लहर हो सकती है। इस श्रेष्ठ हास्य में न दुर्भावना का आत्मगौरव और न दूसरे की अवमानना अपेक्षित है। वस्तुत यह हास्य समात्मभाव के सौन्दर्य का ही आलोक है। इसीलिए देवताओ विशेषत देवियो के सौन्दर्य की पूर्णता मन्द-गभीर हास्य में पाई जाती है। यह हास्य सौन्दर्य के आनन्द सरोवर की आलोक-मयी वीचियो का विलास है। ब्रह्म के स्मित के समान यह विलास सृष्टि का विधायक भी है। इस प्रकार यह उपहास के निष्फल हास्य के विपरीत कलात्मक सौन्दर्य और सस्कृति के अधिक अनुरूप है।

साम्य और समात्मभाव से प्रेरित हास्य जीवन और सस्कृति की एक अनमान विभूति है। मनुष्य के लिये यह हास्य ईश्वर का एक दिव्य वरदान है। पशु-पक्षी इस वरदान से वचित हैं। मस्तिष्क और चेतना के विकास के साथ साथ हास्य भी मनुष्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो पशु पक्षियों से उसे भिन्न बनाती है। मनुष्य की विकसित चेतना का दिव्य वैभव ही मानों उसकी अन्तरात्मा में उल्लसित होकर अधरो के क्षितिजों से छलकता है। मनुष्य का यह हास्य जीवन के सौन्दर्य का मर्म है। हास्य का सौन्दर्य भी सौन्दर्य के अन्य रूपों की भाँति अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। अभिव्यक्ति के लिये अभिमुख अन्तरात्मा का उल्लास ही हास्य की ज्योत्सना में छलकता है। यह हास्य समात्मभाव की स्थिति में ही सम्भव होता है। एकान्तभाव म वह सम्भव नहीं होता। एकान्त म भी जब किसी के साथ कल्पना का साम्य उदित होता है तभी हास्य की रेखाएँ हमारे अधरों पर छलकती हैं। हास्य मनुष्य जीवन का इतना मौलिक और महत्वपूर्ण मर्म है कि एक ओर बालक के चलने और बोलने से भी पहिले वह हँसने लगता है। दूसरी ओर मनुष्य के जीवन और उसकी सस्कृति की परम कृतार्थता हास्य मे ही होती है। शिव के अट्टहास का यही

रहस्य है। अट्टहास हास्य का विपुल, विराट और उन्मुक्त रूप है। हास्य का यही रूप मंगलमयी संस्कृति की चरम अभिव्यक्ति है। वर्तमान युग में इस सहज हास्य का ह्रास संस्कृति के ह्रास का सूचक है। सभ्यता के शिष्टाचार में बढ़ता हुआ *कृत्रिम और भावहीन हास्य इस बात का द्योतक है कि वास्तविक रूप में नष्ट होती* हुई हास्य की विभूति को बचाने का अन्तिम प्रयत्न मनुष्य कर रहा है। हास्य की ज्योत्स्ना आनन्दमय आत्मा का आलोक है। सभ्यता के विकास में सौन्दर्य के इस कलाधर को स्वार्थ और उपयोगिता के राहु का ग्रहण लग रहा है। इस आलोक के अस्त होने पर जीवन में अन्धकार का विषाद छा जायेगा।

सभ्यता और साहित्य में हास्य की स्थिति गम्भीरता पूर्वक विचार करने योग्य है। भारतीय साहित्य में हास्य बहुत कम मिलता है। इसकी तुलना में योरोपीय साहित्य में हास्य अधिक मिलता है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के शिष्टाचार में भी विनोद और परिहास के अर्थ में हास्य बहुत कम दिखाई देता है। *पश्चिमी समाज में विनोद और परिहास सभ्यता के शिष्टाचार का एक व्यापक* और महत्वपूर्ण अंग है। इससे एक यह भ्रान्त निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय समाज हास्य के मर्म को भलि भाँति न समझ सका तथा उसे जीवन और साहित्य में उचित रूप में न अपना सका। साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार के सम्बन्ध में जो बात ऊपर कही गई है वह सत्य है। किन्तु ऊपर का यह निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण है। समात्मभाव का मर्म भारतीय संस्कृति में सबसे अधिक विपुल और गम्भीर रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इसी समात्मभाव के आधार में जीवन का उल्लास भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा के पर्वो, उत्सवों, आदि में बिखरता हुआ दिखाई देता है। आत्मा का यह सहज उल्लास ही हास्य का मर्म है। हर्ष, प्रसन्नता आदि इसी उल्लास के सागर की वीचियाँ हैं। भारतीय सांस्कृतिक जीवन में विपुल उल्लास हर्ष और प्रसन्नता के रूप में हास्य का सन्निधान होने के कारण साहित्य तथा सभ्यता के शिष्टचार में उसे विशेष रूप में उपार्जित करने की आवश्यकता नहीं हुई। सांस्कृतिक पर्वो का उल्लास हास्य का सहज और भावात्मक रूप है। साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार में भी हास्य के इस सहज रूप का समाहित किया जा सकता है। किन्तु प्राय यह कृत्रिम रूप में मिलता है। इस कृत्रिमता का कारण समात्मभाव से प्रेरित सहज उल्लास के अभाव की प्रतिक्रिया है। साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार का हास्य बहुत कुछ कृत्रिम ही है।

पश्चिमी समाज में सांस्कृतिक पर्वों के सहज उल्लास की ऐसी विपुल परम्परा न होने के कारण साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार में कृत्रिम हास्य का विकास हुआ। यह कृत्रिम हास्य सहज उल्लास के अभाव की पूर्ति का एक कृत्रिम उपाय है। सांस्कृतिक उत्सवों के सहज उल्लास से परितृप्त रहने के कारण भारतीय समाज ने साहित्य और सभ्यता के शिष्टाचार के कृत्रिम हास्य के सम्वर्द्धन का प्रयास नहीं किया। इसीलिये भारतीय साहित्य और शिष्टाचार मे हास्य बहुत कम मिलता है। हास्य को नवरसो मे मानकर भी संस्कृत और हिन्दी के कवि इसी कारण हास्य की अधिक सृष्टि नही कर सके। संस्कृत साहित्य मे उपहास और व्यंग के रूप में कुछ हास्य मिलता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे व्यंग के रूप मे हास्य का विकास अधिक हुआ है। हास्य का मर्म उसके माधुर्य मे है, इसके विपरीत व्यंग मे एक तीक्ष्णता और कटुता रहती है। साम्य और माधुर्य के हास्य के उदाहरण आधुनिक काव्य मे 'पार्वती महाकाव्य' मे लगभग प्रत्येक सर्ग मे मिलते हैं।

अध्याय ५९

सौन्दर्य और वेदना

प्राय सौन्दर्य को सुखमय सम्वेदना और आनन्दमय अनुभूति से युक्त माना जाता है। किन्तु कला और काव्य में जिन विषयो और उपादानों से यह सुख अथवा आनन्द उत्पन्न होता है, वे सदा सुख रूप नही होते। कला और काव्य के अनेक विषय तथा उपादान स्वरूप से दुःखमय हैं। अतः यह प्रश्न उठता है कि कला और काव्य में इनके चित्रण क्यों सुन्दर और प्रिय मालूम होते हैं। प० इलाचन्द्र जोशी का मत है कि वेदना से मनुष्य की आत्मा का एक निगूढ़ अनुराग है इसीलिए विश्व के अधिकाश साहित्य मे वेदना की ही प्रधानता है। विश्व के महान् कवियों और साहित्यकारो की कृतियाँ वेदना का एक व्यापक और गभीर रूप देकर ही अमर हुई हैं। कृतियो के अतिरिक्त अनेक सवेदना शील कवियों की व्यक्तिगत धारणायें भी इसका समर्थन करती हैं। काव्य के इतिहास को यदि हम आरम्भ से ही लें तो क्रौंचवध की करुण घटना से उत्पन्न वाल्मीकि की वेदना रामायण मे मूर्त हुई, जिसके सम्बन्ध मे आनन्द वर्धन की मर्मस्पर्शी टिप्पणी है कि 'शोक. श्लोकत्वमागत.।' रामायण की प्रेरणा में ही नही, वाल्मीकि के अनुसार उसकी कथावस्तु में भी वेदना की प्रधानता है। दशरथ की मृत्यु, राम का निर्वासन, भरत का त्याग, चित्रकूट मिलन, सीता हरण, लका विजय, सीता का द्वितीय वनवास आदि रामायण की प्रमुख घटनायें हैं जो करुणा और वेदना से ओत प्रोत हैं। राम के विवाह और अयोध्या-आगमन के अतिरिक्त कदाचित हर्ष की कोई प्रमुख घटना रामायण में नही। यदि जोशीजी का कथन सत्य है तो करुणा की इसी वेदना के कारण वाल्मीकि-रामायण और तुलसीदास का रामचरितमानस इतने लोक प्रिय हुए। वाल्मीकि के बाद के संस्कृत काव्य में यद्यपि शृगार और अलकार की प्रधानता है किन्तु उसमें भी करुणा और वेदना के अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं। कालिदास के अज-विलाप, रति विलाप, सीता-निर्वासन, शकुन्तला-निर्वासन, मेघ सदेश के प्रसंग मर्ममयी करुणा की वेदना के उत्तम उदाहरण हैं। 'नैषधीय चरित' में नल के निर्वासन, किरातार्जुनीय के पांडवो के निर्वासन और कादम्बरी मे पुण्डरीक के मरण

के बाद महाश्वेता का शोक और उसकी साधना संस्कृत काव्य में करुणा की वेदना के अन्य उदाहरण हैं। सूर और तुलसी के काव्य में भी विरह और वेदना के स्थल ही अधिक मर्मस्पर्शी है। रीतिकाव्य और छायावादी काव्य मे करुणा के प्रसग कम हैं, फिर भी इनमे विरह की वेदना के वर्णन ही अधिक और अधिक मर्मस्पर्शी हैं। बगीय कवि मधुसूदन दत्त के मेघनाथ वध म लका के दुर्भाग्य की करुणा ही मूर्त हुई है। रवीन्द्रनाथ के राजसी जीवन म लौकिक और सामाजिक करुणा के लिए तो अधिक अवकाश नही है, फिर भी व्यक्तिगत और रहस्यात्मक रूप में उनके काव्य मे वेदना की पर्याप्त अभिव्यक्ति है। 'मानस सुन्दरी' तथा अन्य कविताओं मे पत्नी की असमय मृत्यु से प्रभावित उनकी व्यक्तिगत वेदना मूर्त हुई है। रहस्यात्मक वेदना उनके अधिकाश काव्य म मिलती है। योरुप के काव्य में भी वेदना की प्रधानता मिलती है। होमर के काव्य रामकथा के समान हैलिन के हरण, ट्रोय के दहन, पैनीलोप की कठिन परीक्षा यूलिसिस के सकटा आदि की करुणा से परिपूर्ण हैं। दान्ते की 'डिवाइन कौमेडी' बीएट्रिस के विरह की करुणा की मर्मस्पर्शी प्रतिमा है। शेक्सपियर के नाटको मे उनके चार महान् दु खान्त नाटक ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। अग्रेजी के रोमांटिक काव्य में बायरन जैसे विलासी की रचनाओ मे भी 'शीयौन का बन्दी' जैसे करुणामय काव्य मिलते हैं। वर्ड्सवर्थ के काव्य मे प्राकृतिक जीवन की प्रशान्ति अधिक है फिर भी उसमे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की वेदना के अन्त स्वर मिल जाते हैं। शैली और कीट्स के काव्य मे प्रेम की करुणा एक व्यापक और मर्मस्पर्शी वेदना के रूप मे व्यक्त हुई है।

इस प्रकार विश्व के अधिकाश काव्य में करुणा और वेदना की प्रचुर अभिव्यक्ति मिलती है। इसके समर्थन मे हमे कवियो के व्यक्तिगत मत भी मिलते हैं। वाल्मीकि ने वेदना का नाम लेकर अपना मत प्रकाशित नही किया किन्तु क्रौंच मिथुन के एक साथी के द्वारा वधिक को दिया हुआ उनका शाप उनके शोक की ही अभिव्यक्ति है और उस शोक का श्लोकबद्ध होना वेदना में काव्य के उद्गम का प्रमाणित करता है। छायावाद के प्रसिद्ध कवि पन्त के शब्दो मे विरह की करुण वेदना से ही काव्य का उद्गम हुआ है। उनके मत मे विरह के कराहने शब्द को निठुर विधि ने कुलिश की तीव्र और चुभती हुई नोक से शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर अश्रुओ की उज्ज्वल मसि मे लिखा है। इन्ही अश्रुओ की धारा मे आँखो से

उमडकर जीवन की कविता चुपचाप बह उठती है। इस वेदना में एक अद्भुत माधुर्य है जिससे प्रेरित होकर कवि उसे अभिव्यक्ति देता है। सम्भवत इसी माधुर्य के कारण वेदना की कवितायें लोक को भी प्रिय बनती हैं। वेदना के इसी माधुर्य के कारण भवभूति करुण को ही एक मात्र रस मानते हैं। अँग्रेजी कवि शैली ने एक अद्भुत वचन मे करुणतम भावो को व्यक्त करने वाले गीतों को मधुरतम बताकर वेदना की इस मधुरिमा का समर्थन किया है। महादेवी वर्मा ने 'दरद दिवाणी' मीरा के समान ही पीडा मे अपने प्रिय को पाया है। विरह की वेदना मे ही वे अपने को चिर मानती हैं। नीर भरी दु ख बदली' और 'सान्ध्य गगन' के गीतो मे उनकी यह वेदना ही साकार हुई है। कवि निराला ने एक अपूर्व साहस और उदात्त सहिष्णुता के साथ अपने जीवन की उन विषम विडम्बनाओ को सहन किया है जिनके सामने उनके ही शब्दो मे हाथ के भी होश भागे' और जिनका परिणाम अन्तत उनके विक्षिप्त जीवन म हुआ है। अनन्त आशावादी होने के कारण उन्होंने वेदना के गीत अधिक नही गाये हैं किन्तु अपनी एक मात्र पुत्री सरोज की मृत्यु पर लिखित उर्दू के करुण कवि मीर की अपनी पुत्री की मृत्यु पर रचित प्रसिद्ध शेर के भाष्य के समान मर्मस्पर्शी कविता मे उनकी अन्तर्वेदना का परिचय मिलता है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना वेदना की विदाई लेकर प्रसाद की भावना को सगीत के स्वरो मे घोषित करती है।

इस प्रकार अधिकाश साहित्य और काव्य मे वेदना की प्रधानता है और कवियो की व्यक्तिगत भावनायें तथा धारणायें उसकी महिमा और उसकी मधुरमा का समर्थन करती हैं। प्रश्न यह है कि वेदना में ऐसा क्या माधुर्य है और दु ख की कथाओं में ऐसा क्या आकर्षण है जिसके कारण वेदना अधिकाश साहित्य की विभूति बनी और दु ख की कथाओं के आधार पर ही विश्व साहित्य की महान् कृतियां निर्मित हुई हैं। भारतीय और पश्चिमी काव्य शास्त्र मे इस प्रश्न के एक अग पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जीवन मे दु ख और वेदना के महत्व तथा माधुर्य की ओर तो आचार्यो ने अधिक ध्यान नही दिया किन्तु काव्य मे उसके सौन्दर्य और आकर्षण की उन्होंने पर्याप्त मीमासा की है। हमे स्वीकार करना होगा कि प्रश्न के इस पक्ष का विवेचन पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र और काव्य शास्त्र मे अधिक और अधिक उपयुक्त रूप मे हुआ है। भारतीय काव्य और काव्य-शास्त्र मे करुण रस तथा शृगार में विरह का पर्याप्त महत्त्व है। भारतीय

आचार्य करुण और विरह में ही नहीं, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों में भी आनन्द मानते हैं। उनके अनुसार आनन्द रस का सामान्य स्वरूप है। करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स आदि में भी उसे घटाया जाता है। तादात्म्य के आधार पर तो इन स्थितियों में दुःख की सम्वेदना होनी चाहिए अतः साधारणीकरण के द्वारा सभी रसों में सामान्य रूप से आनन्द का निर्वाह किया जाता है। तादात्म्य की स्थिति में दुःख को भी आनन्दमय मानना होगा जो किसी रूप में समात्मभाव की स्थिति में सम्भव हो सकता है। किन्तु काव्य शास्त्र में स्पष्ट रूप से इस मत का प्रतिपादन कहीं नहीं मिलता। एक दूसरा मत अधिक स्पष्ट है कि काव्य में दुःख की अभिव्यंजना भी आनन्द की सवाही बन जाती है। यह स्पष्ट है कि यह आनन्द विषय के अनुरूप नहीं वरन् काव्य के रूप और उसकी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का आनन्द है। मैथिलीशरण गुप्त ने कला के एक चमत्कार का संकेत किया है कि वह भीषण को निर्जीव बनाकर सुन्दर और आनन्दप्रद बनाती है। तब क्या यह समझना चाहिए कि दुःख का वर्णन भी प्रभावहीन होने के कारण ही आनन्दप्रद मालूम होता है? यह जीवन और काव्य दोनों की ही वस्तुस्थिति के साथ संगत नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में दुःख भी आनन्दमय बन जाता है। काव्य का सौन्दर्य केवल अभिव्यक्ति का रूपात्मक सौन्दर्य ही नहीं है वरन् वह तत्व पर भी निर्भर है। अभिव्यक्ति काव्य के सौन्दर्य का विशेषक अवश्य है किन्तु काव्य का समस्त सौन्दर्य अभिव्यक्ति के रूप में ही निहित नहीं है, वह उसके तत्व पर भी निर्भर है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि की कल्पना में अभिव्यक्ति के रूप के साथ साथ रस के तत्व का समन्वय करके इस तथ्य का समन्वय किया है। केवल अभिव्यक्ति का रूप आनन्द के रस का समानार्थक नहीं हो सकता।

पश्चिमी काव्य शास्त्र में कला और काव्य के सौन्दर्य को अधिकांश आचार्य सुखमय मानते हैं। कला और काव्य में दुःख के चित्रण से उत्पन्न होने वाली सुखमय अनुभूति की व्याख्या उन्होंने अभिव्यक्ति के आधार पर ही की है। फिर भी उनकी व्याख्या जीवन-तत्व के आधार से सर्वथा उच्छिन्न नहीं है। काव्य में दुःख के वर्णन अथवा नाटक में उसके दर्शन से प्राप्त होने वाले सुख की व्याख्या प्राचीन ग्रीक शास्त्र में तत्व के आधार पर की गई है। ग्रीक काव्य-शास्त्र का यह सिद्धान्त विरेचनवाद कहलाता है। ऐरिस्टौटिल के मत में इस विरेचनवाद की मीमांसा अधिक विस्तृत रूप में मिलती है किन्तु डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार प्लेटो

के मत में भी इसका पूर्वाभास मिलता है।[१५३] डा० पाण्डेय के अनुसार प्लेटो का मत इस प्रकार है—दुःख और दुर्भाग्य में हम अश्रु और विलाप के रूप में अपने दुःख को व्यक्त करके उसे हलका करने की अभिलाषा करते हैं, किन्तु हमारा विवेक इस दुर्बलता के प्रदर्शन पर प्रतिबंध का काम करता है। दुःखमय नाटक को देख कर हम सहानुभूति के रूप में अपने आन्तरिक दुःख को भी व्यक्त कर लेते हैं। प्लेटो के अनुसार दुःखमय नाटक मे अपने दुःख को अनवरोध और अनर्जित अभिव्यक्ति के द्वारा हमारा दुःख हलका होता है और यही ट्रेजडी के आनन्द का रहस्य है। डा० पाण्डेय के अनुसार प्लेटो का यह मत ऐरिस्टौटिल के प्रसिद्ध विरेचनवाद की पूर्व पीठिका है। ऐरिस्टौटिल के अनुसार ट्रेजडी तीव्र भावनाओं को उत्तेजित कर उनकी अभिव्यक्ति का साधन बनती है। अभिव्यक्ति में दबी हुई भावनाओं अथवा भावनाओं के अतिरेक का विरेचन हो जाता है। इस विरेचन से हमारी भावना अवाञ्छित तत्वों से मुक्त हो जाती है और व्यक्तित्व में एक सतुलन प्राप्त होता है। डा० पाण्डेय ऐरिस्टौटिल को कला के इस रहस्य के प्रथम उद्घाटन का श्रेय देते हैं और ऐरिस्टौटिल के मत को प्लौटीनस के निर्वैयक्तीकरण के सिद्धान्त की भूमिका मानते हैं।[१५४]

ऐरिस्टौटिल की ट्रेजडी की प्रसिद्ध परिभाषा इस प्रकार है—ट्रेजडी एक उत्कृष्ट, पूर्ण और महान् क्रिया का अनुकरण है, जो आकर्षक भाषा में वर्णन के द्वारा नही वरन् अभिनय के द्वारा व्यक्त किया जाता है तथा जो करुणा और भय उत्पन्न करके भावनाओ का विरेचन करता है। एरिस्टौटिल के अनुसार करुणा और भय के प्रबल जागरण मे ट्रेजडी के दर्शन मे इन भावनाओ के अतिरेक का विरेचन हो जाता है और दर्शक को सन्तुलन प्राप्त हो जाता है। यह सन्तुलन ही एरिस्टौटिल के अनुसार जीवन का माध्यमिक सत्य है। एरिस्टौटिल के अनुसार यह विरेचन मन, भावना और व्यक्तित्व की सीमा के अन्तर्गत है। प्लौटिनस के अनुसार इसका सबन्ध भावना से नही वरन् आत्मा से है। विरेचन के द्वारा आत्मा देह के सबन्ध से मुक्त होकर अपने अध्यात्म लोक मे शान्ति की स्थिति प्राप्त करती है।[१५५] आत्मा मन की भाँति व्यक्तिगत नही है। वह एक और अनन्त है। वह शान्ति स्वरूप है। ट्रेजडी के द्वारा हमे व्यक्तित्व का सन्तुलन नही वरन् एक निर्वैयक्तिक स्थिति की शान्ति प्राप्त होती है। देकार्त के अनुसार ट्रेजडी का आनन्द बौद्धिक है। दुःखी नायक के साथ करुणा और सहानुभूति की भावना मे हम अपने कर्तव्य का पालन करते हैं और

इससे हमें शान्ति मिलती है।[१८६] वर्क के अनुसार ट्रेजडी का दु ख हमे स्पर्श न करने के कारण सुखदायक होता है।[१८७] ट्रेजडी के अभिनय मे कुछ अवास्तविकता भी होती है। अत यह वास्तविक घटना के समान हमे प्रभावित नही करती। हीगल के अनुसार भी ट्रेजडी के द्वारा निर्वैयक्तिकरण ही होता है।[१८८] यही उसके आनन्द का रहस्य है। यह निर्वैयक्तिकरण का सिद्धान्त भारतीय काव्य शास्त्र के साधारणीकरण के समान है।[१८९] मनोविरेचन, अभिनय और निर्वैयक्तिकरण तीनो ही सिद्धान्तो में कुछ सत्य का अश है, किन्तु इनमें कोई भी काव्य में वेदना के वर्णन और दु खान्त नाटक से प्राप्त होने वाले सुख की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं करते। विरेचन का सिद्धान्त उन्ही स्थितियो मे लागू होता है जिनमे मनुष्य के मन मे दुखो के अनुभव का भार होता है। किन्तु दु खान्त नाटक म करुणा और भय का अनुभव वे ही लोग नही करते जिनके मन मे स्वय दु ख का भार रहता है। जिनके मन मे दु ख का ऐसा कोई भाव नही है, उनके साथ यह मनोविरेचन की व्याख्या इतनी सगत नही है। दु खो क अनेक प्रकार और धरातल हैं। यह आवश्यक नही है कि जिस रूप और स्थिति म दु खो का अभिनय नाटक मे किया जाता है, उसी रूप मे दु ख का अनुभव सभी दर्शको ने किया है। विरेचन के सिद्धान्त की सीमा यह है कि वह दु ख को पूर्णत व्यक्तिगत मानकर दु खान्त नाटक में उसकी अभिव्यक्ति के अवसर को नाटक का पूर्ण उपयोग मानता है। देकार्त ने जीवन के एक महान् सत्य का उदघाटन किया है जब कि उन्होने यह कहा है कि ट्रेजडी के अवलोकन मे हम करुणा और सहानुभूति के द्वारा दूसरो के प्रति अपने कर्तव्य पालन का सतोष प्राप्त करते हैं। यह कर्तव्य केवल बौद्धिक नही है वरन् नैतिक और भावनामय है। इस प्रकार ट्रेजडी का नैतिक महत्व (जो एरिस्टोटिल को अभिप्रेत था) वह व्यक्तिगत विरेचन मे ही समाप्त नही है। सामाजिक सहानुभूति मे भी उसका बहुत कुछ महत्व है। हम अपने ही दु ख का भार हल्का नही करना चाहते, दूसरो के दु ख में भी भाग लेते हैं। दूसरो के दु ख में भाग लेने से हमारी आत्मा का विस्तार होता है। इसी विस्तार मे आनन्द का उदय होता है।

इस आत्म-विस्तार के अपरम्परा दु खान्त नाटक के द्वारा हमारी आत्मा का उन्नयन भी होता है। ग्रीक ट्रेजडी म तो नियति के विधान से ट्रेजडी के नायक का सर्वनाश होता है अत उसमें भय और करुणा की भावना ही अधिक होती है। शेक्सपीयर के नाटको पर भी ग्रीक ट्रेजडी के इस नियतिवाद का बहुत कुछ

प्रभाव है। किन्तु यही ट्रेजडी का सार्वभौम रूप नही है। जहाँ एक ग्रोर ट्रेजडी का नायक नियति की विवशता से बाध्य होता है वही दूसरी ग्रोर उसके धीर ग्रौर उदात्त चरित्र के ग्रध्यवसाय हमारी ग्रात्मा को बल देते हैं। जे० कोहन के ग्रनुसार एक ऐसे मूल्यवान व्यक्तित्व की पीडा ट्रेजडी का मर्म है जो समस्त दुर्भाग्यो मे ग्रपनी महत्ता को बनाये रखता है।[१८०] कालिदास के ग्रनुसार धीर ग्रौर उदात्त चरित्र का यही लक्षण है।[१८१] बूल्पे ने भी किसी महत्वपूर्ण वस्तु ग्रथवा व्यक्ति के नाश को ट्रेजडी का मर्म माना है। किन्तु जिस मूल्य का प्रतिनिधित्व वह वस्तु ग्रथवा व्यक्ति करता है उसकी विजय होती है।[१८२] फोल्केल्ट ने ट्रेजडी के तीन मुख्य तत्वो का विश्लेषण इस प्रकार किया है—एक, ग्रत्यन्त घोर यातना जिसके पात्र का ग्रन्त मे नाश होता है, दूसरा, नायक की वास्तविक मानवीय महत्ता या वीरता, तीसरे एक कठोर नियति जो व्यक्तिगत न रहकर जीवन का सिद्धान्त बन जाती है।[१८३] नायक के चरित्र की महत्ता से हमारी ग्रात्मा का उन्नयन होता है। हमे उसकी धीरता से बल मिलता है ग्रौर उसके महान् दु ख के सामने ग्रपने साधारण दु ख तुच्छ मालूम होते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत मनोविरेचन के साथ साथ ट्रेजडी, सामाजिक सहानुभूति ग्रौर हमारे उन्नयन का साधन भी है। एरिस्टौटिल के ग्रनुसार ट्रेजडी का एक ग्रावश्यक तत्व नायक की भूल भी है। किन्तु जैसा कि लिस्टोवेल का मत है नायक का पतन ग्रौर नाश पूर्णत इस भूल के ग्रनुरूप नही होता। शेक्सपीयर के दु खान्त नाटको मे इस विषमता का प्रमाण मिलता है। डौस्डिमोना के हाथ से रूमाल का गिर जाना एक इतनी बडी भूल नहीं है जिसके कारण कि उसका सर्वनाश उचित माना जाय। नायक की भूल की तुलना मे उसकी दु खद नियति ग्रत्यन्त भयङ्कर होती है। इसीलिए हमे नायक के साथ सहानुभूति होती है। ग्रीक नाटक एडीपस मे भी नायक की भूल बहुत साधारण है। वह ग्रपनी इस भूल से ग्रवगत भी नही है। नायक के साथ सहानुभूति मे हम देकार्त के ग्रनुसार ग्रपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन तो करते ही हैं साथ ही जैसा कि लिस्टोवेल का मत है हम ग्रपना उन्नयन भी करते हैं।[१८४]

वस्तुत दु खान्त नाटक से प्राप्त होने वाले सुख की व्याख्या ग्रत्यन्त कठिन है। लिस्टोवेल ने इस कठिनाई को स्वीकार करते हुए यह माना है कि नाटक के दर्शन से सुख ग्रौर दु ख की एक निश्चित भावना पैदा होती है जिसमे सुख का प्राधान्य रहता है।[१८५] वर्क की धारणा मे भी कुछ सत्य है कि नाटक मे दु ख का

अभिनय हमें दु ख की वास्तविक घटना के समान प्रभावित नही करता। नाटक के दु ख की यह अवास्तविकता भी हमारे सुख का कारण हो सकती है। किन्तु एक प्रकार से हम वास्तविक घटनाओ मे भी दूसरो के दु ख से अस्पृष्ट रहते हैं। दूसरो के दु ख मे हमे आनन्द मिलता है या नही, किन्तु यह सत्य है कि दु ख की घटनाओ को देखने की भी उत्सुकता हमे रहती है। यह उत्सुकता कोरी जिज्ञासा नही है इसमे भावना की प्रेरणा भी रहती है। यदि दु ख को व्यक्तिगत ही मानें तो घटना और नाटक दोनो मे ही दूसरो का दु ख हमे स्पर्श नही करता। किन्तु ऐसी कठोर व्यक्तिसत्ता जीवन का सम्पूर्ण सत्य नही है। हमे दूसरो के दु ख मे सहानुभूति भी होती है। सवेदना के बिना काव्य मे दु ख का वर्णन सभव नही है। व्यक्तिगत रूप से हमें जो नाटक के दु ख में सुख मिलता है वह तो विरेचन और तटस्थता के रूप में ही होता है। किन्तु वस्तुत यह सुख का निषेधात्मक रूप है। दु ख में सुख का एक भावात्मक रूप भी है जो हमें समात्मभाव में प्राप्त होता है। समात्मभाव में जीवन का वास्तविक दु ख भी सुखमय बन जाता है। एकाकी के नाटक दर्शन मे तो निषेधात्मक सुख ही सभव है किन्तु प्राय लोग नाटक सग मे ही देखते हैं और उसमे सुख का भावात्मक रूप समात्मभाव पर निर्भर होता है। समात्मभाव ही जीवन में आनन्द का स्रोत है जो सुख को समृद्ध और दु ख को भी सुख में परिणत करता है। यह समात्मभाव दर्शको के अन्तर्गत ही नही, वरन् दर्शको का दु ख-मय नाटक और दु खमय घटना के पात्रो के साथ भी हो सकता है। वस्तुत इस समात्मभाव मे ही दु खमय नाटक के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार और उन्नयन होता है। दु ख के आनन्द का रहस्य भी आनन्द के अन्य रूपो की भाँति इसी समात्मभाव में है। यह समात्मभाव ही दु ख की वास्तविक घटनाओं को भी करुणा के मधुर मर्म से अन्वित करता है तथा दु ख की अनुभूति और उसके अभिनय को कलात्मक सौन्दर्य से अचित करता है।

सौन्दर्य के साथ वेदना के विवेचन के प्रसग मे यह समझना आवश्यक है कि 'वेदना का सौन्दर्य' मनुष्य के जीवन और उसकी कला तक ही सीमित है। व्यापक रूप मे 'सौन्दर्य' का विस्तार हम प्रकृति के क्षेत्र मे भी मिलता है। प्रकृति के उप-करण भी हमे अपने आप मे सुन्दर जान पडते हैं। हमे पुष्पो, बादलो आदि मे सौन्दर्य दिखाई देता है। किन्तु प्रकृति के इस सौन्दर्य म वेदना का कोई सम्पर्क

नहीं है। सजीव होते हुए भी प्रकृति चेतन नहीं है। वेदना चेतना का धर्म है। प्रकृति में इसकी कोई सम्भावना नहीं है। प्रकृति के क्षेत्र में जो घटनाएँ होती हैं वे सहज और अनिवार्य होती हैं। प्राकृतिक नियमों का शासन इन्हें नियंत्रण करता है। इन घटनाओं के पीछे न कोई सचेतन प्रेरणा होती है और न किसी सचेतन अनुभूति में इनकी प्रतिक्रिया होती है। प्रकृति के साथ वेदना अथवा अन्य भावों का सम्बन्ध मनुष्य की कल्पना अथवा उसका आरोपण है। कवि अपनी कल्पना के द्वारा उषा और चांदनी में प्रकृति की मुस्कान देखते हैं। ओस-बिन्दुओं में उन्हें करुणा के अश्रुओं का आभास होता है। किन्तु यह हर्ष और करुणा प्रकृति की वास्तविक अनुभूतियां नहीं हैं वरन् मनुष्य के भावों की छायाएँ हैं जिनमें मानवीय आकृतियाँ मनुष्य को अपनी कल्पना से दिखाई देती हैं। प्रकृति में वेदना का सम्पर्क न होने के कारण वेदना के सौन्दर्य को मानव जीवन तक ही सीमित रखना होगा और उसे विश्व के व्यापक सौन्दर्य का एक अंग मानना होगा। मनुष्य के जीवन और उसकी कला में वेदना का बहुत स्थान है। महात्मा बुद्ध तथा अन्य अनेक दार्शनिकों को सम्पूर्ण जीवन ही दुःखमय दिखाई देता है। यदि ऐसा न भी हो तो भी जीवन में सुख के साथ-साथ दुःख भी बहुत है। वेदना उस दुःख की भी गम्भीर और मार्मिक अनुभूति है।

जिस प्रकार वेदना के आधार पर हमने सौन्दर्य के क्षेत्र का विभाजन किया है और उस विभाजन के प्राकृतिक सौन्दर्य के क्षेत्र को वेदना शून्य मानकर अलग किया है। उसी प्रकार हमें वेदना के क्षेत्र को भी दो भागों में विभाजित करना होगा। वेदना मनुष्य के सारे जीवन में व्याप्त है। किन्तु वह सभी रूपों में सुन्दर नहीं है। साक्षात् जीवन में जो वेदना की अनुभूति होती है उसमें कोई सौन्दर्य नहीं होता। उस वेदना में सौन्दर्य का संयोग तभी होता है जब कि वह कलात्मक अभिव्यक्ति का उपादान बनती है। सौन्दर्य को हमने रूप का अतिशय माना है। प्रकृति, जीवन और कला में वह सौन्दर्य रूप के अतिशय के रूप में ही मिलता है। तत्व में कोई सौन्दर्य नहीं होता, यद्यपि वह सौन्दर्य का उपादान बन सकता है। तत्व में भी जो रूपगत लक्षण होते हैं, वे ही सौन्दर्य के सहकारी बनते हैं। अपने आप में तत्व में कोई सौन्दर्य नहीं होता। अनुभूति जीवन का आन्तरिक तत्व है। उसमें सुख दुःख, आनन्द, विषाद, आदि हो सकते हैं। किन्तु उनके अपने स्वरूप में सौन्दर्य का कोई प्रसंग नहीं होता। अभिव्यक्ति के 'रूप' में ही सौन्दर्य उदित होता है। यह अभि-

व्यक्ति जीवन और कला दोनों म सम्भव हो सकती है। जीवन म प्राप्त होने वाली अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को प्राय कम ध्यान दिया जाता है। किन्तु कलात्मक अभि व्यक्ति के सौन्दर्य से सभी परिचित हैं। सुखद अनुभवो मे ग्रहण का अनुरोध अधिक रहता है। प्रिय और स्पृहणीय होने के कारण हमारी सुख के परिग्रह म अधिक रुचि रहती है। सुख के अल्प स्थायी होने के कारण हम उसे आवृत्ति के द्वारा स्थिर बनाना चाहते हैं। सुख को समृद्ध बनाने के लिये हम उसकी अभिव्यक्ति भी करते हैं। अभिव्यक्ति से हमारा सुख बढता है। किन्तु प्राय हम सुख की केवल अनुभूति से भी तृप्त रहते हैं। किन्तु इसके विपरीत दुख अथवा वेदना की अनुभूति प्रिय और स्पृहणीय नहीं होती। हम उसका निवारण करना चाहते हैं। सुख की अभि- व्यक्ति आवश्यक नहीं होती क्योंकि वह अनुभूति में ही तृप्तिकर होता है। किन्तु दुख और वेदना के हमारे प्रतिकूल होने के कारण इनकी अभिव्यक्ति आवश्यक होगी। इसीलिये लोग अपने सुख की चर्चा इतनी नहीं करते जितना कि अपना दुख रोते हैं। 'दुख मे सब सुमरिन कर सुख में करें न कोय' के अनुसार दुख ईश्वर को स्मरण करने का उद्देश्य भी उसके प्रति अपने दुख को अभिव्यक्त करना है। जीवन मे सुख और दुख दोनो की अभिव्यक्ति म सौन्दर्य सम्भव हो सकता है किन्तु जीवन मे इनकी अभिव्यक्ति मे तत्व की ही प्रधानता होती है। इसीलिये उसम अभिव्यक्ति का सौन्दय प्रमुख नही बन पाता। जीवन और कला में यही अन्तर है। जीवन में तत्व और अनुभूति की प्रधानता होती है। कला में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की प्रधानता होती है। दोनो का साम्य होने पर जीवन कला बन जाता है और कला जीवन्त बन जाती है। भारतीय पर्वों और सस्कारों की परम्परा में जीवन और कला के साम्य का एक अनुपम उदाहरण मिलता है।

जीवन और कला दोनो में अभिव्यक्ति का आधार समात्मभाव है। समात्म- भाव की प्रेरणा से तथा समात्मभाव की अभिवृद्धि के लिये ही मनुष्य को अभिव्यक्ति की आकाक्षा होती है। इस अभिव्यक्ति म सौन्दर्य प्रकट होता है और साथ ही आनन्द की अभिवृद्धि होती है। सौन्दय और आनन्द का यह सयोग सत्य और शिव के साम्य के अनुरूप होता है। दोनो एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। अभिव्यक्ति के इस समात्मभाव म आनन्द की अभिवृद्धि होती है क्योकि आनन्द मूलत आत्मा का भाव है। सुख आनन्द का प्राकृतिक रूप है। आनन्द के समान ही स्पृहणीय होने के कारण वह आनन्द के अनुरूप है। अत अभिव्यक्ति के

समात्मभाव म आनन्द की अभिवृद्धि के साथ साथ सुख की भी समृद्धि होती है। यह सम्भव हो सकता है कि आत्मिक आनन्द के अतिरेक मे प्राकृतिक भाव के मन्द हो जाने के कारण हमे प्राकृतिक सुख का ध्यान न रहे। दु ख अथवा वेदना की अभिव्यक्ति भी समात्मभाव के कारण आनन्दमय होती है। किन्तु जहाँ अभिव्यक्ति के द्वारा सुख की वृद्धि होती है वहाँ अभिव्यक्ति के द्वारा दु ख और वेदना कम होते हैं। इसका कारण अभिव्यक्ति के आनन्द के साथ सुख की अनुकूलता तथा दु ख की प्रतिकूलता है। समात्मभाव के आनन्द मे दु ख और वेदना का सताप कम हो जाता है। इसीलिये दु ख और वेदना हमे अभिव्यक्ति के लिए विकल कर देते हैं। हम अभिव्यक्ति के द्वारा इनका निवारण खोजत हैं। सुख अपने आप मे तृप्तिकर है अत उसकी अभिव्यक्ति के लिये हम अधिक आकुल नही होने। दु ख अप्रिय और असह्य होता है अत उसकी अभिव्यक्ति के लिये सभी आकुल होते हैं। इसी कारण जीवन मे दु ख की अभिव्यक्ति का प्रयत्न सुख की अभिव्यक्ति की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि कदाचित अपने सम्पूर्ण जीवन के दु ख को अभिव्यक्ति के समात्मभाव क द्वारा कम करने के लिये ही हम सुख की अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। दु ख की अप्रियता और असह्यता के कारण दु ख और वेदना की अभिव्यक्ति की आकाक्षा अधिक तीव्र और व्यापक होती है। जीवन मे दु ख की अभिव्यक्ति मे कदाचित अधिक सौन्दर्य नही होता, किन्तु दु ख की कलात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से कला और साहित्य का भाडार भरा हुआ है। वेदना के गीत सबसे अधिक मधुर ही नही सबसे अधिक सुन्दर भी हैं। साहित्य मे उनका परिमाण भी विपुल है। जीवन मे दु ख के निवारण के लिये हम आनन्दमय अनुभूति के 'तत्व' की अधिक आकाक्षा करते हैं। अत अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अधिक महत्व नही रहता। फिर भी दु ख की अभिव्यक्ति रूप के सौन्दर्य से नही होती। कला और साहित्य मे दु ख की अभिव्यक्ति मे अधिक सौन्दर्य प्रकट होता है। सौन्दर्य ही कला का सौन्दर्य है। अनुभूति के तत्व की प्रधानता के कारण ही वेदना से पीडित सभी मनुष्य कलाकार नही बन पाते यद्यपि सभी जीवन मे उसकी अभिव्यक्ति चाहते हैं और इस अभिव्यक्ति के समात्मभाव के द्वारा अपनी वेदना को कम करना चाहते हैं। जो वेदना की अनुभूति मे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का पर्याप्त समवाय कर पाते हैं वे कलाकार बन जाते हैं। दु ख और वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति में अभिव्यक्ति की

आकांक्षा अधिक तीव्र होती है, अत उसमे अधिक सौन्दर्य की सम्भावना रहती है। किन्तु जीवन और कला दोनो के क्षेत्र मे वेदना की विपुल अभिव्यक्ति का मर्म यही है कि सुख की अपेक्षा दुःख और वेदना अप्रिय एव असह्य होने के कारण अपने निवारण के लिए अभिव्यक्ति के समात्मभाव की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करते हैं। साहित्य और कला मे वेदना की विपुल विभूति का यही रहस्य है।

अध्याय ६०

सौन्दर्य और उपयोगिता

सौन्दर्य को एक अंतिम और मौलिक सांस्कृतिक मूल्य माना जाता है। सत्य के समान उसका भी मूल्य और महत्व अपने स्वरूप में ही है। वह स्वयं अपना साध्य है किसी अन्य साध्य का साधन नहीं। वह अपने आप में स्पृहणीय है। उपयोगितावादी यहाँ यह प्रश्न कर सकते हैं, कि सौन्दर्य का जीवन में उपयोग क्या है? उपयोगितावाद भी एक प्रकार का लक्ष्यवाद (प्रयोजनवाद) है। कोई भी प्रयोजनमुखी दृष्टिकोण अन्तत किसी अंतिम लक्ष्य को अंतिम मानता है। लक्ष्यवाद के तर्क का यह एक सहज और अन्तर्निहित सिद्धान्त है। अत सौन्दर्य को अन्तिम साध्य मानना लक्ष्यवाद के प्रतिकूल नहीं है। लक्ष्यवादो में ही परस्पर अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। जो सौन्दर्य की उपयोगिता के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं, व जीवन के किसी अन्य लक्ष्य को मुख्य मानकर यह जानना चाहते हैं कि उस लक्ष्य की साधना मे सौन्दर्य का उपयोग क्या है? जो सौन्दर्य को अपने स्वरूप में ही मूल्यवान तथा स्वतंत्र और पूर्ण मानते हैं, वे सौन्दर्य के मूल्य-निर्धारण मे किसी भी अन्य लक्ष्य का प्रसग असगत मानते हैं। ये दोनों ही परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं। इन दो विरोधो की सीमाओ के अन्तर्गत दो माध्यमिक दृष्टिकोण हैं, जिनमे एक सौन्दर्य के अंतिम और स्वतंत्र मूल्य को मानते हुए भी यह मानता है कि सौन्दर्य जीवन से अतीत नहीं है। वह जीवन के रूपो मे व्याप्त है और जीवन की अन्य साधनाओ को श्रेष्ठ, सुन्दर और समृद्ध बनाता है। दूसरा माध्यमिक मत जीवन के एक अधिक व्यापक लक्ष्य को मानता है जिसमे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य तीनों का समाहार है। यह सत्य की एक व्यापक धारणा है, जो शिवम् को समाहृत करके सुन्दरम् मे पूर्ण होती है। किन्तु सौन्दर्य मे सत्य की यह परिणति सत्य और सौन्दर्य के विविक्त दृष्टिकोणो के साथ एक रूप नहीं है। इसके अनुसार सत्य और सौन्दर्य को अपने स्वतंत्र और विविक्त रूप मे पूर्ण नहीं माना जा सकता। यह जीवन के मगल की एक ऐसी समृद्ध कल्पना है, जो एक ओर वस्तुगत यथार्थ और चिन्मय भावों के सत्य से सम्पन्न है तथा दूसरी ओर सौन्दर्य के विविध रूपो मे साकार होती है।

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में पहले दो दृष्टिकोण ही अधिक प्रचलित रहे हैं। इनमें भी सबसे अधिक प्रसिद्ध दूसरा ही दृष्टिकोण है, जो सौन्दर्य को स्वतन्त्र और अपने आप में पूर्ण मानता है। पहिले दृष्टिकोण के समर्थक केवल कुछ वे लोग हैं जो अपने जीव-शास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण सौन्दर्य का जीवन के लिये हितकारी एवं उपयोगी मानते हैं। इनमें अधिकांश सुखवादी विचारक हैं। यह स्वाभाविक है। वे सौन्दर्य को सुखमय मानकर जीवन की समृद्धि के लिये हितकर मानते हैं। जीववादी दृष्टिकोण से जीवन का स्वरूप शक्ति है। शक्ति की समृद्धि सुख पर निर्भर होती है और उसे जीवन की समृद्धि का लक्ष्य मान सकते हैं। एच० आर० मार्शल ने सुख की परिभाषा इस प्रकार की है,[186] 'जहाँ प्रतिक्रिया में आघात में व्यय होने वाली शक्ति की अपेक्षा अधिक शक्ति उत्पन्न होती है वहाँ हम सुख प्राप्त होता है।' कुछ लोग ग्राट एलिन की भांति सुख को शारीरिक अंगों की स्वस्थ प्रक्रिया का सहगामी फल मानते हैं।[187] इस प्रकार सुखकर होने के कारण सौन्दर्य का सम्बन्ध जीवन के स्वास्थ्य से भी हो सकता है। किन्तु ग्राट एलिन सौन्दर्य के सुख और अन्य सुखों में एक भेद करते हैं। सुख के सभी रूपों में शक्ति का न्यूनतम व्यय अधिकतम उत्पादन में फलित होता है। किन्तु अन्य सुखों का सम्बन्ध हमारी प्राणधारिणी क्रियाओं से होता है। इनके अतिरिक्त जो सुखकर है उसे सुन्दर कहना चाहिये। ग्राट एलिन सम्भवतः जीवन की प्रक्रिया और समृद्धि में सौन्दर्य का आवश्यक सम्बन्ध नहीं मानते। अतः यदि जीवन की समृद्धि सौन्दर्य का फल होगी तो उसे सौन्दर्य का अलक्षित फल माना जायगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कैरिट के समान अनेक विचारक सुख को सौन्दर्य का फल मानते हुये भी सुख को सौन्दर्य का लक्ष्य नहीं मानते।[188] किन्तु इन सभी मतों में भी यह एक अन्तर्भावना है कि सौन्दर्य जीवन की समृद्धि के लिये हितकर है। मार्शल और ग्रोसे के मत में सौन्दर्य व्यक्तिगत जीवन के ही लिये नहीं वरन् सामाजिक जीवन के लिये भी हितकर है। मार्शल सामाजिक संगठन और सामाजिक व्यवस्था की घनिष्ठता को कला का धर्म अथवा लक्ष्य मानते हैं। ई० ग्रोसे के अनुसार कला का उपयोग सामाजिक घनिष्ठता को दृढ़ बनाने और उसके विस्तार करने में होता है।[189] विराग वादी और जीववादी दृष्टिकोणों में सौन्दर्य को जीवन के सुख और उसकी समृद्धि से भिन्न करना कठिन है। सिद्धान्ततः स्वतन्त्र मानते हुये भी जीवन में उसका उपयोग स्पष्ट तथा स्वाभाविक है। फूलों के रंग, पशुओं के चर्म और मनुष्य की देह के गठन

आदि सभी के वस्तुगत सौन्दर्य को उपयोगिता का निमित्त माना जा सकता है। किन्तु सौन्दर्य की यह धारणा प्राकृतिक सौन्दर्य तक ही सीमित रह सकती है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र में चिन्मय भाव के रूप में सौन्दर्य की जो कल्पना प्रस्तुत की गई है उसकी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में जीववादी अथवा व्यावहारिक दृष्टिकोण से कोई भी उपयोगिता बताना कठिन है।

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास मे सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। किन्तु अपने दृष्टिकोण में भिन्न होते हुये भी एक के विषय मे एकमत हैं कि सौन्दर्य अपने स्वरूप मे ही मूल्यवान् है। किसी अन्य लक्ष्य के साधन के रूप में सौन्दर्य की उपयोगिता का प्रसग नितान्त असगत है। निस्टोवैल ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही इस तथ्य का निर्देश किया है कि सौन्दर्य अपने आप में मूल्यवान् है।[९६०] जिन्हें हम उपयोगी मानते हैं, उनके अनुसार वस्तुओं और भावों का मूल्य कुछ दूसरे लक्ष्यो की साधना के रूप मे होता है। उपयोगी का मूल्य अपने स्वरूप के लिये नहीं वरन् अपने फल के लिये होता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य उपयोगिता, सुख और श्रेय तीनों से भिन्न है। कैरिट ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है कि साधारण मनुष्य भी जब वस्तुओं को सुन्दर कहता है, तो उसका अभिप्राय यही होता है कि वह उपयोगी, सुखद और श्रेय से भिन्न है। फौल्केल्ट ने भी यही कहा है कि कला का कोई अन्य उद्देश्य नहीं होता। कला के वैज्ञानिक विवेचन में प्रयोजन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को सम्मिलित करना अत्यन्त अनुपयुक्त है।[९६१] बर्क, लैसिंग आदि अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों ने यही मत व्यक्त किया है कि सौन्दर्य अथवा कला का दृष्टिकोण व्यावहारिक रुचि से नितान्त भिन्न है।[९६२] जब हम व्यावहारिक रूप से मुक्त होकर वस्तुओं का ध्यान करते हैं तभी हमे सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, इसीलिये कुछ लोगो ने सौन्दर्य की यह परिभाषा भी की है कि जो ध्यान मात्र से सुख देता है वही सुन्दर है।[९६३] स्टेस ने बौद्धिक चिन्तन, सौन्दर्य की कल्पना की समानता करके भी सौन्दर्य की स्वरूपगत महिमा का ही सकेत किया है।[९६४] क्रोचे के मत के अनुसार जो सौन्दर्य को पूर्णत आन्तरिक, आत्मगत और व्यक्तिगत मानते हैं उनके मत मे बाह्य अभिव्यक्ति और बाह्य जीवन के साथ इस सौन्दर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनो ही इस आन्तरिक, सौन्दर्य के लिये उपचार मात्र हैं। किन्तु जो बाह्य अभिव्यक्ति को सौन्दर्य के स्वरूप का आवश्यक अग मानते हैं, उनके अनुसार सौन्दर्य अपने स्वरूप मे स्वतन्त्र होते हुये भी साधारण जीवन के स्वरूप और हित से अभिन्न

है। प्लेटो और ऐरिस्टौटिल तो स्पष्ट रूप से सौन्दर्य की नैतिक उपयोगिता मानते थे।[१९५] ऐरिस्टौटिल के मत में कला श्रेय साधना की अनुचरी है। यह मत ऊपर दिये हुये विकल्पों में पहले विकल्प के अधिक निकट है। किन्तु सौन्दर्य को स्वतन्त्र और अपने स्वरूप में मूल्यवान मानकर जीवन के हित के साथ उसकी संगति मानना तीसरे विकल्प के अनुरूप है। बाउमगार्तेन ने जबसे सौन्दर्य के मूल्य और शास्त्र को तर्क के सत्य और नीति के श्रेय से पृथक किया तब से क्रोचे के पूर्व तक अधिकांश विचारक सौन्दर्य के स्वरूप को स्वतंत्र मानते हुए भी यह मानते रहे कि बाह्य अभिव्यक्ति में ही वह साकार होता है तथा जीवन के हितों में उसका सहयोग सम्भव है। कला और काव्य के सभी महान् सृष्टा अपनी साधना में जीवन के साथ श्रेय के सामाधान के द्वारा जीवन में सौन्दर्य की हितकारिणी वृत्ति का समर्थन करते हैं जो 'कला कला के लिये है' के नाम पर स्पष्ट रूप से उच्छृंखलता और अशिव मार्गों में कला का नग्न नृत्य रचना चाहते हैं, उनके अतिरिक्त सभी कलाकार जीवन के हित को अपनी कला में साकार बनाते आए हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने कला की स्वार्थ वृत्ति का खंडन करते हुये कला का यह उपयोग बताया है कि वह सुन्दर को सजीव करती है और भीषण को निर्जीव बनाती है।[१९६] सौन्दर्य के उपासक होते हुये भी कवि पंत ने सुन्दरता को समस्त ऐश्वर्यों की खान माना है और सुन्दरी प्रिया को कल्याणी कहकर सम्बोधित किया है।[१९७] सुन्दरता के जिस आलोक-स्रोत के प्रस्रवण का अनुभव उन्होंने अपने मन में किया है उससे वे जग के आंगन में नव-युग के प्रभात की आशा करते हैं। अंग्रेजी कवि कीट्स सौन्दर्य को ही सत्य मानता था। डा० हरद्वारीलाल शर्मा ने अपने सौन्दर्य-शास्त्र में सामंजस्य को सौन्दर्य का स्वरूप बताया है और उनके अनुसार श्रेय तथा सत्य में सौन्दर्य के स्वरूप का अन्तर्भाव है। जो असत्य और अशिव है वह संतुलन और सामंजस्य से रहित है। विचार और समाज की व्यवस्थाओं में सामंजस्य का सन्निधान होने पर सत्य और श्रेय का उदय होगा। सौन्दर्य के स्वरूप के अनुरूप ही सत्य और शिव भी लोक में प्रतिष्ठित होंगे।

दूसरे और तीसरे दोनों ही विकल्प सौन्दर्य को स्वतन्त्र और चरम मूल्य मानते हैं। दूसरे मत के अनुसार सौन्दर्य सत्य और श्रेय से विविक्त है। वह एक आन्तरिक और आत्मगत भाव है। बाह्य अभिव्यक्ति और व्यवहार में उसका स्वरूपगत सबन्ध नहीं है। आधुनिक युग के पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र में यही धारणा

प्रबल है, यद्यपि कला और काव्य की महान रचनायें इसका समर्थन नहीं करती। तीसरा विकल्प सौन्दर्य को एक मात्र अन्तिम मूल्य मानता है। इसके अनुसार सत्य और श्रेय के स्वरूप सौन्दर्य से ही अनुगत होते हैं। विचार और व्यवहार की व्यवस्थायें सौन्दर्य के अनुरूप बनकर सत्य और श्रेय मे चरितार्थ होती हैं। इस दृष्टि से डा० हरद्वारी लाल का मत प्रचलित सभी मतो से भिन्न है और अपनी मौलिकता के लिये महत्वपूर्ण है। इसके विपरीत हमारा मत चौथे विकल्प के अनुरूप है जिसके अनुसार सृजनात्मक समात्मभाव जीवन का अन्तिम और पूर्ण सत्य है। समस्त सत्ता और व्यवहार की इसके साथ संगति संभव है। वह इनसे सम्पन्न होता है और इन्हे सम्पन्न बनाता है। समात्मभाव में विज्ञान और दर्शन का निरपेक्ष सत्य जीवन का आनन्द बन जाता है। यह समात्मभाव का पूर्ण सत्य ही शिव और सुन्दर भी है। जीवन के मगल विधान समात्मभाव के आत्मदान से ही सम्भव होते हैं। सौन्दर्य के रूपो मे इसी की अभिव्यक्ति होती है। यह सत्य का वह व्यापक रूप है जिसके बीज गर्भ मे शिव और सुन्दर के अकुरो की सम्भावना अन्तर्निहित है। सत्य और सुन्दर को प्राय निरपेक्ष और व्यक्तिगत माना जाता है। अत. हम समात्मभाव को स्वरूपत. शिवम् कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। एकान्त में सम्भव न होने के कारण वह सामाजिक समभाव में साकार होता है। अत. उसका स्वरूप शिवम् के अधिक निकट है। जीवन की सांस्कृतिक कल्पना मे आत्मदान का शिवम् ही अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को सम्भव बनाता है। शिव जीवन के आध्यात्मिक सत्य के स्वरूप हैं। शक्ति-सुन्दरी उनकी अभिन्न अभिव्यक्ति है। कला और सौन्दर्य शिव के आनन्दमय स्वरूप के विमर्श की अभिव्यक्ति है।

सौन्दर्य और उपयोगिता के सम्बन्ध मे लघुतर कलाओ का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचन मे प्राय: शुद्ध और महान् कलाओ को ही अधिक महत्व दिया जाता है। इनमे चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला, नृत्य और काव्य मुख्य हैं। इन सभी का व्यवहार और व्यवसाय मे उपयोग सम्भव है, किन्तु इनके उपयोगी रूपो को सौन्दर्य-शास्त्र मे कोई महत्व नहीं दिया जाता। सौन्दर्य-शास्त्र में इनके उन महान् रूपो को ही स्थान दिया जाता है, जो महान् प्रतिभाओ की सृष्टि हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र मे कला और कलाकार दोनो के सम्बन्ध मे एक प्रकार के अभिजातवाद की परम्परा प्रतिष्ठित है। इन सभी कलाओ का शुद्ध रूप

जिसका किसी उपयोग से प्रयोजन नहीं, सम्भव ही नहीं वरन् प्रचुर मात्रा में वर्त्तमान है। किन्तु इनमें से मुख्यत चित्रकला और मूर्तिकला के ऐसे साधारण रूप भी हैं, जो जीवन के व्यावहारिक और व्यावसायिक रूपों में उपयोग में आते हैं। इनके अतिरिक्त कलाओं के अनेक ऐसे लघुतर रूप हैं, जिनमें कला का सौन्दर्य उपयोग का अलंकार मात्र है। महान् कलाओं में तो स्थापत्य कला ही एक ऐसी कला है, जिसका उपयोगिता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१९८] भवनों का निर्माण चित्र, संगीत, काव्य आदि की भाँति केवल शुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से बहुत कम किया जाता है। सौन्दर्य के ताजमहल दुनियाँ में बहुत कम हैं। अधिकांश भवनों का निर्माण उपयोग के लिये ही किया जाता है। मन्दिरों, गिरजों आदि में साधारण भवनों की अपेक्षा उपयोग कम और सौन्दर्य का अधिक ध्यान रखा जाता है। किन्तु सौन्दर्य के कारण उनकी उपयोगिता किसी प्रकार भी गौण नहीं होती। उनमें सौन्दर्य और उपयोग का यथासंभव समन्वय होता है। साधारण भवनों के निर्माण में उपयोग ही प्रधान होता है, सौन्दर्य का सन्निधान उसमें अलंकार के रूप में ही होता है। किन्तु यह अलंकार निर्माण का बहिरंग नहीं वरन् भवन के रूप के साथ एकाकार होता है। मूर्तिपूजा की प्रधानता के कारण भारतवर्ष में मन्दिरों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें मदुरा, भुवनेश्वर खजुराहो, बनारस, मथुरा वृन्दावन आदि के अनेक मन्दिर बहुत भव्य और विशाल हैं। इन मन्दिरों में उपयोगिता के साथ-साथ सौन्दर्य की भी प्रचुरता है। दूसरे देशों में स्थापत्य की कला में सौन्दर्य की अपेक्षा उपयोगिता की ही प्रधानता है। उपयोगिता की प्रधानता के कारण सौन्दर्य शास्त्र में अन्य कलाओं की अपेक्षा स्थापत्य को कम महत्त्व दिया जाता है।

किन्तु कला और सौन्दर्य का उपयोगिता की प्रधानता के साथ सम्बन्ध लघुतर कलाओं में सबसे अधिक व्यापक रूप में मिलता है। ये लघुतर कलाएँ शुद्ध कलाएँ नहीं हैं। इन्हें कलात्मक उद्योग कहना भी अनुचित न होगा। जीवन के उपयोगों में ही इनका जन्म होता है और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके माध्यम भी दैनिक उपयोग की वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओं में कलात्मक सौन्दर्य का सन्निवेश कदाचित् किसी प्रकार भी इनकी उपयोगिता को नहीं बढ़ाता। किन्तु सौन्दर्य के सन्निवेश के कारण इन वस्तुओं का उपयोग जीवन में अधिक आनन्दप्रद होता है। उपयोगितावाद जीवन के निर्वाह का आवश्यक सूत्र है किन्तु उपयोगिता

मे ही जीवन पूर्ण नही है। सौन्दर्य और आनन्द जीवन की साधना का निगूढ लक्ष्य है। 'सौन्दर्य' उपयोग के आनन्द को बढाता है। इसीलिये जीवन के लघुतम उद्योगो मे वह प्रवेश कर गया है। इन लघुतर कलाओ के अगणित रूप हैं क्योकि जीवन के उपयोग की वस्तुओ के अगणित प्रकार हैं। एक ओर जहाँ जीवन के निर्वाह के लिये वस्तुओ मे उपयोगिता का दृष्टिकोण अनिवार्य है, वहाँ दूसरी ओर छोटे से छोटा कारीगर भी वस्तुओ के निर्माण मे कुछ न कुछ सौन्दर्य का सन्निवेश करता है। मनुष्य के उपयोग की कदाचित् ही कोई ऐसी वस्तु हो जिसमे सौन्दर्य का सपुट नही है। यह तो स्पष्ट है कि इन वस्तुओ के निर्माता प्रतिभाशाली कलाकार नही होते, फिर भी प्रत्येक साधारण कलाकार अपनी योग्यता के अनुसार अपनी वस्तुओ मे सौन्दर्य का सन्निधान करता है। **फौल्केल्ट को सौन्दर्य-शास्त्र में इन लघुतर कलाओं और साधारण कलाकारो की ओर सौन्दर्य-शास्त्र का ध्यान दिलाने का श्रेय मिलना चाहिए।** फौल्केल्ट का कथन है कि सौन्दर्य-शास्त्र के अन्वेषण प्रतिभाशाली कलाकारो की कृतियो तक ही सीमित न रहना चाहिये। उसमे साधारण कुशलता वाले इन कलाकारो को भी स्थान मिलना चाहिये जो अपनी कला को सौन्दर्य के साथ-साथ अपनी जीविका का साधन भी बना लेता है।[१९९] यह स्पष्ट है कि उपयोगिता के दृष्टिकोण के कारण इन लघुतर 'कलाओ मे सौन्दर्य की वह मुक्त साधना सम्भव नही है जो शुद्ध कलाओ मे सम्भव है। काश्मीर की शालो और फारस के कालीनो मे उपयोग के साथ सौन्दर्य की समृद्धि का प्राचीन उदाहरण मिलता है। काश्मीर का हाथी दाँत और लकडी का काम, जयपुर की पीतल के बर्तनो की नक्काशी और उत्तर प्रदेश के अमरोहा नामक स्थान की परियो की मूर्ति आदि इन कलाओ के अनेक प्रसिद्ध रूप देश के नगर-नगर मे मिलते हैं। सामान्य रूप से हमारे दैनिक उपयोग की सभी वस्तुओ में **कला का सम्पुट प्राचीन काल से चला आया है।** कुटीर उद्योग के युग मे एक प्रकार से लोक-कला उद्योग का अभिन्न अग थी। आज के यान्त्रिक उत्पादन के युग में उद्योग के साथ कला का सम्बन्ध और घनिष्ट तथा समृद्ध ही हुआ है। उद्योग मे कला का सन्निवेश सबसे अधिक स्त्रियो के वस्त्रो की रगाई और छपाई मे देखने मे आता है। कुटीर उद्योग के रूप मे भी यह कला विशेषत राजस्थान मे प्राचीन काल से प्रचलित है और कला की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। आधुनिक युग मे यान्त्रिक सुविधाओ के कारण इसकी और समृद्धि हो रही है। छपे हुए कपडो की

नित्य नवीन अल्पनाओ (डिजाइनो) को देखकर कल्पना विस्मित हो जाती है। दैनिक उपयोग की साधारण वस्तुओ से लेकर यन्त्रो के निर्माण तक प्राचीन काल से लेकर आज तक सौन्दर्य का समन्वय बढता ही रहा है।

प्रश्न यह है कि क्या सौन्दर्य और उपयोगिता का समन्वय सम्भव है ? क्या उपयोगिता के कारण सौन्दर्य का महत्व कम नहीं होता ? क्या सौन्दर्य उपयोगिता को बढाता है ? इन प्रश्नो का उत्तर कला और सौन्दर्य की धारणा पर निर्भर है। जो कला को शुद्ध और रूपात्मक मानते हैं, उनकी दृष्टि मे तत्व का कोई महत्व नही है। तत्व का सम्पर्क रूप-रचना की महिमा को कम ही करता है। जो क्रोचे के समान सौन्दर्य को अनुभूति मानते हैं, उनके मत मे बाह्य वस्तु और उपयोग का कला से कोई सम्बन्ध नही है। जो ऐन्द्रिक रूप मे कला की अभिव्यक्ति को मानते हैं, उनके मत मे अवश्य उपयोगिता के साथ कला का समन्वय सम्भव है। यद्यपि वे इस समन्वय मे सौन्दर्य को उपयोगिता का साधन मानने के लिये तैयार न होंगे, फिर भी वस्तुओ के ऐन्द्रिक रूपो मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तो उनके मत के अनुरूप है। सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति को मान लेने पर उपयोगिता के साथ सौन्दर्य का समन्वय सम्भव हो जाता है। इस समन्वय में सौन्दर्य उपयोगिता का साधन नहीं बन जाता, वह साध्य ही रहता है। एक दृष्टि से इन कलाओ में उपयोगिता और सौन्दर्य की युगपत् सृष्टि होती है। कपडो की छपाई आदि कुछ कलाओ मे सौन्दर्य का सन्निधान वस्तु के उपयोगी रूप के निर्माण के बाद होता है किन्तु लकडी, पत्थर, धातु आदि की वस्तुओं की रचना के रूप मे ही सौन्दर्य सन्निहित रहता है, और रचना के साथ ही रूप मे सौन्दर्य समन्वित होता है। अनेक उपयोगी वस्तुओं का रूप और सौन्दर्य एकाकार होता है। रूप का निर्माण उपयोग की दृष्टि से होता है किन्तु इन कलाओं में भी जहाँ तक सम्भव है उपयोगिता के अतिरिक्त सौन्दर्य के लिए भी सौन्दर्य का सन्निधान होता है। दैनिक उपयोग की सभी वस्तुओ मे सौन्दर्य का यह अतिरेक देखा जा सकता है। इन वस्तुओं के समस्त रूप की व्याख्या उपयोग की दृष्टि से नहीं की जा सकती। अनेक वस्तुओ मे ऐसा भी देखा जा सकता है कि सौन्दर्य के व्यापक रूप मे उपयोगिता के रूप का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार अनेक रूपों और परिमाणो में लघुतर कलाओ के रूपो में सौन्दर्य का सन्निवेश मिलता है। ये लघुतर कलाएँ इन साधारण कलाकारों की जीविका के साधन हैं। किन्तु उपयोगिता और जीविका से समन्वित होते हुए भी

ये लघु कलाकार सौन्दर्य को साध्य की दृष्टि से ही देखते हैं। जीविका के लिये होते हुए भी वे अपनी रचनाओं के रूपों मे अपने प्राणों का सन्निवेश करते हैं। इन लघु कलाकारो की दृष्टि से यह रूपो की रचना कलात्मक सौन्दर्य की ही सृष्टि है। इसमे रचना का सौन्दर्य है। सौन्दर्य रचनात्मक है। कुटीर उद्योग तो प्राय कुलवृत्ति के रूप मे थे। अत उनके निर्माण मे समात्मभाव का रसमय सौन्दर्य सन्निहित है। रचना के सहयोगियो के साथ-साथ उपभोक्ताओं का समात्मभाव भी इस सौन्दर्य को समृद्ध बनाता था। आज के यान्त्रिक निर्माण मे जहाँ वस्तुओं के निर्माण मे दृश्य रूपो की समृद्धि होते हुए भी यान्त्रिक उद्योग मे कला का सन्निवेश नीरस हो रहा है। यन्त्रो के द्वारा निर्मित होने वाली वस्तुओं तथा स्वय यन्त्रो मे भी रूप के अतिशय का सौन्दर्य रहता है। प्रत्यक्ष रूप में यह सौन्दर्य बढ रहा है, यह भी कहना अनुचित नही है। यह रूप का सौन्दर्य पूर्णत उपयोगी नहीं है, यद्यपि इसका कुछ अश उपयोगी भी हो सकता है। इस उपयोगितावादी युग मे भी रूप के निरुपयोगी सौन्दर्य के लिये बहुत कुछ स्थान शेष है। उपयोगितावादी सभ्यता मे भी रूप के सौन्दर्य के लिये पर्याप्त स्थान रहेगा।

किन्तु सृजनात्मक सक्रियता और समात्मभाव का सौन्दर्य औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ कम हो रहा है। इसी कारण आधुनिक उत्पादनो में रूप का सौन्दर्य अधिक होते हुए भी वह सौन्दर्य उतना आनन्ददायक नहीं है जितना की कुटीर उद्योग के उत्पादनो का अल्प सौन्दर्य था। रूप का अतिशय सौन्दर्य का वस्तुगत लक्षण है। इस लक्षण के आधार पर पदार्थों के वस्तुगत सौन्दर्य का निर्धारण किया जा सकता है। किन्तु सौन्दर्य से प्राप्त होने वाला आनन्द केवल सौन्दर्य के परिमाण पर निर्भर नही होता। सौन्दर्य के रूप के अतिरिक्त सौन्दर्य के सृजन की सक्रियता तथा सृजन एव आस्वादन के समात्मभाव पर वह आनन्द अधिक निर्भर करता है। इस सक्रियता और समात्मभाव के मद होने के कारण ही औद्योगिक सभ्यता मे जहाँ एक ओर रूप का सौन्दर्य बढ रहा है, वहाँ दूसरी ओर उस सौन्दर्य का आनन्द कम हो रहा है। इस कमी की पूर्ति प्रगतिवाद की ओर बढती हुई सभ्यता सुख और वैभव के वर्द्धन के द्वारा कर रही है। उत्पादन के यान्त्रिकीकरण के कारण सृजन की सक्रियता कम हो रही है। निर्माताओं के लिये उत्पादन पूर्णत एक व्यवसाय है और उपभोक्ताओं के लिये वह निष्क्रिय उपभोग है। रूप के निर्माता के लिए रूप का महत्त्व निरुपयोगिता की दृष्टि से नही वरन् आर्थिक

उपयोगिता की दृष्टि से है तथा रूप का उपभोक्ता उसका सृष्टा नहीं है न उसके सृजन का सहयोगी है। सृजन और आस्वादन दोनों म ही समात्मभाव कम हो रहा है। अत उपयोगी वस्तुओं का विपुल सौन्दर्य भी निष्फल हो रहा है। उपभोक्ताओं का परस्पर समात्मभाव ही यान्त्रिक उत्पादनों के सौन्दर्य को सफल बना सकता है। वह भी सभ्यता के बढ़ते हुए स्वार्थ और अहंकार के कारण कम हो रहा है। इसका परिणाम यह है कि वस्तुओं का रूपगत सौन्दर्य अपनी वस्तुगत सत्ता में सीमित हो रहा है। विज्ञान और बुद्धिवाद के प्रभाव से सौन्दर्य के प्रति भी आधुनिक समाज का दृष्टिकोण बुद्धिवादी बन रहा है। बुद्धि निर्वैयक्तिक है। अत सौन्दर्य का दृष्टिकोण भी निर्वैयक्तिकता की ओर बढ रहा है। यो कह सकते हैं कि सौन्दर्य सत्य के समान उदासीन अवगति का विषय बन रहा है। आनन्द के साथ उसका साम्य भग हो रहा है। सभ्यता क बढत हुए उपयोगितावाद मे सौन्दर्य का यह प्रमुख उपयोग भी कठिन हो रहा है। ललित कलाओं की रचनाओं की भाति उपयोगी वस्तुओं मे आस्वादको की काल्पनिक सृजनात्मकता का आनन्द भी सम्भव नहीं है। यह उन्हीं रचनाओं मे सम्भव हो सकता है, जिनका उपादान तत्व कुछ मानसिक है तथा जो निरुपयोगी है। उपयोगी उत्पादनों मे उपभोक्ताओं की दृष्टि तत्व की ओर होती है। अत उनके सम्बन्ध मे काल्पनिक रचनात्मकता का भाव सम्भव नहीं है। अत यान्त्रिक उत्पादनों के बढते हुए रूप सौन्दर्य की सफलता कठिन हो रही है।

अध्याय ६१

सौन्दर्य और जीवन

अधिकाश सौन्दर्य-शास्त्री सुन्दरम् को अपने स्वरूप और अपनी साधना मे पूर्ण मानते हैं। जीवन के किसी भी अन्य प्रयोजन के साथ सौन्दर्य का सम्बन्ध उन्हें उचित प्रतीत नही होता। इसमे उन्हे सौन्दर्य के मूल्य की महत्ता और मौलिकता कम होने की आशका दिखाई देती है।[200] किन्तु सौन्दर्य का स्वतन्त्र और मौलिक मूल्य मानते हुये भी वे यह स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य का मूल्य जीवन के ही लिये है।[201] मनुष्य जीवन मे ही सौन्दर्य की भावना मुख्य रूप से उदित हुई है।[202] मनुष्य जाति मे ही सौन्दर्य सार्थक हुआ है। मौरिस के अनुसार मनुष्य सौन्दर्य के तत्व और उसकी अभिव्यक्ति के सम्बन्ध का माध्यमिक पद है।[203] मनुष्य की चेतना मे ही सौन्दर्य का तत्व अभिव्यक्ति में साकार होता है। किन्तु मनुष्य जीवन मे अथवा मनुष्य जीवन के लिये सौन्दर्य का मूल्य मानना सौन्दर्य को किसी उपयोगितावाद के आश्रित बनाना नही है। जीवन का सम्पूर्ण अर्थ जीव-शास्त्रीय धारणा के अनुरूप केवल शारीरिक स्थिति और प्राणों का स्पन्दन नहीं है। यह केवल जीवन की स्थिति और गति के आधार हैं। जीवन का समृद्ध और सांस्कृतिक रूप मनुष्य की चेतना में प्रस्फुटित होता है। जीवन की इस सास्कृतिक प्रगति को सौन्दर्य का प्रयोजन मान लेने पर भी सौन्दर्य की मौलिकता के सिद्धान्त की हानि नही होती। सौन्दर्य के रूप में मनुष्य की विकसित चेतना स्वयं अपने स्वरूप का साक्षात्कार करती है। इस चेतना को समृद्ध बनाने मे सौन्दर्य किसी आवान्तर प्रयोजन का साधन नही बनता। वह अपने स्वरूप के ही साध्य का साधन रहता है। साधन बनकर भी वह अपने स्वरूप की ही साधना करता है। इस दृष्टि से सांस्कृतिक जीवन की समृद्धि मे सौन्दर्य का मूल्य मान लेने पर सौन्दर्य की साध्यता और मौलिकता अखण्डित रहती है। जहाँ एक ओर हम यह कहते हैं कि सौन्दर्य का मूल्य जीवन के लिये है वहाँ दूसरी ओर हम यह भी मानते हैं कि सौन्दर्य ही जीवन का मूल्य है।[204] सौन्दर्य के बिना जीवन का वास्तविक मूल्य सम्पन्न नही होता। कैरिट के शब्दो में सौन्दर्य जीवन का लवण है।[205] तात्पर्य यह है कि जीवन का रस

और स्वाद सौन्दर्य पर ही निर्भर है। भोजन का समस्त स्वाद लवण पर ही निर्भर है। उत्तम भोजन भी लवण के बिना नीरस और निस्वाद हो जाता है। मीठे से मन भर जाता है, किन्तु नमकीन से मन नहीं भरता। केवल मीठे से सतोष नही होता, किन्तु केवल नमकीन से सतोष हो सकता है। वस्तुत नमक मे भी एक अपना माधुर्य है चाहे हम उस माधुर्य को स्वाद की दृष्टि से मिष्ट न कह सके। इसीलिये गुजराती भाषा मे नमक का नाम ही 'मीठो' है। वस्तुत 'चीनी' भी एक प्रकार का ही 'नमक' है। यह वैज्ञानिक तथ्य लवण की मौलिक सरसता और मधुरता का एक वैज्ञानिक प्रमाण है। स्वाद और सरसता के साथ साथ लवण जीवन का पोषक तत्व भी है। भोजन मे लवण का योग उसके पाचन तथा उसका रस बनाने मे सहायक होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा लवण जीवन के स्वास्थ्य और सौन्दर्य का विधायक है। पुष्पो और फलो के रस और सौन्दर्य मे भी लवण-तत्वो का बहुत योग रहता है। पशुओ को, विशेषत ढोरो को यत्न पूर्वक लवण दिया जाता है। कालिदास ने रघुवश के पचम सर्ग मे अश्वो के सैन्धव-लेहन का वर्णन किया है।[२०६] सस्कृत भाषा की परम्परा मे सौन्दर्य के एक पर्याय मे लवण की इस सौन्दर्य विधायक का रहस्य सनिहित है। मोती के पानी के समान शरीर के अगो की कान्ति मे जो एक सौन्दर्य विभासित होता है उसको 'लावण्य' कहते हैं। आनद वर्द्धन ने काव्य के सौन्दर्य की व्यजना के लिये अगनाओ के देह लावण्य की उपमा दी है। अस्तु सौन्दर्य जीवन का लवण है। वह उसकी मधुरता और सरसता का विधायक तथा उसकी समृद्धि का स्रोत है।

सौन्दर्य की इस महिमा का प्रमाण जीवन के इतिहास और सस्कृति मे मिलता है। सभ्यता के विकास मे जहां एक ओर सस्कृति के रूपो मे सौन्दर्य की शुद्ध कलाओ की साधना विकसित हुई है वहां दूसरी ओर जीवन के साधना म भी सौन्दर्य का अन्वय हुआ है। प्राकृतिक साधन जीवन के उपकरण हैं। इन प्राकृतिक उपकरणो के आधार पर जीवन के अन्य कृत्रिम साधनो का भी निर्माण हुआ है। इन दोनो ही साधनो का मूल्य इनके उपयोग म है। उनके रूप और सौन्दर्य का स्वरूपत कोई महत्व नहीं है। प्राकृतिक अथवा कृत्रिम साधनो मे सौन्दर्य के सन्निधान से उनका साधनगत मूल्य किसी प्रकार बढ नहीं जाता। वस्त्रो को सुन्दर बनाने मे उनकी रक्षकता के गुणो मे कोई वृद्धि नहीं होती। भोजन मे सौन्दर्य रुचि का वर्द्धक होता है। इस प्रकार उसका नैमित्तिक महत्व अवश्य है। इसी प्रकार

काम के प्रसग मे भी उपकरणो में सौन्दर्य का सन्निधान रुचि का साधक है। प्रकृति के क्षेत्र मे फलो और पुष्पो मे सौन्दर्य का सन्निधान भोजन और काम में इसी रुचि का विधायक है। मनुष्य ने अपने सभ्य जीवन में प्रकृति के इस सूत्र का ही महाभाष्य किया है। इसी के फलस्वरूप हमें सभ्यता के समस्त उपकरणों में रूप और सौन्दर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष मिलता है। यह ठीक है कि जीवन के उपकरणो मे सन्निहित यह सौन्दर्य मुख्यत रूप का ही लावण्य है। यह रूप भी मुख्यत वस्तुगत आकार और छवि है। किन्तु विज्ञान और मनोविज्ञान यह प्रमाणित करते हैं कि यह पूर्णत वस्तुगत नही है। इन्द्रियो की प्रक्रिया के सहयोग द्वारा ही यह रूप का लावण्य संवेदना में साकार होता है। अर्थ से काम में और काम से प्रेम में उत्तरोत्तर वस्तुगत रूप-लावण्य तथा ऐन्द्रिक संवेदना और मनोगत चेतना की यह पारस्परिकता उत्तरोत्तर घनिष्ठ होती गई है। इसी उत्तरोत्तर क्रम के विकास में चेतना के भावगत सौन्दर्य का उदय हुआ है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र मे भावगत सौन्दर्य का दृष्टिकोण ही प्रधान है। क्रोचे के अनुसार इस भाव का रूप अनुभूति है। इसकी आन्तरिक और आत्मगत अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य का स्वरूप पूर्ण है। कौलिंगवुड ने इसे 'कल्पना' का नाम दिया है। किन्तु इस कल्पना का स्वरूप बहुत कुछ क्रोचे की अनुभूति के समान है। इन आधुनिक मतो के अनुसार सौन्दर्य की कल्पना में वस्तुगत रूपों और गुणों का कोई महत्व नही है। आन्तरिक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति भी उनकी दृष्टि मे गौण है किन्तु जीवन के व्यवहार और संस्कृति की साधना में सौन्दर्य के बाह्य रूप का पर्याप्त महत्व रहा है। चेतना के भाव में सौन्दर्य का अनुभव करते हुए भी हम वस्तुओं के रूपों और गुणों में सौन्दर्य का विक्षेप करते हैं। सम्भवत इसका कारण सौन्दर्य का आनन्दमय स्वरूप है। डा० हरद्वारी लाल शर्मा ने अनुभूति के आनन्द को सौन्दर्य का स्वरूप माना है। सुन्दर कही जाने वाली वस्तुओं के रूपो में भी ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्रियता होती है। संवेदना की प्रियता यदि आन्तरिक आनन्द के समानार्थक नही तो उसके बहुत कुछ समान है। इसी कारण उपनिषदों में भी आध्यात्मिक आनन्द की उपमा ऐन्द्रिक सुखों से की गई है और एक स्थान पर ऐन्द्रिक सुख और आत्मिक आनन्द के तारतम्य के क्रम का निर्देश भी मिलता है। इतना ही नहीं है ऐन्द्रिक रूपों का लावण्य अपनी प्रियता के द्वारा सौन्दर्य के आत्मिक आनन्द के जागरण

में सहायक होता है। यह ठीक है कि चेतना का भाव प्रत्येक वस्तु को सुन्दर बनाने में समर्थ है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि ऐन्द्रिक रूपों का लावण्य चेतना के भावोदय को प्रेरित करता है। अतः ऐन्द्रिक रूपों का लावण्य चेतना के सौन्दर्य-भाव के अनुरूप है। इस अनुरूपता में ही प्रकृति और आत्मा का सामंजस्य सम्पन्न होता है, जो मनुष्य की सत्ता, सभ्यता और संस्कृति में साकार हुआ है।

इस सामंजस्य के आधार पर जहाँ एक ओर सभ्यता में जीवन के साधनों में रूपगत सौन्दर्य का समवाय होता रहा है, वहाँ दूसरी ओर संस्कृति के क्षेत्र में भाव-रूप सौन्दर्य की साधना होती रही है। इन दोनों में कोई स्वरूपगत विरोध नहीं है यद्यपि अतिरंजना और असामंजस्य के कारण प्रत्येक युग में कुछ विरोध दिखाई देता रहा है और आधुनिक युग में वह अधिक बढ़ गया है। वस्तुगत रूप के लावण्य और आन्तरिक सौन्दर्य का सहज सामंजस्य मनुष्य के प्राचीनतम जीवन में मिलता है। उसके प्राकृतिक जीवन के सुख और सुषमा इसी सामंजस्य पर निर्भर है। सांस्कृतिक जीवन में भी आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति निरन्तर होती रही है। यद्यपि अनुभूतिवादी इस बाह्य अभिव्यक्ति को गौण मानते हैं फिर भी विश्व के सभी महान् कलाकारों का कृतित्व इसके महत्व को प्रमाणित करता है। सत्य यह है कि सौन्दर्य की कल्पना व्यक्तिगत अनुभूति में न सम्भव है और न पूर्ण होती है। एकाकी का भाव उपनिषदों के प्रजापति के समान उदासीन होता है। वह अनेकता के समात्मभाव में आनन्द की अभिलाषा करता है। समात्मभाव चेतनाओं का साम्य अथवा सामंजस्य है। किन्तु बाह्य रूपों और सत्ताओं की विविधता उसका आवश्यक निमित्त है। इसी समात्मभाव में आत्मा का आन्तरिक सौन्दर्य उदित होता है और वह आत्मा में उदित होने के साथ ही बाह्य अभिव्यक्ति में साकार होता है। वस्तुतः बाह्य अभिव्यक्ति के निमित्तों में ही सौन्दर्य का चेतन-भाव सचेतन होता है। बाह्य रूपों में ही आन्तरिक भावों की सहज अभिव्यक्ति होने के कारण आन्तरिक भाव और बाह्य रूपों की सहज संगति होती है। संस्कृति की शुद्ध कलाओं की साधना में इस संगति का एक क्रम सम्पन्न होता है। इस क्रम की दिशा आत्मभाव से बाह्य अभिव्यक्ति की ओर है। कलाकृतियों के अनुशीलन और प्रकृति के सौन्दर्य दर्शन में इसका दूसरा क्रम सम्पन्न होता है। इस द्वितीय क्रम की दिशा बाह्य रूपों की अभिव्यक्ति से आत्मभाव के उदय की ओर है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में एकाकी और व्यक्तिगत चेतना में नहीं वरन् चेतनाओं के समात्मभाव

मे ही सौन्दर्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस समात्मभाव की विभूति ही आत्मगत और बाह्य दोनो प्रकार के सौन्दर्य-रूपो मे आनन्द का स्रोत प्रवाहित करती है। इसी विभूति की महिमा से सौन्दर्य का आत्मगत भाव ब्रह्म के ऐश्वर्य की भांति बाह्य रूपो मे अभिव्यक्त होता है। यदि इसमे मायावादी वेदान्त को कोई आपत्ति हो तो इसे शक्ति का विमर्श कहना अधिक उचित होगा। दूसरी ओर प्रकृति के उपकरणो और जीवन के बाह्य साधनो की ऐन्द्रिक प्रियता इसी समात्मभाव की विभूति से आत्मभाव के सौन्दर्य का अवगाहन करती है। यह समात्मभाव ही सौन्दर्य की विविध स्थितियो के समन्वय का सूत्र बनकर जीवन मे प्रकृति, कला और सस्कृति के सामजस्य का विधान करता है। इस समाज और सभ्यता के विकास मे इसी समात्मभाव के मद हो जाने के कारण मुख्य कला की रचनाओ तथा प्रकृति के रूपो और कृत्रिम उपकरणो मे क्रमश उभयविध सौन्दर्य का सन्निधान भी आज आनन्द का सवाही नही रह गया है।

ऊपर कला और सौन्दर्य की साधना के जिन दो क्रमो का निर्देश किया गया गया है उन दोनो ही क्रमो मे समात्मभाव का आधान क्रमश मन्द होने के कारण कला के इन दोनो ही क्रमो मे आनन्द का स्रोत मन्द होता गया। समात्मभाव के मन्द होने का कारण सदा व्यक्तित्व का सकोच होता है। अपने अहकार और स्वार्थ की सीमाओ में व्यक्तित्व जितने कठोर होते जाते है उतनी ही समात्मभाव की सभावना उनमें कम होती जाती है। यद्यपि सौन्दर्य शास्त्र का इतिहास कला और काव्य के इतिहास मे उसी प्रकार उत्तरोत्तर विकास देखना चाहेगा जिस प्रकार समाज के अन्य अगो के शास्त्र देखना चाहते हैं, किन्तु सत्य यह है कि कला और सौन्दर्य का सबसे अधिक सम्पन्न और समृद्ध रूप प्राचीन लोक कलाओ और लोक-पर्वो मे मिलता है। इनमे समात्मभाव सबसे अधिक सहज और स्वस्थ रूप मे सम्पन्न होता है। इसीलिये इनमे सौन्दर्य और आनन्द का नैसर्गिक स्रोत प्रवाहित होता है। प्राचीन काल के ये लोक-पर्व ही कला और सस्कृति के सबसे उत्तम और समृद्ध रूप हैं। उनमे समात्मभाव का एक सहज सक्रिय और सजीव रूप मिलता है। एक सम्पन्न समात्मभाव की स्थिति से निसर्ग भाव से प्रसूत होने के कारण इनमे सकुचित अर्थ मे व्यक्तित्व और अहकार का सश्लेष नही होता। लोक गीतो और लोक नृत्यो की रचना कदाचित् कोई एक व्यक्ति नही करता। सामाजिक समात्मभाव की कलात्मक

स्थिति में ही उनका प्रणयन होता है। व्यक्तियों का जो इनम सहयोग होता है उस पर व्यक्तित्व की छाप का आग्रह नहीं होता। इनमें व्यक्तियों की स्वतन्त्र रचनाएँ भी होंगी किन्तु वे भी लोक कला के सागर की वीचियाँ बन गई हैं। यदि लोक-गीतों के ये प्रणेता चाहते तो मध्य काल के कवियों और आधुनिक लोक-गीतकारों की भाँति अपनी रचनाओं पर अपने नाम की छाप तो लगा ही सकते थे। ऋग्वेद के मंत्र प्राचीन लोकगीतों की भाँति ही कुल परम्पराओं में प्रणीत हुए हैं। इसीलिए वे काव्य के सबसे अधिक पूर्ण और सुन्दर रूप हैं। समात्मभाव की स्थिति में ही उनका प्रणयन हुआ, समात्मभाव की स्थिति में ही वे गाये जाते थे और अधिकांश मंत्रों में समात्मभाव की भावना ही ओत-प्रोत है। भाव, रूप और तत्व तीनों की दृष्टि से समात्मभाव से सम्पन्न होने के कारण वे कला और सौन्दर्य की तीनों विभाओं की दृष्टि से पूर्ण हैं। श्रेष्ठ लोक गीतों की भी यही स्थिति है। लोक-नृत्यों में भी समात्मभाव की इन तीनों ही विभाओं का सन्निधान होता है। लोक-गीत कला और सौन्दर्य के स्रोत हैं जो जीवन के उन्नत हिमाचलों से निःसृत होकर निरन्तर प्रवाहित रहते हैं। लोक-नृत्य कला और सौन्दर्य के उत्स हैं जिनमें कला और सौन्दर्य का उल्लास समय समय पर उमड उठता है। किन्तु लोक पर्व कला और सौन्दर्य के महासागर हैं जो सदा जीवन की तरंगों से आन्दोलित रहते हैं, जिनके गर्भ में भावों के अनन्त रत्न और मोती भरे रहते हैं जिनके असीम विस्तार एक ओर अपने वेलातट पर जीवन के धरातल तथा अभिषेक करते हैं और दूसरी ओर चेतना की दिव्य कामनाओं के क्षितिजों का आलिंगन करते हैं। इन लोकपर्वों में जीवन के यथार्थ के साथ कलात्मक सौन्दर्य की परिपूर्ण संगति है। वस्तुतः जीवन के यथार्थ की साधारण और विस्तृत भूमि पर कलात्मक सौन्दर्य के समन्वय से ही लोकपर्वों का रूप सम्पन्न होता है। समस्त समाज में व्यापक होने के कारण लोक-पर्वों के सौन्दर्य का विस्तार जीवन और समाज के विस्तार के समान है। समात्मभाव पर आश्रित होने के कारण पर्व के सौन्दर्य में भाव की गम्भीरता होती है। लोक-पर्व की सुषमा में मानो समस्त जीवन और समाज सौन्दर्य से अंचित हो जाता है। सौन्दर्य की आलोक-रश्मियों से जीवन की गहराइयों में अनन्त ज्योतिर्लोकों की रचना होती है। मानो सारा जीवन ही कलामय हो जाता है। व्यापकता और गम्भीरता के कारण लोक पर्वों में कलात्मक सौन्दर्य के स्फुरण की असाधारणता महत्वपूर्ण नहीं रह जाती। भारतीय संस्कृति की परम्परा में लोक पर्वों के दैनिक क्रम ने इस

असाधारण की भावना को और भी मन्द कर दिया है। मानो भारतीय जीवन का समस्त विधान लोकपर्वों का एक महासागर है और प्रत्येक दिन के पर्व उसकी आलोकित वीचिया हैं। साधारण बनकर मानों कला का सौन्दर्य जीवन में आत्म-सात् हो गया है। किन्तु इस साधारणता मे एकरसता के कारण नीरसता न आ जाये इसलिये इन पर्वो की वीचियो मे आकार और उत्कर्ष का एक तारतम्य है। उत्सवो के उत्कर्ष के इस तारतम्य के द्वारा मानो समस्त जीवन स्वरों के आरोह-अवरोह क्रम से निर्मित सौन्दर्य की राक रागिनी बन जाता है। यह आरोह और अवरोह दैनिक और व्यापक पर्वो की साधारणता की एकरसता भग करने के साथ-साथ पर्वों के निरन्तर क्रम मे भी नवीनता का निर्वाह करता है। पर्वो की इस वर्षव्यापी योजना के महासागर मे दैनिक पर्वो की उत्तराधर वीचियो के साथ-साथ लोक-सगीत और लोक-नृत्य के ज्वार भी समाहित हैं। इस प्रकार लोक-पर्वों की यह निरन्तर परम्परा समस्त लोक जीवन मे नित्य नये सौन्दर्य और आनन्द का सचार करती है। यही कला और सौन्दर्य का पूर्णत सम्पन्न और समृद्ध रूप है।

भारतीय सस्कृति की परम्परा के व्यापक लोक-पर्वो की तुलना मे कला और सौन्दर्य के अन्य समस्त रूप असाधारण और व्यक्तिगत हैं। साधारण जीवन की उदासीन भूमि मे वे उत्सो के समान उमडते हैं। जीवन के यथार्थ और समाज की व्यापकता के साथ उनकी पूर्ण सगति नही है। सामान्यत समात्मभाव की स्थिति मे ही महान् प्रतिभाओ की कलाकृतिया भी उद्भूत और सम्पन्न हुई हैं। किन्तु इन प्रतिभाओं के समात्मभाव की व्यापकता लोकपर्वो के समात्मभाव की तुलना मे बहुत सीमित है। कर्तृत्व का अहकार इसकी सबसे पहली सीमा है। भाव के अति-रिक्त इसके रूप और तत्व मे भी समात्मभाव का सन्निधान सीमित परिमाण मे ही होता है। लोकपर्वों का समात्मभाव पूर्ण और व्यापक होता है। उसमें सभी जन समान रूप से सौन्दर्य के स्रष्टा, भागी, और अनुरागी होते हैं। महान् प्रतिभाओ की कलाकृतियो मे समात्मभाव की यह पूर्णता कर्त्ता और अनुरागियो मे विभाजित हो जाती है। प्रतिभा का परिप्रेक्ष्य सीमित होने के कारण जीवन के रूप और तत्व का समाहार भी सीमित ही होता है। जीवन का समग्र यथार्थ इन महान् कृतियो में कलात्मक सौन्दर्य से अचित नहीं हो पाता। व्यापकता की इस सीमा मे सौन्दर्य में घनिष्ठता लाने के लिये रचना के शिल्प की समृद्धि होती है, जो विकिन-

मान के अनुसार कला के ह्रास का लक्षण है। **प्रतिभा की महान कलाकृतियों का उदय और विकास व्यक्तित्व के अहंकार, असाधारणता और समात्मभाव के संकोच के साथ ही हुआ है।** इसमें सन्देह नहीं कि तत्व की दृष्टि से व्यापक न होते हुए भी इन कृतियों में भाव की गम्भीरता है तथा ये पूर्ण कलात्मक सौन्दर्य के लिये अपेक्षित समात्मभाव की श्रेष्ठ निमित्त बन सकती हैं। विकसित सभ्यता के युगों में जबकि समात्मभाव के अन्य आधार उच्छिन्न हो रहे हैं, जीवन के सांस्कृतिक सौन्दर्य की रक्षा के आधार ये कलाकृतियाँ ही हैं। इस दृष्टि से कला के सीमित रूप होते हुए भी इन कृतियों की महिमा असीम है। इसी महिमा के कारण इनके प्रति मनुष्य समाज का असीम आदर रहा है। वस्तुतः ये कलाकृतियाँ लोक पर्व के महासागर के पोत हैं जिनके अवलम्ब से हम इस सागर के वेलातट का स्पर्श भी कर सकते हैं और दूसरी ओर दिव्य कामनाओं के अनन्त क्षितिजों की ओर अभियान भी कर सकते हैं। किन्तु कलात्मक अभिव्यक्ति के शिल्प के विकास के कारण इन कलाकृतियों में समात्मभाव के भाव और तत्व के सीमित होने के साथ साथ रूप का महत्व बढ़ता गया है। धीरे धीरे यह रूप एक शैली और शास्त्र बनता गया है तथा साधारण जन की पहुँच के बाहर होता गया है। यों समात्मभाव के संकोच में उद्भूत होने के कारण कलाकृतियाँ उत्तरोत्तर समात्मभाव के संकोच में ही फलित हुईं। लोक जीवन से कला के क्रमशः दूर होते जाने का कारण समात्मभाव के ह्रास की यही गति है। जो बाह्य अभिव्यक्ति समात्मभाव के सौन्दर्य को साकार बनाती है उसकी व्यापक समात्मभाव के सौन्दर्य को उद्भूत करने की क्षमता निरन्तर कम होती गई। दूसरी ओर कलात्मक सौन्दर्य के अन्य प्राकृतिक और कृत्रिम उपकरणों में भी समात्मभाव का सौन्दर्य क्रमशः कम होता गया। प्रकृति से सभ्यता क्रमशः दूर होती गई। विज्ञान और व्यापार की उन्नति से कुटीर-उद्योगों की लघुतर कलाओं में भी समात्मभाव का सौन्दर्य क्षीण होता गया। प्रकृति के उपादानों की ऐन्द्रिक प्रियता आज भी यथावत् है। सभ्य जीवन के उपकरणों में बाह्य रूप और ऐन्द्रिक प्रियता का सौन्दर्य समृद्ध हो रहा है। फिर भी कलाकृतियों के रस की भांति सौन्दर्य के ऐन्द्रिक उपकरणों का आनन्द आज क्यों मन्द होता जा रहा है? इसका एक मात्र उत्तर यही है कि जिस समात्मभाव की व्यापकता में प्राचीन कला में सौन्दर्य का स्रोत उदित हुआ था। उसके प्रवाह सभ्यता की मरुभूमि में सूख रहे हैं। यान्त्रिक उत्पादन

के युग मे जीवन के उपकरणो मे समात्मभाव के सौन्दर्य का सन्निधान आज कठिन दिखाई देता है। जीवन मे समात्मभाव की मन्दता के कारण कलाकृतियाँ भी समात्मभाव के सौन्दर्य के जागरण और स्थापन मे असमर्थ हैं। इसीलिये सास्कृतिक आनन्द से विमुख होकर सभ्यता की गति ऐन्द्रिकता की उन्मादक प्रियता की ओर बढ रही है। सभ्यता की इन सीमाओ का सकोच अनन्त मनुष्य जीवन की विडम्बनामयी असफलता प्रमाणित होगा। लोक-कला और लोक-सस्कृति मे सभ्य समाज की रुचि इस सत्य का सकेत करती है कि मनुष्य की पीडित आत्मा सभ्यता की भ्रान्तियो मे भी अपने स्वरूप के मौलिक सत्य की खोज मे भटक रही है। किन्तु दूसरी ओर सभ्यता की सीमाओं और असमर्थताओ ने लोक-कला और लोक-सस्कृति को प्रदर्शिनी के रूप मे प्रस्तुत करके एक कौतूहल और मनोरजन की वस्तु बना रखा है। इस विडम्बना मे लोक सस्कृति और लोक कला का शेष सौन्दर्य भी अपने स्वरूप को भूलकर विशीर्ण हो रहा है। वस्तुत यह प्रदर्शन लोक-कला और लोक-सस्कृति के जीवित रूप नही वरन् उनके अभिनय मात्र हैं। यह अभिजात कला के रूप मे लोक-कला का अनुवाद है। यह फिर एक बार प्रतिभाओ की रूपात्मक कला के शिल्प की लोक-कला की निसर्ग आत्मा पर विजय है। यही विजय जीवन्त कला की पराजय भी है। प्राचीन लोक-पर्वो और लघुतर कलाओ के सहज और व्यापक सौन्दर्य मे ही कला की जीवन के समग्र और साधारण यथार्थ से सगति सभव है। आज हम कलात्मक सौन्दर्य की इस पूर्णता से बहुत दूर आ गये हैं। यह तथ्य कला की प्राचीन रूप की पूर्णता को किसी प्रकार भी खण्डित नही करता। आज सभ्यता की सीमाओ के कारण हम कला के उस पूर्ण और स्वस्थ्य रूप को जीवन मे प्रतिष्ठित करने मे असमर्थ हैं, यह हमारी विवशता है, कला की विफलता नही। सभ्यता की इन सीमाओ और विवशताओं मे कला का सौन्दर्य अभिजात्य का कृत्रिम अलकार बन सकता है, ऐसी स्थिति में वह समग्र समाज की सम और व्यापक आत्मा नही बन सकता। जब अलकारो की भ्रान्ति मनुष्य को सतुष्ट न कर सकेगी तो सम्भव है एक बार फिर मनुष्य की आत्मा कला के जीवित रूप मे अपने स्वरूप का अनुसंधान करने की ओर तत्पर हो। कला के इस जीवित और व्यापक रूप की भूमिका में ही शुद्ध और अभिजात कलाओ की साधना भी जीवन के सौन्दर्य को समृद्ध बना सकेगी।

उपसंहार

अध्याय ६२

जीवन और संस्कृति मे सत्यं-शिवं-सुन्दरम्

मनुष्य के इतिहास और उसकी संस्कृति को देखने से विदित होता है कि सत्य, शिव, सुन्दरम् की त्रिवेणी के किनारे ही उसके ऐतिहासिक पर्वो के पीठ तथा सांस्कृतिक तीर्थ बसे हैं। सत्य की जिज्ञासा तो मनुष्य की मूल प्रेरणा रही है। मूलत सत्य के निरपेक्ष अनुराग ने ही मनुष्य के अनुसन्धान को प्रेरित किया है। सत्य की इस शोध मे कितना त्याग, तप और बलिदान मनुष्य ने किया है इसका इतिहास एक साथ मनुष्य की महिमा और सत्य के गौरव को प्रमाणित करता है। प्राचीन भारत के ऋषि मुनियो ने जीवन के आन्तरिक और आध्यात्मिक सत्य की साधना मे अपना तपोमय जीवन अर्पित किया है। योरोप के अनेक सत्यार्थियो ने प्रकृति के सत्यो के उद्घाटन म अपने प्राणो की बलि दी। पूर्व की आध्यात्मिक विभूति ऋषियो की उसी साधना की विभूति है। आधुनिक विज्ञान योरोप के उन्ही बलिदानी अन्वेषको के उद्योग का फल है। मुनियो और वैज्ञानिको की यह तत्व-जिज्ञासा साधारण जनो मे भी पाई जाती है। शैशव से ही मनुष्य का कौतूहल सृष्टि और जीवन के तत्वो की जिज्ञासा करता है। मनुष्य की यह जिज्ञासा सदा ही बनी रहती है। किसी वस्तु मे भी रहस्य का आभास होने पर वह उसे जानना चाहता है। जानकर सन्तुष्ट होता है, साथ ही मनुष्य अपने ज्ञान को अपने तक सीमित रखना नही चाहता। वह अपने ज्ञान का वितरण कर दूसरो को उसका भागी बनाना चाहता है। वह दूसरो के ज्ञान का भी भागी बनना चाहता है। सत्य का साझीदार बनाने और बनने की वृत्ति मनुष्य की सामाजिकता का एक रूप है। पहला चरण मनुष्य की चेतना का सौन्दर्य है, दूसरा उसकी वृत्ति के शिवत्व का प्रमाण है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास में सत्य का यह त्रिविध रूप ही आधार रहा है। इतिहास, विज्ञान, शास्त्र, कला, साहित्य, दर्शन आदि सभी किसी न किसी रूप मे सत्य की साधना के ही फल है।

किन्तु सत्य स्वरूपत निरपेक्ष है। अत जहाँ तक सत्य के निरपेक्ष रूप का सम्बन्ध है उसमे मनुष्य की प्रतिभा का प्रकाशन अवश्य हुआ है और साथ ही जन-

साधारण की बुद्धि का विकास भी हुआ है। किन्तु संस्कृति के स्वरूप निर्माण में सुन्दरम् और शिवम् का योग अधिक है। परार्थ और पारस्परिकता संस्कृति की मूल ध्रुवाएँ हैं। इनका विस्तार सत्य के निरपेक्ष रूप की अपेक्षा सुन्दरम और शिवम् मे अधिक होता है। सत्य के जिस पूर्ण रूप मे इन तीनो का समाहार है वह तो मनुष्य की सांस्कृतिक साधना का पूर्ण समाधान बन सकता है। किन्तु सत्य का निरपेक्ष रूप केवल जिज्ञासा का समाधान और बुद्धि का परितोष करता है। बुद्धि स्वरूपत निष्क्रिय और एकान्त है। क्रिया और सामाजिकता उसके स्वरूपगत लक्षण नही हैं। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक विकास का सक्रिय रूप है। सामाजिक सम्बन्ध मे ही सुन्दरम् और शिवम के स्वरूप का विस्तार होता है। सुन्दरम् प्रकाशन और प्रदान है। शिवम् प्राप्ति और आदान है। सत्य, शिव, सुन्दरम् का यह आदान प्रदान प्राकृतिक आदान प्रदान से भिन्न है। प्राकृतिक आदान-प्रदान देश, काल, कारण, व्यक्तित्व आदि के प्राकृतिक नियमो से नियन्त्रित रहता है। देश, काल के नियम से सीमित होने के कारण तद्गत अयौगपद्य प्राकृतिक आदान-प्रदान की सीमा है। प्राकृतिक वस्तु एक ही देश काल मे हो सकती है तथा एक ही व्यक्ति उसके भाव और भोग का आश्रय हो सकता है। कारणता का अनिवार्य नियम उसमे स्वतन्त्रता की सीमा है। किन्तु सांस्कृतिक भावो के सत्य, शिव, सुन्दरम् के आदान प्रदान मे देश काल-गत यौगपद्य संभव है। संस्कृति के भावो का विस्तार देश काल से ऊपर संभव है। प्राकृतिक वस्तु के विपरीत सांस्कृतिक भाव अनेक देश और अनेक काला मे युगपत् संभव हो सकता है। अनेक व्यक्ति एक साथ उस भाव के सौन्दर्य और मंगल के भागी बन सकते हैं। इस विस्तार और विभाजन से सांस्कृतिक भावो का मूल्य, महत्त्व और आनन्द घटता नही वरन् बढता है। प्रकृति से विपरीत भाव समृद्धि का यही क्रम संस्कृति का मर्म है। प्राकृतिक कारणवाद के विपरीत स्वतन्त्रता इस समृद्धि की विभूति को अगुणित बढा देती है। आत्मा की स्वच्छन्द प्रेरणा से अनेक देशो और काला मे एक साथ अनेक व्यक्तियो के जीवन की विभूति बनकर संस्कृति के भाव स्वार्थ और अहंकार की प्राकृतिक सीमाओ को भंग कर परार्थ और पारस्परिकता के तादात्म्य मे जीवन के नवीन क्षितिजो का उद्घाटन करते हैं। मनुष्य की विकसित चेतना और समृद्ध भावना इसी सांस्कृतिक साधना मे सार्थक होती रही है। इसी साधना मे उसकी अनेकविध सामर्थ्य को भी सफलता का गौरव मिला है। सत्य इसी साधना का स्रोत तथा शिवम् और सुन्दरम् उस स्रोत के फूल हैं।

संस्कृति के इन भावो का विस्तार स्वतन्त्र रूप से हुआ है। आत्मा की स्वतन्त्र चेतना इसकी प्रेरणा रही है। किन्तु प्रकृति जीवन का अनिवार्य आधार है। अत प्रकृति की सहज भूमिका पर ही संस्कृति के स्वतन्त्र भावों की प्रतिष्ठा होती रही है। प्राकृतिक आधारो मे सांस्कृतिक भावो का अन्वय सृष्टि की सफलता का एक अद्भुत रहस्य है। सभ्यता के इतिहास मे संस्कृति के इस समन्वित रूप का प्रमाण मिलता है। मनुष्य जीवन मे हमारी प्राकृतिक वृत्तियो के धर्म प्राकृतिक न रहकर सांस्कृतिक बन गये हैं। प्रकृति के स्वार्थमय आधार पर परार्थ और पारस्परिकता का नवीन सांस्कृतिक विधान प्रतिष्ठित हुआ है। मनुष्य की भोजन, आश्रय, काम आदि की प्रवृत्तियाँ पूर्णत प्राकृतिक और स्वार्थमय नही हैं वह अकेले की अपेक्षा संग मे भोजन करना अधिक पसन्द करता है। स्वय खाने के साथ साथ दूसरो को खिलाने मे भी उसे आनन्द मिलता है उसका आश्रय व्यक्तिगत निवास नही है। उस निवास के दूसरो के द्वारा उपयोग मे उसे आनन्द मिलता है। उसका काम भी केवल प्राकृत भोग नही है। शरीर-धर्म के साथ साथ उसमे मनोभाव का अपरिमित आनन्द अन्वित है। इसके अतिरिक्त भोजन, आवास और काम तीनो मे सांस्कृतिक भावो और परम्पराओ के सृजन का सूत्र भी है। इस सृजन मे सुन्दरम् और शिवम् के सांस्कृतिक भावो का समावेश है। संस्कृति भावो के सृजन की एक सक्रिय परम्परा है। इन भावो मे प्रदान सौन्दर्य का तत्व है और आदान शिवम् का तत्व है। वस्तुत इनको प्रदान और आदान कहना औपचारिक तथा सापेक्ष है। चेतना के भाव-लोक में 'स्व' और 'पर' का भेद कठोर नही सापेक्ष और व्यावहारिक ही है। 'स्व' की अपेक्षा से सुन्दरम् की अभिव्यक्ति दूसरो को अपने अनुभव मे भाग लेने के लिये आमन्त्रण है। इस दृष्टि से हम उसे 'प्रदान' कह सकते हैं। स्वरूपत वह अभिव्यक्ति ही है। इसी प्रकार शिवम् मे दूसरो के अनुभव मे भाग लेने को आदान कहा जा सकता है। किन्तु वस्तुत शिवम् मे हम दूसरे के अनुभव मे भाग लेकर अपनी चेतना के भाव का योग दे सकते हैं। अत शिवम् को आदान की अपेक्षा आत्मदान कहना अधिक उचित है। दोनो मे ही चेतना का समात्मभाव है शिवम् और सुन्दरम् का समान आधार है। समात्मभाव के मूल मे ही सुन्दरम् की अभिव्यक्ति और आत्मदान के भाव पुष्पित और फलित होते हैं। ये भावगत सौन्दर्य और मगल सांस्कृतिक विकास के आन्तरिक तत्व हैं। किन्तु बाह्य रूपो और व्यवहारो मे ही संस्कृति का यह सूक्ष्म तत्व साकार होता है। संस्कृति के क्षेत्र मे एक ओर कला और साहित्य में

वर्णो और स्वरो तथा शब्दो के भव्य रूपो की रचना होती रही है। दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था म मानवीय सम्बन्धो के सुन्दर और शिव रूप समृद्ध होने रहे हैं। सौन्दर्य और मगल के आन्तरिक भाव मानवीय जीवन की विभूति हैं। उनके अनुरूप वाह्य रूपा, सम्बन्धो और व्यवस्थाओ की रचना प्रकृति की सृष्टि का दिव्य अभ्युदय है।

कला, साहित्य और काव्य मे सस्कृति की इसी विभूति की रचनात्मक परम्पराएँ निर्मित होती हैं। कोई भी कला, साहित्य या काव्य इस सास्कृतिक परम्परा मे क्या स्थान और महत्त्व रखता है इसका निर्णय इसी पर निर्भर है कि उसमे सस्कृति के मूल भावो की परम्परा का कितना वैभव समाहृत है तथा सास्कृतिक भावो की भावी परम्पराओ का प्ररणा देने की कितनी शक्ति है। अतीत की विभूति को आत्मसात करके तथा भावी सम्भावनाओ के वीजो का सृजन करके ही वर्त्तमान की साहित्य साधना कृतार्थ होती है। उपनिषदो के 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' तथा गीता के 'कवि पुराणमनुशासितारम्' वचन कदाचित् काव्य की इसी सृजनात्मक त्रिकाल व्यापि तथा कालातीत वृत्ति का सकेत करते हैं। शकराचार्य का 'कवि क्रान्तदर्शी सर्वदृक्' मन्त्रभाष्य इस धारणा का समर्थन करता है। उपनिषदो का आध्यात्मिक रसवाद काव्य और कविधर्म की इस भावना के पूर्णत अनुरूप है। काव्य की यही त्रिकाल और कालातीत साधना उसका सनातन सौन्दर्य है। उसकी रचनात्मक प्रेरणा ही उसका शाश्वत मगलसूत्र है। काव्य का यही सौन्दर्य और मगल उसे सस्कृति की विभूति वनाता है। यही विभूति जीवन के आन्तरिक आनन्द का अक्षय स्रोत है।

सत्य के आधार पर शिवम् और सुन्दरम् मे जीवन की सस्कृति की परिणति होती है। पुराण और स्वयम्भू कवि परमेश्वर की सृष्टि के विकास तथा मनुष्य जीवन के विकास का यही क्रम है। सास्कृतिक काव्य मे भी सर्ग और जीवन का यही क्रम अभीप्सित है। सर्ग के क्रम मे प्रकृति के सत्य पर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई और मनुष्य की प्रेम भावना के शिवम् मे सृष्टि को पूर्णता प्राप्त हुई। शिवम् के प्रेम, रस और आनन्द मे सृष्टि का सौन्दर्य सार्थक हुआ। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन म वाल्यकाल सत्य का युग है। वालक की जिज्ञासा और कौतूहल उसके अनवरत अनुसधान की प्रेरणा वनते हैं। वालक की वृत्ति स्वार्थमय होती है। वह दूसरो से ज्ञान प्राप्त करना चाहता है अत उसमे शिव की अस्फुट

क्षमता तो होती है किन्तु उसका ज्ञानार्जन स्वार्थमय सचय के रूप मे अधिक होता है। अपने बाल-समाज मे अपने साथियो के साथ प्राय प्रकट होने वाली उसकी सहानुभूति और उसके प्रेम मे शिवम का भाव अधिक स्फुट रूप मे देखा जा सकता है। सुन्दरम् का भाव बालको मे इससे अधिक स्फुट होता है। वे चाहते हैं कि उनके क्रीडा, कला-कौशल आदि के आनन्द मे दूसरे भी भाग लें। कैशोर मे सुन्दरम् के साथ साथ शिवम् की भावना की अधिक वृद्धि होती है। अबोध और स्वार्थमय बाल्य के बीत जाने पर कैशोर मे साहस, उत्साह, त्याग, सेवा, सौहार्द आदि की ऐसी अपूर्व वृत्तियाँ उदित होती हैं जो शिवम् के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। राम का ताडका-वध, अभिमन्यु का चक्रव्यूह भेदन, गोरा बादल की वीर गति, गोविन्दसिंह के पुत्रो और हकीकतराय का बलिदान आदि कैशोर के इसी उदार और उज्जवल विकास के उदाहरण हैं। रचना शिवम् का एक मुख्य तत्व है। बाल्य मे यह रचना बाह्य और प्राकृत होती है। अभिव्यक्ति के कारण उसमे सुन्दरम् का भाव तो होता है किन्तु शिवम् का भाव इतना स्फुट नही होता। कैशोर के स्नेह-सम्बन्धो तथा सहयोगो मे आन्तरिक भाव सृष्टि का अपूर्व उदय होता है। यौवन मे सुन्दरम् के उत्कर्ष मे जीवन के काव्य की पूर्ण परिणति होती है। प्राकृतिक और आन्तरिक उत्कर्ष की विभूति मे विभोर यौवन वासन्ती प्रकृति के समान अपने व्यक्तित्व का सौन्दर्य और सौरभ चतुर्दिक विकीर्ण करके सबको अपनी विभूति मे भाग लेने का आमन्त्रण देता है। लोक की प्रशसा और प्रेम के अनुदान मे उदारता का अनुभव कर कैशोर का शिवम् भी यौवन म अधिक समृद्ध और समर्थ हो जाता है यदि प्रकृति का आवेग और सुन्दरम् का उदार स्वार्थ उसे अभिभूत न करले। कैशोर मे शिवम् की अपूर्व और स्फुट वृद्धि मानवीय विकास मे उसके महत्व की द्योतक है। सत्य के आधार पर शिव की प्रतिष्ठा करके सुन्दरम् में उसकी परिणति जीवन और सस्कृति के काव्य का लक्षण है। प्रकृति के काव्य का क्रम इससे भिन है। उसमे प्रकृति के वैभव और मनुष्य के देह म सत्य के आधार पर सुन्दरम् की अभिव्यक्ति पहले हुई। प्राकृतिक विकास की पूर्णता के बाद ही चेतना के सास्कृतिक शिवभाव का विकास हुआ।

मानवीय साहित्य के काव्य मे प्रकृति और सस्कृति के ये दोनो ही सस्कार काम करते रहे हैं। मानवीय सस्कृति के बाल्य का इतिहास तो अधिक उपलब्ध नही है किन्तु उसके कैशोर मे शिवम् के भाव की प्रधानता स्पष्ट है। त्याग,

वाल्मीकि के काव्यो मे शिवम् का ही प्रभुत्व है। सुन्दरम् का पर्याप्त समन्वय होते हुए भी उनमे दूसरो की अनुभूति का भागी बनकर उसे समृद्ध बनाने का शिव भाव ही उनम प्रचुर है। कालिदास का काव्य पूर्ण यौवन का काव्य है जिसमे शिवम् का पर्याप्त अन्वय होते हुए भी सुन्दरम् की प्रधानता है। भवभूति, भारवि और बाण के काव्य म कालिदास के काव्य के इस समन्वय का निर्वाह करने का सचेतन प्रयत्न है। ऋग्वेद के बाद ही भारतीय सस्कृति म वृद्धत्व के दर्शन दिखाई देने लगे थे। यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्था की कठोर यज्ञ विधियाँ तथा सूत्रो के सिद्धान्त विधान भी इसी के लक्षण हैं। वैदिक युग के अपकर्ष काल मे उपनिषदो के अध्यात्म तथा जैन और बौद्ध धर्मों की अहिंसा भी इसी का सकेत करते हैं। किन्तु काव्य कालमयी हाता है। कवि की प्रतिभा समय की सीमाओ को लाँघकर जीवन के अमृत तत्वो का चित्रण करती है। कालिदास मे इस प्रतिभा का अद्भुत रूप देखने को मिलता है। भारवि, भवभूति और बाण म भी यह प्रतिभा अपने धर्म के प्रति सजग है। किन्तु सभी मे ऋग्वेद के बाद आरम्भ होने वाले वृद्धत्व के सस्कारो का कुछ न कुछ प्रभाव है।

वृद्धत्व मे भविष्य की सभावनाओं का अन्त होने के कारण चेतना अतीत की परम्पराओ का ही पिष्टपेषण करती है। नियमो के यान्त्रिक पालन और शासन का मोह बढ जाता है। भोग मे असमर्थ होने पर भी मानसिक विलास की कामना प्रबल हो उठती है। उपनिषदो मे बाल्य की सरलता को साधना की पराकाष्ठा माना है। किन्तु वस्तुत वार्धक्य मे बाल्य के समान स्वार्थ का अभ्युदय होता है। वार्धक्य मे सत्य प्रगतिशील नहीं रहता। वह स्थिर होकर जड बन जाता है। स्वार्थ के कारण शिवम् की सभावना बहुत कम हो जाती है। सुन्दरम् के लिये भी जीवन मे अनुभूति की भव्य विभूति अधिक नही रह जाती। इसीलिए मध्ययुग के सस्कृत और हिन्दी काव्य मे हमे न सत्य का प्रगतीशील रूप मिलता है और न शिवम् की भावना और सुन्दरम् की अभिव्यक्ति ही अधिक है। मनोविलास, काम शास्त्र और काव्य-शास्त्र के नियमो का निर्वाह तथा बुद्धि के कौशल का चमत्कार यही इस काव्य के मुख्य लक्षण हैं। श्रद्धा और समर्पण का आश्रय भी वृद्धत्व का लक्षण है और वह भक्तिकाव्य को जन्म देता है। माघ, श्रीहर्ष, तुलसी, देव, बिहारी आदि मे काव्य का यही रूप प्रधान है। सजीव सत्य तथा शिवम् और सुन्दरम् के अन्वय से युक्त यौवन के काव्य के उदाहरण इस युग मे बहुत कम मिलते

है। राष्ट्रीय जागरण के अरुणोदय में प्रसाद और निराला के काव्य में हमें इसका पूर्वदर्शन मिलता है। स्वतंत्रता के प्रभात में अनेक कवि-किशोरों के कंठ से इस स्वस्थ काव्य के स्वर फूट चले हैं।

सम्पूर्ण काव्य की दृष्टि से कालिदास का काव्य इस आदर्श के सबसे अधिक निकट है। उसके सम्बन्ध में केवल एक ही आक्षेप किया जा सकता है। वह यह कि कामसूत्र के प्रभाव के कारण यौवन का प्राकृत रूप ही कालिदास के काव्य में अधिक प्रस्फुटित हुआ है। उसमें विलास और सौन्दर्य की प्रधानता है। शिवम् के तत्व उसमें अनेक स्थानों पर समाहृत हैं। किन्तु उनका समस्त काव्य सुन्दरम् से सुषमित शिवम् के स्फुट और ओजस्वी रूप को प्रस्तुत न कर सका। शिव के रचनात्मक रूप को ओज का सम्बल चाहिये। कालिदास के काव्य में प्रसाद और माधुर्य की प्रधानता है। प्रसाद सत्य का गुण है। वह काव्य में सत्य को हृद्य रूप देता है। माधुर्य सुन्दरम् का गुण है। वह काव्य को रमणीय बनाता है। किन्तु जीवन के सजीव सत्य को शिव-भावना का रचनात्मक रूप देने के लिये ओज गुण की अपेक्षा है। प्रसाद और निराला के काव्य में जहाँ जहाँ शिवम् का यह रूप स्फुट हुआ है, वहाँ ओज के ही द्वारा हुआ है। आधुनिकतम काव्य में छायावाद के कोमल भाषा-संस्कार तथा भारतीय स्वभाव की प्रकृत-मृदुलता के कारण माधुर्य की अभिव्यक्ति ही अधिक हो रही है। युगों के बन्धन और कुंठाओं के कारण आत्माभिव्यक्ति के सुन्दर काव्य के सहस्रश स्रोत फूट पड़े हैं। प्राकृत यौवन की वृत्ति तथा युग की तदनुरूप प्रवृत्ति भी इसका कारण है। किन्तु माधुर्य और सौन्दर्य के इस सागर में भी समय-समय पर ओज के ज्वार उठते हैं। ओज की ऊष्मा से उठकर निर्माणमुखी मेघमालाएँ सांस्कृतिक यौवन के गौरीशंकर के मार्ग का अनुसरण भी करती हैं।

किन्तु व्यास और वाल्मिकी के बाद अधिकांश काव्य में प्राकृत यौवन का रूप ही अभिव्यक्त हुआ है। अत उसमें सुन्दरम् की ही प्रधानता है। जो काव्य अतीत परम्पराओं के पिष्ट-पेषण, नियमों के आग्रह और मनोविलास से पूर्ण है वह तो वृद्धत्व का लक्षण है। साहित्य में वह उतना ही मान्य है जितने समाज में वृद्ध। किन्तु जिस काव्य में यौवन का रूप प्रस्फुटित हुआ है उसमें भी विलास, माधुर्य और सौन्दर्य की प्रधानता है। आत्माभिव्यक्ति की प्रमुखता के कारण उसमें सुन्दरम् का रूप ही अधिक निखरा है, आधुनिक युग का अधिकांश गीतिकाव्य इसी आत्मा-

भिव्यक्ति से प्रेरित होने के कारण सुन्दरम् की कोटि के अन्तर्गत है। वाल्मीकि के बाद सांस्कृतिक-यौवन का परिपूर्ण काव्य भारतीय साहित्य मे दुर्लभ ही है। कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, प्रसाद, निराला और दिनकर के स्वस्थ संस्कारों को आत्मसात करके निकट भविष्य में सांस्कृतिक-यौवन के सत्य पर आश्रित, सुन्दरम् से सुषमित, शिव-काव्य का सूर्योदय हिन्दी जगत मे होगा। 'पार्वती' इस सूर्योदय की प्रभाती है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे ऋग्वेद और अथर्ववेद के मौलिक मन्त्रो में लोक-जीवन के सृजनात्मक सत्य की जो सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वही मानवीय संस्कृति के मंगलमय उत्कर्ष का उत्कृष्टतम रूप है। सत्य संस्कृति का आधार, शिव उसका तत्व और सुन्दरम् उसका रूप है। सत्य के अन्तर्गत जीवन की सत्ता के प्राकृतिक तथ्य और मानसिक सिद्धान्त समाविष्ट हैं। शिवम् के आत्मदान और सुन्दरम् की अभिव्यक्ति मे मानवीय चेतना के तादात्म्य-भाव का समन्वय है। यही तादात्म्य आन्तरिक आनन्द का मूल है। आनन्द के इसी मूल से उत्पन्न होने के कारण ऋग्वेद का वातावरण उत्साह और उल्लास के सुमनो और सौरभ से परिपूर्ण है। ऋग्वेद भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष के वसन्त और यौवन का प्रतीक है। पूर्वी और पश्चिमी दोनो ही प्रकार के विद्वान इस विचार से सहमत हैं। आनन्द, उत्साह, उल्लास और आशा के जो भाव ऋग्वेद के मन्त्रो मे ओत-प्रोत हैं वे मनुष्य के जीवन और उसकी सामाजिक संस्कृति के यौवन के लक्षण हैं। जो वेद के पूर्व का इतिहास अनुपलब्ध होने के कारण वेद को भारतीय संस्कृति का आरम्भ मानते हैं और उसमे सभ्यता के आदिम लक्षण ढूंढते हैं, उनमे बहुत से भ्रम में हैं और बहुत से जानबूझ कर अन्याय करते हैं। हमारी समस्त धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा बिना जाने हुए भी वेदो को मूर्धन्य मानती आई है। दर्शनो ने भी उन्हें एक अखण्ड आगम प्रमाण का पद दिया। जनता के सांस्कृतिक जीवन से उदित होने के कारण लोक-मानस मे वेद-मन्त्रो की प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी।

वेदो के मन्त्र अध्ययन की वस्तु नही वरन् लोक-जीवन के सांस्कृतिक पर्वो के आन्तरिक आनन्द के मुखर-गान थे। लोक-मानस की गहराइयो मे उनके मूल थे और इन्ही मृणालो से कोमल और उज्ज्वल मूलों से मन्त्रो के ये राज-कमल विकसित हुए थे। इन राजकमलो से जीवन की श्री का सौरभ देश मे विकीर्ण हो गया। लोक-जीवन की श्री तथा उसके सौन्दर्य और आनन्द के अधिष्ठान होने के कारण

वेदो की उपेक्षा करके कोई भी नेता अपने मत से भारतीय जनता को प्रभावित नही कर सकता था। इसीलिये यज्ञ और कर्मकाण्ड के धर्म की प्रतिष्ठा पुरोहितो ने वेद-मन्त्रो के आधार पर ही की। आज तक हमारे लोक जीवन के संस्कारो मे वेद-मन्त्रो का यह अनुषग चला आता है। यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थो के कर्मकाण्डमय धर्म के बाद भी अनेक विचार क्रान्तियो ने वेदो की मान्यता का अवलम्ब लिया। उपनिषद् जिनमें, कर्मकाण्ड का खण्डन किया गया है, वेदान्त माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धर्म शास्त्र, दर्शन आदि वेद के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी अपने को वेदमूलक मानते हैं। साख्य के समान जो दर्शन प्राचीन और महत्वपूर्ण होते हुए भी वेद मे अधिक अवलम्ब न पा सके उनकी परम्परा आगे नही चल सकी। साख्य का सूत्र ही अनुपलब्ध दर्शन सूत्रो मे अकेला है। चार्वाक का मत भौतिकवादी और लोकप्रिय होने पर भी अपने को वेद-विरुद्ध घोषित करने के कारण ही आदर नही पा सका। साख्य सूत्र की भाँति चार्वाक मत का बृहस्पति सूत्र भी अनुपलब्ध है। उसका और भी कोई ग्रन्थ नही मिलता। वैशेषिक सूत्र के आरम्भ मे ही तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' कहकर वेद की वन्दना की गयी है। न्याय की परम्परा दर्शन के क्षेत्र मे विरोध और विवाद उत्पन्न हो जाने के कारण विद्वानो मे जीवित रही। पूर्व-मीमासा वैदिक कर्मकाण्ड की विधियो आदि का ही विवेचन है। किन्तु पुरोहितो और विद्वानो को छोडकर साधारण जनता उसके नाम से भी परिचित नही। इसका कारण यही है कि कर्मकाण्ड के जिस दर्शन का वेद मत्रा पर आरोपण किया गया है। वह उनकी मौलिक भावना के अधिक अनुरूप नही है। वदान्त दर्शन की लोकप्रियता का कारण यह नही है कि जनता उसके सिद्धान्तो से परिचित है अथवा उन्हे मानती है वरन् उसका यह कारण है कि ब्रह्मवाद से अनुमित अथवा अनुमत सामाजिक और सास्कृतिक तादात्म्य का भाव वैदिक जनता और जीवन की मूल भावना के अनुकूल है।

यह तादात्म्य-भाव आज भी भारतीय जनता का मूल सास्कृतिक भाव है। यही संस्कृति का मूल मन्त्र भी है। लोकमानस मे वेद की इसी प्रतिष्ठा के कारण उपनिषद् वेदान्त पद से विभूषित हुई और उनका आत्मदर्शन वेदो का निष्कर्ष माना गया। वेद की मूल भावना के अनुरूप होने के कारण उपनिषद् अगिरा उत्तरकालीन विचारधाराओ का आदि स्रोत बनी। इसी कारण भगवद्गीता

जिसका उपनिषद के सिद्धान्तो और उसकी भावना से अधिक साम्य नही है, उपनिषदो का सार बनी। कर्मयोग के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी तथा अनेक रूपो मे वेद का खण्डन करते हुए भी भगवद्गीता को वैदिक परम्परा का अवलम्ब ग्रहण करना पडा। 'त्रैगुण्य विषया वेदा, निस्त्रगुण्यो भवार्जुन' कहते हुए भी तथा 'वेदवादरत' पडितो का खण्डन करते हुए गीता को प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका मे 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' कहकर वैदिक परम्परा के अन्तर्गत रखा गया। ईश्वर और भक्ति का जो प्राधान्य भगवद्गीता में है वह वैदिक सहिताओं और उपनिषदों के अनुकूल नही है। महाभारत मे जिस स्थान पर गीता का प्रसग मिलता है उसकी भाव-भूमिका के साथ गीता का अधिक मेल नही खाता। इसीलिए अनेक विद्वान उसे महाभारत का प्रक्षिप्त अश मानते हैं। गीता के जैसे अद्भुत दर्शन के आविष्कारक महामनीषी को भी वैदिक परम्परा के प्रस्तारक वेद-व्यास के नाम का आश्रय लेना पडा। महाभारत की वैदिक परम्परा और कृष्ण के नाम के सयोग को प्राप्त कर गीता लोक धर्म की चिन्तामणि बनी। वेदान्त का तर्क प्रस्थान बनकर ब्रह्मसूत्र विद्वानो मे आदृत हुआ और वेदान्त का स्मृति प्रस्थान बनकर भगवद्गीता लोकमानस मे पूजित हुई। गीता का 'वेदवादरता' इस बात का सकेत करता है कि प्राचीन काल में विद्वानो मे वेद के सम्बन्ध में विवाद होते रहते थे। और इस पद मे ऐसी ध्वनि भी निकलती है कि ये विवाद जनता में अधिक आदर की दृष्टि से नही देखे जाते थे। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता तीनों ही प्राचीन वैदिक सस्कृति के साम्य और तादात्म्य की मूलभावना का पोषण करने के कारण ही वेदान्त के प्रस्थान बन सके।

जैन और बौद्ध धर्मो के मूल सिद्धान्तो का वैदिक सिद्धान्तो के साथ बहुत कुछ साम्य है। जैन धर्म का अनेकान्तवाद 'एक सद्विप्रावहुधा वदन्ति' की वैदिक भावना के अनुकूल है। कर्म-पुद्गल और आत्मा के आकार को छोडकर जैन आत्मवाद, आचार, साधना, नीति, निर्वाण आदि की वेदान्त दर्शन से बहुत समानता है। आत्मा के आकार सम्बन्धी विवेचन भी उपनिषदों में मिलते हैं। 'प्रादेशमात्र अभिविमानम्' का विवेचन इस प्रसग मे स्मरणीय है। बौद्धमत के अनात्मवाद को छोडकर उसमे योग, आचार और नीति की प्रधानता भी उपनिषद दर्शन के अनुकूल है। दोनों का निरीश्वरवाद वैदिक धर्म के लिए कोई क्रान्तिकारी मत नहीं

है। वेद, वेदान्त और वैदिक षडदर्शनो मे ईश्वर का अधिक महत्त्व नही है। वैदिक परम्परा से इतना अधिक साम्य होते हुए भी तथा वर्ण-विभाजन के विरोध जैसी लोकप्रिय क्रान्ति का परिवर्तन करते हुए भी जैन और बौद्ध मत भारतवर्ष मे अधिक प्रतिष्ठा नही पा सके। कुछ राजाओ का आश्रय पाकर इन्हे कुछ सामायिक प्रचार और आदर अवश्य मिला किन्तु भारतीय लोकमानस पर इन क्रान्तियो की कोई छाप नही है। बौद्धमत का निष्कासन विद्वानो के प्रयत्न के कारण ही नही हुआ वरन् विद्वानों के प्रयत्न की सफलता का कारण यह था कि बौद्धमत के सिद्धान्त लोकमानस मे अपनी जडें नही जमा सके। बौद्ध धर्म के उखड जाने का कारण उसका निरीश्वरवाद नही वरन् उसका अनात्मवाद जो वेद और वेदान्त के तादात्म्य भाव के विपरीत है तथा वेद की मान्यता का खण्डन था। आत्मवाद को मानने के कारण जैन धर्म कुछ अधिक आदर पा सका। किन्तु वेद की मान्यता का विरोध करने के कारण वह भी अधिक प्रतिष्ठित नही हुआ। अहिंसा और अनेकान्तवाद की उदारता अर्थ-साधना के अनुकूल होने के कारण जैन धर्म मुख्यत वणिक वर्ग में कुछ प्रचार पा गया। किन्तु वेद का विरोध करने के कारण ये उदार क्रान्तिया भी सफल नही हो सकी। इन दोनों ही धर्मों की परम्परा मे जो मौलिक साहित्य मिलता है उसकी मान्यता, विशालता तथा लौकिक भाषा वेदो के स्वरूप के समान ही है। बौद्ध धर्म के पिटक एक प्रकार की सहिताएँ ही हैं। जैन धर्म के सूत्र वैदिक दर्शनों के सूत्रो के समान सूक्ष्म नही हैं। दोनो ही धर्मों मे जातक और पुराणो के रूप मे वेद की पौराणिक परम्परा भी पायी जाती है। इस सब से स्पष्ट है कि वेद का विरोध करते हुए भी ये मत वैदिक परम्परा से कितने अधिक प्रभावित थे। इतना होते हुए भी वेद के विपरीत होने के कारण इनकी उदार क्रान्तियाँ भी लोकमत को प्रभावित नही कर सकी। वैदिक परम्परा की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता कदाचित् इनके विरोध की प्रेरणा रही हो।

इन सब प्रमाणो से यही निर्देश मिलता है कि लोकमानस मे वेद का सर्वाधिक आदर था। इसीलिये धर्मशास्त्रकारो ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' माना। दर्शन के आचार्यों ने अपने तर्कवादो मे भी तर्कों से पहले श्रुति के प्रमाण प्रस्तुत किये। शकर और रामानुज जैसे महान् आचार्यों मे यह प्रवृत्ति अवलोकनीय है। वेदान्ती होते हुए भी शकराचार्य के द्वारा अपनी माता का श्राद्ध करना जहाँ एक ओर उनकी मानवीय भावना का प्रमाण है वहाँ दूसरी ओर लोकमानस की प्रभावशाली अपेक्षाओं

का भी प्रमाण है। वेद की इस प्रतिष्ठा का कारण न उसका ईश्वर कर्तृत्व है और न उसके दार्शनिक सिद्धान्त। वह मान्य होने के कारण जनता मे प्रतिष्ठित नही हुआ वरन् प्रतिष्ठित होने के कारण मान्य हुआ। उसकी इस प्रतिष्ठा का सहज कारण यही था कि वह लोक के जीवन और संस्कृति की उत्कर्षशील भावना से स्वय प्रसूत था। इस प्रतिष्ठा के दृढ होने का कारण यह था कि वदमन्त्रों मे प्राचीन जीवन और संस्कृति का यौवन पुष्पित और फलित हुआ था। सांस्कृतिक वसन्त के रूप और रस का सौन्दर्य और आनन्द ऋग्वेद के मन्त्रों मे ओतप्रोत है। जिस प्रकार वसन्त प्रकृति का यौवन है और यौवन मनुष्य का वसन्त है तथा विकास का चरम उत्कर्ष होने के कारण दोनो अविस्मरणीय हैं उसी प्रकार संस्कृति का वैदिक उत्कर्ष भारतीय जनता की चिरस्मरणीय विभूति बन गया। अनेक विक्षेपों के बाद भी ये प्रिय संस्मरण हमारी लोकसंस्कृति के संस्कार बने हुए हैं।

ऋग्वेद हमारे सांस्कृतिक विकास का आरम्भ नहीं है वरन् उसके चरम उत्कर्ष का प्रतीक है। उक्त ऐतिहासिक प्रमाणो के अतिरिक्त सांस्कृतिक विकास और उत्कर्ष के स्वरूप का विश्लेषण भी यही प्रमाणित करता है कि प्राचीन वैदिक जीवन और साहित्य मे सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण तत्व तथा लक्षण विद्यमान हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से यौवन जीवन और प्रकृति के उत्कर्ष का काल है। जिस प्रकार वसन्त मे प्रकृति के बीज और वृक्ष पुष्पित पल्लवित और फलित होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन मे भी शरीर के विन्यास तथा मन की वृत्तियाँ यौवन काल में अपने विकास की पूर्णता को प्राप्त होती हैं। वसन्त प्रकृति का यौवन और यौवन मनुष्य का वसन्त है। सृजन का सत्य पुष्पो के सुन्दरम् में विकसित होकर फलों के शिवम् मे फलित होता है। नारी के रज का पुष्प नाम बडा रहस्यमय है। रजोदर्शन के आरम्भ से ही नारी का यौवन भी विकास की पूर्णता की ओर बढता है। पुरुषो के अग-विन्यास मे भी इस विकास के पुरुषानुरूप लक्षण दिखायी देते हैं। प्रकृति के पुष्पो के समान कान्ति और माधुर्य मनुष्यों के यौवन को भी दीप्त और सरस बनाता है। कदाचित प्रकृति का वासन्ती वैभव भी उसके अन्तर की विभूति की अभिव्यक्ति है। किन्तु मनुष्य के सम्बन्ध मे तो यह निश्चित है कि उसका बाह्य माधुर्य, लावण्य और कान्ति उसकी आन्तरिक वृत्तियों के ऊर्ध्वस्वित उत्कर्ष के बाह्य प्रतीक हैं। सुन्दरम् की इस समृद्ध अभिव्यक्ति के साथ साथ मनुष्य के यौवन में

शिवम् का आत्मदान भी फलित होता है। इस प्रकार यौवन के उत्कर्ष में सृजन का सत्य सुन्दरम् मे अभिव्यक्ति पाकर शिवम् में सफल होता है।

अस्तु जहाँ विकास की दृष्टि से यौवन जीवन के उत्कर्ष की मर्यादा है वहाँ सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के सत्य, शिवम् और सुन्दरम् की पूर्ण परिणति भी उसमे होती है। शक्ति, सामर्थ्य, साहस, उत्साह आदि उनके यौवन के सम्बल हैं। हर्ष, उल्लास, हास, प्रेम आदि उसकी वृत्तियाँ हैं। जिस साहित्य और संस्कृति मे यौवन के इन लक्षणो की स्वच्छन्द व्यजना हो उन्हे मानवता के उत्कर्ष की मर्यादा ही मानना चाहिए। ऋग्वेद के भाव और वातावरण मे हमे यौवन के इन सभी लक्षणो का परिचय मिलता है। कुछ उपनिषदो के वैराग्य की उस भावना का ऋग्वेद मे कोई सकेत नही है जो आगे चलकर वेदान्त, बुद्ध और जैन मतो के प्रभाव से भारतीय चिन्तन की मुख्य वृत्ति बन गयी। उस दु खवाद का हमे उसमे आभास भी नही मिलता जो बुद्ध के 'सर्वं दुखम्' के मूल मन्त्र की घोषणा के बाद योग-सूत्र के 'दु.खमेव सर्वं विवेकिन' मे पर्यवसित हुआ और समस्त भारतीय दर्शन में व्याप्त हो गया। 'शरद शत अदीना स्याम' की अभ्यर्थना और अथर्ववेद के 'आयुष्पाणि' नाम से प्रसिद्ध मन्त्रो मे दीर्घायु की कामनाएँ अवश्य मिलती हैं। किन्तु जीवन में मृत्यु का भय अभिनिवेश बनकर ऐसा रूढ नही हुआ है कि वह आत्मा का क्लेश बन जाय और जीवन के स्थान पर मुक्ति को चरम लक्ष्य के रूप मे स्पृहणीय बनाये। ऋग्वेद मे मुक्ति की कल्पना नही मिलती। पुनर्जन्म भी स्पष्ट नही है। उत्तरकाल के अपरिग्रह का कोई आभास नहीं है। इसके विपरीत जीवन की सार्थकता और आनन्दमयता का स्वस्थ भाव ऋग्वेद मे सर्वत्र व्याप्त हैं। लौकिक अभ्युदय और ऐश्वर्य ऋग्वेद मे पूर्णत स्पृहणीय माने गये हैं। सन्तान, धन, कृषि आदि की समृद्धि के लिए प्रार्थनाएँ की जाती हैं। ऋग्वेद के अधिकाश देवता प्रकृति की शक्तियों के प्रतीक हैं। दिव्य होते हुए भी वे अलौकिक नही। कुछ प्रार्थनाओं का अभीष्ट स्वर्ग भी लौकिक ऐश्वर्यो और विभूतियो की पूर्णता की ही मूर्त कल्पना है। ऋग्वेद की यह लौकिकता उत्तरकाल के विचार की अलौकिकता के विपरीत है। जीवन के सभी व्यापारो मे यौवन के अनुरूप स्वस्थ, समर्थ तथा आशा और उल्लासमयी भावना ओत प्रोत है। यथार्थता की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि उस समय के सामाजिक जीवन के प्रभूत तथ्य ऋग्वेद में समाविष्ट हैं। जीवन की छोटी और बडी सभी प्रकार की बातो की चर्चा ऋग्वेद के मन्त्रो मे है। ऋग्वेद की

उस युग के जीवन का दर्पण कहा जा सकता है और यह भी अत्युक्ति नही है कि वह समतल और स्वच्छ दर्पण है। उसमे उन्नतोदर अथवा अवनतोदर दर्पण की विकृति और मलीनता नही है। यह स्वच्छता और सरलता भी स्वस्थ यौवन का एक प्रमुख लक्षण है। सत्य का निश्छल विवरण भी यौवन की सरलता और निर्भीकता की अपेक्षा रखता है। महाभारत और वाल्मीकि रामायण मे मिलने वाली सामाजिक स्पष्टवादिता तथा पुराणो मे भी प्राप्त होने वाले इसके अनेक उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि इतिहास, पुराण और आदि काव्य मूल वैदिक सस्कृति तथा साहित्य की परम्परा के ही प्रस्तार हैं।

जीवन के तथ्यो और सिद्धान्तो के सरल, स्पष्ट और व्यापक सत्य के साथ-साथ ऋग्वेद मे जीवन के सुन्दरम् और शिव की भी अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य तो एक प्रकार से यौवन का स्वरूप ही है। कालिदास ने अपने कुमारसभव मे उसे यौवन को जीवन का 'असम्भृत, अलकार कहा है। अभिव्यक्ति सौन्दर्य का स्वरूप, आमन्त्रण उसकी वृत्ति और आनन्द उसका फल है। सत्य की जिज्ञासा मे जो यौवन के अनुरूप विस्मय, कौतूहल और उत्साह अपेक्षित है, वह ऋग्वेद से अधिक कही नही मिलता। सत्य का विस्तृत बौद्धिक विश्लेषण और ऐसा अनुसन्धान जिसम जीवन का सौन्दर्य, आनन्द और श्रेय भी विस्मृत हो जाय, यौवन की अपेक्षा प्रौढवय का लक्षण अधिक है। दर्शनो के इसी प्रौढ चिन्तन से हमारी सस्कृति का वार्धक्य आरम्भ हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थो के विवादो में इसका मूल खोजा जा सकता है। हमारे दर्शन ग्रन्थो मे शैली का जो सौन्दर्य और कवित्व मिलता है वह ऋग्वेद का ही अवशेष है। मूल वैदिक मन्त्रो मे तो सास्कृतिक यौवन के सौन्दर्य की मुक्त अभिव्यक्ति मिलती है। विश्लेषण और अनुसधान की अपेक्षा अभिव्यक्ति की प्रधानता ही ऋग्वेद मे सौन्दर्य की प्रमुखता का प्रमाण है। उषा, सूर्य, पर्जन्य आदि के मन्त्रो मे काव्य का 'अपूर्व' सौन्दर्य व्यक्त हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्रो में उपादान और शैली दोनो मे ही सौन्दर्य की प्रचुरता है। काव्य मे स्वर और सगीत का समवाय ऋग्वेद के इस सौन्दर्य को और भी समृद्ध बनाता है। वस्तुत वैदिक सस्कृत के स्वर और सगीतमय स्वरूप मे ही भाषागत सौन्दर्य का एक अद्भुत तत्व समाहित है। सस्कृति और व्यवहार का वह स्वरूप और स्तर कितना सौन्दर्यमय रहा होगा जिसमे भाषा म ही स्वर और सगीत समाहित थे। लौकिक सस्कृत मे भी उसकी ध्वनि और छाया विद्यमान है। स्वर और सगीत के साथ मुद्राओ और

अगुली निर्देशो का सहयोग वैदिक भाषा मे सगीत के साथ-साथ नाट्य के समन्वय का सूचक है। जिस प्लुत प्रधान और मन्द्र स्वर मे वेदमन्त्रो का गायन किया जाता है, उसमे वस्तुत भारतीय सस्कृति के यौवन के गभीर कठ का ही स्फोट हुआ है। प्लुत स्वर की प्रधानता और मुद्राओ का सहयोग यौवन की ऊर्जस्वित स्फूर्ति और शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रकृति के सुन्दर चित्रो और भावो से युक्त स्वर और सगीत से समन्वित तथा मुद्राओ से अनुगत वेद के मौलिक मन्त्रो की भाषा तथा शैली कला के समृद्ध सौन्दर्य से परिपूर्ण है। भारतीय सस्कृति के यौवन का सौन्दर्य उनमे मेघ-मन्द्र स्वर मे मुखरित हो उठा है।

सत्यम् और सुन्दरम् के साथ साथ ऋग्वेद मे शिवम् का भी पूर्ण समन्वय है। समाज के अनेक रूप लौकिक और आध्यात्मिक मगल का समाहार मूल वेद मन्त्रो मे मिलता है। शिवम् के इन अनेक रूप उपकरणो के समाहार के अतिरिक्त उसका मूल स्वरूप भी ऋग्वेद के मन्त्रो की भावना म ओतप्रोत है। "समानी व आकूति समानो हृदयानि व" एक मन्त्र पद ही नही वरन् वेद मन्त्रो की व्यापक भावना है। आधुनिक व्यक्तिवाद के युग के गीतो के अहकारपूर्ण 'मैं' के विपरीत ऋग्वेद के मन्त्रो मे अधिकाश सामाजिक साम्य के सूचक 'हम' के बहुवचन का ही प्रयोग अधिक है। वेद मत्रो का पाठ भी सामूहिक रूप मे होता था। वस्तुत सामूहिक रूप म ही प्राचीन भारतीय कुलो मे इन वेद मत्रो की सृष्टि हुई थी। उपनिषदो के 'सह नौ' के शाति पाठ की साम्यमयी भावना वेदमत्रो के निर्माण, गायन और भाव मे ओतप्रोत है। यह साम्यभाव यौवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है। इस साम्य मे ही सस्कृति का शिवम् प्रतिष्ठित है। शिवम् का आत्मदान इस साम्य मे पारस्परिकता के सामूहिक और सामाजिक आनन्द मे फलित होता है। सामाजिक व्यवहार और सम्बन्धो मे यह साम्य की भावना जितनी अधिक होती है उतना ही उस समाज को अधिक यौवन पूर्ण समझना चाहिए। साहित्य और सस्कृति के निर्माण मे इस साम्य की प्रतिष्ठा सास्कृतिक यौवन के उत्कर्ष का प्रमाण है। लोक सस्कृति के सामूहिक सगीत, नृत्य, उत्सव आदि सास्कृतिक यौवन और साम्य के जीवन्त रूप हैं। आधुनिक आर्थिक साम्यवाद मे उसका केवल आर्थिक रूप विकसित हो रहा है मानो इस आर्थिक अनुसन्धान के मार्ग से मनुष्य की युगो से भटकती हुई अमर आत्मा अपनी पूर्णता खोज रही है। सास्कृतिक साम्यवाद म ही इस खोज का अवसान और परिणति होगी। तभी ऋग्वेद के सास्कृतिक उत्कर्ष म आरोह की मर्यादा को

पहुँचकर तब से निरन्तर अवरोह मे शिथिल होने वाला जीवन का राग अपने अभीष्ट सम को प्राप्त करेगा।

नागरिक सभ्यता और कामशास्त्र के प्रभाव के कारण काव्यशास्त्र और साहित्य में कविता का रमणीय रूप ममाहृत हुआ। रम्य सुन्दरम का वाचक है। भाषा के इस अभिधान मे सुन्दरम् के प्राकृत रूप का ही सकेत है। सुन्दरम के इस प्राकृत रूप मे सीमित रहने के कारण ही हमारा धर्म और साहित्य शिव के स्वरूप के अन्य पक्षो की सफल स्थापना नहीं कर सका। शास्त्रो और विज्ञानो के रूप म ज्ञान के सत्य की समृद्धितो बहुत हुई और हो रही है, किन्तु शक्ति और भाव की साधना का पुरुष मुक्त और नि शक मन स अगीकृत नही कर सका। इसका कारण मूल रूप म कामदहन के मूल मम को न समझना ही है। काम की प्राकृत भूमिका से उठकर ही पुरुष दाम्पत्य और वात्सल्य के रसमय भावा तथा उनके प्रसूत उत्तरदायित्वा का अगीकृत कर सकता है और उन उत्तरदायित्वो का निर्वाह कर सकता है। अर्थ, सम्पत्ति, साम्राज्य, अहकार आदि के रक्षण और उपाजन मे पुरुष ने बहुत कुछ शक्ति का प्रदर्शन किया है। यह उसकी प्रकृति के अनुरूप है। अत इसम कोई सास्कृतिक गौरव नही। राजपूत इतिहास का छोडकर नारी के गौरव और मान की रक्षा मे पुरुष की शक्ति का उपयोग कम ही देखने म आता है। हमारा प्राचीन विज्ञान अध्यात्म से आक्रान्त होकर मन्द हो गया। हमारे धर्म और अध्यात्म में अलौकिकता और एकागिता की ऐसी भ्रान्ति रही कि वह मानवीय सस्कृति के लौकिक उत्तरदायित्वो के निर्वाह की शक्ति हमे प्रदान न कर सका। इसीलिये हमारे ज्ञान का उदीयमान चन्द्रमा पतन से कलकित और पराभव से ग्रस्त हुआ। धर्म म स्वर्ग के अनन्त विलास की कामना करने वाले तथा काव्य और कला में उसी की आराधना करने वाले कृती पुरुष नही अपने जीवन मे रस की भाव धारा का प्रवाव नही कर सके। चिन्मय आत्मदान रस और भाव का रहस्य है। यही आत्मदान समाज मे नारी के स्वतन्त्र और गौरवमय रूप को समाहृत करने मे समर्थ है। यही आत्मदान शिशु के सास्कृतिक विकास म सहयोग देकर सृष्टि की सास्कृतिक परम्परा की सुरक्षा और समृद्धि के सेनानियो का निर्माण कर सकता है। दाम्पत्य और वात्सल्य के सास्कृतिक गौरव को पूर्णत अगीकृत न करने के कारण पुरुष शक्ति और भाव की साधना से उदासीन होकर एकागी अध्यात्म, भ्रान्त धर्म और रम्य काव्य की साधना म सलग्न रहा।

एकांगी अध्यात्म उसकी तत्वजिज्ञासा का अपूर्ण किन्तु अनवद्य सत्य है। भ्रान्त धर्म एक पराजित जाति का अलौकिक अवलम्ब बना। रम्य काव्य पतन और पराजय की विडम्बनाओं में उसके बौद्धिक विलास और मनोरंजन का साधन बना। किन्तु ये तीनों ही भारतीय जनता को जीवन, जागरण और सांस्कृतिक निर्माण की पर्याप्त प्रेरणा देने में असमर्थ रहे। रचनात्मक श्रेय में सांस्कृतिक काव्य का अभाव भारतीय चेतना की इन्हीं भ्रान्तियों और इतिहास की इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है। शिवत्व के आत्मदान के तत्व के सम्बन्ध में पुरुष की उपेक्षा और उदासीनता तो कदाचित् विश्व की पुरुष-तन्त्र-संस्कृति का सामान्य दोष है। भारतीयों ने अलौकिकता की भ्रान्तियों में अपने को अधिक भुलाया इसलिये कदाचित् इस दोष का अधिक अंश उनका भागधेय बना। अन्य देशों और जातियों ने लौकिकता को अधिक महत्त्व दिया। किन्तु इस लौकिकता में परिग्रह और साम्राज्यवाद का अहंकार अधिक था। समाज और संस्कृति में रचना की प्रवृत्तियों को इतना अधिक पोषण दूसरे देशों में भी नहीं मिला कि उन्हें इसका विशेष श्रेय दिया जा सके। लौकिक श्रेय के प्रति अधिक सजग रहने के कारण वे संगठन और सुरक्षा में अधिक सफल रहे तथा उनमें से कुछ उन देशों में साम्राज्य भी स्थापित कर सके जो अलौकिकता में भ्रान्त रहने के कारण अपनी लौकिक स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सके। अलौकिक और आध्यात्मिक मुक्ति के साधकों की लौकिक पराजय और परतंत्रता ने उनके एकांगी अध्यात्म को असफल बना दिया और कोई मार्ग न पाकर उनका कुंठित अहंकार पारिवारिक शासन में ही अपना सन्तोष खोजने लगा। स्त्रियों के लिये पतिव्रत का विधान हुआ किन्तु दूसरी ओर पुरुषों को बहु विवाह की स्वतन्त्रता मिली। सती के अमानुषिक धर्म में अलौकिक शक्तियों और पुण्यों का काल्पनिक संयोग किया गया। किन्तु दूसरी ओर पुरुष को स्त्री के प्रति समस्त सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों से मुक्त रखकर स्वैर आचार का अधिकार मिला। इसी प्रकार छोटों के लिए 'आज्ञागुरूणामविचारणीया' के मन्त्र का विधान हुआ। परशुराम के मातृ वध, एकलव्य के अंगुष्ठदान, द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों द्वारा वरण, राम का निर्वासन आदि अनेक स्पष्टतः अनुचित कार्यों के अनौचित्य को धार्मिक प्ररोचना के द्वारा उत्कृष्ट आदर्शों के रूप में चित्रित किया गया। राजनीतिक शासन से वंचित और अपनी धारणाओं में प्रवंचित भारतीय कल तक इसी

पारिवारिक शासन मे अपने अहकार की तुष्टि करते रहे। यह निकृष्ट और अत्यन्त सीमित शासन या सतोप ही हमारे सास्कृतिक जागरण और उत्थान मे बाधक रहा।

संस्कृति एक स्वतत्र और सामाजिक निर्माण है। प्रकृति की सत्ता केवल उसका आधार है तथा विचार के सिद्धान्त उसके सूत्र हैं। जिज्ञासा उसकी प्रेरणा और ज्ञान उसका मार्गदीप है। किन्तु संस्कृति का स्वरूप सत्य के इस आधार पर सुन्दरम् की अभिव्यक्ति और शिवम् की सृष्टि है। सत्ता और सिद्धान्त के अतिरिक्त सृजन इस सास्कृतिक विकास का मूलधर्म है। इस सृजन मे अभिव्यक्ति और निर्माण दोनो का समाहार है। निर्माण मे भी अभिव्यक्ति है किन्तु उसके पूर्व आत्मदान अपेक्षित है। अभिव्यक्ति सुन्दरम् का और आत्मदान शिवम् का स्वरूप है। नारी के शिशु सृजन मे आत्मदान अधिक है। इसीलिए उसमे शिवम् की प्रधानता है। भौतिक निर्माण मे अभिव्यक्ति की प्रधानता है इसीलिए उसमे सुन्दरम् का विकास अधिक हुआ है। सभ्यता और साहित्य मे कला का सयोग इसी निमित्त से हुआ है। स्थापत्य, वास्तुनिर्माण, कला, कौशल आदि सबके विकास मे हित की अपेक्षा सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का अनुरोध अधिक है। भव्य मन्दिरो के निर्माण, चित्रकला और काव्यकला के पीछे सुन्दरम् की ही प्रमुख प्रेरणा है। चित्रित मन्दिर और अलंकृत काव्य दोनो एक ही भावना के फल हैं। शिव के आत्मदान मे पुरुष की अधिक अभिरुचि न होने के कारण सुन्दरम् की साधना ही उसका प्रधान धर्म रही है। नारी के रूप मे भी सौन्दर्य के प्रति ही उसका अनुराग अधिक रहा। यह दोष पूर्व का ही नही समस्त पुरुष-तत्र समाज का है। पश्चिम की विलास प्रधान सभ्यता नारी-स्वातन्त्र्य की घोषणा करते हुए भी उसकी इतनी ही दोषी है जितना 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का विधान करने वाला पूर्व है। बालको के प्रति अपने कर्त्तव्य से पुरुष कितना उदासीन रहा है, इसका उदाहरण भारतीय समाज मे उनके प्रति वयस्को के शासन प्रधान दृष्टिकोण मे मिलता है। ज्ञात नही कि ससार के किसी भी महान् काव्य में नारी के प्रति पुरुष के आदरपूर्ण भाव तथा बालको के प्रति उसकी निर्माणमुखी साधना का कोई महत्त्वपूर्ण चित्रण है या नहीं। पुरुष के आशा, आकाक्षा, दम्भ, द्वेष, युद्ध, पराक्रम, जय, पराजय आदि का चित्रण तो महान काव्यो मे बहुत मिलता है। नारी के त्याग, श्रद्धा, सहिष्णुता, प्रेम, सेवा आदि से युक्त आदर्श रूप का चित्रण तो बहुत हुआ है। द्रौपदी, दमयन्ती, शैव्या, शकुन्तला, सीता, सावित्री आदि के उज्ज्वल आदर्श नारी के गौरव के प्रमाण मे उपस्थित किए जाते

हैं। नारी के ये आदर्श चरित्र उसके सांस्कृतिक उत्कर्ष की यथार्थता के अंकन हैं। दूसरी ओर नारी के सम्मान की दृष्टि से पुरुषों के यथार्थ और ऐतिहासिक चरित्रों की बात ही क्या है। ऐसे दृष्टिकोण के अनुरूप पुरुषों के आदर्श चरित्रों का काल्पनिक चित्रण भी साहित्य में नहीं मिलता।

इसका कारण यही है कि पुरुष ने नारी जाति के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कभी न स्पष्टतः समझा और न कभी मुक्त भाव से स्वीकार किया। बालकों के जीवन-निर्माण सम्बन्धी प्रसंगों के अभाव का भी यही कारण है। आदर्श राजा आदर्श वीर, आदर्श भाई, आदर्श मित्र आदि के रूप में तो पुरुषों के उत्कृष्ट आदर्शों की कल्पना की गई है किन्तु आदर्श पति और आदर्श पिता के रूप में उनका चित्रण दुर्लभ ही है। राजपूत-काल को छोड़कर इस ओर भारतीय चेतना की कभी दृष्टि ही नहीं गई। राजपूत काल में भी इस दृष्टि के इधर फिरने का श्रेय हमारी जागरूकता की अपेक्षा यवन आक्रमणकारियों के अत्याचारों को अधिक है। इन अत्याचारों ने नारी के लाज मान पर जो आक्रमण किये उनसे नारी के व्यक्तित्व का ही अपमान नहीं हुआ वरन् पुरुष के अहंकार को भी गहरी ठेस पहुँची। इस अहंकार के प्रति शोध के लिए ही राजपूतों ने नारी के नाम पर बलिदान दिए। प्रसंगतः उसमें नारी के गौरव की भी रक्षा हुई यह भी सन्तोष की बात है। राजपूतों की सजग शक्ति ने नारी को रक्षणीया मानकर अपने अहंकार के निमित्त से उसके गौरव की रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगाई। भारत के पतन के प्रारम्भ में भरी सभा में द्रौपदी के अपमान को चुप बैठकर देखने वाले पितामहों नीतिज्ञों, आचार्यों और वीरों के उदासीन दृष्टिकोण की अपेक्षा राजपूतों का यह अहंकारमय शौर्य श्लाघनीय है। वाल्मीकि रामायण के राम में हम उनके वंशधर राजपूतों की इस अपूर्ण वीरभावना का बीज मिलता है। लंका विजय कर राम ने अपने आहत अहंकार का प्रतिशोध किया। किन्तु सीता की यातनाओं के प्रति उनमें कोई सहानुभूति नहीं है। अपने पराक्रम से उन्होंने दैव के दोष का प्रतिशोध किया। इसका उन्हें गर्व है। किन्तु सीता के त्याग और सहिष्णुता तथा सन्ताप की वेदना उनमें नहीं है। वे 'दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः' के द्वारा अपने विजय दर्प का उद्घोषण कर 'न मे किंचित्प्रयोजनम्' कहकर सीता के परित्याग का संकेत करते हैं। धोबी की आलोचना के निमित्त से कदाचित् राम के अवचेतन मन की यही आकांक्षा सीता के द्वितीय निर्वासन में चरितार्थ हुई है।

नारी के प्रति यथोचित दृष्टिकोण न अपना सकने के कारण बालक के प्रति भी पुरुष सही भाव ग्रहण करने मे असमर्थ रहा। आधुनिक मनोविज्ञान ने बालको के प्रति बडो का सही दृष्टिकोण बनाने मे बहुत सहायता की है, किन्तु नारी के सम्बन्ध मे मनोविज्ञान का सहयोग इसके विपरीत रहा है। अबोध बालको तक मे काम-भावना का मूल खोजकर तथा काम-वृत्ति को ही जीवन का सर्वस्व मानकर मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने सांस्कृतिक विकृतियों के नवीन क्षितिजों का उद्घाटन किया है। मनोविज्ञान ने तो केवल मनुष्य की प्रकृति का वैज्ञानिक उद्घाटन ही किया है किन्तु समाज और साहित्य पर उसका प्रभाव अनेक विकृतियो का कारण बना है। मनोविश्लेषण भी नारी के मातृत्व और पत्नीत्व को सही रूप में समझने मे असमर्थ रहा। हमारे नीतिकारों ने 'कामश्चाष्टगुण स्मृत' कह कर नारी पर मिथ्या लाछन के द्वारा पुरुष के कामातिचार पर परदा डालने का प्रयत्न किया है। किन्तु मनोविश्लेषण के अनुसन्धानो की साक्षी यह है कि मनोविकृतियाँ स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होती हैं। आत्मघात की सख्या भी पुरुषो में अधिक है। स्त्रियो मे हिस्टीरिया का आधिक्य उनकी कुंठित काम वासना की अपेक्षा कौमार्य के अतिचारो के कारण होता है। इस दिशा मे स्त्रो को पथभ्रष्ट करने और उसके दृष्टिकोण को विकृत बनाने का उत्तरदायित्व पुरुष पर अधिक है। उपनिषदो के राजा अजात शत्रु का यह वचन कि हमारे राज्य मे कोई व्यभिचारी पुरुष नहीं है, फिर किसी व्यभिचारिणी स्त्री के होने की सभावना तो कहाँ से हो। इस सम्बन्ध मे अत्यन्त प्राचीन और अत्यन्त सही दृष्टि-कोण है। शिव का काम दहन इसी साधना का सकेत है। अविवाहित स्त्रियो मे मनो-विकृति का कारण उनका कुंठित मातृत्व है। विवाहितो मे स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषो मे मनोविकृतियाँ अधिक दिखाई देती हैं। यदि मनोविश्लेषण के अनुसार काम अथवा अहकार का दमन इसका कारण है तो यह स्पष्ट है कि पुरुष मे ही इन दोनो की प्रबलता है। ये दोनो प्राकृत वृत्तियाँ सुन्दरम् के कुछ निकट भले ही हों किन्तु शिवम् से दूर हैं। शिव की साधना के लिए पुरुष को नारी के सम्मान और शिशु के सांस्कृतिक निर्माण मे आत्मदान के द्वारा दोनो को मर्यादित करना होगा।

जीवन के विकास में शिवम् और सुन्दरम् का क्रम समान नही है। प्राकृतिक क्रम मे सुन्दरम् की अभिव्यक्ति के बाद शिवम् की पूर्णता का उदय होता है।

प्रकृति के विकास मे वनस्पतियो के बाद जीवो और पुष्पो के बाद फलो का आगम इसका प्रमाण है। मनुष्य के विकास मे भी जहाँ तक प्रकृति का प्रभाव है वहाँ तक यही प्राकृतिक क्रम रहता है। किन्तु मनुष्य के सचेतन सास्कृतिक अध्यवसायो मे यह क्रम विपरीत होने पर ही सास्कृतिक उद्योग सफल हो सकते हैं। भारतीय सस्कृति मे उपनिषद् काल मे वेदान्त, जैन और बौद्ध धर्म के रूप मे आध्यात्मिक सत्य की भूमि पर शिवम् की ही प्रतिष्ठा हो रही थी। आगे चलकर पौराणिक वैष्णव धर्मो के रूप मे सुन्दरम् मे इस सास्कृतिक विकास की परिणति भी हुई। किन्तु अनेक ऐतिहासिक विक्षेपो तथा दार्शनिक प्रपचो के कारण शिवम् और सुन्दरम् का यह समन्वय पूर्णत सफल न हो सका। धार्मिक भूमिका के कारण सुन्दरम् की परिणति एक अलौकिक आस्थान मे हुई। यदि उपनिषदो के वेदान्त की मानवीय भूमिका इस समन्वय का अभ्रान्त आधार रही होती तो निश्चय ही यह परिणति सास्कृतिक विकास की सफल पूर्णता होती। इस असफलता में वेदान्त और वैष्णव धर्म दोनो का ही दोष है। उपनिषदो के बाद वेदान्त का जो विकास हुआ उसमें एकागी अध्यात्म को ही जीवन का सत्य मानने की भूल हुई। अनेक उपनिषदो मे स्पष्ट रूप से प्रतिपादित और उपनिषद् के ऋषियो के व्यावहारिक जीवन से प्रमाणित जिन लौकिक और मानवीय तत्वो का मूल अध्यात्म मे पूर्ण समन्वय था उनकी उत्तरवेदान्त के इतिहास में पूर्णत उपेक्षा हुई। ये लौकिक और मानवीय तत्व ही मूल अध्यात्म के शिवम् के सुन्दरम् मे समन्वय के सेतु थे। इस सेतु के विच्छिन्न हो जाने के कारण ही वेदान्त का वैष्णव धर्म से उचित समन्वय न हो सका। आगे चलकर वैष्णव वेदान्तो मे जो समन्वय हुआ उसमें भी अलौकिकता के आग्रह के कारण इस सेतु का पुन सस्थापन न हो सका। इसीलिए जहाँ एक ओर वेदान्त का ब्रह्मवाद मायावाद और सृष्टिवाद की भ्रान्तियो मे भ्रान्त होकर खण्डन मडन मे उलझा रहा वहाँ दूसरी ओर वैष्णव धर्म अलौकिकता की सकीर्ण वीथियो मे वृन्दावनी रास मे अपनी ऐतिहासिक पराजय की ग्लानि और भीति को भुलाता रहा। फल यह हुआ कि सुन्दरम् की यह परिणति अपूर्ण और असफल रहने के कारण हमारे जातीय जागरण और सास्कृतिक विकास की प्रेरणा नही बन सकी।

आधुनिक युग मे शिवम् और सुन्दरम् के इसी सास्कृतिक क्रम की एक बार फिर आवृत्ति हुई है। भारतवर्ष के स्वाधीनता सग्राम के साथ इस आवृत्ति की

समकालिकता के संयोग ने इस आवृत्ति को अधिक सजीव और सफल बना दिया, इसमे कोई संदेह नही। चाहे यह आवृत्ति पूर्ण और पूर्णत सफल न हो किन्तु इसमे संदेह नही कि वह पूर्व की अपरिणित की पुनरावृत्ति मात्र नही है। पूर्व आवृत्तियों की एकाङ्गिता और अलौकिकता के कुछ संस्कार इसमे भी शेष हैं। यह नितान्त स्वाभाविक था। इतिहास की परम्परा से विच्छिन्न होकर कोई सांस्कृतिक विकास न होता है और न सफल होता है। किन्तु एकाङ्गिता अलौकिकता के संस्कारो के साथ-साथ इसमे पूर्णता और सजीवता का अधिक अंश हैं, यही इसकी सफलता की आशा है। इसी आशा पर भारतीय संस्कृति की यह द्वितीय परिणति भारतवर्ष की ही नही विश्व के पूर्ण सांस्कृतिक समन्वय की तृतीय परिणति की सम्भावनाएँ रखती हैं।

इस द्वितीय परिणति का क्रम भी प्रथम परिणति के समान ही है। इसका आरम्भ तो दयानन्द, राममोहनराय, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि के धार्मिक जागरणो मे हुआ। इन जागरणो के एकागी अध्यात्म के शिवम् की लौकिक और राष्ट्रीय भूमि पर प्रतिष्ठा गान्धीजी के जीवन और दर्शन मे हुई। जिस प्रकार उत्तर वैदिक युग की आध्यात्मिक आकाक्षाएँ उपनिषदो के सजीव व्यावहारिक वेदान्त मे पूर्ण हुई उसी प्रकार भारत के इस द्वितीय जागरण के आरम्भिक उन्मीलन गान्धीजी के जीवन, दर्शन और आन्दोलन मे पूर्णत स्फुट हुए। गान्धीजी का सत्य वस्तुत शिवम् ही है। अहिंसा और प्रेम के आत्मदान मे सत्य का शिवत्व ही चरितार्थ होता है। अहिंसा, प्रेम, सत्याग्रह, बलिदान, सेवा आदि के रूप मे गान्धीजी के जीवन और दर्शन मे शिवम् की ही एक व्यापक प्रतिष्ठा हुई जैसी कि उत्तर उपनिषद काल मे वेदान्त, जैन और बौद्ध धर्मों के उदय मे हुई थी। गान्धीजी के शिवम् मे महावीर के तप, बुद्ध की करुणा और वेदान्त की व्यावहारिकता का समन्वय है। स्वतन्त्रता का राष्ट्रीय आन्दोलन इसी समन्वित शिवम् के जागरण का अभियान था। वेदान्त, जैन और बौद्ध धर्मों के शिवम् की भाँति ही गान्धीजी के शिवम् मे भी सुन्दरम् का समन्वय नही था। कला, काव्य और सौन्दर्य का गान्धीजी के जीवन और दर्शन मे वह महत्त्व नही है जो मानवीय संस्कृति की एक पूर्ण कल्पना मे होना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ के काव्य मे इस सुन्दरम् की अपेक्षित अभिव्यक्ति हुई। किन्तु वैष्णव धर्मों मे सुन्दरम् की परिणति की भाँति इसमे भी अलौकिकता का बीज रहा।

जिस प्रकार इस बीज के पुष्प वैष्णव समाज को अपने आमोद से उमन्त्त और विभोर बनाते रहे, उसी प्रकार इस अलौकिकता के बीज ने रवीन्द्र के काव्य को भी स्वर्ग के कल्प कानन का रूप दिया। रवीन्द्रनाथ की प्रगतिवादी आलोचना में इतना तथ्य अवश्य है कि उनके काव्य की कल्पनाएँ हमें अन्तरिक्ष में मनोविहार की प्रेरणा तो देती हैं किन्तु पृथिवी के जीवन का सफल निर्वाह करने का बल और उत्साह नहीं देती। रवीन्द्रनाथ के प्रभुत्व और उनके प्रभाव के कारण हिन्दी काव्य के छायावाद में भी सौन्दर्य के उसी कल्प-कानन की सृष्टियाँ होती रही हैं। यह एक अकारण संयोग नहीं है कि वैष्णव धर्म की भावनामयी बंगभूमि में ही रवीन्द्रनाथ के काव्य के इस अलौकिक सुन्दरम् की अभिव्यक्ति हुई तथा राम और कृष्ण की लीलाभूमि में ही उसका अधिक विस्तार हुआ। इतना अवश्य है कि गान्धीजी के दर्शन और रवीन्द्र के काव्य में जीवन का स्पन्दन प्रथम परिणति की अपेक्षा अधिक है। इसी कारण एक तृतीय परिणति में दोनों के पूर्ण और सफल समन्वय की सम्भावनाएँ इनमें अन्तर्निहित हैं। वेदान्त के उत्तरकालीन विकास में उसके लौकिक और मानवीय पक्ष की उपेक्षा के द्वारा जैसा एकांगी अध्यात्म का ही प्रचार हुआ वैसा ही एकांगी प्रचार यदि गान्धीजी के दर्शन के सम्बन्ध में भी होगा तब तो यह निश्चित है कि इस तृतीय परिणति के आगमन में अधिक विलम्ब होगा और अनेक विक्षेप होंगे। रवीन्द्र के काव्य के सम्बन्ध में भी यदि वैष्णव धर्म की भाँति अलौकिकता को ही अधिक महत्व दिया जायगा तो सुन्दरम् की आराधना भी जीवन की स्फूर्ति न बनकर कल्पना की भ्रान्ति ही बनी रहेगी। किन्तु यदि गान्धीजी के दर्शन के शिवम् को लौकिक और मानवीय भूमिका में समग्रता के साथ प्रचारित और प्रतिष्ठित किया जायगा तो इस तृतीय परिणति में समन्वय शीघ्र और निश्चित ही प्राप्त होगा। गान्धीजी के दर्शन में साधना शिवम् के सुन्दरम् के साथ समन्वय का सेतु है। रवीन्द्र के काव्य में जो जीवन का स्पन्दन है वह भी ऐसे ही सेतु का काम दे सकता है। हावड़ा के टूटने वाले पुल की तरह यदि इन दोनों सेतुओं का सम्बन्ध बन सका तो निश्चय ही यह सम्बन्ध एक ऐसे समग्र सेतु का निर्माण करेगा जो शिवम् और सुन्दरम् के लोकों के बीच सहज व्यवहार को सम्भव बनाकर उनके समन्वय की सम्भावना को दृढ़ कर सके।

एक रूप में सत्य, शिव और सुन्दरम् का यह समन्वय इस द्वितीय परिणति में चरितार्थ भी हुआ है। श्री अरविन्द का महायोग इसी समन्वय का प्रतीक है।

इस योग में साधना की प्रमुखता इस बात की सूचक है कि साधना ही शिवम् को ध्रुव बनाने का साधन तथा सुन्दरम् में उसके समन्वय का मार्ग है। किन्तु साधना प्रधान होते हुए भी अरविन्द का योग तथा उनकी सांस्कृतिक कल्पना गांधीजी के दर्शन की भाँति सुन्दरम् से रहित नहीं है। दूसरी ओर साधना पर आग्रह होने के कारण उनका जीवन दर्शन रवीन्द्र के रहस्यवाद की भाँति मुख्यतः अलौकिक सुन्दरम् की अभिव्यक्ति नहीं है। वस्तुतः उनके योग, दर्शन, काव्य और जीवन में हमारी संस्कृति के सनातन अध्यात्म सत्य का शिवम् और सुन्दरम् के साथ अपूर्व समन्वय है। यह एक विचित्र किन्तु अत्यन्त रहस्यमय संयोग है कि भारतीय जागरण की द्वितीय परिणति में शिवम् और सुन्दरम् का समन्वय एक ऐसी महान् विभूति के जीवन और कृतित्व में हुआ जो गांधीजी के राष्ट्रीय जागरण के शिवम् और रवीन्द्रनाथ के काव्य के सुन्दरम् का समान रूप से उत्तराधिकारी है। श्री अरविन्द का उदय इस द्वितीय परिणति में सत्य शिव सुन्दरम् के आन्तरिक समन्वय का प्रतीक है। वेदान्त के सनातन अध्यात्म तत्व का आधार उनके जीवन-दर्शन का सत्य है। अध्यात्म में साधना की प्रमुखता तथा जीवन में प्रेम और सेवा का महत्त्व सुन्दरम् के साथ शिवम् के अभ्रान्त समन्वय के मूल हैं। अरविन्द के जीवन दर्शन में मनुष्य के इतिहास की परम्पराओं का ग्रहण कर उनके भावी विकास का संदेश है। लौकिक और मानवीय आधारों पर अति-मानव के उदय की भविष्यत् वाणी है। इस अति-मानव के रूप में शक्ति और प्रेम के शिवम् और सुन्दरम् ज्ञान के आलोक से प्रकाशित होंगे। शक्ति का शिवम् ज्ञान पर आश्रित होकर प्रेम के सुन्दरम् में कृतार्थ होगा। प्रेम का सुन्दरम् ज्ञान के सत्यालोक और शक्ति के शिवम् की समर्थ स्फूर्ति से कृतार्थ होगा। श्री अरविन्द के जीवन और कृतित्व में भी यह समन्वय चरितार्थ हुआ है। 'दिव्य जीवन' आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित उनका दर्शन ही सत्य का परम और पूर्ण रूप है। अखंड योग के रूप में प्रतिपादित और प्रतिष्ठित साधना ही शिव का मर्म तथा सुन्दरम् में उसके समन्वय का सेतु है। 'सावित्री' तथा अन्य काव्य कृतियों में सुन्दरम् की अद्‌भुत अभिव्यक्ति हुई है। श्रीकृष्ण के समान क्रान्तिकारी योगी और कवि का समन्वित व्यक्तित्व श्री अरविन्द को भी आधुनिक युग की पूर्णतम विभूति प्रमाणित करता है। श्री कृष्ण के पराक्रम, नेतृत्व और उनकी व्यावहारिकता का संयोग हो जाने पर श्री अरविन्द का अवतारी कोई महामानव भावी संस्कृति में सत्य शिव और सुन्दरम् के पूर्ण समन्वय की तृतीय परिणति का प्रतिष्ठाता बनेगा।

महामहिमश्राचार्यश्रीमदमृतवाग्भवाचार्याणामाशीर्वचनम्

रामानन्दसुधीप्रणीतमतुलं श्रीराष्ट्रभाषामयं,
दृष्ट्वा ग्रन्थमुदारभावभरितं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ।
लप्स्यन्ते परमं धियाप्यमलया लोका पठिष्यन्ति ये,
आचार्योऽमृतवाग्भवः कथयते सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥

आमन्त्रण

'सत्यं शिव सुन्दरम्' का अवलोकन करने वाले साहित्य के विद्यार्थियो, अनुरागियो और आलोचको तथा साहित्यकारो को मै अत्यन्त विनय एव सद्भावपूर्वक सस्कृति, कला, साहित्य, काव्य आदि के सम्बन्ध मे परस्पर विचार-विमर्श के लिए आमन्त्रित करता हू । साहित्यकारो और साहित्य-प्रेमियो का परस्पर समात्मभाव विदेशो के साहित्य की समृद्धि का एक मुख्य कारण है । इस समात्मभाव की मन्दता हिन्दी साहित्य की वर्तमान दीनता का एक प्रमुख हेतु है । मै साहित्य के विद्यार्थियो और अनुरागियो तथा अनुसंधान-कर्त्ताओं के साथ सक्रिय समात्मभाव के आदान-प्रदान द्वारा हिन्दी मे गम्भीर साहित्य की अभिवृद्धि के संयुक्त पुण्य का भागी बनकर कृतार्थ होने का अभिलाषी हू । साहित्यिक सहयोग के आदान-प्रदान के इच्छुक मुझे अपने सम्पर्क से अनुग्रहीत करें ।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर
दीपावली स० २०२० विक्रमी ।

विनीत—
रामानन्द तिवारी
'भारतीनन्दन'

परिशिष्ट 'क'

संदर्भ और टिप्पणियां

२२ छान्दोग्य उपनिषद् ७-२३-१
२३ कठ उपनिषद् १-२-२
२४ ईश उपनिषद् मन्त्र
२५. गीता
२६ कठ उपनिषद् १-२-१
२७ कठ उपनिषद् अध्याय—१
२८ कठ उपनिषद् १-१-२६
२९ बृहदारण्यक उपनिषद् १-४
३० बभूव भार्या मर्यादा धातुर्निवण्यकौशले
३१ धर्माविरुद्धो कामोस्मि —गीता
३२ प्रजनश्चास्मिकन्दर्प —गीता
३३ पौरुष नृषु —गीता
३४ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १३ जनवरी १९५७
३५ कठ उपनिषद् १-२ १
३६ बृहदारण्यक उपनिषद् १-४
३७ यतो अभ्युदय-नि श्रेयस सिद्धि सधर्म ।
३८ कुरुक्षेत्र पृष्ठ ५०
३९ कुरुक्षेत्र में उद्धृत क्षमावानिरमर्षश्च नैव स्त्री न पुन पुमान्" ।
४० एक रामायणी कथावाचक के मुख से मैंने यह पंक्ति सुनी थी। उन्होंने इसे रामचरितमानस से ही प्रमाण रूप में दिया था। रामकथा में श्रद्धा न रखने वालों की भर्त्सना रामचरितमानस में विशेषत बालकाण्ड के आरम्भ में मिल सकती है।
४१ ब्रह्मसूत्रशाकरभाष्य
४२ बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य २-१-२०
४३ देखिए ६६
४४. कुमारसम्भव ७-६५, ५-२
४५ गीता
४६ कवि क्रान्तदर्शी सर्वदृक्—उपनिषद् शाङ्करभाष्य।
४७ "निमेषोन्मेषाभ्या प्रलयमुदय याति जगती"
४८ वीक्षित मेनस्य पञ्चभूतानि—भामती-मगलाचरण।

४६ पराचिखानि व्यतृणत स्वयम्भू—कठ उपनिषद १४

५० स एकाकी न रेमे। बृहदारण्यक उपनिषद १६

५१ तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत

५२ Contemporary Philosophy p 96

५३ Ibid p 96

५४ Outline of Philosophy of Art p 52

५५ Ibid

५६ शान्त शिवमद्वैत ब्रह्म —माडूक्य उपनिषद्

५७ बीभिन्नमनन्य पचभूतानि।
भिन्नमतन्य चराचरम। —भामती मगलाचरण

५८ निमेषान्मपाम्या प्रलयमुदय याति जगती —सौदय लहर

५९ यो वै भूमा तदेव सुखम —छान्दोग्य उपनिषद

६० Outline of Philosophy of Art p 45

६१ Ibid p 52

६२ I dance with the daffodils

६३ उस फैली हरियाली मे
कौन अकली खेल रही मां! वह अपनी वय बाली मे। —पल्लव

६४ छाया —पल्लव

६५ नौकाविहार —गुजन

६६ Psychological Studies in Rasa

६७ History of Aesthetic p 164

६८ Ibid p 457

६९ Critical History of Modern Aesthetics p 11

७० Theory of Beauty p 9

७१ Critical History of Modern Aesthetics p 160

७२ Ibid p 112

७३ History of Aesthetics p 57

७४ Ibid p 99

७५ Critical History of Modern Aesthetics p 21

७६ Ibid p 22

७७ Ibid p 23

७८ Ibid p 24

७९	Ibid.	p 210
८०	Theory of Beauty	p 9
८१	History of Aesthetics	p 364
८२	किमपि किमपि मन्द जल्पतोर क्रमेण अविदित गत यामा रात्रिरेव व्यरंसीत	—उत्तररामचरित
८३	Theory of Beauty	p 284
८४	Ibid	p 10
८५	Ibid	p 14
८६	History of Aesthetics	p 375
८७	Psychology	
८८	Theory of Beauty	p 296
८९	Psychological Studies in Rasa	
९०	Psychology	
९१	History of Aesthetics	p 37
९२	Theory of Beauty	p 43
९३	History of Aesthetics	p 63
९४	Ibid	p 274 284
९५	Critical History of Modern Aesthetics	p 222
९६	Theory of Beauty	p 116
९७	History of Aesthetics	p 460
९८	Theory of Beauty	p 50
९९	History of Aesthetics	p 145
१००	कुमारसम्भव	५ ३६
१०१	Critical History of Modern Aesthetics	p 102, 198
१०२	सौंदर्य शास्त्र	पृष्ठ २३८
१०३	Ibid	
१०४	Critical History of Modern Aesthetics	p 200
१०५	Ibid	p 29, 30 32
१०६	A History of Aesthetics	p 162
१०७	The Theory of Beauty	p 150
१०८	Western Aesthetics	p 155
१०९	Ibid	p 162

११०	Loc Cit	
१११	Western Aesthetics	p 492
११२	Ibid	p 496
११३	Theory of Beauty	p 86
११४	Critical History of Modern Aesthetics	p 37
११५	Ibid	p 36
११६	Ibid	p 36
११७	Ibid	p 35
११८	History of Aesthetics	p 104
११९	Ibid	p 105
१२०	Ibid	p 203
१२१	Critical History of Modern Aesthetics	p 250
१२२	History of Aesthetics	p 275
१२३	Ibid	p 276
१२४	Ibid	p 277
१२५	Critical History of Modern Aesthetics	p 250
१२६	Ibid	p 150
१२७	Theory of Beauty	p 229, 230
१२८	Critical History of Modern Aesthetics	p 250, 252
१२९	Ibid	p 250 252
१३०	Ibid	p 250 252
१३१	Ibid	p 250, 252
१३२	Ibid	p 250 252
१३३	Ibid	p 250, 252
१३४	Ibid	p 253
१३५	Ibid	p 254
१३६	Theory of Beauty	p 230
१३७	Critical History of Modern Aesthetics	p 250 252
१३८	Outline of Philosophy of Art	p 35
१३९	A History of Aesthetics	p 57
१४०	Ibid	p 115
१४१	Ibid	p 135

१४२ Ibid p 134
१४३ A History of Aesthetics p 142
१४४ Ibid p 204
१४५ Ibid p 226
१४६ Ibid p 355
१४७ Ibid p 397
१४८ Ibid p 401
१४९ Ibid p 403
१५० Ibid p 430
१५१ Ibid p 432
१५२ Critical History of Modern Aesthetics p 270
१५३ Theory of Beauty p 304
१५४ Ibid p 304
१५५ Ibid p 334
१५६ Ibid p 336
१५७ Ibid p 321
१५८ Ibid p 304
१५९ Ibid p 305
१६० Ibid p 304
१६१ Ibid p 306
१६२ History of Aesthetics p 282
१६३ Theory of Beauty p 311
१६४ Ibid p 316
१६५ Ibid p 319
१६६ Ibid p 321
१६७ Critical History of Modern Aesthetics p 260
१६८ Ibid p 260
१६९ Ibid p 261
१७० Ibid p 261
१७१ Ibid p 262
१७२ Ibid p 307
१७३ Western Aesthetics p 23
१७४ Ibid p 26

१७५ Ibid p 121, 124
१७६ Ibid p 221
१७७ Ibid p 275
१७८ Ibid p 458
१७९ Ibid p 292
१८० Critical History of Modern Aesthetics p 204
१८१ विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीरा
१८२ Critical History of Modern Aesthetics p 254
१८३ Ibid p 256
१८४ Ibid p 259
१८५ Ibid p 258
१८६ Ibid p 20
१८७ Ibid p 24
१८८ Ibid p 220
१८९ Theory of Beauty p 284
१९० Critical History of Modern Aesthetics p 21
१९१ Ibid p 17
१९२ Ibid p 203
१९३ History of Aesthetics p 227 204
१९४ Theory of Beauty p 9
१९५ Critical Historv of Modern Ae thetics p 107
१९६ मानते हैं जो कला के अर्थ ही स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
सुन्दर को सजीव करती है भीषण को निर्जीव कला॥ —साकेत
१९७ अकेली सुन्दरता कल्याणि सभी ऐश्वर्यों की है खानि। —पन्त
१९८ Critical Hi tory of Modern Aesthetics p 208
१९९ Ibid p 208
२०० History of Ae thetics p 167
२०१ Ibid p 2
२०२ Ibid p 272
२०३ Ibid p 157
२०४ Theory of Beauty p 16
२०५ Ibid p 17
२०६ रघुवंश ४ ६३

परिशिष्ट 'ख'

सहायक पुस्तकों की सूची

१	बलदेव उपाध्याय	भारतीय-साहित्य शास्त्र
२	„ „	भारतीय-दर्शन
३	डा० नगेन्द्र	काव्य शास्त्र की भूमिका
४	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	कला और संस्कृति
५	डा० हरद्वारीलाल शर्मा	सौन्दर्य शास्त्र
६	डा० फतहसिंह	साहित्य और सौन्दर्य
७	डा० देवराज	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन
८	मम्मट	काव्यप्रकाश
९	विश्वनाथ	साहित्य दर्पण
१०	आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
११	राजशेखर	काव्य मीमांसा
१२	K. C. Pandey	Indian Aesthetics
१३	„	Western Aesthetics
१४	Bernard Bosanquet	History of Aesthetics
१५	Lord Listowell	A Critical History of Modern Aesthetics
१६	R. G. Collingwood	Outline of Philosophy of Art
१७	Rakesh Gupta	Psychological Studies in Rasa
१८	E. F. Carritt	Theory of Beauty
१९	„ „	Introduction to Aesthetics
२०	S. Radhakrishnan	Idealist View of Life
२१	D. M. Datta	Contemporary Philosophy
२२	F. H. Bradley	Truth and Reality
२३	P. T. Raju	Thought and Reality